आवारा मसीहा

कथाशिल्पी शरत्चन्द्र चटर्जी का सम्पूर्ण प्रामाणिक जीवन चरित्र

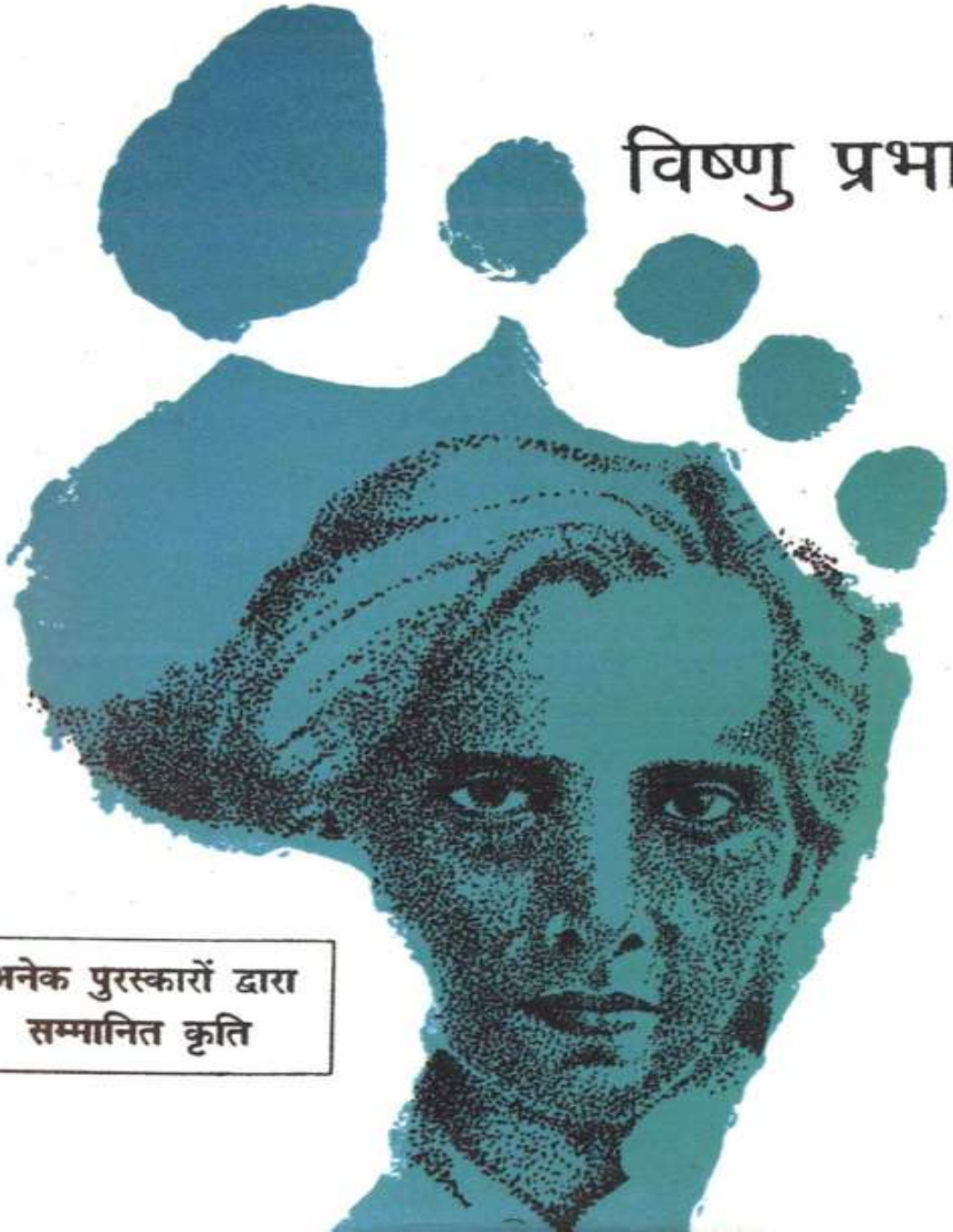

विष्णु प्रभाकर

अनेक पुरस्कारों द्वारा
सम्मानित कृति

आवारा मसीहा

कथाशिल्पी शरत्चन्द्र चटर्जी का सम्पूर्ण प्रामाणिक जीवन चरित्र

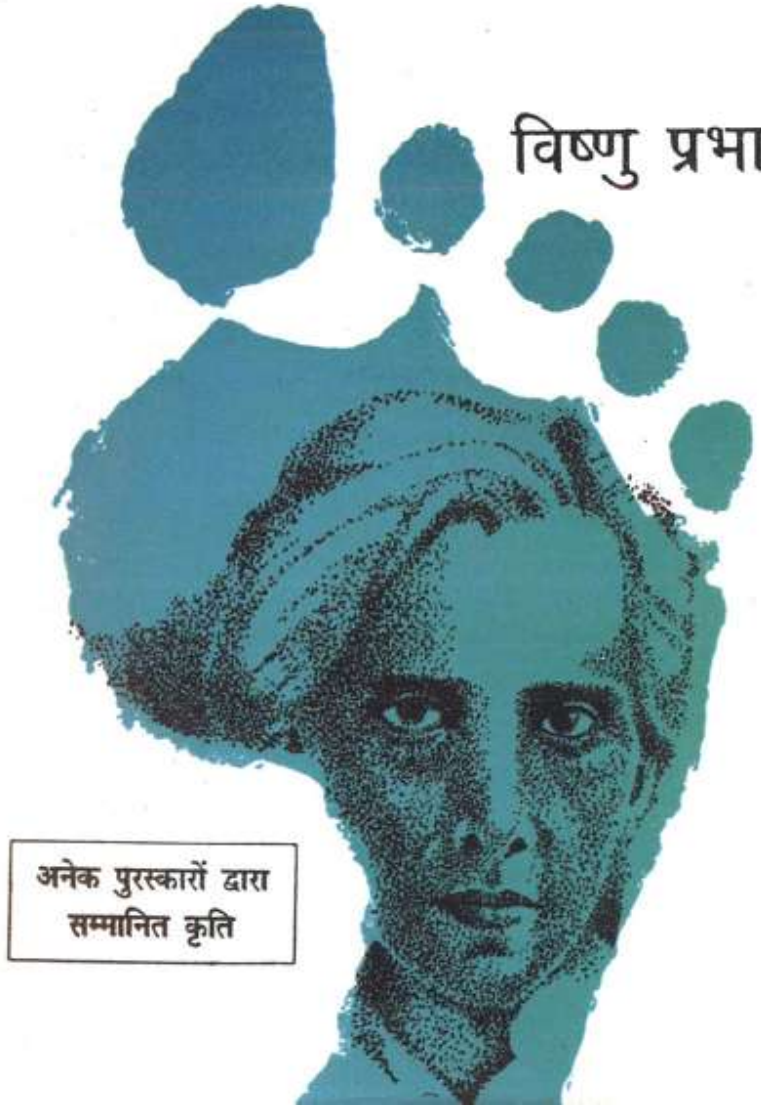

विष्णु प्रभाकर

अनेक पुरस्कारों द्वारा
सम्मानित कृति

शरत्चन्द्र चटर्जी की गणना भारत के ऐसे उपन्यासकारों में की जाती है जो सच्चे अर्थों में देशभर में अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनकी प्राय: सभी रचनाओं का अनुवाद भारत की सभी भाषाओं में हुआ और वे खूब चाव से बार-बार पढ़ी गयीं; आज भी पढ़ी जाती हैं। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि एकाध को छोड़कर उनकी कोई भी सन्तोषजनक जीवनी बंगला में भी उपलब्ध नहीं है। इस कार्य को पूरा करने का बीड़ा अनेक वर्ष पूर्व श्री विष्णु प्रभाकर ने उठाया था। वे स्वयं प्रथम श्रेणी के कथाकार थे और शरत् में गहरी आस्था रखते थे। उन्होंने यात्रा, पत्र-व्यवहार, भेंटवार्ता, अब तक की समस्त उपलब्ध सामग्री का अध्ययन, आदि सभी सम्भव उपायों और साधनों से इस कार्य को पूर्ण किया है, जो इस ग्रन्ध में प्रस्तुत है। यह जीवन-चरित्र न केवल बहुत विस्तार से उन पर प्रकाश डालता है अपितु उनके जीवन के कई अज्ञात पहलुओं को भी उजागर करता है।

इस पुस्तक के लेखक विष्णु प्रभाकर की गणना हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों में की जाती है। वे 1931 से 2009 तक बराबर लिखते रहे।

आवांरा मसीहा

ISBN:9788170280040

संस्करण: 2015 © विष्णु प्रभाकर

AAWARA MASIHA (Biography) by Vishnu Prabhakar

राजपाल एण्ड सन्ज़

1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट-दिल्ली-110006

फोन: 011-23869812, 23865483, फैक्स: 011-23867791

website: www.rajpalpublishing.com

e-mail: sales@rajpalpublishing.com

आवारा मसीहा

बंगला के अमर कथाशिल्पी, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय
की प्रामाणिक जीवन-गाथा

विष्णु प्रभाकर

राजपाल

हिन्दी प्रकाशन के भीष्म पितामह
श्री नाथूराम प्रेमी को
जो अब नहीं हैं
लेकिन जिनकी प्रेरणा के बिना
‘आवारा मसीहा’
का सृजन
असम्भव था

भूमिका

संस्करण सन् 1999 की

'आवारा मसीहा' का प्रथम संस्करण मार्च 1974 में प्रकाशित हुआ था। पच्चीस वर्ष बीत गए हैं इस बात को। इन वर्षों में इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं।

जब पहला संस्करण हुआ तो मैं मन ही मन डर रहा था कि कहीं बंगाली मित्र मेरी कुछ स्थापनाओं को लेकर क्रुद्ध न हो उठें। लेकिन मेरे हर्ष का पार नहीं था जब सबसे पहला पत्र मुझे एक बंगला भाषा की पत्रिका के संपादक का मिला। उन्होंने लिखा था कि आपने एक अत्यंत महत्वपूर्ण और चिरस्थायी कार्य किया जो हम नहीं कर सके।

मैं तो जैसे जी उठा। वैसे कुछ अपवादों को छोड़कर सभी पाठकों ने मुझे साधुवाद दिया। उन पाठकों में सभी वर्गों और श्रेणियों के व्यक्ति थे। तब से यह क्रम अभी तक जारी है।

इसकी रचना प्रक्रिया पर प्रथम संस्करण की भूमिका में मैंने विस्तार से प्रकाश डाला है। उसके प्रकाशित होने के बाद मुझे यह आशा थी कि शायद कुछ और तथ्य सामने आयें लेकिन तीसरा संस्करण प्रकाशित होने तक कुछ विशेष उपलब्धि नहीं हुई परंतु कुछ ऐसी घटनाएँ अवश्य सामने आइ जो उनके चरित्र को और उजागर करती थीं। उनका वर्णन तीसरे संस्करण की भूमिका में (सितम्बर 1977) किया। वे सब अंश इस संस्करण की भूमिका में भी शामिल कर लिए गए हैं।

दूसरे संस्करण में टंकण और मुद्रण या किसी और प्रमादवश जो अशुद्धियों रह गईं थीं उन्हें भी ठीक कर दिया था। यहाँ-वहाँ आए कुछ उद्धरण या तो निकाल दिए थे या उनका कलेवर कुछ कम कर दिया था।

मैंने उस संस्करण में बंगला शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया था। समीक्षकों और सुधी पाठकों के सुझाव पर उन्हें भी कम कर दिया। महात्मा गाँधी पर शरत् बाबू ने जो मार्मिक लेख लिखा था उसे परिशिष्ट में दे दिया था। उस लेख को देने का कारण यह था कि शायद सभी लोग उन्हें गाँधी जी का कट्टर विरोधी मानते थे पर उस लेख में शरत् बाबू ने उनका जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उनके प्रति विरोध के रहते भी जो गहरी आस्था प्रकट की है, वह अद्‌भुत है।

उसे परिशिष्ट में देने का कारण यह था कि तीसरे खंड में भारीपन की जो शिकायत कुछ मित्रों ने की थी वो कम हो जाए। शायद हुई भी है।

शरत बाबू की जन्म शताब्दी के उत्सव सितम्बर 1977 तक समाप्त हो गए थे। उस समय बंगला में उन्हें लेकर बहुत कुछ लिखा गया। उन्हें फिर से खोजने की चेष्टा की गयी। मुझे आशा थी कि सम्भवत: उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ नए तत्व उजागर हों। कहने को कुछ हुए भी पर उनमें कोई ऐसा नहीं था जो इस पुस्तक की मूल स्थापनाओं को प्रभावित कर सकता।

फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। गुजराती में सबसे पहले सन् 1925 के आसपास महात्मा गाँधी के आदेश पर उनकी कुछ रचनाओं का अनुवाद श्री महादेव देसाई ने किया था। वे रचनाएँ थीं 'विराज बहू', 'बिन्दो का लल्ला', 'राम की सुमति', और 'मंझली दीदी'।

उनके मधुर कंठ की चर्चा इस पुस्तक में विस्तार से हुई है। पर उनका रचा कोई गीत भी है इसकी प्रमाणिक जानकारी मुझे नहीं थी। श्री सत्येश्वर मुखोपाध्याय ने अपने लेख 'सुर-प्यारी शरच्चन्द्र' में यह दावा किया है कि 'षोडशी' नाटक का यह गीत उन्हीं की रचना है-

तोर पावार छिल जखन
ओरे अबोध मन
मरण खेलार नेशाए मेते
रइलि अचेतन।
ओरे अबोध मन।
तखन छिल मणि, छिल माणिक
पथेर धारे,
एखन डूबल तारा दिनेर शेषे
विषम अन्धकारे।
आज मिध्ये दे तोरे खोंजा खूंजि
मिथ्ये चोखेर जल
तारे कोथाय पाबि बल?
तारे अतल तले तलिये गेल
शेष साधनार धन।
ओरे अबोध मन।

हिरण्मयी देवी के विवाह को लेकर एक बार फिर विवाद उठ खड़ा हुआ था। लेकिन वसीयतनामे में शरद बाबू ने उन्हें अपनी पत्नी स्वीकार किया है। वही हमारे लिए सत्य है। शास्त्रसम्मत विधि विधान से उन्हें यह पद मिला अथवा ह्दय के मिलन द्वारा-यह विवाद अब अर्थ खो बैठा है।

वे मुक्त मन से क्रांतिकारियों की आर्थिक सहायता करते थे यह बात भी इस पुस्तक में बार-बार कही गई है। इस बात को प्रमाणित करने वाले कुछ और तथ्य सामने आए हैं।

हेनरी वुड के उपन्यास 'इस्टलीन' के आधार पर शरच्चन्द्र ने एक उपन्यास 'अभिमान' लिखा था जिसे पढ़कर एक युवक इतना क्रुद्ध हुआ कि उनसे मारपीट करने के लिए तैयार हो गया था। श्री गोपालचन्द्र राय का अनुमान हैं कि वह युवक ब्रह्मसमाजी रहा होगा, क्योंकि 'अभिमान' में एक ब्रह्मसमाज परिवार की नारी अपने पहले पति को त्यागकर दूसरा विवाह कर लेती है। 'इस्टलीन' जिस परिवेश का उपन्यास है उस परिवेश में ऐसा करना पाप नहीं समझा जाता था परन्तु इस युग के भारतीय परिवेश में ऐसा चित्रित करना निस्संदेह निंदनीय समझा जाता था।

एक और महत्वपूर्ण तथ्य जिसका उल्लेख करना आवश्यक है, वह यह है कि श्रीमती निरुपमा देवी ने पत्र लिखकर उनसे प्रार्थना की थी कि वे अपनी रचनाओं में विधवा चरित्र की आलोचना न करें। तब उन्होंने निरुपमा देवी को वचन दिया था : "तुम्हारे मन को आघात पहुँचाकर ऐसा कुछ कभी नहीं लिखूँगा।"

निरुपमा देवी से उनके सम्बन्धों की विवेचना करते समय इस तथ्य को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। मेरी स्थापना को इससे समर्थन ही मिलता है।

उनके अपने चरित्र के विभिन्न पहलुओं को उजागर करने वाली कुछ और कथाएँ सामने आई हैं। उनमें से दो घटनाओं का हम उल्लेख करना चाहेंगे।

एक रात वह अचानक सोते-सोते जाग पड़े। गांव में शोर मच रहा था। बीच-बीच में किसी का चीत्कार भी सुनाई दे जाता था। वह विचलित हो उठे। तुरन्त बाहर आए। पता लगा कि दो युवक चोरी करते हुए पकड़े गए हैं, उन्हीं को गाँववाले पीट रहे हैं।

पशु का क्रन्दन सुनकर जो विकल हो उठते थे वह मनुष्य को पिटते देखकर कैसे शान्त रह सकते थे। तुरन्त घटनास्थल पर पहुँचे। लोगों को समझाया-बुझाया। कहा कि मारो मत। चोरी की है तो पुलिस को सूचना दो।

गाँव वालों ने उनकी बात मान ली। शरदबाबू उन दोनों युवकों को अपने घर ले गए। पुलिस के आने तक वे वहीं रहे। बेचारों के प्राण बचे।

लेकिन जब पुलिस उनको लेकर चली गई तब क्या हुआ उनको। दिन चढ़ गया पर वे कमरे से बाहर नहीं निकले। हिरण्मयी देवी ने अनुनय-विनय की। मित्र आए पर वे रोते ही रहे। कहते रहे, कितना बड़ा पाप किया मैंने। दो युवकों को चोर बना दिया। उन्हें पुलिस को सौंप दिया। वहाँ से आने पर वे दागी चोर बन कर ही निकलेंगे।

वह जितने सम्वेदनशील थे उतने ही दृष्टा भी थे, और उतनी ही तीव्र थी उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति। एक दिन उन्होंने अचानक अपने मित्रों से कहा, "आओ, किसी गाँव में चला जाए।"

मित्र लोग तैयार हो गए और शहर से सात-आठ मील दूर दुर्गापुर गाँव की ओर चल पड़े। जैसे ही गाँव के पास पहुँचे तो कुत्तों ने जोर-जोर से भौंकते हुए उनका स्वागत किया।

मित्र लोग उन्हें डाँटने लगे तो शरद् बाबू ने उन्हें रोक दिया, "वे अपना काम कर रहे हैं। अभी चुप हो जाएँगे। बढ़िया कुत्ते हैं।"

एकदम देसी कुत्ते थे। बढ़िया कैसे हो सकते हैं यह बात मित्रों की समझ में नहीं आई पर उन्हें गाँव में जाना था। गए, गाँव के पुरुषों से कथा-वार्ता हुई। शरद बाबू खूब प्रसन्न हुए।

लौटते समय गाड़ी में बैठे-बैठे शरद बाबू ने, जैसा कि उनका स्वभाव था, खूब बातें कीं। कुत्तों की चर्चा भी हुई । वह बोले, "देखो, कुत्ते गाँव के लोगों की आर्थिक स्थिति का थर्मामीटर होते हैं। अगर गाँव के कुत्ते खूब हृष्ट-पुष्ट है तो समझ लो कि गाँव के लोगों को खाने-पीने का अभाव नहीं है। यहाँ यही सब देखने को मिला।"

मुजफ्फरपुर प्रवास के बारे में और 'देवदास' उपन्यास के चरित्रों के बारे में भी लेख पढ़ने को मिले पर 'आवारा मसीहा' में जैसा वर्णन मैंने किया है, उन लोगों के कारण उसमें कोई संशोधन करने की आवश्यकता मुझे महसूस नहीं हुई।

बनारस के श्री विश्वनाथ मुखर्जी (अब स्वर्गीय) ने श्री शरद बाबू की एक और जीवनी लिखी है। मैं उसे पढ़ नहीं पाया पर जिन मित्रों ने पढ़ा उन्होंने उसकी प्रशंसा की पर यह भी कहा कि उसके कारण 'आवारा मसीहा' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला।

मेरे समीक्षक मित्रों ने मेरी रचना का जहाँ मुक्त मन से स्वागत किया वहीं कुछ ने आलोचना भी की। कुछ त्रुटियों की ओर भी संकेत किया, कुछ सुझाव भी दिए। कृतज्ञ भाव से उस दिशा में जो कुछ कर सकता था मैंने किया है। जो नहीं कर सका उसका मुख्य कारण था प्रामाणिकता का अभाव। कहीं-कहीं मतभेद भी है, जो स्वाभाविक है।

इसके रचनाकाल में कैसी-कैसी कठिनाइयाँ मेरे सामने आईं, उसकी एक झलक मैंने प्रथम संस्करण की भूमिका में दी है पर उससे मेरे समीक्षक और पाठक संतुष्ट नहीं हो सके। सबकी चर्चा करना तो कई कारणों से अब भी संभव नहीं होगा पर एक बात की ओर संकेत अवश्य करना चाहूँगा। शरद बाबू का जीवन क्रम इतना उलझा हुआ, इतना विशृंखल है कि उसमें तारतम्य बैठाना, उसके क्रम को ठीक करना बड़ा दुष्कर कार्य है। कौन-सी घटना कब, कैसे घटी, कब कहाँ रहे, कितने दिन रहे, कौन-सा भाषण कब दिया, क्या ठीक-ठीक कहा, इसका लेखा-जोखा कहीं उपलब्ध नहीं है। जो है वह एकदम विशृंखल है। उसकी तलाश में मुझे बरसों यहाँ-वहाँ भटकना पड़ा। ज्योतिषियों की शरण ली, विश्वविद्यालय के कैलेंडर देखे, स्कूल-कालेज के रजिस्टर टटोले, पुरानी पत्रिकाएँ ढूँढ़ी, तब कुछ रूप दे सका।

वह भागलपुर से कब भागे, इसका कुछ-कुछ सही पता तब चला जब भागलपुर में ही रचित और हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित उनकी जुलाई सन् 1901 की एक रचना देखने में आई। दिसंबर 1902 के अन्त में उन्होंने अपनी बहन के घर गोविंदपुर से मामा गिरीन्द्रनाथ

को जो पत्र लिखा था वह मुझे दिल्ली में ही उनके पुत्र श्री अमलकुमार गांगुली के सौजन्य से सन् 1973 में मिल सका। उसके मिलने से बहुत-सी तिथियाँ आप से आप ठीक हो गईं। वह वहाँ से कब लौटे, इसकी तिथि भी अनुमान प्रमाण के सहारे निश्चित की गई है। नहीं तो एक लेखक ने उन्हें उसके बाद भी रंगून में रवीन्द्रनाथ से मिलते दिखाया है।

उनके प्राय: सभी जीवनीकारों ने लिखा है कि उन्होंने मैट्रिक दिसंबर सन् 1894 में पास किया लेकिन जब मैंने विश्वविद्यालय जाकर कैलेंडर देखा तो परीक्षाएं सोमवार 12 फरवरी सन् 1894 में आरम्भ हुईं। परीक्षाफल अधिक से अधिक अप्रैल 1894 में घोषित हुआ होगा। कैलेंडर में वह दिसंबर में ही छप सका। उसी को देखकर सबने मान लिया कि उन्होंने दिसंबर 1894 में मैट्रिक पास किया। यदि ऐसा हुआ होता तो वे उस वर्ष कालेज में प्रवेश कैसे पा सकते थे?

बंगाली निश्चित रूप से बंगाब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए मेरे सामने एक और समस्या थी कि इन तिथियों को ईसवी सन् के अनुसार तिथियों में कैसे परिवर्तित करूँ। पुराने कैलेंडरों की तलाश में अनेक मित्रों और पुस्तकालयों की शरण लेनी पड़ी क्योंकि तिथियों का अपना महत्व है। जो ज्योतिषशास्त्र में विश्वास करते हैं, वे इस बात को खूब समझते हैं।

तो इन विसंगतियाअंत नहीं था। बेशक ये विसंगतियाँ शरच्चन्द्र को प्रभावित नहीं करतीं। वे कब कहां रहे, कब कहां गए, यह अन्तत: कोई महत्व नहीं रखता पर जीवन क्रम को समझने के लिए इनकी आवश्यकता होना स्वाभाविक ही है।

'आवारा मसीहा' नाम को लेकर काफी ऊहापोह मची। वे-वे अर्थ किए गए जिनकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मैं तो इस नाम के माध्यम से यही बताना चाहता था कि कैसे एक आवारा लड़का अन्त में पीड़ित मानवता का मसीहा बन जाता है। आवारा और मसीहा दो शब्द हैं। दोनों में एक ही अन्तर है। आवारा मनुष्य में सब गुण होते हैं पर उसके सामने दिशा नहीं होती। जिस दिन उसे दिशा मिल जाती है उसी दिन वह मसीहा बन जाता है। मुझे खुशी है कि अधिकांश मित्रों ने इस नाम को इसी सन्दर्भ में स्वीकार किया।

यह संस्करण आते-आते मुझे कुछ घटनाओं और तथ्यों के बारे में भी जानकारी मिली। पृष्ठ 138 पर उनके मामा उपेन्द्रनाथ उन्हें खोजते-खोजते जब वेश्यालय गए और शरत् के बारे में पूछा तो उन्हें जो उत्तर मिला वह ऐसे था, 'ओह, दादा ठाकुर के बारे में पूछते हैं। ऊपर चले जाओ। सामने ही पुस्तकों के बीच में जो मानुष बैठा है वही शरत् है।'

पृष्ठ 255 पर 'पर्थर दाबी' के जब्त होने की तारीख सरकारी दस्तावेज के अनुसार जनवरी 1927 है, अर्थात 31 अगस्त 1926 को प्रकाशित होने के चार माह बाद पुस्तक जब्त हुई।

पृष्ठ 397 पर प्रेमचन्द के कहानी संग्रह पर अपनी सम्मति देते हुए उनकी बहुत प्रशंसा की पर साथ ही यह भी लिखा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ उनकी तुलना करना अनुचित

है। उन्होंने ऐसा इसलिए कहा क्योंकि इस पुस्तक की भूमिका में श्री मन्नन द्विवेदी ने लिखा था, 'कुछ लोगों का विचार है कि आपकी गल्प साहित्यमार्त्तण्ड रवीन्द्र बाबू की रचना से टक्कर लेती है।'

'सप्त सरोज' में निम्नलिखित कहानियाँ संकलित थीं- 1. बड़े घर की बेटी 2. सौत 3. सज्जनता का दंड 4. पंच परमेश्वर 5. नमक का दारोगा 6. उपदेश और 7. परीक्षा। प्रथम खंड अध्याय 10 में राजा शिवचन्द्र की चर्चा आई। वे तत्कालीन सुधारक दल के नेता माने जाते थे। वे इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि उनके बारे में एक कहावत बन गई थी-

राज न पाट शिवचन्द्र राजा
ढोल न ढाक अंगरेज़ी बाजा

आज भी लोग इस कहावत का प्रयोग करते हैं।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ। 'आवारा मसीहा' में आई किसी घटना के बारे में मैंने कल्पना नहीं की। जितनी और जैसी जानकारी पा सका हूँ उतना ही मैंने लिखा है। प्रथम पुरुष के रूप में उनके मुख से जो कुछ कहलवाया है, वह सब उनके उन मित्रों के संस्मरणों से लिया है जो उसके साक्षी रहे हैं। यथासम्भव उन्हीं की भाषा का प्रयोग मैंने किया है। प्रामाणिकता की दृष्टि से एक दो स्थानों पर उनकी रचनाओं में आए उन्हीं स्थलों के वर्णन का भी सहारा लिया है पर ऐसा बहुत कम किया है । मैंने अगर स्वतंत्रता ली भी है तो उतनी ही जितनी एक अनुवादक ले सकता है।

मनचाहा तो कभी होता नहीं पर विसंगतियों और असंगतियों के बावजूद मित्रों ने, विशेषकर बंगाली मित्रों ने मेरे इस तुच्छ प्रयत्न का जैसा स्वागत किया है उससे मेरा उत्साह ही बढ़ा है। प्रसन्नता की बात है कि इसका अनुवाद अंग्रेजी तथा भारत की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुका है। उन सबके प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

अन्त में शरच्चन्द्र के प्रति नतमस्तक होकर बंगला के मूर्धन्य कवि नजरुल इस्लाम के शब्दों में इतना ही कहूँगा—

অবমাননার অতল গহরে যে মানুষ ছিলো লুকায়ে
শরতচাংদের জ্যোৎসনা তাদের দিলো রাজপথ দিখাএ

-विष्णु प्रभाकर

28 जुलाई 1999
818 कुण्डेवालान, अजमेरी गेट
दिल्ली-6

भूमिका

पहले संस्करण की

कभी सोचा भी न था एक दिन मुझे अपराजेय कथाशिल्पी शरत्चन्द्र की जीवनी लिखनी पड़ेगी। यह मेरा विषय नहीं था। लेकिन अचानक एक ऐसे क्षेत्र से यह प्रस्ताव मेरे पास आया कि स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, के स्वामी श्री नाथूराम प्रेमी ने शरत्साहित्य का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित किया है। उनकी इच्छा थी कि इसी माला में शरतचन्द्र की एक जीवनी भी प्रकाशित की जाए। उन्होंने इसकी चर्चा श्री यशपाल जैन से की और न जाने कैसे लेखक के रूप में मेरा नाम सामने आ गया। यशपालजी के आग्रह पर मैंने एकदम ही यह काम अपने हाथ में ले लिया हो, ऐसा नही था, लेकिन अन्तत: लेना पड़ा, यह सच है। इसका मुख्य कारण था शरत्चन्द्र के प्रति मेरी अनुरक्ति। उनके साहित्य को पढ़कर उनके जीवन के बारे में, विशेषकर श्रीकान्त और राजलक्ष्मी के बारे में, जानने की उत्कट इच्छा कई बार हुई है। शायद वह इच्छा पूरी होने का यह अवसर था। सोचा, बंगला साहित्य में निश्चय ही उनकी अनेक प्रामाणिक जीवनियां प्रकाशित हुई होंगी। लेख-संस्मरण तो न जाने कितने लिखे गये होंगे। वहीं से सामग्री लेकर यह छोटी-सी जीवनी लिखी जा सकेगी। लेकिन खोज करने पर पता लगा कि प्रामाणिक तो क्या, सही अर्थों में जिसे जीवनी कह सकें वैसी कोई पुस्तक बंगला भाषा में नहीं है। उनके जीवन की कल्पित कहानी को जीवनी का रूप देकर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, पर उनमें शरत् बाबू का वास्तविक रूप तो क्या प्रकट होता वह और भी जटिल हो उठा है।

अब मैंने इधर-उधर खोज आरम्भ की, लेकिन जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, उलझता ही गया। ढूंढ-ढूंढ़कर मैं उनके समकालीन व्यक्तियों से मिला। बिहार, बंगाल, बर्मा, सभी जगह गया। लेकिन कहीं भी तो, कुछ भी उत्साहजनक स्थिति नहीं दिखाई दी।

प्राय: सभी मित्रों ने मुझसे कहा, "तुम शरत् की जीवनी नहीं लिख सकते। अपनी भूमिका में यह बात स्पष्ट कर देना कि शरत् की जीवनी लिखना असम्भव है।"

ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने कहा, "छोड़ो भी, क्या था उसके जीवन में जो तुम पाठकों को देना चाहोगे। नितान्त स्वच्छन्द व्यक्ति का जीवन क्या किसी के लिए अनुकरणीय हो सकता है?"

"उनके बारे में जो कुछ हम जानते हैं वह हमारे बीच में ही रहे। दूसरे लोग उसे जानकर क्या करेंगे? रहने दो, उसे लेकर क्या होगा?

एक सज्जन तो अत्यन्त उग्र हो उठे। तीव्र स्वर में बोले, "कहे देता हूं, मैं उनके बारे में कुछ नहीं बताऊंगा।"

दूसरे सज्जन की घृणा का पार नहीं था। गांधीजी और शरद के सम्बन्ध में मैंने एक लेख लिखा था। उसीको लेकर उन्होंने कहा "छि:, तुमने उस दुष्ट की गांधीजी से तुलना कर डाली!"

एक बन्धु जो ऊंचे-ऊंचे पदों पर रह चुके थे, मेरी बात सुनकर मुस्कराये, बोले, "क्यों इतना परेशान होते हो, दो-चार गुण्डों का जीवन देख लो, शरच्चन्द्र की जीवनी तैयार हो जाएगी।"

इन प्रतिक्रियाओं का कोई अन्त नहीं था, लेकिन ये मुझे मेरे पथ से विरत करने के स्थान पर चुनौती स्वीकार करने की प्रेरणा ही देती रहीं। सन् 1959 में मैंने अपनी यात्रा आरम्भ की थी और अब 1973 है। 14 वर्ष लगे मुझे 'आवारा मसीहा' लिखने में। समय और धन दोनों मेरे लिए अर्थ रखते थे क्योंकि मैं मसिजीवी लेखक हूं। लेकिन ज्यूं-ज्यूं, आगे बढ़ता गया, मुझे अपने काम में रस आता गया, और आज मैं साधिकार कह सकता हूं कि मैंने जो कुछ किया है पूरी आस्था के साथ किया है। और करने में पूरा आनन्द भी पाया है। यह आस्था और यह आनन्द, यही मेरा सही अर्थों में पारिश्रमिक है।

मुझसे पहले भी बंगाल के एक-दो मित्रों ने इस क्षेत्र में प्रयत्न किये हैं। उनमें सर्वाधिक प्रामाणिक कार्य है श्री गोपालचन्द्र राय का। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम के साथ शरद बाबू के जीवन को समझने की सामग्री जुटाने का स्तुत्य कार्य किया। मेरा प्रारम्भिक कार्य सन् 1965 तक समाप्त हो गया था। तभी उनकी लिखी ग्रन्थ-माला का पहला खंड प्रकाशित हुआ। इसमें शरत्चन्द्र की जीवनी तथा उसी संबंध में कुछ दूसरी सामग्री है। मैं उनसे अपने काम की तुलना नहीं करना चाहूंगा। वे मुझसे बहुत पहले से काम कर रहे थे। हम दोनों की क्षमता और दृष्टि में भी बहुत अन्तर है।

वे बंगाली हैं और शरद बाबू के सम्पर्क में भी आ चुके हैं। इसके विपरीत मैं न तो बंगाली हूं और न मुझे शरद बाबू के दर्शन करने का सौभाग्य ही प्राप्त हुआ है। बंगला भाषा भी मैं अच्छी तरह नहीं जानता। इसलिए जिन लोगों से मैं मिला, उनमें से अधिकतर को यह बड़ा अजीब लगा कि एक बाहर का व्यक्ति शरद बाबू की जीवनी के संबंध में इतना परेशान हो।

वे इस बात से प्रभावित हुए और उन्होंने बड़ी ईमानदारी से मेरी सहायता की। कुछ ने उपेक्षा की दृष्टि से भी देखा, लेकिन ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी। और यह भी अधिकतर मेरी खोज के प्रथम दौर में ही ऐसा हुआ था। बाद में तो जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे मेरे प्रति उन लोगों का स्नेह बढ़ता गया। अगर ऐसा न होता तो क्या यह काम कभी पूरा हो पाता?

फिर भी कठिनाइयों का कोई अन्त नहीं था। कुछ मित्र थे जिन्होंने बहुत कुछ बताया लेकिन प्रमाणित करने से इनकार कर दिया। कहा, "आप बिना हमारा नाम दिये अपने रूप में इसका उपयोग कर सकते हैं।"

इनमें ऐसे मित्र भी थे जिन्होंने मुझे चेतावनी दी कि यदि मैंने शरद बाबू के मुंह से कुछ ऐसा-वैसा कहलवाया या स्वयं ऐसा-वैसा लिखा तो उसका परिणाम बुरा भी हो सकता है। मुझे क्षमा नहीं मिलेगी। कुछ ऐसे भी थे जो स्वयं लिखना चाहते थे, लेकिन मुझे दुख है कि उनमें से बहुत कम ही ऐसा कर सके। फिर भी जिन्होंने किया उन्हीं के कारण किसी न किसी रूप में प्रामाणिक सामग्री सामने आई। इसका मुझे भी लाभ मिला।

उनके समकालीन कुछ ऐसे व्यक्ति मुझे मिले जो सचमुच उनसे घृणा करते थे। रंगून के एक सज्जन ने मुझसे कहा था, "वे एक स्त्री के साथ रहते थे। उनके पास बहुत कम लोग जाते थे । मैं उनका पड़ोसी था, लेकिन उनके कमरे में कभी नहीं गया। वे अफीम खाते थे और शराब पीते थे। वे एक निकृष्ट प्रकार का जीवन बिता रहे थे। मैं उनसे हमेशा बचता था।"

यह प्रतिक्रिया मात्र इन्हीं सज्जन की नहीं थी। बहुत-से लोग उनके बारे में इसी तरह सोचते थे और जानते थे, लेकिन ऐसे भी व्यक्ति थे जो उनके पास जाकर उन्हें पहचान सके थे। उन्हींके माध्यम से मैं भी एक सीमा तक उनको पहचान सका। अफवाहों और किंवदन्तियों से भरे उनके जीवन को पूरी तरह पहचान पाना तो असम्भव जैसा ही है, लेकिन क्या सचमुच जो पास थे, वे उन्हें पहचानते थे? उनके बहुत पास रहने वाले कई व्यक्तियों ने उनके सम्बन्ध में बिलकुल परस्पर विरोधी बातें बताईं। स्वयं उनके मामा और बालसख़ा श्री सुरेन्द्रनाथ गांगुली ने उनके बारे में जो दो पुस्तकें लिखी हैं उनमें परस्पर विरोधी तथ्य हैं। कभी-कभी तो मुझे लगता था कि कोई मुझे चुनौती देने वाला है कि शरच्चन्द्र नाम का कोई व्यक्ति इस देश में नहीं हुआ, कुछ अज्ञातनाम लेखकों ने स्वयं कुछ उपन्यास लिखे और शरच्चन्द्र के नाम से चला दिये।

यह धारणा सत्य ही है कि मनुष्य शरच्चन्द्र की प्रकृति बहुत जटिल थी। साधारण बातचीत में वे अपने मन के भावों को छिपाने का प्रयत्न करते थे और उनके लिए कपोलकल्पित कथाएं गढ़ते थे। कितने अपवाद, कितने मिथ्याचार, कितने भ्रान्त विश्वास से वे घिरे रहे! इसमें उनका अपना योग भी कुछ कम नहीं था। वे परले दर्जे के अड्डेबाज़ थे। घण्टों कहानियां सुनाते रहते। जब कोई पूछता कि क्या यह धटना स्वयं उनके जीवन में घटी है, तो वे कहते, "न-न, गल्प कहता हूं सब गल्प, मिथ्या, एकदम सत्य नहीं।"

इतना ही नही, एक ही घटना को जितनी बार सुनाते, नये-नये रूपों में सुनाते। कोई प्रश्न करता, "दादा, कल तो आपने इस घटना को एक और ही रूप में सुनाया था!" तो वे क्रुद्ध हो उठते, "घटना मेरी है। मुझे अधिकार है कि मै उसको जिस प्रकार चाहूं सुनाऊं।"

चाहे किसी भी विधि से हुए हों, उनके दो विवाह हुए थे। उनकी दूसरी पत्नी हिरण्मयी देवी की मृत्यु उनके मरने के लगभग 22 वर्ष बाद [1] हुई। वे उनकी विधिसम्मत उत्तराधिकारिणी थीं, लेकिन जीवन-भर लोग यही समझते रहे (अब भी समझते हैं) कि वे अविवाहित थे। सभा-समितियों में उनका परिचय 'बाल ब्रह्मचारी' कहकर दिया जाता था। अनेक प्रवाद भी प्रचलित हो गये थे, पर उन्होंने एक बार भी स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। बर्मा से लौटे एक मित्र ने, कलकत्ता की एक सभा में, जब स्वयं यह सब सुना तो चकित होकर शरद बाबू से पूछा, "आप ऐसा क्यों होने देते हैं?"

हंसकर शरद बाबू ने उत्तर दिया, "सुनकर बहुत मज़ा आता है।"

उन्होंने स्वयं लिखा है, "अपने विगत जीवन के बारे में मैं अत्यन्त उदासीन हूं। जानता हूं, उसको लेकर नाना प्रकार की जनश्रुतियां प्रचारित हो रही हैं, लेकिन मेरे निर्विकार आलस्य को वे बिन्दु मात्र भी विचलित नहीं कर सकती। शुभचिन्तक बीच-बीच में उत्तेजित होकर कहते हैं कि इस झूठ का प्रतिकार क्यों नहीं करते? मैं कहता हूं, झूठ यदि है तो उसका प्रचार मैंने तो नहीं किया, इसलिए प्रतिकार करने का दायित्व भी उनका ही है। उनको करने को कहो।"

सचमुच अपने जीवन की कहानी वे इस प्रकर गुप्त रखते थे कि उनके घनिष्ठ तथा अन्तरंग से अन्तरंग बन्धु भी कुछ नहीं जानते थे। कवि नरेन्द्र देव तथा उनकी धर्मपत्नी कवयित्री श्रीमती राधारानी देवी के घर शरच्चन्द्र बहुत-सा समय बिताते थे किन्तु वे भी उनके जीवन के संबंध में कोई विशेष सामग्री इकट्ठी नहीं कर पाए। ठीक यही स्थिति उनके घनिष्ठ मित्र हरिदास चट्टोपाध्याय की थी। वे भी शरच्चन्द्र के संबंध में कोई ठीक-ठीक बात नहीं बता सकते थे। जब गम्भीरता से लोग उनसे उनके जीवन के बारे में चर्चा करते तो वे कहते, "देखो, लेखक के व्यक्तिगत जीवन को लेकर परेशान होने से क्या लाभ? वह लेखक है इसलिए अपने जीवन की सब बातें सबको बतानी होंगी, इसका आखिर क्या अर्थ है? उसकी रचनाओं के भीतर से उसका जितना परिचय मिल सकता है, उसी को लेकर सन्तुष्ट होना उचित है। यही लेखक का सच्चा परिचय है। इसलिए मैं कहता हूं, लेखक का व्यक्तिगत जीवन और उसका लेखक-जीवन दोनों एक ही नहीं होते। किसी भी कारण से इन दोनों को मिला देना उचित नहीं है। यह जान लो कि मैं अपनी रचनाओं में जितना अपने को व्यक्त कर सकता हूं, उतना ही मैं हूं। पाठकों के लिए मेरा उतना ही परिचय काफी है।

"एक दिन मैं नहीं रहूंगा, तुम भी नहीं रहोगे। लोग मेरे व्यक्तिगत जीवन के बारे में जानने की इच्छा नहीं करेंगे। तब यदि कोई मेरी लिखी हुई रचना बची रहेगी तो वे उसी को लेकर चर्चा करेंगे, मेरे चरित्र को लेकर नहीं।"

काश, वे देख सकते कि आज उनके जीवन को लेकर लोग कितने चिन्तित हैं और कैसी-कैसी मनगढ़ंत बातें उन्होंने फैला दी हैं। सत्य और मिथ्या के बीच कहीं कोई अन्तर

नहीं रह गया है। ये ही बातें सुनकर कविगुरु रवीन्द्रनाथ कह उठे थे, "मैं इसीलिए तो मरना नहीं चाहता।"

कहते है, एक बार स्वयं श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनसे कहा था, "शरद, तुम अपनी आत्मकथा लिखो।" उनका उत्तर था, "गुरूदेव, यदि मैं जानता कि मैं इतना बड़ा आदमी बनूंगा तो मैं किसी और प्रकार का जीवन जीता।"

यह व्यंग्य भी हो सकता है और निखूट सत्य भी, लेकिन इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं, कि बचपन और यौवन में जिस प्रकार का जीवन उन्हें जीना पड़ा था, उससे वे सन्तुष्ट नहीं थे। वे निचली गहराइयों से होकर ऊपर उठे। प्रारंभिक जीवन मे जिस अभाव, अपमान और उपेक्षा में से उन्हें गुजरना पड़ा उससे उनके कलाकार को तो बल मिला, पर उनका जीवन टूट गया। जीवन-संध्या में क्या सचमुच उन्हें इस बात का दुख था कि उन्होंने आवारगी का जीवन बिताया, शराब पी, नशे में डूबे, वेश्याओं के बीच जाकर रहे, नाना प्रकार के वास्तविक और अवास्तविक प्रेम-प्रपंच किए?

शायद था, तभी तो उन्होंने गुरुदेव को वैसा उत्तर दिया था। एक अवसर पर उन्होंने यह भी कहा था, "मैं आत्मकथा नहीं लिख सकता, क्योंकि न तो मैं इतना सत्यवादी हूं और न इतना बहादुर ही, जितना एक आत्मकथा-लेखक को होना चाहिए।"

क्या इससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता, कि शरच्चन्द्र के मानव और साहित्य का सही मूल्यांकन इन्हीं विरोधाभासों और नीचाइयों के भीतर झांककर हो सकता है, मनुष्य को देवता या शैतान मानकर अर्थात् केवल अच्छाई या बुराई में से उसे पहचानकर चलने की चालू प्रवृत्ति से नहीं। इसीलिए एक मराठी बन्धु ने जैसे लेखक को चेतावनी दी थी, "शरद के भावी चरित्र-लेखक को अन्त में यही याद रखना होगा कि वे मनुष्य के भले-बुरे गुणों से परे नहीं थे।"

जीवनी लिखना निस्सन्देह कठिन काम है। यूं देखने में लगता है कि वह कुछ अद्‌भुत-असाधारण घटनाओं और कुछ क्रांतिकारी विचारों का समुच्चय है। किसी के जीवन को समझने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएं आवश्यक अवश्य हैं, पर अनिवार्य नहीं। अनिवार्य हैं उन घटनाओं और उन विचारों के पीछे रहनेवाले प्रेरणास्रोत। जो दिखाई देता है वही सत्य नहीं होता। सत्य को पाने के लिए गहरे उतरना होता है और उस उतरने में जहां आस्था का प्रश्न है वहां वस्तुनिष्ठता का उससे भी अधिक है। यह सर्वोपरि अनिवार्यता है। डाक्टर जानसन ने कहा था, "वही व्यक्ति किसी की जीवनी लिख सकता है जो उसके साथ खाता-पीता, बैठता-उठता और बोलता-बतियाता रहा हो।"

यह उपयोगी हो सकता है, पर अनिवार्य नहीं है । जिस व्यक्ति को ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ उसकी आस्था में शंका करने का कोई उचित कारण नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत वस्तुनिष्ठता के अवसर बढ़ जाने की सम्भावना पूरी-पूरी है। दूरी वस्तुपरक दृष्टि देने में सहायक ही होती है।

एक विद्वान ने कहीं लिखा है, "जीवनी-लेखन कोरा इतिहास-मात्र होगा, अगर उसकी अभिव्यक्ति कलात्मक ढंग से न हो और उसमें लिखनेवाले का व्यक्तित्व प्रतिफलित न हो। वह व्यक्ति-विशेष का तटस्थ पर खुलकर किया गया अध्ययन होता है।

"जीवनी क्या है? अनुभवों का श्रृंखलाबद्ध कलात्मक चयन। इसमें वे ही घटनाएं पिरोई जाती हैं, जिनमें सम्वेदना की गहराई हो, भावों को आलोड़ित करने की शक्ति हो। घटनाओं का चयन लेखक किसी नीति, तर्क या दर्शन से प्रभावित होकर नहीं करता। वह गोताखोर की तरह जीवन-सागर में डूब-डूब कर मोतियां चुनता है। सशक्त और सच्ची सम्वेदना की हर घड़ी वही मोती है। श्रेष्ठ जीवनी-लेखक काल, देश, व्यक्ति और घटना की सीमाओं को तोड़कर अनुभूतियों का सौन्दर्य में विक्षेपण करता है। विशुद्ध कला और मानदण्डों के बीच संतुलन और सामंजस्य का प्रणयन करता है।"

नहीं जानता कि 'अवारा मसीहा' इस कसौटी पर कितना खरा उतरेगा। किन्तु एक बात पूरे बिश्वाश के साथ कह सकता हूं कि मैंने कला को भले ही खोया हो, आस्था को नहीं खोया और निरन्तर सशक्त और सच्ची सम्वेदना की घड़ियों को खोजने का प्रयत्न किया है। बहुत-से लोग यह मानते हैं कि साहित्यकार का जीवन उसका साहित्य ही होता है। पूर्ववर्ती मराठी बन्धु ने यह भी लिखा था, "हमारे प्रयत्नों का उद्देश्य यदि तथ्यपूर्ण सामग्री की खोज करना है तो यह प्रयत्न कुछ हास्यास्पद अवश्य है। वे कहां पैदा हुए, कहां स्वर्गवासी हुए, रंगून में कहां रहे, इस दुनिया में किन-किन स्त्रीरूपी देवताओं ने उनका साथ दिया, रोटी-रोज़ी की क्या व्यवस्था थी, स्वास्थ्य की ओर उन्होंने दुर्लक्ष्य क्यों किया, किसी से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा क्यों नहीं की और फिर सबकी सहायता करने में अपना सब कुछ क्यों लुटा दिया, ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर उनकी रचनाओं में से न पा सकें तो वे और कहां मिल सकेंगे?"

जेबुन्निसा के शब्दों में शरत् भी यही कहते थे -

दर सुखन पिनहा शुदम मानिन्द बू दर-बर्गेगुल,
हर कि दीदन मैल दाल दर सुखन बीनद मरा।

जैसे खुशबू फूल की पंखुड़ियों में बसी है, वैसे ही मैं अपनी कविता में व्याप्त हूं। जो मुझसे मिलने का इच्छुक हो मेरे काव्य में मुझे पा ले।

मेरा हर शेर है अख्तर मेरी ज़िन्दा तस्वीर,
देखनेवालों ने हर लफ्ज़ में देखा है मुझे।

इसमें कोई शक नहीं कि उनका साहित्य महान है, किन्तु उनका जीवन भी उससे कुछ कम महान नहीं। उनका साहित्य घर-घर आदर सहित पढ़ा गया, किन्तु देशव्यापी समादर के पीछे उसका स्रष्टा अपने ऐकांतिक दुख को गोपन करके हंसते हुए दिन काट गया। उनके रिश्ते के मामा और चिर मित्र सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय ने लिखा है, "कहते हैं कि शरद ने

साहित्य के माध्यम से आत्मप्रकाश किया है। उनकी अलग जीवनी दरकार नहीं, लेकिन शरद ने अपने साहित्य में अपने को छिपाया है।"

शरच्चन्द्र ने अपने साहित्य में ही अपने को नहीं छिपाया है, वास्तविक जीवन में भी निरन्तर अपने को छिपाने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्धि से वे सदा पराङ्मुख रहे। लिखते रहे पर प्रकाशन का आग्रह उनकी ओर से कभी नहीं आया। यदि उनके स्वार्थी मित्र अनजाने ही उन्हें अन्धकार में से बाहर न खींच लाते और तब उनकी प्रतिभा तत्कालीन साहित्यजगत् को आलोड़ित न कर देती तो, ये रंगून में ही अपने निर्वासित जीवन का अन्त कर देते। लेकिन फिर भी यह सत्य है कि लिखते वे अवश्य रहते थे। श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में यह भी कहा जा सकता है, "कुछ रहस्यमय मनोग्रन्थियों के कारण वे जीवनकाल में अपनी सम्भावित ख्याति से कतराते थे और लिखते केवल इसीलिए चले जाते थे कि मृत्यु के बाद उनका प्रकाशन हो और तब एक मृत लेखक की रचनाओं के भीतर से बोलनेवाली महान आत्मा समस्त लेखकों पर हावी हो जाए।"

इस प्रवृत्ति को हीन भाव भी कहा जा सकता है और वैरागी का मन भी। यह प्रारम्भिक जीवन के अभावों और अपमानों की अन्तर्मुखी प्रतिक्रिया भी हो सकती है। लेकिन इन्हीं कारणों से जीवन-चरित्र लिखनेवाले का काम कितना दुष्कर हो गया है! और यह भी सत्य है कि यही चुनौती उनकी सबसे बड़ी शक्ति भी बनी है। तब यह कल्पना की जा सकती है कि मुझे यह सामग्री एकत्रित करने में 14-15 वर्ष क्यों लगे? और अब भी क्या यह विश्वास से कहा जा सकता है कि जो कुछ मैंने पाया है वह ऐकांतिक रूप से सत्य है?

निश्चय ही यह दावा मैं नहीं कर सकूंगा । इसके विपरीत यदि कोई यह कहेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है वह मिथ्या है तो, मैं उसका प्रतिवाद नहीं करूंगा।

कला के लिए सत्य भले ही सम्पूर्ण आदर्श न हो परन्तु जीवन-चरित्र लिखना इस दृष्टि से विज्ञान के अधिक पास है और उसका आदर्श सत्य ही है, पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है घटना तो सत्य नहीं है। उसका जीवन में महत्त्व है, लेकिन उससे अधिक महत्व है घटना के पीछे की प्रेरणा का। वही प्रेरणा सत्य है। मैंने इतना समय इसीलिए लगाया कि मैं भ्रान्त और अभ्रान्त घटनाओं के पीछे के सत्य को पहचान सकूं, जिससे घटनाओं से परे जो वास्तविक शरच्चन्द्र है उसका रूप पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा सके। यह सब कैसे और किस प्रकार हुआ, यह मैं नहीं बता सकूंगा। जिसे 'सिक्स्थ सेंस' कहते हैं, शायद वही मेरी सहायक रही। मैं अधिक से अधिक उन व्यक्तियों से मिला, जिनका किसी न किसी रूप में शरच्चन्द्र से संबंध था। उन सभी स्थानों पर गया जहां वे या उनके उपन्यासों के पात्र रहे थे। उस वातावरण में रमने की कोशिश की जिसमें वे जिये थे। शायद इसी प्रयत्न के फलस्वरूप मैं एक ऐसी तस्वीर बनाने में यत्किंचित सफल हो सका, जो शरीर-रचना-विज्ञान (एनोटॉमी) की दृष्टि से भले ही सही न हो पर उसके पीछे जो चेतन तत्व होता है उसको समझने में अवश्य ही सहायक हुई है।

शरद बाबू के चरित्र को लेकर समाज में जो भ्रान्त धारणा बन गई थी, उसकी चर्चा करना असंगत न होगा। कलाकार का चरित्र साधारण मानव से किसी न किसी रूप में भिन्न होता ही है। फिर शरद बाबू तो बचपन से ही अभाव और अपमान के उस वातावरण में जिये जहां आदमी या तो विद्रोह कर सकता है या आत्महत्या। उनके अन्तर में जो साहित्यकार सोया पड़ा था, उसने उन्हें पहला मार्ग अपनाने की ही प्रेरणा दी। इसलिए उन्होंने तत्कालीन समाज के कठोर विधि-विधान का मानने से इनकार कर दिया। सदाचार के प्रचलित मानदण्डों पर चोट करते हुए उन्होंने वही किया जो यथास्थितिवादी मुखियाओं के लिए अकरणीय था। तब वे चरित्रहीन का विरुद्ध न पाते तो आश्चर्य ही होता।

उन्होंने अपने साहित्य में वेश्याओं और दुराचारिणियों को ऊंचा पद दिया और तत्कालीन सामाजिक मूल्यों के आगे बार-बार प्रश्नचिह लगाये। उन्होंने घोषणा की कि सतीत्व ही नारीत्व नहीं है, परन्तु एक क्षण के लिए भी, कहीं भी, उच्छृंखलता को प्रश्रय नहीं दिया। उन्होंने यही कहा, "मैं अपनी रचना के द्वारा मनुष्य का अपमान नहीं करना चाहता। पुरुष हो या स्त्री, गिरकर उठने का रास्ता सबके लिए खुला रहना चाहिए।"

वे हृदय जीतने में विश्वास करते थे। यह नहीं देखना चाहते थे कि जीतने वाला हीन जातीय है या विजातीय, विधर्मी-विदेशी है अथवा कुमार्गी-कुचाली। जो हृदय जीतने का महान कार्य कर सकता हे वह कुमार्गी-कुचाली हो ही नहीं सकता, और यह भी कि जो वास्तविक जीवन को देखना चाहता है वह शुचिता-अशुचिता के चक्कर में नहीं पड़ता। इसी अभिज्ञता के कारण गोर्की, ताल्स्ताय और शेक्सपियर शुचिता के चक्कर में नहीं पड़े। इसीलिए शरद बाबू भी तथाकथित छोटे वर्ग के लोगों और पतितों के बीच जाकर रहे और संस्कारिता से परे सदा चिर व्रात्य बने रहे। भद्र समाज में प्रवेश पाने की उन्होंने कभी कल्पना तक नहीं की।

उन्होंने शराब पी और फिर छोड़ दी, परन्तु उसके बाद भी वे एक खाली बोतल ऐसे स्थान पर रखते थे कि हर आनेवाले के दृष्टि-पथ में आ सके। अफीम खाने का प्रदर्शन करने का कोई अवसर वे नही चूकते थे । कुत्ता भी उन्होंने ऐसा पाला था जो न केवल देखने में अशोभनीय था, अपितु हर प्रकार की संस्कारिता से सौ योजन दूर था, और उससे वह इतना और ऐसा प्यार जताते थे जैसे उनका इकलौता पुत्र हो। भद्र समाज को नीचा दिखाने में उन्हें सचमुच मज़ा आता था।

स्त्रियों से उनके व्यक्तिगत संबंधों को लेकर भी न जाने कितनी अतिरंजना हुई। वे न तो योगी-यती थे और न कामी-कुमार्गी। एक कलाकार की भांति वे मात्र रोमांटिक थे। जब परिवार, समाज, यहां तक कि मित्रों तक ने उनके लिए अपने द्वार बन्द कर दिये थे तब वे ऐसी बस्तियों में जाकर रहते थे जिनके द्वार भद्रलोक के लिए दिन के प्रकाश में नहीं खुलते। समाज के सभी वर्गों की नारियों से उनके संबंध सहज और आत्मीय थे । अपनी प्रसिद्धि के स्वर्णकाल में भी वे उनसे मिलने से कभी नहीं कतराये। उन्होंने उन सभी को सहज भाव से

अपने साहित्य में मनुष्य की मर्यादा दी। इसलिए वे उनमें अगाध भक्ति रखती थीं, उनकी ओर आकर्षित होती थीं, उनकी कहानी कहने की भंगिमा पर वे मुग्ध थीं और उनके विचारों पर प्राण निछावर करती थीं। अनीति के प्रचारक के रूप में इसी कारण उनकी प्रसिद्धि चरम सीमा तक पहुंच गई थी। उन्हें कोयले से अधिक काला प्रमाणित करने के लिए न जाने कितनी कहानियां गढ़ ली गई थीं। अचरज तो यह है कि इस गढ़ने में उनका योग भी कम नहीं रहता था। परस्पर विरोधी बातें कहने में भी वे नहीं चूकते थे। एक मित्र से वे यह कह सकते थे "नारी जाति के सम्बन्ध में मैं कभी उच्छृंखल नहीं था और अब भी नहीं हूं ।" तो दूसरे मित्र को यह भी लिख सकते थे कि वे डेढ़ वर्ष तक एक धोबन के साथ प्रेम करते रहे हैं। उनका सारा जीवन इसी तरह की असंगतियों और परस्पर विरोधी स्थापनाओं से भरा है। उसका सही अर्थ परिस्थिति-विशेष और पूर्वापर के संबंध को जाने बिना नहीं समझा जा सकता। संदर्भ से बाहर उनका कोई अर्थ नहीं है और परिस्थिति को समझने के लिए उनके सम्पूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि को समझना होगा। ऐसा लगता है कि समाज से बदला लेने की भावना अनायास ही उनके अन्तर में कुण्डली मारकर बैठ गई थी। अन्यथा उनके चरित्र में ऐसी कोई बात नहीं थी जो किसी के लिए लज्जा का कारण हो सके। होती तो वे यह कैसे कह सकते, "मेरा जीवन अन्तत: मानो एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास में सब कुछ किया, पर छोटा काम कभी नहीं किया। जब मरूंगा निर्मल खाता छोड़ जाऊंगा। उसके बीच स्याही का दाग कहीं भी नहीं होगा।

"मैंने अनीति का प्रचार करने के लिए कलम नही पकड़ी। मैंने तो मनुष्य के अन्तर में छिपी हुई मनुष्यता को, उस महिमा को, जिसे सब नहीं देख पाते, नाना रूपों में अंकित करके प्रस्तुत किया है।"

बहुत कम लोग जानते हैं कि अपराजेय कथाशिल्पी शरच्चन्द्र ने राजनीति में भी सक्रिय योगदान दिया था। वे अपने देश को प्यार करते थे और मानते थे कि साहित्यकार ही देश की मुक्ति के आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे तो और कौन लेगा! उनके जीवन के इस पक्ष को उजागर करने का मैंने पूरा प्रयत्न किया है। जैसा कि हो सकता था, बहुत-सी बातें यहां भी विवादास्पद हैं पर, सबसे अधिक विवादास्पद प्रशन है-बंगला साहित्य में उनके स्थान का। कुछ लोगों को विश्वास है कि वे साहित्यिक थे ही नहीं, वे तो आवाराओं, दुराचारियों और वेश्याओं के प्रवक्ता थे। दूसरे कहते है कि उन्होंने कुछ भी तो नया नहीं दिया, बंकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ की जूठन ही अपने पात्रों में सजाकर रखी है, मात्र कहने का ढंग उनका अपना है। कुछ है कि इतना श्रेय भी नहीं देना चाहते और उन पर भाषा के भ्रष्ट करने का आरोप लगाते हैं। लेकिन स्वयं कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने उनकी मृत्यु से पन्द्रह मास पूर्व उनके लिए जो कुछ कहा था वह इन सब धारणाओं को झुठला देता है।

शरच्चन्द्र रवीन्द्रनाथ को सदा अपना गुरु मानते रहे। कई बार मतभेद हुए, गाली-गलौज जैसी स्थिति पैदा हुई, पर अन्तत: दोनों ने एक-दूसरे की प्रतिभा का वैसे ही वरण

किया जैसे उन्हें करना चाहिए था। शरद बाबू ने रवीन्द्रनाथ को व्यास के बाद भारत का सर्वोत्तम कवि घोषित किया तो रवीन्द्रनाथ ने भी बार-बार उनके कथा-साहित्य की विशेषताओं का अभिनन्दन किया। उनकी षष्ठिपूर्ति [2] के अवसर पर, जिसका आयोजन उन्होंने स्वयं किया था, उन्होंने कहा, "ज्योतिषी असीम आकाश में डूबकर नाना रश्मियों के समूहों से निर्मित नाना जगतों का आविष्कार करता है जो अनेक कक्षाओं के मार्ग में तेज़ी से उतर रहे हैं। शरच्चन्द्र की दृष्टि बंगाली हृदय के रहस्य में डूब गई है। सुख में, दुख में, मिलन-विछोह में संगठित विचित्र शक्ति का उन्होंने इस प्रकार परिचय दिया है, जिससे बंगाली अपने को प्रत्यक्ष पहचान सकें। दूसरे लेखकों ने बहुतों की प्रशंसा पाई है किन्तु सार्वजनिक हृदय का ऐसा आतिथ्य नहीं पाया। यह अद्‌भुत वस्तु नहीं है, यह प्यार है। अनायास ही जो प्रचुर सफलता उन्होंने पाई है, इससे वे मेरे ईर्ष्या भाजन हो गए हैं। आज शरच्चन्द्र के अभिनन्दन में विशेष गर्व अनुभव करता, यदि मैं उनको यह कह सकता कि तुम नितान्त मेरे द्वारा आविष्कृत हो। किन्तु उन्होंने किसी के हस्ताक्षरित परिचय-पत्र की अपेक्षा नहीं की। आज उनका अभिनन्दन देश के घर-घर में स्वत: ही उच्छ्वसित हुआ है। उन्होंने बंगाली वेदना के केन्द्र में अपनी वाणी का स्पन्दन पैदा किया है। साहित्य में उपदेष्टा से स्त्रष्टा का आसन बहुत ऊंचा है। चिन्ताशक्ति का वितर्क नहीं, कल्पना-शक्ति की पूर्ण दृष्टि ही साहित्य में शाश्वत मर्यादा के पद पर प्रतिष्ठित है। कवि के आसन से मैं विशेष रूप से उसी स्त्रष्टा शरच्चन्द्र को माला अर्पण करता हूं। वे शतायु होकर बंगला साहित्य को समृद्ध करें!

"अपने बचपन में बंकिमचन्द्र के अभ्युदय में बंगला साहित्य में मैंने एक नये भाव का प्लावन देखा था। बंकिमचन्द्र भगीरथ के समान जिस नये साहित्य को लेकर आए उसने बंगला देश के सर्वसाधारण के अन्तर को छुआ। उन्होंने उनको सादर अपना कहकर ग्रहण किया। केवल उस समय के तरुण और युवकों ने ही नही, अन्त:पुर तक में बंकिम-साहित्य की नई हवा प्रवेश कर गई थी। विरोधियों ने निन्दा और प्रतिवाद करने में कोई कसर नहीं रखी, क्योंकि बंकिम-साहित्य उन सबको लीलकर अपने को प्रतिष्ठित कर सका। अपनी वृद्धावस्था में शरच्चन्द्र के अभ्युदय में मैंने फिर वही व्यापार देखा। शरच्चन्द्र क्या-साहित्य में एक ऐसी वस्तु लेकर आये, जिसने बंगला देश के सर्वसाधारण के अन्तर को स्पर्श किया। उसकी निगूढ़तम वेदना के स्तर पर आघात किया। इसीलिए तो बंगला देश के सभी लोगों ने शरच्चन्द्र के साहित्य को अपना कहकर वरण किया...।"

किसी ने कहा है, "बंगाल के नवजागरण के वैतालिक थे राममोहन राय। मध्याह के चारण हुए बंकिमचन्द्र और उसकी परिणति हुई रवीन्द्रनाथ के साहित्य में। शरच्चन्द्र इसी रवीन्द्र युग के उज्जवल नक्षत्र थे। बंकिम देव के उपासक हैं, रवीन्द्र में अतीन्द्रिय अनुभूति है, पर शरद ने धरती की धूल को ही महिमामय किया। उन्होंने बंगाल की अपनी भाषा का प्रयोग किया और अपने निरंकुश मनका परिचय दिया। उनके यथार्थवादं में, यदि वह यथार्थवाद है, सम्वेदन और करुणामय चित्त का स्पर्श है।"

इस देश में ऐसे बहुत कम साहित्यिक हुए हैं, जिनका केवल सजातीय साहित्यिकों ने ही नहीं बल्कि राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, कानूनवेत्ताओं और धर्मतत्व के ज्ञाताओं ने सहज भाव से वरण किया हो। शरद बाबू उन्हीं विरल साहित्यकारों में थे जिनको सभी का प्यार मिला था। श्री अरविन्द की अन्तर्भेदी दृष्टि ने जैसे उन्हें पहचान लिया था। उन्होंने मानो सभी के स्वर में कहा है, "श्री शरच्चन्द्र की रचनाओं में उनकी विशाल मेंधा, मानवों तथा वस्तुओं के सूक्ष्म तथा सही पर्यवेक्षण और दुख तथा पीड़ा के प्रति सहानुभूति से भरे हृदय की अमिट छाप है। वे इतना अधिक संवेदनशील हैं कि उन्हें उस संसार से चैन कैसे प्राप्त हो सकता है। उनकी दृष्टि भी सम्भवत: उतनी ही अधिक फैली है। उनका मन बहुत निर्मल है और उनकी प्राणिक प्रकृति बहुत उदात्त।"

नवयुग का संदेश बंकिमचन्द्र ने नहीं दिया, ऐसा नहीं है, पर वे मूलत: संस्कारक शिल्पी थे। साधारण और सहज मानव के ऊपर उन्होंने आदर्श-महत्तर मनुष्य की प्रतिष्ठा की। दोषी मनुष्य को उन्होंने कठोर दण्ड दिया। परम्परा को वे पुनीत मानते थे। पाप से उन्हें घृणा थी। शरच्चन्द्र भी पाप का प्रचार नहीं करते। परम्परा से भी उन्हें घृणा नहीं है, पर वे मनुष्य को देवता के नाते नहीं, मनुष्य के नाते ही प्यार करते हैं। कोई शास्त्र, श्लोक, मंत्र-तंत्र मनुष्य से बड़ा नहीं है। उनके पात्र विशेषत्व रखते हुए भी इसी धरती की मिट्टी से बने हाड़-मांस के पुतले हैं। भीषण भावुकता के बावजूद विपरीत चित्तवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष जैसा यहां है सा बंकिम के साहित्य में नहीं।

रवीन्द्रनाथ ने जिस नवयुग का सूत्रपात किया, शरच्चन्द्र ने उसमें माटी की गंध बसाकर उसे घर-घर में पहुंचा दिया। रवीन्द्रनाथ के कथा-साहित्य में घटनाएं व्याख्या के बोझ से दब-सी गई हैं। विवरण पर विश्लेषण का आधिपत्य है। पर शरद के बात कहने की भंगिमा सुमधुर, सहज और सरल है। कहीं भी वे अपने को जीवन से अलग नहीं करते। वह जीवन एक साथ त्याग से उज्जवल और स्वार्थ से पीड़ित है, अनुभूति से गम्भीर और शासन-संस्कार से क्लिष्ट है। न बुद्धि, न युक्ति, बस अपूर्व सहानुभूति से दैन्य और संस्कारपीड़ित विधि-निषेध-निर्यातित हमारे वास्तव जीवन को हमारे हृदय के निकट ना दिया है।

संस्कृत से मुक्त लचीली प्रवाहमयी भाषा उन्हें रवीन्द्रनाथ से विरासत में मिली थी। रवीन्द्रनाथ ने बंकिमचन्द्र की भाषा को सहज-सरल बनाया था। शरच्चन्द्र ने उसे और प्रांजल तथा अंत:स्पर्शी बना दिया। जीवन के तुच्छ सुख-दुख की बात कहने की शक्ति भाषा में आ गई थी। शरद ने उसे व्यापकता और गहराई के साथ अद्‌भुत सहजता देकर पूर्ण रूप से अपनी बना लिया। उनकी भाषा में बाइबिल की-सी सरलता है। ऐसी सरलता जो उनके जीवन में घुल-मिल गई थी। मिथ्याडम्बरों से दूर केवल अभिज्ञता के बल पर ही उन्होंने सरलता और सादगी की शक्ति से पूर्ण अभिनव शैली का आविष्कार किया था।

रवीन्द्रनाथ मानवीय, घटनाओं को विश्व-प्रकृति के साथ मिलाकर देखते थे। उनका अन्तर्द्वन्द्व निर्वैक्तिक है। उनके चरित्र विचारों के मानवीय संस्करण है। उनका लक्ष्य है

देशातीत-कालातीत मानव। इसका मूल्य होने पर भी यह मनुष्य की क्षुधा को शांत नहीं करता। उन्होंने जीवन के वास्तविक सुख-दुख को अस्वीकार नहीं किया, पर दुखातीत महाजीवन की वाणी ही उनकी रचनाओं में प्रकट हुई। रवीन्द्रनाथ ने जो कुछ किया शरद ने उसे आगे बढ़ाया। कविगुरु जहां केवल उस समय के सामाजिक नियमों से वर्जित बहुत-से विषयों को, जैसे विधवा में प्रेम-लिप्सा को, स्वाभाविक बताकर रह गए वहां शरद ने आगे बढ़कर समाज के सामने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। प्रीतिहीन, धर्महीन, क्षमाहीन समाज से बार-बार पूछा, "तुमसे कुछ मानवीय कल्याण भी हुआ है क्या?"

शरद के पात्र भी असाधारण हैं, पर उनका समजातीय रूप समाज में पाया जा सकता है। वे रोज़मर्रा के जीवन से बेमेल नहीं लगते। कारण, उनके पीछे उनके स्रष्टा की अभिज्ञता का असीम कोष है। उनकी मौलिकता से इनकार करना मात्र दुराग्रह है। जिस प्रतिभा के बल पर उन्होंने रवीन्द्र-युग में, बरगद के पेड़ के नीचे, न केवल अपना स्थान बनाया बल्कि समूचे देश को अपनी ओर आकर्षित भी किया, वह क्या कम अभिनन्दनीय है? उनके साहित्य का क्षेत्र सीमित अवश्य है, पर अपूर्व भी है। वे प्रेम के चित्रण में अद्‌भुत सृजनात्मक शक्ति का परिचय देते हैं। उन पर चरित्रहीनता का आरोप लगाया गया है, पर उस चित्रण में अश्लीलता खोजे भी नहीं मिलती। मिलता है अद्‌भुत संयम। यही संयम शरद की विशेषता है, जो अपने-आप में अद्वितीय ही है।

अनुभूति की मार्मिकता और प्राणावेग, जहां तक इन दो गुणों का संबंध है, वे उन्हें पूर्ण रूप से प्राप्त थे।

समानता और असमानता के और भी अनेक बिन्दु खोजे जा सकते हें, पर सत्य यही है कि बंकिम, रवीन्द्र. और शरद अपने-अपने स्थान पर अप्रतिम और अनिवार्य हैं। परम्परा की कड़ियों की तरह एक-दूसरे से जुड़े हैं और प्रत्येक आगे आने वाले की तरह शरच्चन्द्र अपने दोनों महान् पूर्ववर्तियों के ऋणी हैं। रवीन्द्रनाथ के तो वे परम शिष्य हैं। रवीन्द्रनाथ न होते तो शरद भी न होते।

और शरद है इसीलिए 'आवारा मसीहा' भी है। यह केवल मेरे ही परिश्रम का परिणाम नहीं हो सकता। न जाने किस-किसके विचार-सौरभ और स्नेहस्पर्श ने उसमें प्राण उंडेले हैं। परिशिष्ट में उनके नामों का उल्लेख ही है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं की जा सकती। प्रेम का अर्ध्य ही उनको दिया जा सकता है।

उनके प्रारम्भिक जीवन को समझने के लिए उस काल के अनेक व्यक्तियों के साथ-साथ मैं उनके मामा और मित्र श्री सुरेन्द्रनाथ गांगुली का विशेष रूप से ऋणी हूं। जो कुछ मैंने लिखा है वह प्राय: सब उन्हीं का है। मैं तो मात्र शोधक हूं। उसी प्रकार उनके बर्मा-प्रवास की कहानी के लिए मैं जिस एक व्यक्ति का सबसे अधिक ऋणी हूं वे हैं योगेन्द्रनाथ सरकार। गिरीन्द्रनाथ सरकार ओर सतीशचन्द्र दासगुप्ता का योगदान भी कम नही है। इन सब व्यक्तियों की रचनाओं के आधार पर ही मैंने 'अवारा मसीहा' के प्रथम दो खण्डों की

इमारत खड़ी की है। उनके राजनीतिक जीवन की सबसे अधिक सामग्री मिली थी शचीनन्दन चट्टोपाध्याय की पुस्तक से।

इस प्रकार इस पुस्तक की सामग्री के तीन प्रमुख स्रोत रहे है -एक तो उन व्यक्तियों से साक्षात्कार जो किसी न किसी रूप में शरद बाबू से संबंधित रहे। दूसरे उनके समकालीन मित्रों के लेख-संस्मरण और तीसरे उनकी अपनी रचनाओं में इधर-उधर बिखरे वे स्थल और प्रसंग जिनका उनके जीवन से सीधा संबंध रहा। इतने अनुभव के बाद उन्हे, ढूंढ लेना बहुत कठिन नहीं हुआ।

मैं स्वीकार करूंगा कि पुस्तक को अधिक से अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए मैंने इन विवरणों का यथाशक्ति उपयोग किया है। जीवित व्यक्तियों में मैं सबसे अधिक ऋणी हूं सुपरिचित पर्यटक स्वनामधन्य उमाप्रसाद मुकर्जी का, जिन्होंने सहज भाव से मुझे अपना लिया और शरद बाबू की सभी सामग्री जो उनके पास सुरक्षित है, मेरे लिए सुलभ कर दी। उनके स्नेह के प्रतिदान की कल्पना करना भी उसके महत्व को कम करना है। इसी प्रकार गंगोत्री निवासी सुपरिचित पर्यटक और फोटोग्राफर स्वामी सुन्दरानन्द ने मेरे साथ घूमकर जो अनेक चित्र सुलभ कर दिये उसके लिए सन्यासी को क्या धन्यवाद दूं? उन्हें प्रणाम ही कर सकता हूं।

अन्त में मैं स्वर्गीय श्री नाथूराम प्रेमी को प्रणाम करता हूं जिनके कारण 'आवारा मसीहा' का सृजन सम्भव हो सका। मुझे खेद है कि इसके पूर्ण होने से पूर्व ही उन्हें चले जाना पड़ा, पर इस बात का सन्तोष भी है कि अन्तत: मैं उनकी इच्छा पूर्ण कर सका। उन्हीं की पावन स्मृति को मेरा यह यत्किंचित प्रयास समर्पित है।

—विष्णु प्रभाकर

मार्च 1974
818, कुण्डेवालान,
अजमेरी गेट, दिल्ली-110006

---

1. 31 अगस्त 1960 ई०

2. 11 अक्टूबर 1936 ई०

तीसरे संस्करण की भूमिका

लगभग साढ़े तीन वर्ष में 'आवारा मसीहा' के दो संस्करण समाप्त हो गए-यह तथ्य शरद बाबू के प्रति हिन्दी भाषाभाषी जनता की आस्था का ही परिचायक है, विशेष रूप से इसलिए कि आज के महंगाई के युग में पैंतालीस या, पैंतीस रुपये कुछ अर्थ रखते है।

दूसरे संस्करण में मैंने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया था। टंकण और मुद्रण या किसी और प्रमादवश जो अशुद्धियां रह गई थीं उन्हें ठीक कर दिया था। यहां-वहां आए कुछ उद्धरण या तो निकाल दिए थे या उनका कलेवर कुछ कम कर दिया था। महात्मा गांधी पर उनका लेख परिशिष्ट में दे दिया था। ऐसा करने का उद्देश्य यही था कि 'तीसरे खण्ड' में भारीपन की जो शिकायत कुछ मित्रों ने की थी वह कम हो जाए। शायद हुई भी है।

शरद बाबू की जन्मशताब्दी के उत्सव सितम्बर, 1997 तक समाप्त हो गए। आशा की थी कि उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ नए तथ्य उजागर होंगे, कहने को कुछ हुए भी पर उनमें कोई ऐसा न था जो इस पुस्तक की मूल स्थापनाओं को प्रभावित कर सकता।

फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। गुजराती में सबसे पहले सन् 1925 के आसपास श्री महादेव देसाई ने उनकी कुछ रचनाओं का अनुवाद किया था। ऐसा उन्होंने स्वयं महात्मा गांधी के आदेश पर किया था। वे रचनाएं थीं-विराजबहू, बिन्दो का लल्ला, राम की सुमति और मंझली दीदी।

उनके मधुर कण्ठ की चर्चा इस पुस्तक में विस्तार से हुई है पर उनका रचा कोई गीत भी है इसकी प्रामाणिक जानकारी मुझे नहीं थी। श्री सत्येश्वर मुखोपाध्याय ने अपने लेख 'सुर-पियारी शरच्चन्द्र'' [1] में यह दावा किया है कि 'षोडशी' नाटक का यह गीत उन्हीं की रचना है -

तोर' पाबार समय छिल जखन
ओरे अबोध मन,
मरण खेलार नेशाय मेते
रइलि अचेतन।
ओरे अबोध मन।।
तखन छिल मणि, छिल माणिक
पथेर धारे,
एखन डूबल तारा दिनेर शेषे
विषम अन्धकारे।

आज मिथ्ये जे तोर खोजां खूंजि
मिथ्ये चोखेर जल
तारे कोथाय पावि बल?
तोर अतल तले तलिये गेल
शेष साधनार धन।
ओरे अबोध मन।।

हिरण्मयी देवी के विवाह को लेकर एक बार फिर विवाद चल पड़ा है, लेकिन 'वसीयतनामे' में उन्हें शरद बाबू ने अपनी पत्नी स्वीक़ार किया है। वही हमारे लिए सत्य है। शास्त्रसम्मत विधि- विधान से उन्हें यह पद मिला अथवा हृदय के मिलन द्वारा -यह विवाद अब अर्थ खो बैठा है।

वह मुक्त मन से क्रांतिकारियों की आर्थिक सहायता करते थे, यह बात भी इस पुस्तक में बार-बार कही गई है। इस बात को प्रमाणित करनेवाले कुछ और तथ्य सामने आए हैं।

हेनरीवुड के उपन्यास 'इस्टलीन' के आधार पर शरद बाबू ने एक उपन्यास 'अभिमान' नाम देकर लिखा था। उसे पढ़कर एक युवक उन्हें मारने दौड़ा था। श्री गोपालचन्द्र राय का अनुमान है कि वह युवक ब्रह्मसमाजी रहा होगा, क्योंकि 'अभिमान' में एक ब्राह्म गृहिणी पति को त्यागकर दूसरा विवाह कर लेती है। 'इस्टलीन' जिस परिवेश का उपन्यास है वहां ऐसा करना पाप नहीं समझा जाता था, परन्तु उस युग के भारतीय परिवेश में ऐसा चित्रित करना निस्सन्देह निन्दनीय समझा जाता था।

एक और महत्वपूर्ण तथ्य जिसका उल्लेख करना आवश्यक है, यह है कि श्रीमती निरुपमा देवी ने पत्र लिखकर उनसे विधवा चरित्र कई आलोचना न करने कि प्रार्थना की थी। उन्होंने वचन दिया था, "तुम्हारे मन को आघात पहुंचाए ऐसा कुछ कभी नहीं लिखूंगा।" निरुपमा देवी से उनके सम्बन्धों की विवेचना करते समय इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। मेरी स्थापना को इससे समर्थन ही मिला है।

उनके अपने चरित्र के विभिन्न पहलुओं को उजागर करने वाली कुछ और कथाएं सामने आई हैं। उनमें से कम से कम एक का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। एक रात अचानक वह सोते-सोते जाग पड़े। गांव में शोर मच रहा था। बीच-बीच में किसी का चीत्कार भी सुनाई दे जाता था। वह विचलित हो उठे। तुरन्त बाहर आए। पता लगाने पर जाना कि दो युवक चोरी करते हुए पकड़े गए हैं। उन्हीं को गांव वाले पीट रहे हैं।

पशु का क्रंदन सुनकर जो विकल हो उठते थे वह मनुष्य को पिटते देखकर कैसे शान्त रह सकते थे! तुरन्त घटनास्थल पर पहुंचे। लोगों को समझाया-बुझाया। कहा कि मारो मत। चोरी की है तो पुलिस को सूचना दो।

गांवों वालों ने उनकी बात मान ली। शरद बाबू उन दोनों युवकों को अपने घर ले गए। पुलिस के आने तक वे वहीं रहे। बेचारी के प्राण बचे।

लेकिन जब पुलिस उनको लेकर चली गई तब क्या अवस्था हुई उनकी? दिन चढ़ गया पर वे कमरे से बाहर नहीं निकले। पत्नी ने अनुनय-विनय की, मित्र आये, पर वह रोते ही रहे। कहते रहे कि कितना बड़ा पाप किया है मैंने। दो युवकों को चोर बना दिया। उन्हें पुलिस को सौंप दिया। वहां से अब वे दागी चोर बनकर ही निकलेंगे।

मेरे समीक्षक मित्रों ने 'आवारा मसीहा' का जहां स्वागत किया वहां कुछ त्रुटियों की ओर भी संकेत किया है, कुछ सुझाव भी दिये हैं। कृतज्ञ भाव से उस दिशा मे जो कुछ कर सकता था, किया है। जो नहीं कर सका, वह किसी जिद के कारण नहीं बल्कि असमर्थता के कारण ही हुआ है। प्रामाणिकता का अभाव उनमें सबसे बड़ा कारण है। कहीं- कहीं मतभेद भी है, जो स्वाभाविक है।

इसके प्रणयनकाल में कैसी-कैसी कठिनाइयां मेरे सामने आईं, इसकी एक झलक मैंने प्रथम संस्करण की भूमिका में दी है पर उससे मेरे समीक्षक और पाठक सन्तुष्ट नहीं हो सके हैं। सबकी चर्चा करना तो कई कारणों से अब भी सम्भव नहीं होगा, पर एक बात की ओर संकेत अवश्य करना चाहूंगा। शरद बाबू का जीवनक्रम इतना उलझा हुआ, इतना विश्रंखल है कि उसमें तारतम्य बैठाना, उसके क्रम को ठीक करना बड़ा दुष्कर कार्य है। कौन-सी घटना कब घटी, कैसे घटी, कब कहां रहे, कितने दिन रहे, कौन-सा भाषण कब दिया, क्या ठीक-ठीक कहा, इसका सही लेखा-जोखा कहीं उपलब्ध नहीं है। जो है वह एकदम विश्रंखल है। उसकी तलाश में मुझे बरसों यहां-वहां भटकना पड़ा। ज्योतिषियों की शरण ली, विश्वविद्यालय के, कैलेण्डर देखे, स्कूल-कालेज के रजिस्टर टटोले, पुरानी पत्रिकाएं ढूंढी, तब कुछ रूप बन सका।

वह भागलपुर से कब भागे, इसका कुछ-कुछ सही पता तब चला जब भागलपुर में ही रचित और हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित उनकी जुलाई सन् 1901 की एक रचना देखने में आई। दिसम्बर सन् 1902 के अन्त में उन्होंने अपनी बहन के घर गोविन्दपुर से मामा गिरीन्द्रनाथ को जो पत्र लिखा था वह मुझे दिल्ली में ही उनके पुत्र श्री अमलकुमार गांगुली के सौजन्य से सन् 1973 में मिल सका। उसके मिलने से बहुत-सी तिथियां आप से आप ठीक हो गईं। वह बरमा से कब लौटे, इसकी तिथि भी अनुमान-प्रमाण के सहारे निश्चित की गई है। नहीं तो एक लेखक ने उन्हें उसके बहुत बाद भी रंगून में रवीन्द्रनाथ से मिलते दिखाया है।

उनके प्राय: सभी जीवनीकारों ने लिखा है कि उन्होंने मैट्रिक दिसम्बर, सन् 1894 में पास किया, लेकिन मैं उनसे सहमत नहीं हो सका। विश्वविद्यालय जाकर कैलेण्डर देखा तो पाया कि परीक्षाएं, सोमवार 12 फरवरी सन् 1894 से आरम्भ हुई थीं। परीक्षा-फल अधिक से अधिक अप्रैल सन् 1894 में घोषित हुआ होगा, पर कैलेण्डर में वह दिसम्बर में ही छप सका। उसी को देखकर सभी ने मान लिया कि उन्होंने दिसम्बर सन् 1894 में मैट्रिक पास किया। यदि ऐसा होता तो वे उस वर्ष कालेज में प्रवेश कैसे पा सकते थे?

बंगाली निश्चित रूप से बंगाब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए मेरे सामने यह एक और समस्या थी कि इन तिथियों को ईसवी सन् के अनुसार तिथियों में कैसे परिवर्तित करूं। पुराने कैलेण्डरों की तलाश में अनेक मित्रों और पुस्तकालयों की शरण लेनी पड़ी क्योंकि तिथियों का अपना महत्त्व है। जो ज्योतिषशास्त्र में विश्वास करते हैं वे इस बात को खूब समझते हैं।

तो इन विसंगतियों का कोई अन्त नहीं है। बेशक वे विसंगतियां मनुष्य शरच्चन्द्र को प्रभावित नहीं करती। वे कब कहां रहे, कब कहां गये, यह अन्ततः कोई महत्त्व नहीं रखता पर जीवनक्रम को समझने के लिए इसकी आवश्यकता होना स्वाभाविक ही है।

मैंने अपनी भूमिका में 'सिक्स्थ सेन्स' की बात कही है, पर वह जितनी भ्रान्त और अभ्रान्त से परे जो वास्तविक शरच्चन्द्र है उसको पहचानने के सम्बन्ध में है उतनी स्वयं घटनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे नहीं।

'आवारा मसीहा' नाम को लेकर भी काफी ऊहापोह मची है। वे-वे अर्थ किए गए जिनकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मैं तो इस नाम के माध्यम से यही बताना चाहता था कि कैसे एक आवारा लड़का अन्त में पीड़ित मानवता का मसीहा बन गया। आवारा और मसीहा दो शब्द हैं। दोनों में एक ही अन्तर है। आवारा के सामने दिशा नहीं होती। जिस दिन उसे दिशा मिल जाती है उसी दिन वह मसीहा बन जाता है। मुझे खुशी है कि अधिकतर मित्रों ने इस नाम को, इसी सन्दर्भ में, कबूल किया है।

अन्त में एक बात और स्पष्ट कर दूं। 'आवारा मसीहा' में आई किसी घटना के बारे में मैंने कल्पना नहीं की। जितनी और जैसी जानकारी पा सका हूं उतना ही मैंने लिखा है। प्रथम पुरुष के रूप में उनके मुख से जो कुछ कहलवाया है वह सब उनके उन मित्रों के संस्मरणों से लिया है जो उसके साक्षी रहे हैं। यथासम्भव उन्हीं की भाषा का प्रयोग मैंने किया है। प्रामाणिका की दृष्टि से एक-दो स्थानों पर उनकी रचनाओं में आए उन्हीं स्थलों के वर्णन का भी सहारा लिया है पर ऐसा बहुत ही कम किया है। मैंने अगर स्वतन्त्रता ली भी है तो उतनी ही जितनी एक अनुवादक ले सकता है।

मनचाहा तो कभी होता नहीं, पर अनेक विसंगतियों और असंगतियों के बावजूद मित्रों ने, विशेषकर बंगाली मित्रों ने मेरे इस तुच्छ प्रयत्न का जैसा स्वागत किया है उससे मेरा उत्साह ही बढ़ा है। प्रसन्नता की बात यह है कि इसका अनुवाद बंगला भाषा में भी प्रकाशित हो चुका है। दूसरी भाषाओं में भी अच्छी प्रगति हुई है। उन सबके प्रति मैं कृतज्ञ भाव से नत हूं। और शरच्चन्द्र के प्रति, एक बार फिर, कवि नजरुल के शब्दों में नतमस्तक होकर कहूंगा-

अवमाननार अतल गहरे ये मानुष छिलो लुकाये,
शरत्चांदेर ज्योत्सना तादेर दिलो राजपथ दिखाये।

-विष्णु प्रभाकर

29 सितम्बर 1977
818, कुण्डेवालान,
अजमेरी गेट, दिल्ली- 110006

---

1. 'दिगन्त' दिल्ली, दिसम्बर, 1975

क्रम

प्रथम पर्व : दिशाहारा -1. विदा का दर्द , 2. भागलपुर में कठोर अनुशासन , 3. राजू उर्फ इन्द्रनाथ से परिचय , 4. वंश का गौरव , 5. होनहार बिरवान..... , 6. रोबिनहुड , 7. अच्छे विद्यार्थी से कथा-विद्या-विशारद तक , 8. एक प्रेमप्लावित आत्मा , 9. वह युग , 10. नाना-परिवार से विद्रोह , 11.‘शरत् को घर में मत आने दो’ , 12. राजू उर्फ इन्द्रनाथ की याद , 13. सृजिन का युग , 14 ‘आलो' और 'छाया' , 15. प्रेम की अपार भूख , 16. निरुद्देश्य यात्रा , 17. जीवनमन्थन से निकला विष , 18. बंधुहीन, लक्ष्यहीन प्रवास की ओर ।
द्वितीय पर्व : दिशा की खोज -1. एक और स्वप्नभंग , 2. सभ्य समाज से जोड़ने वाला गुण , 3. खोज और खोज , 4. वह अल्पकालिक दाम्पत्य जीवन , 5. चित्रांकन , 6. इतनी सुंदर रचना किसने की? 7. प्रेरणा के स्रोत, 8. मोक्षदा से हिरण्मयी , 9. गृहदाद , 10. हां, अब फिर लिखूंगा , 11. रामेर सुमति शरतेर सुमति , 12. सृजन का आवेग , 13. चरित्रहीन', क्रिएटिंग अलार्मिंग सेंसेशन , 14. 'भारतवर्ष' में ‘दिराज बहू’ , 15. विजयी राजकुमार , 16. नये-नये परिचय , 17.‘देहाती समाज' और आवारा श्रीकांत , 18. दिशा की खोज समाप्त।
तृतीय पर्व : दिशांत -1. ‘वह' से ‘वे' , 2. सृजन का स्वर्ण युग , 3. आवारा श्रीकांत का ऐश्वर्य , 4. देश की मुक्ति का व्रत , 5. स्वाधीनता का रक्तकमल , 6. निष्कम्प दीपशिखा , 7. समाने-समाने होय प्रणयेर विनिमय , 8. राजनीतिज्ञ अभिज्ञता का साहित्य , 9. लिखने का दर्द , 10. समष्टि के बीच , 11. आवारा जीवन की ललक , 12. ‘हमने ही तो उन्हें समाप्त कर दिया' , 13. ‘पथेर दाबी' , 14. रूप नारायण का विस्तार , 15. देहाती शरत् , 16. दायोनिसस शिवानी से वैष्णवी कमललता तक , 17. तुम में नाटक लिखने की शक्ति है , 18. नारी-चरित्र के परम रहस्यज्ञाता , 19. मैं मनुष्य को बहुत बड़ा करके मानता हूं , 20. देश के तरुणों से मैं कहता हूं , 21. ऋषिकल्प , 22. गुरु और शिष्य , 23. कैशोर्य का वह असफल प्रेम , 24. श्री अरविन्द का आशीर्वाद , 25. तबु बिहंग ओरे बिहंग भोंर , 26. अल्लाह, अल्लाह , 27. मरीज की हवा दो बदल , 28. साजन के घर जाना होगा , 29. बेशुमार यादें
परिशिष्ट-1 , परिशिष्ट-2 , परिशिष्ट-3 , परिशिष्ट-4 ।

आवारा मसीहा

प्रथम पर्व

... दिशाहारा ...

किसी कारण स्कूल की आधी छुट्टी हो गई थी। घर लौटकर गांगुलियो के नवासे शरत् ने अपने मामा सुरेन्द्र से कहा, "चलो पुराने बाग में घूम आएं।"

उस समय खूब गर्मी पड़ रही थी, फूल-फल का कहीं पता नहीं था। लेकिन घनी छाया के नीचे निस्तब्धता में समय काटना बहुत अच्छा लगता था। वह अब यहां से चला जाएगा, इस बात से शरत् का मन बहुत भारी था। लेकिन कहता वह किसी से नहीं था। चुपचाप सुरेन्द्र के साथ घर से निकल पड़ा। नाते में मामा और आयु में छोटा होने पर भी दोनों में धीरे-धीरे मित्रता के बंधन गहराते आ रहे थे।

बाग में पहुंचकर पेड़ों के पास घूमते-घूमते वह मानो मन ही मन उनसे विदा लेने लगा। शायद वह सोच रहा था कि अब वापस आना हो या न हो। फिर जैसा कि उसका स्वभाव था, सहसा कूदकर वह एक पेड़ की डाल पर बैठ गया और बातें करने लगा। इन बातों का कोई अन्त नहीं था। कोई सूत्र भी नहीं था। विदा के दुख को छिपाने के लिए ही मानो वह कुछ न कुछ कहते रहना चाहता था। बोला; "तू दुखी न हो, हम फिर मिलेंगे और बीच-बीच में तो मैं आता ही रहूंगा।"

"आओगे?"

"क्यों नहीं आऊंगा, भागलपुर क्या मुझे कम अच्छा लगता है? घाट के टूटे स्तूप पर स गंगा में कूदने में कितना मज़ा आता है! उस पार वह जो झाऊ का वन है, उसे क्या भूल सकूंगा! वह मुझे पुकारेगा और मैं चला आऊंगा।"

फिर दीर्घ निःश्वास लेकर बोला. "ओह, कितनी प्यारी जगह है यह भागलपुर, देख लेना मै, अवश्य आऊंगा।"

दो क्षण तक दोनों में से कोई नहीं बोला। फिर सहसा शरत् ने कहा, "पेड़ पर चढ़ना बड़ा ज़रूरी है, मान लो किसी वन में जा रहे है, हठात् संध्या का अंधकार फैल गया, चारों ओर से हिंसक पशुओं की आवाज़ें उठने लगीं, तब यदि पेड़ पर चढ़ना न आया तो महा विपद..."

सुरेन्द्र ने पूछा, "अगर गिर पड़े तो..."

शरत् ने कहा, "गिरेगा क्यों रे !"

वह और ऊपर चढ़ गया। एक कपड़े से कमर को पेड़ की एक मोटी शाखा से बांधा और लेट गया। बोला, "इस तरह सोकर रात काटी जा सकती है।"

नाना के घर रहते शरत् को लगभग तीन वर्ष हो गए थे। इससे पहले भी वह मां के साथ कई बार आ चुका था। सबसे पहली बार उसकी मां जब उसको लेकर आई थी, तो नाना-नानियों ने उस पर धन और अलंकारों की वर्षा की थी। नाना केदारनाथ ने कमर में सोने की तगड़ी पहनाकर उसे गोद में उठाया था। उस परिवार में इस पीढ़ी का पहला लड़का था वह!

लेकिन तीन वर्ष पहले का यह आना कुछ और ही तरह का था। उसके पिता मोतीलाल यायावर प्रकृति के स्वप्नदर्शी व्यक्ति थे। जीविका का कोई भी धंधा उन्हें कभी बांधकर नहीं रख सका। चारों ओर से लांछित होकर वह बार-बार काम-काज की तलाश करते थे। नौकरी मिल भी जाती थी तो उनके शिल्पी मन और दासता के बन्धन में कोई सामंजस्य न हो पाता। कुछ दिन उसमें मन लगाते, परन्तु फिर एक दिन अचानक बड़े साहब से झगड़ कर उसे छोड़ बैठते और पढने में व्यस्त हो जाते या कविता करने लगते। कहानी, उपन्यास, नाटक सभी कुछ लिखने का शौक था। चित्रकला में भी रुचि थी।

सौन्दर्य-बोध भी कम नहीं था। सुन्दर कलम में नया निब लगाकर बढ़िया कागज़ पर मोती जैसे अक्षरों में रचना आरम्भ करते, परन्तु आरम्भ जितना महत्वपूर्ण होता, अन्त होता उतना ही महत्त्वहीन। अन्त की अनिवार्यता मानो उन्होंने कभी स्वीकार ही नहीं की। बीच में ही छोड़कर नई रचना आरम्भ कर देते। शायद उनका आदर्श बहुत ऊंचा होता था या शायद अन्त तक पहुंचने की क्षमता ही उनमें नहीं थी। वह कभी कोई रचना पूरी नहीं कर सके। एक बार बच्चों के लिए उन्होंने भारतवर्ष का एक विशाल मानचित्र तैयार करना आरम्भ किया, परन्तु तभी मन में एक प्रश्न जाग आया, क्या इस मानचित्र में हिमाचल की गरिमा का ठीक-ठीक अंकन हो सकेगा? नहीं हो सकेगा। बस, फिर किसी भी तरह वह काम आगे नहीं बढ़ सका।

इस तरह मोतीलाल की सारी कला-साधना व्यर्थता में ही सफल हुई। परिवार का भरण-पोषण उनके लिए असम्भव हो गया। यह देखकर शरत् की मां भुवन-मोहिनी ने पहले तो पति को बहुत-कुछ कहा-सुना, फिर अपने पिता केदारनाथ से याचना की एक दिन सबको लेकर भागलपुर चली आई। मोतीलाल एक बार फिर घर-जंवाई होकर रहने लगे।

2

भागलपुर आने पर शरत् को दुर्गाचरण एम० ई० स्कूल की छात्रवृत्ति क्लास में भर्ती कर दिया गया। नाना स्कूल के मंत्री थे, इसलिए बालक की शिक्षा-दीक्षा कहां तक हुई है, इसकी किसी ने खोज-खबर नहीं ली। अब तक उसने केवल 'बोधोदय' ही पढ़ा था। यहां उसे पढ़ना पड़ा 'सीता-वनबास', 'चारु पाठ', 'सद्भाव-सद्गुरु' और 'प्रकाण्ड व्याकरण'। यह केवल पढ़ जाना ही नहीं था, बल्कि स्वयं पण्डितजी के सामने खड़े होकर प्रतिदिन परीक्षा देना था। इसलिए यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि बालक शरत् का साहित्य से प्रथम परिचय आंसुओं के माध्यम से हुआ। उस समय वह सोच भी नही सकता था कि मनुष्य को दुख पहुंचाने के अलावा भी साहित्य का कोई उद्देश्य हो सकता है, लेकिन शीघ्र ही वह यह अवश्य ससमझ गया कि वह क्लास में बहुत पीछे है। यह बात वह सह नहीं सकता था, इसलिए उसने परिश्रमपूर्वक पढ़ना आरम्भ कर दिया। और देखते-देखते बहुतों को पीछे छोड़कर अच्छे बच्चों में गिना जाने लगा।

नाना लोग कई भाई थे और संयुक्त परिवार में एक साथ रहते थे। इसलिए मामाओं और मौसियों की संख्या काफी थी। उनमें छोटे नाना अघोरनाथ का बेटा मणीन्द्र उसका सहपाठी था। उन दोनों को घर पढ़ाने के लिए नाना ने अक्षय पण्डित को नियुक्त कर दिया था। वे मानो यमराज के सहोदर थे। मानते थे कि विद्या का निवास गुरु के डंडे में है। इसलिए बीच-बीच में सिंह-गर्जना के साथ-साथ रूदन की करुण ध्वनि भी सुनाई देती रहती थी।

इस विद्याध्ययन के समय शरारत कम नहीं चलती थी। शरत् यहां भी अग्रणी था। उस दिन तेल के दिये के चारों और बैठकर सब बच्चे पढ़ रहे थे। और बरामदे में निवाड़ के पलंग पर लेटे हुए नाना सुन रहे थे। सहसा ये बोल उठे, "क्यों, पुराना पाठ याद कर रहे हो? आज नया पाठ नहीं पढ़ा क्या?"

"नहीं!"

"क्यों?"

"पण्डितजी नहीं आए। उन्हें बुखार आ गया है।"

बस नाना ने घर के सेवक मुशाई को पुकारा, "मुशाई, लालटेन जलाओ! पण्डितजी को बुखार आ गया है। देखने जाना है।"

वे स्कूल के मंत्री ही नहीं, समाज के नेता भी थे। मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसमें वे आदर्श माने जाते थे। उनके जाते ही शरत् ने घोषणा की, "कैट इज़ आउट,

लेट माउस प्ले।"

और तुरन्त ही समवेत गान का यह स्वर वहां गूंज उठा :

डांस लिटिल बेबी, डांस अप हाई,
नेवर माइण्ड बेबी, मदर इज़ नाई।
क्रो एण्ड केपार, केपार एण्ड क्रो,
देअर लिटिल बेबी, देअर यू गो।
अप-टू दी सीलिंग, अप- टू दी ग्राउंड,
बैकवर्ड एण्ड फार्वर्ड, राउण्ड एण्ड राउण्ड।
डांस लिटिल बेबी, एण्ड मदर विल सिंग,
मैरिली-मैरिली, डिंग-डिंग-डिंग।

एक उत्साही बालक ने इस अन्तिम पंक्ति का तुरन्त हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया, "खुशी से, खुशी से, ताक धिनाधिन।"

एक दिन न जाने कहा से एक चमगादड़ बच्चों के सिर पर आकर मंडरान लगा। छोटा मामा देवी सोया पड़ा था क्योंकि नाना भी सो गए थे। तब बाकी बच्चों का पढ़ना कैसे होता? चमगादड़ को देखकर मणि और शरत् के हाथ खुजलाने लगे। लाठियां लेकर वे उसे पकड़ने दौड़े। फिर जो युद्ध मचा, उसमें चमगादड़ तो जंगले में से होकर निकल गया, लेकिन लाठी दीवे में जा लगी। चादर पर तेल फैलाता हुआ वह बुझकर गिर पड़ा। यह देखकर मणि और शरत् दोनों चुपचाप वहां से पलायन कर गए। नाना की आंख खुल गई। देखा घोर अंधकार फैला है।

पुकार उठे, मुशाई, मुशाई!"

"बाती कैयूं बुत्त गया?"

दियासलाई जलाकर मुशाई ने देखा कि वंहा न तो मणि है और न शरत्। केवल देवी गहरी नींद में सोया है। बोला, "मणि और शरत् तो खाना खाने गए है। देवी ने बत्ती गिरा दी है।"

इस अपराध की कोई क्षमा नहीं थी। केदारनाथ ने देवी का कान पकड़कर उठाया और मुशाई से कहा, "इसे ले जाकर अस्तबल में बन्द कर दो।"

अगले दिन मामा को प्रसन्न करने के लिए गहरी रिश्वत देनी पड़ी। लेकिन देवी पर मां सरस्वती की कम कृपा थी। शरत् के बड़े मामा ठाकुरदास सभी बच्चों की शिक्षा की देख-भाल करते थे। वे गांगुली परिवार की कट्टरता और कठोरता के सच्चे प्रतिनिधि थे। उस दिन क्या हुआ, मोतीलाल बच्चों को लेकर गंगा के किनारे घूम रहे थे कि अचानक ठाकुरदास आ निकले। उनकी दृष्टि में. यह अक्षम्य अपराध था। उन्होंने बच्चों को तुरन्त परीक्षा के लिए प्रस्तुत होने का आदेश दिया। किसी तरह मणि और शरत् तो मुक्ति पा गए, लेकिन देवी ने जगन्नाथ शब्द का संधि-विच्छेद किया, 'जगड़-नाथ'।

इस अपराध का दण्ड पीठ पर चाबुक खाना ही नहीं था, अस्तबल में बन्द होना भी था। परन्तु शरत् पर इन बातों का कोई असर नहीं होता था। यहां तक कि स्कूल में भी दुष्टता करने से वह नहीं चुकता था। अक्सर वहां की घड़ी समय से आगे चलने लगती। उसको ठीक करके चलाने का भार वैसे अक्षय पण्डित पर था। लेकिन दो घंटे खूब जमकर काम करने के बाद तमाखू खाने की इच्छा हो आना स्वाभाविक था। तब वे स्कूल के सेवक जगुआ की पानशाला में जा उपस्थित होते। इसी समय शरत् की प्रेरणा से दूसरे छात्र उस घड़ी को दस मिनट आगे कर देते। कई दिन तक जब उनकी चोरी नहीं पकड़ी गई तो साहस और बढ़ गया। वे घड़ी को आधा घंटा आगे करन लगे। इसके बाद कभी- कभी वह एक घंटा भी आगे हो जाती थी। उस दिन तीन का समय होने पर उसमें चार बजे थे। अभिभावकों के मन में सन्देह होने लगा, लेकिन पण्डितजी ने उत्तर दिया, मै स्वयं घड़ी की देखभाल करता हूं।"

उत्तर उन्होंने दे दिया, लेकिन शंका उनके भी मन में थी। इसलिए उन्होंने चुपचाप इस रहस्य क पता लगाने का प्रयत्न किया। एक दिन पानशाला से असमय में ही लौट आए, क्या देखते हैं कि बच्चे एक-दूसरे के कंधे पर चढ़कर घड़ी को आगे कर रहे है। बस वे गरज उठे। और सब लड़के तो निमिष-मात्र में वहां से भाग गए, लेकिन शरत् भले लड़के का अभिनय करता हुआ बैठा रहा। पण्डितजी यह कभी नहीं जान सके कि इस सारे नाटक का निदेशक वही है। उसने कहा, पण्डितजी, आपके पैर छूकर कहता हूं मुझे कुछ नहीं मालूम। मैं तो मन लगाकर सवाल निकाल रहा था।"

उस समय की उसकी मुख-भंगी देखकर कौन अविश्वास कर सक्ता था? अपने असीम साहस और समझ-बूझ के कारण जिस प्रकार वह घर में मामा लोगों के दल का दलपति बन गया था, उसी प्रकार स्कूल के विद्यार्थियों के नेतृत्व का भार भी अनायास ही उसके कंधों पर आ गया।

उसके शौक भी बहुत थे, जैसे पशु-पक्षी पालना और उपवन लगाना। लेकिन उनमें सबसे प्रमुख था तितली-उद्योग। नाना रूप-रंग की अनेक तितलियों को उसने काठ के बक्स में रखा था। बड़े यत्न से वह उनकी देख-भाल करता था। उनकी रुचि के अनुसार भोजन की व्यवस्था होती थी। उनके युद्ध का प्रदर्शन भी होता था। उसी प्रदर्शन के कारण उसके सभी साथी उसकी सहायता करके अपने को धन्य मानते थे। उनमें न केवल परिवार के या दूसरे बड़े घरों के बालक थे बल्कि घर के नौकरों के बच्चे भी थे। उनके साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नही किया जाता था। ये बच्चे भी उसे प्रसन्न करके अपने को कृतार्थ अनुभव करते थे।

अपने उपवन में उसने अनेक प्रकार के फूल-गाछ और लता-गुल्म लगाए थे। ऋतु के अनुसार जूही, बेला, चन्द्रमल्लिका और गेंदा आदि के फूल खिलते और दलपति सहित सभी बच्चे गद्‌गद हो उठते। इस उपवन के बीच में गडढा खोदकर एक तलैया का निर्माण भी

उसने किया था। उस पर टूटे शीशे का आवरण था। साधारणतया वह उस पर मिट्टी लीप देता, परन्तु कोई विशिष्ट व्यक्ति देखने आता तो मिट्टी हटाकर उसे चक्ति कर देता।

लेकिन ये सब कार्य उसे लुक-छिपकर करने पड़ते थे, क्योंकि नाना लोग इन्हें पसन्द नहीं करते थे। उनकी मान्यता थी कि बच्चों को केवल पढ़ने का ही अधिकार है। प्यार, आदर और खेल से उनका जीवन नष्ट हो जाता है। सवेरे स्कूल जाने से पहले घर के बरामदे में उन्हें चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ना चाहिए। और संध्या को स्कूल से लौटकर रात के भोजन तक चण्डी-मण्डप में दीवे के चारो ओर बैठकर पाठ का अभ्यास करना चाहिए। यही गुरुजनों की प्रीति पाने का गुर था। जो नियम तोड़ता था उसे आयु के अनुसार दण्ड दिया जाता था। कोई नहीं जानता था कि न जाने कब किसको घंटों तक एक पैर पर खड़े होकर आंसू बहाने पड़ें। इस अनुशासन के बीच खेलने का अवकाश पाना बड़ा कठिन था, परन्तु आखों में धूल झोंकने की कला में शरत् निष्णात था।

छात्रवृत्ति [1] की परीक्षा पास करने के बाद, जब वह अंग्रेजी स्कूल में भर्ती हुआ, तब भी उसकी प्रतिभा में ज़रा भी कमी नहीं हुई। गागुंली परिवार में पतंग उड़ाना वैसे ही वर्जित था जैसे शास्त्र में समुद्र-यात्रा। परन्तु शरत् था कि पतंग, उड़ाना, लट्टू घूमाना, गोली और गुल्ली-डंडा जैसे निषिद्ध खेल उसे बड़े प्रिय थे। नीले आकाश में नृत्य करती हुई उसकी पतंग को देखकर दल के दूसरे सदस्यों के हृदय नाच उठते। उसका मांझा विश्वजयी था। वह ऐसा पेंच मारता कि विरोधी के पतंग कटकर धरती प्रर आ गिरती। शून्य में लट्टू घुमाकर उसे हथेली पर ऐसे लपक लेता कि साथी मुग्ध हो रहते।

बाग से फल चुरा लाने की कला में भी वह कम कुशल नहीं था। मालिक लोग सन्देह करते, पेड़ पर लगे अमरूदो की गिनती भी वे रखते, लेकिन वे डाल-डाल तो शरत् पात-पात। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि के सामने मालिकों के सब उपाय व्यर्थ हो जाते। यदि कभी पकड़ा भी जाता तो वीरों की तरह दण्ड ग्रहण करता। कथाशिल्पी शरत्चन्द्र के सभी प्रसिद्ध पात्र देवदास, श्रीकान्त, दुर्दान्तराम और सव्यसाची इस कला में निष्णात है। पता नहीं, दुर्दान्तराम की तरह उसकी कोई नरायनी भाभी थी या नहीं पर निश्चय ही चोरी की शिकयत आने पर उसकी माँ ने उस कलमुंहे को एक पैर पर खड़ा होने की सज़ा दी होगी और उसने विरोध प्रकट करते हुए भी उसे स्वीकर कर लिया होगा।

वह खिलाड़ी था, विद्रोही भी उसे कह सकते हैं, पर बदमाश वह किसी भी दृष्टि से नहीं था। भले ही तत्कालीन मापदण्ड के अनुसार उसे यह उपाधि मिली हो। पिता की तरह उसमें भी प्रचुर मात्रा में सौंदर्य-बोध था। पढ़ने के कमरे को खूब सजाकर रखता। चौकी और उस पर एक सुन्दर-सी तिपाई, एक बन्द डेस्क, और उसमें पुस्तकें, कापियां कलम-दवात इत्यादि-इत्यादि। उसकी पुस्तकें झक-झक करती थीं। कापियां वह स्वयं करीने से काटकर ऐसे तैयार करता था कि देखते ही बनता था।

स्वभाव से भी वह अपरिग्रही था। दिन-भर में वह जितनी गोलियां और लट्टू जीतता, संध्या को वह उन सबको छोटे बच्चों में बांट देता। देने में उसे मानो आनन्द आता था, लेकिन यह देने के अभिमान का आनन्द नहीं था, यह था भार-मुक्ति का आनन्द। नींद और आहार पर भी उसे अधिकर था। बचपन से ही वह स्वल्पाहारी था। बड़े होने पर कथाशिल्पी शरत्चन्द्र की 'बड़ी बहू' सबसे अधिक इसीलिए तो परेशान रहती थी।

अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते समय उसे अपने शरीर का बड़ा ध्यान रहता था। नाना के घर के उत्तर की ओर गंगा के ठीक ऊपर एक बहुत बड़ा और बदनाम घर था। कभी वहां एक बहुत बड़ा परिवार रहता था। परन्तु संयोग से एक के बाद एक, कई मृत्यु हो जाने पर ये लोग उसे छोड़कर चले गए। उसके बाद बहुत दिनों तक वह भूतावास बना रहा। अभिभावकों से छुपाककर इसी महल के आँगन में शरत् ने कुश्ती लड़ने का अखाड़ा तैयार किया। गोला फेंकने के लिए गंगा के गर्भ से बड़े-बडे गोल पत्थर आ गए, लेकिन 'पैरेलल बार' की व्यवस्था नहीं हो सकी। पैसे का अभाव जो था। बहुत सोच-विचार कर शरत् ने आदेश दिया, "बांस की बार तैयार की जाए।"

बस संध्या के झुटपुटे में चार-पांच लड़के बांस काटने निकल पड़े। झाड़-झंखाड़ों में रगड़-रगड़कर हाथ-पांव लहूलुहान हो गए। पर दलपति की आज्ञा है कि उसी रात को 'पैरेलल बार' तैयार हो जानी चाहिए और वह हुई। अगले दिन दोपहर तब सब लड़के उत्फुल्ल होकर उस पर झूलने लगे। लेकिन शोर मचाना वहां एकदम मना था। घर के लोग जान न लें, इसलिए लौटते समय ये सब प्राण-रक्षा का मंत्र पढ़ते हुए लौटते थे, लेकिन एक दिन क्या हुआ कि गिर जाने के कारण एक बालक को चोट आ गई। उसके बाद जो कुछ हुआ उसकी कल्पना कर लेना कष्ट-साध्य नही है।

उसका विस्वास था कि तैरने से शरीर बनता है। गंगा घर के समीप ही थी, लेकिन कभी-कभी रूठकर दूर चली जाती थी। उस वर्ष ऐसा ही हुआ। बीच में छोटे-छोटे ताल बन गए और उनमें लाल-लाल जल भर गया। शरत् उस लाल जल में स्नान करने का लोभ कैसे संवरण कर सकता था! मणि मामा को साथ लेकर एक दिन वह उसमें कूद ही तो पड़ा, लेकिन उसका दुर्भाग्य, उस दिन छोटे नाना अघोरनाथ असमय ही घर लौट आए। उन्होंने मणि को नहीं देखा तो पूछा, "मणि कहा है?"

उस क्षण अधोरनाथ ने जो हुंकार किया उसे सुनकर सब डर गए। उनका यह डर अकारण नहीं था, जैसे ही दोनों बालक नहाकर खुशी-खुशी घर लौटे, वैसे ही छोटे नाना सिंह के समान गर्जन करते हुए मणि पर टूट पड़े। घर की नारियों के बार-बार बचाने पर भी उसकी जो दुर्गति हुई उसके ठीक होते-होते पांच-सात दिन लग गए। लेकिन शरत् उस क्षण के बाद वहां नहीं देखा गया। तीसरे दिन जब नाना फिर घोड़े पर सवार होकर काम पर चले गए तभी वह दिखाई दिया। मामा लोगों ने अचरज से पूछा, तू कहां चला गया था रे?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मै गोदाम में था।"

"क्या खाता था?"

"वही जो तुम खाते थे।"

"कौन देता था?"

"छोटी नानी!"

जिस समय छोटे नाना मणि को मार रहे थे, उस समय छोटी नानी के परामर्श से शरत् घर में जा छिपा था।

लेकिन उसे खेलने का जितना शौक था उतना ही पढ़ने का भी था। वह केवल स्कूल की ही पुस्तकें नहीं पढ़ता था, पिता के संग्रहालय में जो भी पुस्तकें उसके हाथ लग जातीं छिपकर उन्हें पढ़ डालता। वहीं से एक दिन उसके हाथ एक ऐसी पुस्तक लगी जिसमें दुनिया-भर के विषयों की चर्चा थी। नाम था 'संसार कोश'। विपद पड़ने पर गुरुजनों के दण्ड से कैसे मुक्ति पाई जाती है इसका भी एक मंत्र उसमें लिखा था। अपने सभी साथियों को उसने यह मंत्र सिखा दिया। मंत्र था, "ओम्, ह्नं द्यूं, द्यूं, रक्ष-रक्ष स्वाहा।"

केवल गुरुजनों के दण्ड से मुक्ति पाने का ही नहीं, सापों को बस में करने का मंत्र भी उसे उसी में मिला था। शरत् उसकी परीक्षा करने को आतुर हो उठा। कुछ दिन पहले उसे सांप ने काट लिया था। बड़ी कठिनता से उसके प्राण बच सके थे। इसलिए वह जनमेजय की तरह नागयज्ञ करने को और भी उत्सुक था। कोश में लिखा था कि एक हाथ लम्बी बेल की जड़ किसी भी विषाक्त सांप के फण के पास रख देने पर पल-भर ही में वह सांप सिर नीचा कर निर्जीव हो जाएगा।

बड़े उत्साह के साथ उसने बेल की जड़ ढूंढ निकाली। सांपों की कोई भी कमी नहीं थी। लेकिन उस दिन शायद उन्हें इस मंत्र का पता लग गया था। इसलिए बहुत खोज करने पर भी कोई सांप नही दिखाई दिया। अन्त में अम़रुद के एक पेड़ के नीचे मलबे में एक गोखरू सांप के बच्चे का पता लगा। खुशी से भरकर शरत् अपने दलसहित वहां जा पहुंचा और उसे बाहर निकलने को छेड़ने लगा। बालको के इस अत्याचार से क्षुब्ध होकर सांप के उस बच्चे ने अपना फण उठा लिया। शरत् इसी क्षण की राह देख रहा था, तुरन्त आगे बढ्कर बेल की जड़ उसके सामने कर दी। विश्वास था कि अभी वह सांप सिर नीचा करके सबसे क्षमा-प्रार्थना करेगा, लेकिन निस्तेज होना तो दूर वह बच्चा बार-बार उस जड़ को डसने लगा। यह देखकर बालक भयातुर हो उठे। तब मणि मामा कहीं से लाठी लेकर आए और उन्होंने सनातन रीति से उस बाल सर्प का संहार कर डाला। ऐसा लगता है, तब तक शरत् की भेंट 'विलासी' के 'मुत्युंजय' से नहीं हुई थी। जड़ दिखाने से पूर्व एक काम और भी तो करना होता है, "जिस सांप को जड़ी दिखाकर भगाना हो पहले उसका मुंह गरम लोहे की सींक से कई बार दाग दो, फिर उसे चाहे जड़ी दिखाई जाए, चाहे कोई मामूली-सी सींक, उसे भागकर जान बचाने की हो सूझेगी।" 'श्रीकान्त' और 'विलासी' आदि अपनी रचनाओं में कथाशिल्पी शरत्चन्द्र ने इस विद्या की अच्छी चर्चा की है।

इन शरारतों के बीच कभी-कभी यह भी देखा जाता कि दलपति गैरहाज़िर है। पुकार उठती, "कहां गए शरत् दा?"

"यही तो थे।"

"कहां थे?"

कुछ पता न लगता परन्तु जब खोज-खोजकर सब थक जाते तो न जाने कहां से आकर वह स्वयं हाज़िर हो जाता। बच्चे उसे घेर लेते और पूछते, कहां चले गए थे?".

"त्पोवन!"

"यह तपोवन कहां है, हमें भी दिखाओ।"

उसने किसी को भी तपोवन का पता नहीं बताया, लेकिन सुरेन्द्र मामा से उसकी सबसे अधिक पटती थी। शायद इसलिए कि सुरेन्द्र ने उसकी मां का दूध पिया था। वह अभी छोटा ही था कि उसकी मां के फिर सन्तान होने की सम्भावना दिखाई दी। उधर शरत् का छोटा भाई शैशव में ही चल बसा था। तब उसकी मां ने सुरेन्द्र को अपना दूध पिलाकर पाला था। इसलिए बहुत अनुनय-विनय करने पर एक दिन वह उसको साथ लेकर अपने तपोवन गया। जाने से पूर्व उसने सुरेन्द्र से कहा, "मैं तुझे वहां ले तो चलूंगा, परन्तु तू सूर्य, गंगा और हिमालय को साक्षी करके यह प्रतिज्ञा कर कि किसी और को इस स्थान का पता नहीं बताएगा।"

सुरेन्द्र बोला, "मै सूर्य को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूं कि किसी और को इस स्थान का पता नहीं बताऊंगा।

मैं गंगा को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूं कि किसी और को इस स्थान का पता नही बताऊंगा।"

"मैं हिमालय को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूं कि किसी और को इस स्थान का पता नहीं बताऊंगा।"

"अब चल!"

घोष परिवार के मकान के उत्तर में गंगा के बिलकुल पास ही एक कमरे के नीचे, नीम और करौंदे के पेड़ों ने उस जगह को घेरकर अंधकार से आच्छन्न कर रखा था। नाना लताओं ने उस स्थान को चारों ओर से ऐसे ढक लिया था कि मनुष्य का उसमें प्रवेश करना बड़ा कठिन था। बड़ी सावधानी से एक स्थान की लताओं को हटाकर शरत् उसके भीतर गया। वहां थोडी-सी साफ-सुथरी जगह थी। हरी-हरी लताओं के भीतर से सूर्य की उज्जवल किरणें छन-छनकर आ रही थी और उनके करण स्निग्ध हरित प्रकाश फैल गैया था। देखकर आखें जुड़ाने लगीं और मन गद्गद होकर मानो किसी स्वप्नलोक में पहुंच गया। एक बड़ा-सा पत्थर वहां रखा था। उसके ऊपर बैठकर शरत् ने सुरेन्द्र को बुलाया, "आ!"

सुरेन्द्र डरते-डरते पास जा बैठा। नीचे खरस्रोता गंगा बह रही थी। दूर उस पार का दृश्य साफ-साफ दिखाई दे रहा था। मन्द-मन्द शीतल पवन की मृदु हिलोरें शरीर को पुलक से

भर रही थीं। सुरेन्द्र ने मुग्ध होकर कहा, "यह जगह तो बहुत सुन्दर है।"

शरत् बोला, "हां, इस जगह आकर बैठना मुझे बहुत अच्छा लगता है। न जाने क्या-क्या करता हूं। बड़ी-बड़ी बातें सब यहीं दिमाग में आती हैं।"

सुरेन्द्र ने कहा, "सचमुच ऐसा लगता है कि जैसे तपोवन में आ गया हूं। आज समझा हूं कि इए बार तुमने अंकगणित में सौ में से सौ अंक कैसे पाए थे।"

न जाने कितनी बार वह इस पवित्र मौन-एकान्त में आकर बैठा होगा। दूर से आती बच्चों की शरारतों की आवाजें गंगा की कल-कल ध्वनि में मिलकर एक रहस्यमय वातावरण का निर्माण करती होगीं। प्रकृति का सौन्दर्य जैसे उसके थके तन-मनको सहलाता होगा और तब उसने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की होगी, "मैं सूर्य, गंगा और हिमालय को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं जीवन-भर सौन्दर्य की उपासना करूंगा, कि मैं जीवन-भर अन्याय के विरुद्ध लडूगा, कि मैं कभी छोटा काम नहीं करूंगा।" उसने अनुभव किया होगा कि घर में एकान्त नहीं है। ज़रा-सी ध्वनि मस्तिष्क में प्रतिध्वनि पैदा करती है और उभरते हुए चित्र को धुंधला कर देती है.. .तभी उसने इस तपोवन को ढूंढ निकाला होगा।

लेकिन उसने अंकगणित में ही शत-प्रतिशत अंक नहीं पाए थे, अंग्रेजी स्कूल के प्रथम वर्ष में उसने परीक्षा में प्रथम स्थान भी पाया था। हुआ यह कि छात्रवृत्ति की परीक्षा पास करने के बाद अंग्रेजी पढ़ने के लिए उसे नीचे की कक्षा में दाखिल होना पड़ा, इसलिए दूसरे विषय उसके लिए सहज हो गए और वह बीच में ही एक वर्ष लांघकर ऊपर की कक्षा में पहुंच गया। इन सब बातों से जहां मित्रों में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी, वहां गुरुजन भी आश्वस्त हो गए।

स्कूल में एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। वहीं से लेकर उसने उस युग के सभी प्रसिद्ध लेखकों की रचनाएं पढ़ डालीं। युगसंधि के उस काल में जब कर्ता लोग चण्डी-मण्डप में बैठकर चौपड़ को लेकर शोर मचाते तब किशोर वय के लोग चोरी-चोरी बंकिम-रवीन्द्र की पुस्तकों के पन्न पलटते। लेकिन शरत् केवल पढ़ता ही नहीं था, उसको समझने और आस-पास के वातावरण का सूक्ष्म अध्ययन करने की सहज प्रतिभा भी उसमें थी। वह हर वस्तु को करीब से देखता था।

उस दिन अवकाशप्राप्त अध्यापक अघोरनाथ अधिकारी स्नान के लिए गंगा घाट की ओर जा रहे थे। कपड़े उठाए पीछे-पीछे चल रहा था शरत्। एक टूटे हुए घर के भीतर से एक स्त्री के धीरे-धीरे रोने का करुण स्वर सुनाई दिया। अधिकारी महोदय ठिठक गए। बोले, "यह कौन रोता है? क्या हुआ इसे?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मास्टर मुशाई, इस नारी का स्वामी अन्धा था। लोगों के घरों में काम-काज करके यह उसको खिलाती थी। कल रात इसका वह अन्धा स्वामी मर गया। वह बहुत दुखी है। दुखी लोग बड़े आदमियों की तरह दिखाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से नहीं रोते।

उनका रोना दुख से विदीर्ण प्राणों का क्रन्दन होता है। मास्टर मुशाई, यह सचमुच का रोना है।"

छोटी आयु के बालक से रोने का इतना सूक्ष्म विवेचन सुनकर अघोर बाबू विस्मित हो उठे। वे कलकत्ता रहते थे। लौटकर उन्होंने अपने एक मित्र से इस घटना की चर्चा की। मित्र ने कहा, "जो रुदन के विभिन्न रूपों को पहचानता है, वह साधारण बालक नहीं है। बड़ा होकर वह निश्चय ही मनस्तत्व के व्यापार में प्रसिद्ध होगा।"

लेकिन गांगुली परिवार में उसकी इस सहज प्रतिभा को पहचानने वाला कोई नहीं था। इस घोर आदर्शवादी परिवार में केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था जिस पर नवयुग की हवा का कुछ प्रभाव हुआ था। वे थे केदारनाथ के चौथे भाई अमरनाथ। वे शौकीन तबीयत के थे। कबूतर पालते थे। और उस युग में कंघा, शीशा और बुश इत्यादि का प्रयोग करते थे। सिर पर अंग्रेज़ी फैशन के बाल भी रखते थे। घर के बालक उनके इस रूप पर मुग्ध थे। मुग्ध होने का एक और भी कारण था। दफ्तर से लौटकर वे रोज़ उन्हें कुछ न कुछ देते थे। जैसे पीपरमेंट की गोलियां इत्यादि। लेकिन इसी कारण बड़े भ।ई उनसे अप्रसन्न थे। और इसी कारण, एक दिन चोटी रखकर शेष बाल उन्हें कटा देने पड़े थे।

पढ़ने में भी उनकी रुचि कम नहीं थी। बंकिमचन्द्र के 'बंगदर्शन' का प्रवेश उन्ही के द्वारा गांगुली परिवार में हो सका था। यह 'बंगदर्शन' बंगला साहित्य में नवयुग का सूचक था। गांगुली लोगों के हाली शहर से बंकिमचन्द्र का 'कांठालपाड़ा' दूर नहीं था। उस गांव की एक लड़की इस परिवार में वधू बनकर भी आई थी, लेकिन -घर का जोगी जोगना आन गांव का सिद्ध'। बंकिमचन्द्र की यहां तनिक भी प्रतिष्ठा नहीं थी। नवयुग के सन्देशवाहक होने के नाते इस कट्टर परिवार में अगर थी तो थोड़ी-बहुत अप्रतिष्ठा ही थी, लेकिन फिर भी अमरनाथ चोरी-छिपे 'बंगदर्शन' लाते थे। उनसे यह भुवनमोहनी के द्वारा मोतीलाल के पास पहुंचता था और वहां से कुसुमकामिनी की बैठक मे।

दुर्भाग्य से अमरनाथ बहुत दिन जी नहीं सके। बच्चों को अपार व्यथा में डूबोकर वे छोटी आयु में ही स्वर्गवासी हो गए। उनकी कमी किसी सीमा तक मोतीलाल और कुसुमकामिनी ने पूरी की। कुसुमकामिनी सबसे छोटे नाना अघोरनाथ की पत्नी थी। छात्रवृत्ति परीक्षा पास करके स्वयं उन्होंने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के हाथों से पारितोषिक पाया था। जैसा कि होता आया है, तब भी स्त्रियों का मुख्य कार्य था, रसोई का जुगाडू करना और घर-गृहस्थी के दूसरे कार्य संभालना। उससे समय बचा तो जीवन को जीवन्त बनाने के लिए कलह करना या सोना। फिर जागने पर परनिन्दा में रस लेना, लेकिन कुसुमकामिनी यह सब नही कर पाती थीं। जिस दिन उनकी रसोई बनाने की बारी नहीं होती थी उस दिन उनकी बैक्क में (या ऊपरी ख्त पर) एक छोटी-मोटी गोष्ठी होती थी। उसमें वे स्वयं 'बंगदर्शन' के अतिरिक्त 'मृणालिनी,' वीरांगना', 'बृजांगना', 'मेघनाद वध' और 'नीलदर्पण पढ़कर सुनाती थी। उनका स्वर और पढ़ने की शैली इतनी मर्मस्पर्शी थी कि सभी

निस्पन्द हो उठते थे। बालक शरत् आश्चर्य और आदर से भरकर सोचता कि लेखक भी कितना आसाधारण व्यक्ति होता है। संभवत: उसके मन में तब लेखक बनने की बात नहीं उठी थी। पर उसने लेखक को मनुष्य से ऊपर अवश्य माना था। यह उसके उपार्जन करने का युग था, लेखक बनने का नहीं। इस गोष्ठी में उसने साहित्य का पहला पाठ पढ़ा था और फिर बहुत दिन बाद पढ़ी 'बंगदर्शन' में कविगुरु की युगान्तरकारी रचना 'आखं की किरकिरी'। पढ़कर उस किशोर को जो गहरे आनन्द की अनुभूति हुई, उसको न वह किसी को बता सका, न जीवन-भर भूल ही सका। अब तक उसका मन भूत-प्रेतों की कहानियों से ही आतंकित रहा था। इस नये जीवन-दर्शन ने उसे प्रकाश और सौन्दर्य के एक नये जादू-भरे संसार में पहुंचा दिया। जैसे पुश्किन की रचना पढ़ने के बाद ताल्सताय पुकार उठे थे, "मैं पुश्किन से बहुत-कुछ सीख सकता हूं। वे मेरे पिता हैं। वे मेरे गुरु हैं। वैसे ही शरत ने कहा होगा, "मै उनसे बहुत-कुछ सीख सकता हूं। वे आज से मेरे गुरु हुए।"

और सचमुच शरत् जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्हें अपना गुरु ही मानते रहे।

वास्तव में माणि-शरत् की शिक्षा का आदि पर्व कुसुमकामिनी की पाठशाला में ही शुरू हुआ था। पाठ्यपुस्तक का क्रम समाप्त होने पर साहित्य की बारी आती थी। शैशव से लेकर यौवन के प्रारम्भ होने तक इस क्रम में कोई व्यवधान नहीं पड़ा। अपराजेय कथाशिल्पी शरत्चन्द्र के निर्माण में कुसुमकामिनी का जो योगदान है उसे कभी नहीं भुलाया जा सकेगा।

इसी गोष्ठी में अचानक एक दिन क्रांति हो गई। एक नये स्रोत से आकर उस दिन रवीन्द्रनाथ की कविता 'प्रकृतिर प्रतिशोध' का स्वर गूंज उठा। पढ़नेवाले थे उसी परिवार के एक व्यक्ति। वे बाहर रहकर पढ़े थे। इस परिवार में वर्जित संगीत और काव्य मे उनकी दिलचस्पी थी। उस कविता को सुनाने के लिए उन बन्धु ने परिवार के सभी नारियों को इकट्ठा किया था। किसने कितना समझा, पता नहीं, लेकिन शरत् की आंखों में आंसू आ गए। उन्हें छिपाने के लिए वह उठकर बाहर चला गया।

---

1. सन् 1887 ई०। उस समय छात्रवृत्ति स्कूल होतें थे। जिनमें अन्तिम श्रेणी छठी होती थी। छात्रवृत्ति का अर्थ आज जैसा नही था।

3

नाना के इस परिवार में शरत् के लिए अधिक दिन रहना सम्भव नहीं हो सका। उसके पिता न केवल स्वप्नदर्शी थे, बल्कि उनमें कई और दोष थे। वे हुक्का पीते थे, और बड़े होकर बच्चों के साथ बराबरी का व्यवहार करते थे। उनकी शरारतों में वे सदा अप्रत्सक्ष रूप से सहायता करते थे। जब उनमें से किसी को गोदाम में बन्द करने की सज़ा मिलती तो वे चुपचाप उन्हें खाना दे आया करते थे। जब वे छूटते तो फूलों की माला तैयार करके उन्हें प्रसन्न कर देते थे। उनके बनाए कागज़ के नाना प्रकार के खिलौने बच्चों में बहुत लोकप्रिय थे। बड़े यत्न से वे स्लेट-पेंसिल लेकर उन्हें सुन्दर अक्षर लिखना सिखाते थे। उनके लिए गंगा-स्नान का प्रबन्ध कर देते थे। कैसा आनन्द है गंगा में कूदने में, यह बच्चे ही जानते हैं। तभी तो उनके लिए वे मरुस्थल में शाद्वल के समान थे। उनकी सम्वेदनशीलता अपरिसीम थी।

एक तो घर-जवाई, इसके उपरान्त कठोर अनुशासन वाले परिवार में ऐसा बर्ताव करना, इसी करण वहां उनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व जैसे समाप्त हो गया था। जैसे उसके तन-मन दोनों को किसी ने खरीद लिया हो। उनका अपना उनके पास कुछ नहीं था। काशीनाथ' में काशीनाथ भी तो घर-जवाई होकर रहता है। उसे भी मानसिक सुख नहीं है। "कभी-कभी वह ऐसा महसूस करने लगता, जैसे अचानक उसे किसी ने गर्म पानी के कड़ाहे, में छोड़ दिया हो। मानो सबने मिलकर, सलाह करके उसकी देह को खरीद लिया हो। मानो अब यह उसकी अपनी नहीं रही।"

फिर भी किसी तरह दिन बीत रहे थे कि अचानक एक दुर्घटना हो गई। केदारनाथ की पत्नी विंध्यवासिनी देवी तांगे में कहीं जा रही थी कि वह उलट गया [1] उनके काफी चोट आई। बहुत प्रयत्न करने पर भी भागलपुर में ठीक नहीं हो सकी। डाक्टर ने कहा, "इन्हें कलकत्ता ले जाइए।"

काफी व्ययसाध्य बात थी और परिवार की आर्थिक स्थिति तब तक बिगड़ चुकी थी। भाई अलग-अलग रहने लगे थे। उनमें से अमरनाथ की मृत्यु हो चुकी थी और उनकी पुत्री विवाह के योग्य थी। पितृहीन कन्या का विवाह देरे से होने पर अपवाद उठ खड़ा होने का डर रहता है। केदारनाथ करें तो क्या करें? एक दिन उन्होंने मोतीलाल को बुलाया, कहा, "अब तुम्हारा यहां रहना सम्भव नहीं है। देवानन्दपुर जाकर कोई कम करने का प्रयत्न करो"

मोतीलाल ने सुन लिया, भुवनमोहिनी ने भी सुन लिया। कोई रास्ता नहीं था। शिकवा-शिकायत करतीं भी तो किससे करतीं और कैसे करती। इसीलिए शरत् ने एक दिन पाया कि

वह फिर देवानन्दपुर लौट आया है।

लेकिन लौट आने से पूर्व उसका परिचय गांगुली परिवार के पड़ोस गें रहने वाले मजूमदार परिवार के राजू से हो चुका था। वह परिचय अनायास ही नहीं हो गया था। इसके पीछे प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा का काफी बड़ा इतिहास है।

श्यामवर्ण, स्वस्थ चेहरा, आजानबाहु, मुख पर चेचक के सामान्य निशान, शरीर में जितनी शक्ति मन में उतना ही साहस, ऐसे राजेन्द्रनाथ उर्फ राजू के पिता रामरतन मजूमदार डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर होकर भागलपुर आए थे, लेकिन मतभेद हो जाने पर उन्हें त्यागपत्र देते देर न लगी। ठीक गांगुलियो के पास उनका घर था और आसपास की ज़मीन को लेकर दोनों परिवारों में काफी मनमुटाव भी था। उसस समय वहां घना वन था। माता-पिता के अनुशासन से पीड़ित बालक इसी वन में शरण ग्रहण करते थे। धूम्रपान, गांजा और चरस के साथ-साथ भैंसों का दूध चुराकर शरीर बनाने का काम यहां निरन्तर चलता था।

रामरतन मजूदार ने अपने सात बेटों के लिए सात कोठियां बनवाई, लेकिन उनके परिवार में कुछ ऐसी बातें थीं, जिनके लिए पुरातनपंथी बंगाली समाज उन्हें कभी क्षमा नहीं कर सका। वे लोग चीनी मिट्टी के प्यालों में खाना खा लेते थे। मुसलमान बैरे से कांच के गिलास में पानी लेने और छोटे भाई की विधवा पत्नी से बातें करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। वे मोज़े पहनते, दाढ़ी रखते, क्लब जाते और बातों में दर्शन का पुट देते थे।

पिता की स्वाधीनचेता परम्परा को राजू ने चरम सीमा तक पहुंचा दिया था। पतंगबाजी के द्वन्द्वयुद्ध में शरत् की तरह वह भी पारंगत था। इसलिए स्वाभाविक रूप से दोनों एक-दूसरे को हराने की कामना करते थे। राजू के पास पैसे का बल था। पतंग का बढ़िया से बढ़िया सरंजाम जुटाने में उसे जरा भी कठिनाई नहीं हुई। लेकिन शरत् के पास पैसा कहां से आता। उसके दल ने बोतल के कांच को मैदा की तरह पीसकर और उसमें नाना उपक्रम मिलाकर मांझा तैयार किया। उस दिन शनिवार था। संध्या होते ही शरत् की गुलाबी पतंग धीरे-धीरे उसके पास आ रही है। यह थी राजू की पतंग। अब द्वन्द्वयुद्ध आरम्भ हो गया। पेच पर पेच लडे जाने लगे। दोनों दल अपनी-अपनी विजय के लिए उत्तेजित हो उठे। 'वह मारा', 'वह काटा' का कर्णभेदी स्वर सबको डोलायमान करने लगा। सहसा लोगों ने देखा कि सफेद पतंग कटकर इधर-उधर लड़खड़ाती हुई धरती की ओर आ रही है। फिर क्या था, शरत् के दल के हर्ष का पारावार नही रहा। उधर राजू ने उसी क्षण पतंग का सभी सरंजाम गंगा को अर्पित कर दिया।

लेकिन इसी प्रतियोगिता और संघर्ष के बीच से होकर वे धीरे-धीरे एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होने लगे। राजू असाधारण प्रवृत्ति का बालक था - अमित साहस, अपूर्व प्रत्युत्पन्नमति, सब कार्यो में सफलता प्राप्त करने वाला। शरत् की स्थिर, धीर और शांत बुद्धि अभिभावकों के दुर्ग की मोटी दीवारों को लांघकर उसे चकित करती रहती थी और वह उससे मित्रता करने के लिए आतुर हो उठता था।

आखिर एक दिन सब विघ्न-बाधाओं को लांघकर दोनों किशोर एक हो गए। राजू, जो आयु में बड़ा था, शीघ्र ही शरत् के सभी दु:साहसिक कार्यो का मंत्रदाता बन गया। उन दोनों की मित्रता का एक और कारण था, संगीत और अभिनय के प्रति दोनों का समान प्रेम। शरत् का कंठ अत्यन्त मधुर था।

बार-बार इस मित्रता के सम्बन्ध में उसे चेतावनी मिली होगी पर तत्कालीन सदाचार और अनुशासन क्या कभी उसे बांधकर रख सके। उस परिवार के मुखियों में ऐसा एक भी नहीं था जो उसे प्रेरणा और सराहना के दो शब्द भी कहता। यही समय तो जीवन के सर्वांगीण विकास का प्रारम्भिक काल माना जाता है। तब उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह परिवार के बाहर प्रेरणा के स्रोत खोजता, क्योकि प्रारम्भ से ही उसमें वे गुण विद्यमान थे जो व्यक्ति को महान बनने का अवसर देते हे।

---

1. सन् 1888 ई०

4

मोतीलाल चट्टोपाध्याय चौबीस परगना जिले में कांचड़ापाड़ा के पास मामूदपुर के रहनेवाले थे। उनके पिता बैकुंठनाथ चट्टोपाध्याय सम्भ्रान्त राढ़ी ब्राह्मण परिवार के एक स्वाधीनचेता और निर्भीक व्यक्ति थे। और वह युग था प्रबल प्रतापी ज़मीदारों के अत्याचार का, लेकिन वे कभी उनसे दबे नहीं। उन्होंने सदा प्रजा का ही पक्ष लिया। इसीलिए एक दिन उनके क्रोध का शिकार हो गए। सुना गया कि एक दिन जमींदार ने उन्हें बुलाकर किसी मुकद्दमे में गवाही देने के लिए कहा। उन्होंने उत्तर दिया, "मैं गवाही कैसे दे सकता हूं? उसके बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता।"

ज़मींदार ने कहा, "ग़वाही देने के लिए जानना जुरूरी नहीं है।"

झूठी गवाही आज भी दी जाती है। उस दिन भी दी जाती थी, लेकिन बैकुण्ठनाथ ने साफ इनकार कर दिया। प्रबल प्रतापी ज़मींदार क्रुद्ध हो उठा।

कारण कुछ और भी हो सकता है। एक दिन अचानक वे घर से गायब हो गए। मोतीलाल तब बहुत छोटे थे। शिशु पुत्र को गोद में चिपकाए बैकुण्ठनाथ की पत्नी रात-भर पति की राह देखती रही, लेकिन वे नहीं लौटे। सवेरा होते-होते एक आदमी ने आकर कहा, "बहू मां.....बहू मां, अनर्थ हो गया। बैकुण्ठनाथ को किसी ने मार डाला। उनका शव स्नान-घाट पर पड़ा है।"

बहू मां की जैसे चीख निकल गई। हतप्रभ-विमूढ़ उन्होंने बालक को कसकर छाती से लगा लिया। वह न बोल सकती थीं और न बेहोश हो सक्ती थीं। जमींदार का इतना आतंक था कि वह चिल्लाकर रो भी नहीं सकती थीं। उसका अर्थ होता, पुत्र से भी हाथ धो बैठना। गांव के बड़े-बूढ़ों की सलाह के अनुसार उसने जल्दी-जल्दी पति की अन्तिम क्रिया समाप्त की और रातों-रात देवानन्दपुर अपने भाई के पास चली गई।

कुछ बड़े होने पर मोतीलाल का विवाह भागलपुर के केदारनाथ गंगोपाध्याय की दूसरी बेटी भुवनमोहिनी से हुआ। उस समय के बहुत-से बंगालियों की तरह केदारनाथ के पिता रामधन गंगोपाध्याय घोर दारिद्रय से तंग आकर जीविका की तलाश में, हाली शहर से यहां आकर बस गए थें। वे इतने प्रतिभाशाली और परिश्रमशील थे कि सरकार में ऊंचे पद पर पहुंचने में उन्हें देर नहीं लगी। फिर तो सम्पन्नता और प्रतिष्ठा दोनों ने ही उनका मुक्त होकर वरण किया। लेकिन उस समय विवाह के लिए सम्पन्नता की आवश्यक्ता नहीं होती थी। होती थी कुलीनता और वंश मर्यादा है। मोतीलाल को सद्वंश की कुलीन संतान जानकर ही केदारनाथ ने अपनी कन्या उन्हें दी। उन्हीं के पास रहकर मोतीलाल ने मैट्रिक की परीक्षा

पास की। [1] उसके बाद पढ़ने के लिए वे पटना कालेज चले गए। चचिया ससुर अघोरनाथ उनके सहपाठी थे। लेकिन दोनों के स्वभाव में ज़रा भी समानता नहीं थी। मोतीलाल घोर अभाव में पले थे, परन्तु मां उन्हें बहुत प्यार करती थी, इसलिए बचपन में कोई ठीक दिशा उन्हें नहीं मिल सकी। उन्हें पढ़ने-लिखने का बहुत शौक था, परन्तु उससे अधिक शौक था कल्पनाओं में डूबे रहने का, "मुझे कल्पना की गोद में सिर रखकर सो जाने दो। मैं उस संसार को देखना चाहता हूं जिसका यह संसार प्रतिबिम्ब है।" मोतीलाल यही कुछ थे।

उसके विपरीत अघोरनाथ थे कर्मठ, खरे और स्पष्टवादी। ऐसी स्थिति में कल्पनाप्रिय मोतीलाल से उनकी घनिष्ठता कैसे हो सकती थी? कालेज में भी वे बहुत अधिक देर नहीं टिक सके। देवानन्दपुर लौटकर कोई नौकरी करने लगे। उन दिनों इण्ट्रेंस पास के लिए नौकरी पा लेना बहुत कठिन नहीं था। मामा ने अपने घर के पास उन्हें थोड़ी-सी ज़मीन दे दी थी। कुछ रुपया जोड़कर उन्होंने बरामदे सहित दो कोठरियों का एक मंजिला, दक्षिणद्वारी, पक्का घर बनवा लिया। इसी में रहकर वे अपनी गृहस्थी चलाने लगे।

मोतीलाल की मां साहसी सुगृहिणी थीं, तो उनकी पत्नी शान्त प्रकृति, निर्मल चरित्र और उदार वृत्ति की महिला थीं। वह सुन्दर नहीं थी परन्तु वैदूर्य मणि की तरह अन्तर के रूप से रूपसी निश्चय ही थीं। उनके सहज पातिव्रत्य और प्रेम की छाया में स्वप्नदर्शी, यायावर पति की गृहस्थी चलने लगी। यही पर 15 सितम्बर, 1876 ई० तदनुसार 31 भाद्र, 1283 बंगाब्द, अश्विन कृष्णा द्वादशी, सम्वत 1933, शकाब्द 1798, शुक्रवार की संध्या को एक पुत्र का जन्म हुआ। वह अपने माता-पिता की दूसरी संतान था। चार-एक वर्ष पहले उसक्तई एक बहन अनिला जन्म ले चुकी थी। माता-पिता ने बड़े चाव से पुत्र का नाम रखा 'शरत्चन्द्र'।

दैवानन्द्रपुर बंगाल का एक साधारण-सा गांव है। हरा-भरा, ताल-तलैयों, नारियल और केले के वृक्षों से पूर्ण। मलेरिया की प्रचुरता भी कम नहीं है। नवाबी शासन में यह फारसी भाषा की शिक्षा का केन्द्र था। डेढ़ सौ वर्ष पहले रायगुणाकर कवि भारतचन्द्र राय ने, फारसी भाषा का अध्ययन करने के लिए, अपना कैशोर्य-काल यहां बिताया था। इसकी गणना प्राचीन सप्त ग्रामों में होती है। तब समृद्ध भी रहा होगा। भारतचन्द्र के समय इस गांव में हरीराम राय और रामचन्द्रदत्त मुंशी पढ़ाने-लिखाने का काम करते थे। इन्ही से उन्होंने फारसी पढ़ी और स्वयं दो पद्य लिखकर इन्हें अमर कर गए

ए तिन जनार कथा, पांचाली प्रबन्धे गाथा।
बुद्धि रूप कैल नाना जना।।
देवानन्दपुर ग्राम देवेर आनन्द धाम।
हीराराम रायेर वासना।।
देवेर आनन्द धाम, देवानन्दपुर नाम।
ताहे अधिकारी राम रामचन्द्र मुंशी।।

भारते नरेन्द्र राय, देशे जार यश गाय।
होये मोरे कृपादाय पड़ाइल पारसी।।

इसी गांव में शरत् का बाल्यकाल अत्यन्त अभाव में आरम्भ हुआ। मां न जाने कैसे गृहस्थी चलाती थीं। जानती थीं पति कैसे हैं। उनसे शिकवा-शिकायत व्यर्थ है। सार्थक यही है कि घर कि शोभा बनी रहे। उन्होंने न कभी गहनों की मांग की, न कीमती पोशाक की ही। आत्मोत्सर्ग ही मानो उनका दाय था। जब भागलपुर में वे रहती थीं तब चाचाओं के इतने बड़े परिवार में यह उन्हीं का अधिकार था कि सब माओं के बच्चों को अपनी छाती में छिपाकर उनकी देख-रेख करें। कौन अब आएगा कौन कब जाएगा? किसको क्या और कब खाना है? ऐसे असंख्य प्रश्नों को सुलझाने में उन्हें सांस लेने की फुरसत ही नहीं मिलती थी। निरन्तर आवाज़ गूंज़ती रहती थी, "कहां है भुवन? ओ भुवन! अरे भुवन बेटी!"

मोतीलाल मानो आकाश में उड़नेवाले रंगीन पतंग थे। और भुवनमोहिनी थी निरन्तर घूमते हुए चक्र के समान सीधी-सादी प्रकृति क्तई महिला। उसका कोमल मन सबके दुख से द्रवित हो उठता था। इसलिए सभी उसको प्यार करते थे, बड़े उसकी सेवा-परायणता पर मुग्ध थे, छोटे उसके स्नेह के लिए लालायित रहते थे। शरत्-साहित्य में खोजने पर ऐसे अनेक चरित्र मिल सकते है। मां का ऋण चुकाने के लिए कथाकार शरत् ज़रा भी तो कृपण नहीं हुआ। लेकिन कैसी भी सरल और उदार नारी हो पति की अकर्मण्यता उसकी ठेस पहुंचाती ही है। भुवनमोहिनी बहुत बार क्षुब्ध हो उठती, तब मोतीलाल चुपचाप घर से निकल जाते और देर तक बाहर ही रहते, 'शुभदा' के हारान बाबू की तरह।

1. सन् 1873-तृतीय श्रेणी

5

शरत् जब पांच वर्ष का हुआ तो उसे बाकायदा प्यारी (बन्दोपाध्याय) पण्डित की पाठशाला में भर्ती कर दिया गया, लेकिन वह शब्दश: शरारती था। प्रतिदिन कोई न कोई काण्ड करके ही लौटता। जैसे-जैसे वह बड़ा होता गया उसकी शरारतें भी बढ़ती गई। उस दिन चटाई पर बैठे-बैठे उसने देखा कि पण्डित जी चिलम में तमाखू सजाकर कहीं चले गए हैं। बस वह उठा और चिलम में से तमाखू हटाकर उसके स्थान पर ईंट के छोटे-छोटे टुकड़े रख दिए। पण्डितजी ने लौटकर चिलम में आग रखी और हुक्के पर रखकर गुड़गुड़ाने लगे, लेकिन धुआ तो बाहर आ ही नहीं रहा। कई बार कोशिश की, पर व्यर्थ। तब चिलम को उलट-पलटकर देखा तो पाया कि तमाखू के स्थान पर ईंट के टुकड़े रखे हुए हैं। समझ गए यह किसी विद्यार्थी का ही काम है। क्रुद्ध होकर उन्होंने पूछा, "सच बताओ, ये ईट के टुकड़े चिलम में किसने रखे है?"

कई क्षण तक कोई कुछ नहीं बोला, लेकिन जब पण्डित जी क्रोध से बार-बार चीत्कार करने लगे तो, डर के मारे एक लड़के ने शरत् का नाम ले दिया। सुनकर पण्डितजी ने बेंत हाथ में उठाई और मारने के लिए उसकी ओर लूपके। शरत् ने यह देखा तो तुरन्त छलांग लगा दी। जाते समय उस लड़के को धक्का देना नहीं भूला जिसने उसका नाम लिया था। वह गिर पड़ा। पण्डितजी उसको उठाने लगे और उसी बीच में शरत् यह जा और वह जा।

क्रोध से कांपते हुए पण्डितजी शरत् के घर पहुंचे। उसकी कहानी सुनकर मां के क्रोध का भी ठिकाना न रहा। घर लौटने पर उसने शरत् को खूब पीटा। बीच--बीच में अपने कपाल पर भी हाथ मारकर कहती, "क्या करेगा यह लड़का? कैसे चलेगा इसका काम?... "लेकिन सास ने उसे समझाया, "बहू तू इसे मत मार! एक दिन इसकी मति लौट आयेगी। और यह बहुत बड़ा आदमी होगा। मैं वह दिन देखने के लिए नहीं रहूंगी, लेकिन तू देख लेना, मेरी बात झूठ नहीं होगी।"

पण्डितजी भी जब कभी उनके पास शिकायत लेकर पहुंचते तब उनसे भी वह बड़े शान्त भाव से यही कहतीं, "पण्डित जी, न्याड़ा [1] थोड़ा दुष्ट तो है पर बड़ा होकर यह भलामानस ही बनेगा।"

पण्डितजी स्वयं कई बार उसकी शरारतों को अनदेखा कर जाते। एक तो वह पढ़ने में तेज था, दूसरे उनके बेटे काशीनाथ का परम मित्र भी था। काशीनाथ उसी स्कूल में पढ़ता था और उसी स्कूल में पढ़ती थी उसके एक मित्र कई बहन। न जाने कैसे शरत् की उससे मित्रता हुई। वे अक्सर दोनों एक साथ घूमते हुए दिखाई देते। जितना एक-दूसरे को चाहते

उतना ही झगड़ा भी करते। नदी या तालाब पर मछली पकड़ना, नाव लेकर नदी में सैर करना, बाग से फल चुराना, पतंग का सरंजाम तैयार करना, वन-जंगल में घूमना, इन सब प्रकार के बाल-सुलभ कामों में वह बालिका शरत् की संगिनी थी। असली नाम उसका क्या था किसी को पता नहीं परन्तु सुभीते के लिए लोग उसे धीरू के नाम से जानते हैं।

धीरू को एक शौक था, करौंदौ की ऋतु आयी तो वह उनकी माला तैयार करती और शरत् को भेंट कर देती। शायद माल्यार्पण का अर्थ वह तब तक नहीं जानती थी। लेकिन समय के देवता ने एक न एक दिन यह रहस्य उन दोनों को समझा ही दिया होगा। वैसे उन दोनों का संबंध कम रहस्यमय नहीं था। गर्मी के दिनों में एक दिन क्या हुआ-शरत् 'देवदास' की तरह पाठशाला के कमरे में एक कोने में एक फटी हुई चटाई के ऊपर बैठा था। स्लेट हाथ में लिए वह कभी आखें खोलता, कभी मूंदता, कभी पैर फैलाकर जमुहाई लेता। अन्त में वह बहुत ही चिन्ताशील हो उठा। उसने निश्चय किया कि ऐसा समय गुड्डी उड़ाते हुए घूमने-फिरने के लिए होता है। बस क्षण-भर में एक युक्ति उसे सूझ गई। पाठशाला में उस समय जल-पान की छुट्टी थी। बालक नाना प्रकार के खेल खेलते हुए शोर-गुल कर रहे थे। वह शरारती था, इसलिए उसे छुट्टी नहीं मिली थी। एक बार पाठशाला से निकलता तो लौटकर नहीं आता। कक्षा के प्रमुख छात्र भोलू की देखरेख में उसे पढ़ने की आज्ञा थी।

उसने देखा कि पण्डितजी सो रहे हें और भोलू टूटी हुई बेंच पर ऐसे बैठा है जैसे पण्डितजी हो। वह चुपचाप स्लेट लेकर उसके पास पहुंचा। बोला, "यह सवाल समझ में नहीं आ रहा है।"

भोलू ने गम्भीर होकर कहा, "लाओ जरा स्लेट, देखूं तो।"

जिस समय भोलू ज़ोर-ज़ोर से बोलकर सवाल निकालने की चेष्टा कर रहा था, उसी समय एक घटना घट गई। सहसा भोलू बेंच के पास जो चूने का ढेर लगा हुआ था उसमें जा गिरा और शरत् का फिर कही पता न लगा। धीरू यह देखकर जोर-जोर से तालियां बजा-बजाकर हंसने लगी। उसी समय पण्डितजी जाग उठे। भोलू का रूप तब देखते ही बनता था। सिर से पैर तक चूने में रंगकर भूत की तरह दिखाई देता था। और रोना उसका किसी तरह भी बन्द नहीं हो रहा था। पण्डित जी को स्थिति समझते देर नहीं लगी। बोले, "तो वह शरता हरामजादा तुझे धक्का देकर भाग गया है?"

भोलू ने किसी तरह कहा, "आं, आं!"

उसके बाद शरत् की जो खोज मची वह किसी छोटी-मोटी सेना के आक्रमण से कम नहीं थी। लड़के नाना प्रकार की बातें करते उसे ढूंढ रहे थे, लेकिन कोई उसकी पकड़ नहीं सका। जिस किसी ने उसके पास पहुंचने की चेष्टा की उसी पर उसने ईंट फेंक मारी।

धीरू सब कुछ देख रही थी। वह यह भी जानती थी कि शरत् इस समय कहां गया होगा थोड़ी देर बाद उसने अपने आंचल में मूड़ी बांधी और ज़मींदार के आम के बाग में प्रवेश

किया। वहीं एक बांस का भिढा था। पास पहुंचकर उसने देखा, शरत वहां बैठा हुआ हुक्का पी रहा है। उसे देखते ही बोला, "लाओ, क्या लाई हो?"

और यह कहते-कहते उसके आंचल में से मूड़ी खोलकर खाने लगा। वह खाता रहा और धीरू पण्डितजी की बात सुनाती रही। अचानक वह बोला, "पानी लाई हो?"

धीरू ने कहा, "पानी तो नहीं लाई?"

शरत् बिगड़कर बोला, "तो अब जाकर लाओ।"

धीरू को यह अच्छा नहीं लगा। कहा, "अब मैं नहीं जा सकती। तुम चलकर पी आओ।"

"मैं यहां से नहीं जा सक्ता। तुम्हीं जाकर ले आओ।"

धीरू नहीं उठी। शरत् ने गुस्सा होकर कहा, जाओ, मैं कह रहा हूं न।"

धीरू अब भी चुप रही। तब शरत् ने उसकी पीठ पर एक घूंसा मारा। कहा, "जाएगी कि नहीं?"

धीरू रो पड़ी। एकदम उठते हुए बोली, "मैं अभी जाकर तुम्हारी मां से सब कुछ कह दूंगी। यह भी कहूंगी कि तुम हुक्का पी रहे हो।"

"कह दे, जा मर!"

उस दिन फिर शरत् को मां के हाथों मार खानी पड़ी। धीरू फिर पिटी, लेकिन दोनों की मित्रता में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा। वह निरन्तर प्रगाढ़ ही होती गई। बहुत दिन बाद शैशव की इस संगिनी को आधार बनाकर शरत् ने अपने कई उपन्यासों की नायिकाओं का सृजन किया। 'देवदास' की पारो, 'बड़ी दीदी' की माधवी और 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी, ये सब धीरू ही का तो विकसित और विराट् रूप है। विशेषकर देवदास में तो जैसे उसने अपने बचपन को ही मूर्त रूप दिया है।

दिन पर दिन बीतते चले जाते थे, इन दोनों बालक-बालिका के आमोद की सीमा नहीं थी। दिन- भर धूप में घूमते-फिरते, संध्या को घर लौटकर मार खाते। रात को निश्चिन्त-निरुद्वेग सो जाते। दूसरे दिन सवेरा होते ही फिर भाग जाते और फिर संध्या को तिरस्कार-प्रहार सहन करते। तीसरे दिन, चौथे दिन, बार-बार यही कहानी दोहराई जाती। इनका और कोई संगी-साथी नहीं था और न उसकी कोई जरूरत ही थी। गांव-भर में उपद्रव करते फिरने के लिए दोनों ही यथेष्ट थे।

बीच-बीच में मछली का शिकार और नाव खेकर दिन काटने के साथ-साथ शरत् यात्रा दल में जाकर शागिर्दी भी करता था। अपने मधुर कण्ठ के कारण वह उनके लिए बहुत उपयोगी था। लेकिन जब उससे भी उसका जी ऊब जाता तो अंगौछा कंधे पर रखकर निकल पड़ता। यह निकल पडना विश्वकवि के काव्य की निरुद्देश्य यात्रा नहीं थी। जरा दूसरे ढंग की थी। वह भी जब खत्म हो जाती तो फिर एक दिन चोट खाए हुए अपने चरणों को तथा निर्जीव देह को लेकर घर वापस लौट आता। वहां आवभगत की बारी जब समाप्त हो

जाती तो फिर पाठशाला में जाना आरम्भ कर दिया जाता। वहां फिर एक बार आवभगत होती और उसके बाद 'बोधोदय' तथा पद्यपाठ' में दिल लगाने का क्रम चलता। फिर एक दिन सब किया-कराया भूल जाता। दुष्ट सरस्वती कन्धे पर सवार हो जाती। फिर शागिर्दी शुरू होती। फिर घर से नौ दो ग्यारह हो जाता।

उस दिन सरस्वती नदी के घाट पर पहुंचा ता सामने डोंगी पड़ी हुई थी। बम उसमें जा बैठा और उसे खेता हुआ पहुंच गया तीन-चार मील दूर कृष्णपुर गांव में। वहां रघुनाथ बाबा का प्रसिद्ध अखाड़ा था। वहीं जाकर कीर्तन में हाज़िर हो गया। रात हो गई, फिर लौटना नहीं हो सका। अगले दिन पता लगाते-लगाते मोतीलाल स्वयं उसे लेने के लिए वहां पहुंचे। लेकिन यह एक दिन की अनायाम यात्रा नहीं थी। किसी बड़ी यात्रा का आरम्भ था। कभी अकेले, कभी मित्रों के साथ उसका वहां जाना जारी रहा।

इन्हीं दिनों गांव में सिद्धेश्वर भट्टाचार्य ने एक नया बंगला स्कूल खोला। शायद वहां मन लगाकर पढ़ सके, इस खयाल से उसे वहां दाखिल किया गया, लेकिन उसके कार्यक्रम में कोई अन्तर नहीं पड़ा। साल-भर यूं ही निकल गया। तभी अचानक मोतीलाल को 'डेहरी आन सोन' में एक नौकरी मिल गई। पिता के साथ कुछ दिन वह भी वहां रहा। लेकिन वह सारा समय खेलकूद में ही बीता। वहां एक नहर थी, उसके किनारे पक्की खिरनियां बटोरता या फंदा डालकर गिरगिट पकड़ता या फिर घाट पर जाकर बैठ जाता और कल्पनाओं के आल-जाल में डूब जाता। सभी प्रकार की शरारतों के बीच में अन्तर्मुखी होने का उसका स्वभाव निरन्तर प्रगति करता जा रहा था। अपने इस अल्पकालिक डेहरी-प्रवास को वह कभी नहीं भूल सका। 'गृहदाह' में उसने इस नगण्य स्थान को भी अमर कर दिया।

देवानन्दपुर लौटने पर उसे एक और शौक लग गया। शौक तो पहले भी था पर अब वह सनक की सीमा तक जा पहुंचा था। सरस्वती नदी छोटी-सी उथली नदी है। पाट भी बहुत चौड़ा नहीं है। पानी कमर से ऊपर नहीं जाता। अक्सर उसमें सिवार भरी रहती। बीच-बीच में जहां खुला था वहीं छोटी-छोटी मछलियां खेला करती थीं। बंसी में आटे की गोली लगाकर वह उसे पानी में डाल देता और बैठा रहता। एक दिन उसने देखा कि मोहल्ले का नयन बागदी दादी के पास आया है और कह रहा है, "मांजी, मुझे पांच रुपये दो। मैं तुम्हारे पोते को दूध पिलाकर अदा कर दूंगा। एक अच्छी-सी गाय लाना चाहता हूं। बसन्तपुर में मेरा एक रिश्ते का भाई है। उसने कहला भेजा है।"

दादी ने उसे पांच रुपये दे दिए और वह प्रणाम करके चला गया। तभी शरत् के मन में सहसा एक विचार कौंध आया। सुन रखा था कि बसन्तपुर में छीप बनाने के लिए अच्छा बांस मिलता है। बस वह चुपचाप नयन बागदी के पीछे-पीछे चल पड़ा। एक मील चलने के बाद नयन ने उसे देखा। वह बहुत नाराज़ हुआ, लालच भी दिया। लेकिन शरत् पर कोई असर नहीं हुआ। तब ज़बर्दस्ती पकड़कर वह उसे दादी के पास ले आया। बोला, "रास्ता

ठीक नहीं है। खतरा है। अगर समय से न लौट सका तो आप ही बताइए गऊ को संभालूंगा या इसको।"

दादी खतरे की बात जानती थी। उसने शरत् से कहा, "तू नहीं जाएगा। और अगर चोरी से गया तो मैं पण्डितजी से कह दूंगी।"

नयन चला गया। शरद् भी पोखर में नहाने का बहाना करके शरीर में तेल मलता हुआ, अंगौछा कंधे पर डालकर, घर से निकल पड़ा। नदी के किनारे-किनारे वन-जंगल और आम-कटहल के बागों के भीतर होकर दो-ढाई मील तक दौड़ता हुआ चला गया। जिस जगह पर गांव का कच्चा रास्ता ग्राण्ड ट्रंक रोड की पक्की सड़क से जाकर मिलता है वहीं जाकर खड़ा हो गया। कुछ देर बाद नयन भी आ पहुंचा। शरत् कों वहां देखकर वह हतप्रभ रह गया, पर अब लौटना सम्भव नहीं था। हंसकर बोला, "अच्छा देवता, चलो! जो भाग्य में होगा देखा जाएगा।"

वसन्तपुर पहुंचकर नयन की बुआ ने उसकी खूब खातिर की। उसे गाय मिली और बालक शरत् को मिली बांस की कमचियां। रुपये भी बुआ ने लौटा दिए। लौटते समय दिन डूब चला था। दो कोस भी नहीं चले होंगे कि चांद निकल आया। रास्ते के दोनों ओर बड़े-बड़े पीपल और बरगद के पेड़ है जो ऊपर जाकर आपस में ऐसे मिल गए थे कि राह में घना अंधेरा छा गया था। जब वे कच्ची राह पर पहुंचे तो झाड़-झंखाडों वाला वह जंगल और भी घना हो आया। इसी जंगल में तो लूटेरे आदमी को मारकर गाड़ देते थे और पुलिस उधर मुंह भी नहीं करती थी। गांव का आदमी भी रिपोर्ट करने नही जाता था क्योंकि उन्हें शिक्षा मिली थी कि पुलिस के पास जाना आफत बुलाना है। बाघ के सामने पड़कर भी दैव-संयोग सें कभी प्राण बच सकते हैं लेकिन पुलिस के पल्ले पड़कर नहीं। यही पहुंचकर सहसा उन्हें कुछ दूर पर चीख सुनाई दी। साथ ही लाठियों के बरसने का शब्द हुआ। उसके बाद सन्नाटा छा गया। नयन बोला, "बेचारा खत्म हो गया। अब हमें ज़रा होशियार होकर चलना चाहिए।"

बालक शरत् भय से कांपने लगा। सांस लेना भी मुश्किल हो गया। धुंध के मारे कुछ दिखाई भी नहीं देता था सहसा फिर किसी के भागने की आवाज़ सुनाई दी। नयन चीख उठा, "खबरदार, कहे देता हूं बामन का लड़का मेरे साथ है। अगर पाबड़ा मारा तो तुममें से एक को भी जीता नहीं छोडूंगा।"

कहीं से कोई जवाव नहीं मिला। कुछ आगे बढ़कर उन लोगों ने उस आदमी को देखा जिसकी चीख सुनाई दी थी। बिचारा कोई भिखारी था। एकतारा बजाकर भीख मांगता था। नयन से नहीं रहा गया। क्रुद्ध होकर बोला। "अरे नरक के कीड़ो, तुमने बेकार ही एक वैष्णव भिखारी के प्राण ले लिए। जी चाहता है तुम लोगों को भी इसी प्रकार मार डालूं।"

इस बार पेड़ की आड़ से किसी ने जवाब दिया, "धर्म-कर्म की बातें रहने दे। जान बचाना चाहता है तो भाग जा!"

"हरामजादो, कायरों, भागूंगा मैं, तुम्हारे डर से!"

यह कहकर उसने टेंट में से रुपये निकाले और टनटनाते हुए बोला, "देखों, मेरे पास रुपये है। हिम्मत हो तो पास आओ और ले जाओं। मैं नयन बागदी हूं।"

कोई उत्तर नहीं आया। मोटी-सी गाली देकर वह फिर बोला, "क्यों रे, आओगे या मैं घर जाऊं?"

फिर भी कोई जवाब नहीं आया। राह में दो-तीन पाबड़े पड़े हुए थे। नयन ने उन्हें उठा लिया। कुछ दूर वह चला भी, लेकिन फिर बोला, "ना भइया, आखों से वैष्णव की हत्या देखकर हत्यारों को उसकी सज़ा दिए बिना मुझसे जाया न जाएगा!"

बालक शरत् ने पूछा, "क्या करोगे?"

वह बोला, "क्या मैं एक साले को भी न पकड़ पाऊंगा? तब हम दोनों मिलकर लाठी से पीट-पीटकर उसे मार डालेंगे?"

पीटकर मारने के आनन्द से बालक शरत् बहुत प्रसन्न हुआ। बोला, "नयन दादा, तुम अच्छी तरह उसे पकड़े रहना। मैं अकेले ही उसे पीटकर मार डालूंगा। लेकिन कहीं मेरी छीप टूट गई तो?"

नयन ने हंसकर कहा, छीप की मार से नहीं मारेगा भइया, यह सोंटा लो।"

और एक अच्छा-सा पाबड़ा उसने बालक शरत् को दे दिया। तब तक लुटेरों ने समझ लिया था कि वे लोग चले गए हैं। इसलिए वे भिखारी की तलाशी लेने के लिए आ पहुंचे। नयन पेड़ की आड़ में खड़ा हो गया। उनमें से एक ने उसे देख लिया और चिल्लाकर बोला, "वहां कौन खड़ा है?"

उसकी चिल्लाहट सुनकर सब लोग भाग चले, लेकिन वह पकड़ा गया। नयन ने उसे बांध लिया और बालक के पास ले आया। वह बराबर रो रहा था। मुंह पर उसने कालिख पोत रखी थीं, बीच-बीच में चूने की टिपकी लगी हुई थी। नयन ने उसे सड़क पर लिटाया और कसकर दो-तीन लातें लगाई। फिर शरत् से कहा, अब ताककर पाबड़ा मारो।."

बालक के हाथ-पैर कांप रहे थे। रुआंसा होकर उसने कहा, "मुझसे यह काम न हो सकेगा।"

नयन ने कहा, "तुमसे न हो सकेगा, अच्छा तो मैं ही इसे खतम करता हूं।"

शरत् ने विनती के स्वर में कहा। ना नयन दादा, मारो नहीं।"

तब तक वह आदमी जिसने शायद दो-तीन दिन से अन्न की शक्ल भी नहीं देखी थी सड़क पर ऐसे लेटा रहा जैसे मर गया हो। नयन ने झुकके उसकी नाक पर हाथ रखा और कहा, "नही, मरा नहीं, बेहोश हो गया है। चलो भइया हम भी घर चलें।"

---

1. शरत् के पुकारने का नाम।

6

तीन वर्ष नाना के घर में भागलपुर रहने के बाद अब उसे फिर देवानन्दपुर लौटना पड़ा। बार-बार स्थान-परिवर्तन के कारण पढ़ने-लिखने में बड़ा व्याघात होता था। आवारगी भी बढ़ती थी, लेकिन अनुभव भी कम नहीं होते थे। भागलपुर में रहते हुए नाना प्रकार की शरारतों के बावजूद शरत् नें सदा अच्छा लड़का बनने का प्रयत्न किया था। पढ़ने में भी वह चतुर था। परन्तु यह कामना भी बड़ी प्रबल थी कि मैं किसी से छोटा नहीं बनूंगा। इसीलिए अंतत: उसकी प्रसिद्धि भले लड़कों के रूप में होती थी। इन सारी शरारतों के बीच एकांत में बैठकर आत्मचिंतन करना उसे बराबर प्रिय रहा। चिन्तन के इन क्षणों में अनेक कथानक उसके मन में उभरे। लिखने का प्रयत्न भी उसने किया।

वह सुन्दर नहीं था। आंखों को छोड़कर उसमें कोई विशेषता नहीं थी, लेकिन आंखों की यह चमक ही सामनेवाले को बांध लेती थी। वर्ण श्यामता की ओर था और देह थी खूब रोगी, लेकिन पैर हिरन की तरह दौड़ने में मजबूत थे। बिल्ली की तरह पेड़ों पर चढ़ जाता था। बुद्धि भी तीक्ष्ण थी, लेकिन दिशाहीन कठोर अनुशासन के कारण उसका प्रयोग पथभ्रष्टता में ही अधिक होता था।

देवानन्दपुर लौटकर यह पथभ्रष्टता ओर भी बढ़ गई। अनुशासन के नाम पर यहां कुछ था ही नहीं। किसी तरह हुगली ब्रांच स्कूल की चौथी श्रेणी में भरती हो गया। [1] दो पक्के कोस चलकर स्कूल जाना पड़ता था। निपट कच्चा रास्ता, गर्मी में धूल से भरा, वर्षा में कीचड़ ही कीचड़। गरीबी इतनी थी, आसानी से फीस का जुगाड़ करना मुश्किल था। आभूषण बेच देने और मकान गिरवी रख देने पर भी वह अभाव नहीं मिट सका। पेट भी तो भरना होता था। फिर भी किसी तरह वह प्रथम श्रेणी [2] तक पहुंच गया परन्तु अब तक पिता पर ऋण बहुत चढ़ गया था। वे फीस का प्रबन्ध न कर सके और फीस के अभाव में स्कूल जाना कैसे हो सकता था। शुरू-शुरू में वह किसी साथी के घर मुट्ठी-भार भात खाकर, स्कूल के मार्ग में, पेड़ों के तले, शरारती बालकों की संगति में दिन काट देता था। फिर धीरे-धीरे उन लड़कों के दल का सरदार बन गया। विद्या पीछे छूट गई और हाथ में आ गई दुधारी छुरी, जिसे लेकर वह दिन-रात घूमा करता था। उसके भय के कारण उसके दल के सदस्यों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही थी।

वह दूसरों के बागों के फल-फूल चोरी करने लगा था। लेकिन उन्हें वह दोस्तों और गरीबों में बांट देता था। दूसरों के ताल में मछली पकड़ने की उसकी जो पुरानी आदत थी वह अब और भी बढ़ गई थी। थोड़े ही दिनों में उसके आस-पास के लोग उससे तंग आ गए

लेकिन उसे पकड़कर दण्ड देने में वे सब असमर्थ थे। एक तो इसलिए कि वह फल और मछली को छोड्कर किसी और वस्तु को नहीं छूता था, दूसरे बहुत से निर्धन व्यक्ति उसकी लूट पर पलते थे। और गांवों में निर्धनों की संख्या अधिक होती थी। इन्हीं में एक व्यक्ति था बहुत दिनों से बीमार, गरीबी के कारण इलाज की ठीक-ठीक व्यवस्था कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं था। आखिर उसे इसी दल की शरण लेनी पड़ी। तुरन्त ये लोग बहुत-सी मछलियां पकड़ लाए और उन्हें बेचकर उसके इलाज का प्रबन्ध कर दिया। उपेक्षित-अनाश्रित रोगियों की वे स्वयं भी यथाशक्ति सेवा करते थे अनेक अंधेरी रातों में लालटेन और लम्बी लाठी लेकर मीलों दूर, वे शहर से दवा ले आए हैं, डाक्टर को बुला लाए हैं। इसलिए जहां कुछ लोग उनसे परेशान थे, वहां अधिकांश लोग उन्हें मन ही मन प्यार भी करते थे।

शरत् चोर नहीं था। घर में बहेद कंगाली थी, पर उसने कभी अपनी चिंता नहीं की। वह वास्तव में राबिनहुड के समान दुस्साहसी और परोपकारी था। अर्द्धरात्रि के निविड़ अंधकार में जब मनुष्य तो क्या, कुत्ते भी बाहर निकलने में डरते थे, वह चुपचाप पूर्व निर्दिष्ट बाग में या ताल पर पहुंचकर अपना काम कर लाता था। इस शुभ कार्य में उसके कई सहचर थे, परन्तु उनमें सबसे प्रमुख था सदानन्द।

इनका अड्डा ताल के किनारेवाले बाग के पास ऊंचे टीले की आड़ में एक गहरा खड्ड था। सब लूटी हुई सामग्री वे यहीं रखते थे। तम्बाकू पीने का सरंजाम भी यहीं था। इस दल के उत्पात जब बहुत बढ़ गए तब सदानन्द के अभिभावकों ने उसे आज्ञा दी कि वह शरत् से कभी ने मिले, लेकिन मिलन क्या कभी निषेध की चिंता करता है? उन्होंने एक ऐसा उपाय खोज निकाला कि सांप मरे ना लाठी टूटे। सदानन्द के घर की छत से लगा एक ऊंचा पेड़ था। उसी पर चढ़कर शरत् छत पर पहुंच जाता और दोनों खूब शतरंज खेलते। उसके बाद रात्रि-अभियान पर निकल पड़ते। सब काम समाप्त करने के बाद दोनों मित्र भले लड़को की तरह अपने-अपने घर जाकर सो जाते थे। जब कभी भी उसके दिल में किसी काम को करने की इच्छा प्रबल हो उठती थी तो उस समय उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों का स्फुरण भी आश्चर्यजनक हो उठता था।

बीच-बीच में मछुओं की नाव लेकर कभी अकेले, कभी मित्रों के साथ कृष्णपुर गांव में रघुनाथदास गोस्वामी के अखाड़े में पहुंच जाना वह नहीं भूला था। यहीं कहीं उसका मित्र गौहर रहता था। 'श्रीकान्त' चतुर्थ पर्व का वह आधा पागल कवि कीर्तन भी करता था। मालूम नहीं वहां किसी वैष्णवी का नाम कमललता था या नहीं, पर यह सच है कि किशोर जीवन के ये चित्र उसके हृदय पर सदा-सदा के लिए अंकित हो गए और आगे चलकर सहित्य-सृजन का आधार बने। न जाने कितने ऐसे चित्र उसने अपनी पुस्तकों में खींचे है।

'श्रीकान्त' चतुर्थ पर्व में कथाशिल्पी शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है, "सीधा रास्ता छोड़कर वन-जंगलों में से इस-उस रास्ते का चक्कर लगाता हुआ स्टेशन जा रहा था... बहुत कुछ उसी तरह जिस तरह बचपन में पाठशाला को जाया करता था। चलते-चलते एकाएक

ऐसा लगा कि सब रास्ते जैसे पहचाने हुए हैं, मानो कितने दिनों तक कितनी बार इन रास्तों से आया गया हूं। पहले वे बड़े थे, अब न जाने क्यों संकीर्ण और छोटे हो गए हैं। अरे यह क्या, यह तो खां लोगों को हत्यारा बाग है। अरे, यही तो है! और यह तो मैं अपने ही गांव के दक्षिण के मुहल्ले के किनारे से जा रहा हूं! उसने न जाने कब शूल की व्यथा के मारे इस इमली के पेड़ की ऊपर की डाल में रस्सी बांधकर आत्महत्या कर ली थी। की थी या नहीं, नहीं जानता, पर प्राय: और सब गांवों की तरह यहां भी यह जनश्रुति है। पेड़ रास्ते के किनारे है, बचपन गें इस पर नजर पड़ते ही शरीर में कांटे उठ आते थे, आंखें बन्द करके एक ही दौड़ में इस स्थान को पार कर जाना पड़ता था।

पेड़ वैसा ही है। उस वक्त ऐसा लगता था कि इस हत्यारे पेड़ का धड़ मानों पहाड़ की तरह है और माथा आकाश से जाकर टकरा रहा है। परन्तु आज देखा कि उस बेचारे में गर्व करने लायक कुछ नहीं हैं, और जैसे अन्य इमली के पेड़ होते हैं वैसा ही है। जनहीन ग्राम के एक ओर एकाकी नि:शब्द खड़ा है। शैशव में जिसने काफी डराया है, आज बहुत वर्षों बाद के प्रथम साक्षात् में उसी ने मानो बन्धु की तरह आंख मिचकाकर मज़ाक किया, 'कहो मेरे बन्धु, कैसे हो, डर तो नहीं लगता?

"मैने पास जाकर परम स्नेह के साथ उसके शरीर पर हाथ फैरा। मन ही मन कहा, अच्छा ही हूं भाई। डर क्यों लगेगा, तुम तो मेरे बचपन के पड़ोसी हो.....मेरे आत्मीय।

"संध्या का प्रकाश बुझता जा रहा था। मैंने विदा लेते हुए कहा, 'भाग्य अच्छा था जो अचानक मुलाकात हो गई, अब जाता हूं बन्धु!"

यह इन्हीं दिनों का चित्र तो है। केवल 'मुंशी लोगों का हत्यारा बाग' खां लोगों का हत्यारा बाग' हो गया है। ये पंक्तियां लिखते समय उसका अपना बचपन जैसे आंखों में जी उठा था।

गल्प गढ़कर सुनाने की उसकी जन्मजात प्रतिभा भी इस समय खूब पल्लवित हो रही थी। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही वह इस कला में पारंगत हो चुका था। और उसकी ख्याति गांव-भर में फैल चुकी थी। इसी कारण शायद स्थानीय जमींदार नव गोपालदत्त मुंशी उससे बहुत स्नेह करते थे। इनका पुत्र अतुलचन्द्र तब कलकत्ता में एम०ए० में पढ़ता था। वह भी शरत् की गल्प गढ़ने की कला से बहुत प्रसन्न था और उसे छोटे भाई की तरह प्यार करता था। कभी-कभी वह उसे थिएटर दिखाने के लिए कलकत्ता ले जाता और कहता, "तुम ऐसी कहानियां लिखा करो, तब मैं तुम्हें थिएटर दिखाने ले जाऊंगा।"

दिखाने के बाद कहता, "अच्छा, तुम इसकी कहानी लिख सकते हो?"

शरत् ऐसी बढ़िया कहानी लिखता कि अतुल चकित रह जाता।

इसी तरह लिखते-लिखते एक दिन उसने मौलिक कहानी लिखनी शरू कर दी। वह कौन-सा दिन था, किस समय और कहां बैठकर उसने लिखना शुरू किया, कोई नहीं जानता पर उस कहानी का नाम था 'काशीनाथ'। काशीनाथ उसका गुरु-भाई था, उसी को

नायक बनाकर उसने यह कहानी शुरू की थी। लेकिन वह नाम का ही नायक है। शायद काशीनाथ का रूप-रंग भी वैसा रहा होगा, पर घर जवांई कैसा होता है यह उसने पिता को सुसराल में रहते देखकर जाना था। शेष कथानक का आधार भी कोई देखी या पड़ी हुई घटना हो सकती है। उस समय वह छोटी-सी कहानी थी। बाद में भागलपुर में उसने उसे फिर से लिखा। 'काकबासा' और 'कोरेल ग्राम' दो और कहानियां इसी समय [3] उसके मस्तिष्क में उभरी थी। कुछ और कहानियां भी उसने लिखी होंगी, पर यही कुछ नाम काल की कूर-दृष्टि से बचे रह सके।

सूक्ष्म पर्यवेक्षण की प्रवृत्ति उसमें बचपन से ही थी। जो कुछ भी देखता उसकी गहराई में जाने का प्रयत्न करता और यही अभिज्ञता उसकी प्रेरणा बन जाती। गांव में एक ब्राह्मण की बेटी थी, बाल विधवा, नाम था उसका नीरू। बत्तीस साल की उमर तक कोई कलंक उसके चरित्र को छू भी नहीं पाया था। सुशीला, परोपकारिणी, धर्मशीला और कर्मठ होने के नाते वह प्रसिद्ध थी। रोग में सेवा, दुःख में सांत्वना, अभाव में सहायता, आवश्यकता पड़ने पर महरी का काम भी करने पे वह संकोच नहीं करती थी। गांव में एक भी घर ऐसा नहीं था जिसने उससे किसी न किसी रूप में सहायता न पाई हो। शरत् उसे 'दीदी' कहकर पुकारता था। दीदी भी उसे बहुत प्यार करती थी। दोनों एक ही पर दुःख कातर जाति के व्यक्ति थे न।

इसी दीदी का 32 वर्ष की उमर में अचानक एक बार पदस्खलन हुआ। गांव के स्टेशन का परदेसी मास्टर उसके जीवन को कलंकित करके न जाने कहा भाग खड़ा हुआ। उस समय गांव वाले उसके सारे उपकार, सेवा-टहल, सब कुछ भूल गए। उन हृदयहीन लोगों ने उसका बहिष्कार कर दिया। उससे बोलना-चालना तक बन्द कर दिया। बेचारी एकदम असहाय हो उठी। स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरने लगा, यहां तक कि वह मरणासन्न हो गई। इस हालत में भी कोई उसके मुंह में एक बूंद पानी डालने के लिए नहीं आया। किसी ने उसके दरवाज़े पर जाकर झांका तक नहीं, जैसे वह कभी थी ही नहीं।

शरत् को भी यह आज्ञा थी कि वह वहां नहीं जाए, लेकिन उसने क्या कभी कोई आज्ञा मानी थी। रात के समय छिपकर वह उसे देखने जाता। उसके हाथ-पैर सहला दिया करता। कहीं से एक-दो फल लाकर खिला आया करता। अपने गांव के लोगों के हाथों इस प्रकार पैशाचिक दण्ड पाकर भी नीरू दीदी ने कभी किसी के खिलाफ कोई शिकवा-शिकायत नहीं की। उसकी अपनी लज्जा का कोई पार नहीं था। वह अपने को अपराधी मानती थी और उस दण्ड को उसने इसीलिए हंसते-हंसते स्वीकार किया था। उसकी दृष्टि में वहीं न्याय था।

शरत् का चिंतातुर मन इस बात को समझ गया था कि अपने अपराध का दण्ड उसने स्वयं ही अपने को दिया था। गांव के लोग तो उपलक्ष्य मात्र थे। उसने इन्हें माफ कर दिया था लेकिन अपने को नही किया था।

जब वह मरी तो किसी भी व्यक्ति ने उसकी लाश को नहीं छुआ। डोम उसे उठाकर जंगल में फेकं आए। सियार-कुत्तों ने उसे नोच-नोचकर खा लिया।

और यहीं पर उसने 'विलासी' कहानी के कायस्थ मृत्युंजय को संपेरा बनते देखा था। वह उसके ही स्कूल में पढ़ता था, पर तीसरी कक्षा से आगे नहीं बढ़ सका। एक चाचा के अतिरिक्त उसका और कोई नहीं था। लेकिन वह चाचा ही उसका परम शत्रु था। उसके बड़े बाग पर उसकी दृष्टि थी। चाहता था मरे तो पाप कटे, इसलिए रोगी हो जाने पर उसने मृत्युंजय की ज़रा भी खोज-खबर नहीं ली। तड़-पड़प कर मर जाता बेचारा, यदि एक बूढ़ा ओझा और उसकी लड़की सेवा करके उसे बचा न लेते। इस लड़की का नाम था विलासी। इस सेवा-टहल के बीच वह उसके बहुत पास आ गई। इतनी कि उसने उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। पर समाज के ठेकेदार यह सब कैसे सह सकते थे। उन्होंने मृत्युंजय को समाज से बाहर निकाल दिया। लेकिन मृत्युंजय ने इसकी चिन्ता नहीं की। उसे अपमानित किया गया, पीटा गया, परन्तु न तो उसने प्रायश्चित ही किया, न विलासी को घर से निकाला। उसे लेकर वह दूर जंगल में जाकर रहने लगा। वहीं रहकर वह सांप पकड़ता और जीविका चलाता। सिर पर गेरुआ रंग की पगड़ी, बड़े-बड़े बाल, मूंछ्-दाड़ी, गले में रुद्राक्ष और कांच की मालाएं। उसे देखकर कौन कह सकता था कि वह कायस्थ कुल का मृत्युंजय है।

शरत् छिप-छिपकर उसके पास जाता। उसने सांप पकड़ना, जहर उतारने का मन्त्र, सभी अ उससे सीखा। एक दिन एक जहरीला नाग पकड़ते हुए मृत्युंजय चूक गया। नाग ने उसे डस लिया। उसको बचाने के सारे प्रयत्न बेकार हो गए। सात दिन मौन रहने के बाद विलासी ने आत्महत्या कर ली।

वर्षो बाद कथाशिल्पी शरत्चन्द्र ने लिखा, "विलासी का जिन लोगों ने मज़ाक उड़ाया था, मैं जानता हूं वे सभी साधु, गृहस्थ और साध्वी गृहणियां थीं। अक्षय स्वर्ग और सतीलोक उन्हें मिलेगा, यह भी मैं जानता हूं। पर वह संपेरे को लड़की जब एक पीड़ित और शय्यागत रोगी को तिल-तिल कर जीत रही थी, उसके उस समय के गौरव का एक कण भी शायद आज तक उनमें से किसी ने आंखों से नहीं देखा। मृत्युंजय हो सकता है कि एक बहुत तुच्छ आदमी हो किंतु उसके हृदय को जीतकर उस पर कब्ज़ा करने का आनन्द तो तुच्छ नही था। उसकी वह सम्पदा तो मामूली नहीं थी। .....शास्त्रों के अनुसार वह निश्चय ही नरक गई है, परन्तु वह कहीं भी जाए जब मेरा अपना जाने का समय आयेगा तब इतना तो मैं कह सकता हूं कि वैसे ही किसी एक नरक में जाने के प्रस्ताव से मैं पीछे नहीं हटूंगा [4]।"

इन दृश्यों का कोई अन्त नहीं था। इन्हीं को देखकर उसने सोचा कि मनुष्य में जो देवता है उसका इतना तिरस्कार मनुष्य अपने ही हाथों से कैसे करता है? इन्हीं प्रश्नों ने उसकी पर्यवेक्षण शक्ति को तीव्रता दी, और दिया संवेदन! इसी संवेदन ने उसे कहानीकार बना दिया।

कहानी लिखने की प्रेरणा उसे एक और मार्ग से मिली। चोरी-चोरी असने अपने पिता की टूटी हुई अलमारी खोलकर 'हरिदास की गुप्त बातें' और 'भवानी पाठ' जैसी पुस्तकें कभी की पढ़ डाली थी। ये स्कूल की पाठ्यपुस्तकें नहीं थीं। बुरे लडुकों के योग्य, अपाठ्य पुस्तकें थी, यही उसको बताया गया था। इसीलिए उसे चोरी का आश्रय लेना पड़ा। वह केवल स्वयं ही उसको नहीं पढ़ता था, अपने साथियों को पढ़कर सुनाता भी था। फिर मन ही मन नये कथानक गढ़ता था।

इसी टूटी हुई अलमारी में से उसने अपने पिता की लिखी हुई अधूरी कहानियां भी खोज निकालीं। वह उत्सुक होकर पढ़ना शुरू करता परन्तु अन्त तक पहुंचने का कोई मार्ग ही पिता ने नही छोड़ा था। परेशान होकर कह उठता, "बाबा, इसे पूरा क्यों नहीं करते? करते तो कैसा होता?"

तब मन ही मन उसने अन्त की कल्पना की और सोचा – 'काश, मैं इस कहानी को लिख पाता।'

पिता का यह अधूरापन भी उसकी प्रेरक शक्ति बन गया।

अभिज्ञता प्राप्त करने के मार्गो की उसके लिए कोई कमी नहीं थी। घर का घोर दारिद्रय बार-बार उसे भाग जाने के लिए प्रेरित करता रहता। यात्रादल के अतिरिक्त कभी-कभी वह यूं ही घर से निकल पड़ता। एक दिन सुप्रसिद्ध सॉलीसीटर गणेशचन्द्र कहीं से कलकत्ता लौट रहे थे। देखा, उनके डिब्बे में एक तेरह-चौदह वर्ष का लड़का चढ़ आया है। पहनावे से अत्यन्त दरिद्र घर का मालूम होता हे। बड़े स्नेह से उन्होंने उसे अपने पास बुलाया। बातें करने लगे पता लगा कि वह लड़का उनके एक मित्र का नाती हे। क्रांतिकारी बिपिनबिहारी गांगुली के पिता अक्षयनाथ ही उनके मित्र थे। वह रिश्ते में शरत् के नाना लगते थे। कलकत्ता पहुंचकर गणेशचन्द्र ने शरत् को अक्षयनाथ के घर भेज दिया।

देवानन्दपुर में रहते हुए एक बार फिर वह लम्बी यात्रा पर निकल पड़ा। इस बार उसका गन्तव्य स्थान था पुरी। यह जाना अनायास और अकारण ही नहीं था। एक परिवार से उन लोगों का घनिष्ठ परिचय था। उसकी स्वामिनी शरत् से आयु में बहुत बड़ी थी और उसे बहुत स्नेह करती थी। अचानक वह बीमार हुई। पति कहीं दूर काम करते थे। किशोर शरत्, जैसा कि उसका स्वभाव था, मन-प्राण से उनकी सेवा में जुट गया। तभी एक ऐसी घटना घटी कि वह, उसे गलत समझ बैठा। उसे इतनी गलानि हुई कि घर से निकल पड़ा।

चलते-चलते उसका शरीर थक गया। न कहीं खाने की व्यवस्था, न ठहरने की सुख-सुविधा, परिणाम यह हुआ कि तीव्र ज्वर ने उसे जकड़ लिया और उसे एक पेड़ के नीचे आश्रय लेने को विवश होना पड़ा। उसी समय एक विधवा उधर से निकली। शायद उसने पानी मांगा था या वह कराहा था। वह तुरन्त उसके पास गई छूने पर उसका हाथ जैसे तपते तवे पर पड़ा हो। करुणा-द्रवित वह बोल उठी, "हाय राम, तुझे तो तेज ज्वर है।"

वह उसे अपने घर ले गई। कई दिन की उसकी ममतापूर्ण सेवा-सुश्रूषा के बाद ही उसे ज्वर से मुक्ति मिल सकी, परन्तु तभी एक और ज्वर में वह फंस गया। उस विधवा का एक देवर था और एक था बहनोई। देवर चाहता था, वह उसकी होकर रहे। बहनोई मानता था कि उस पर उसका अधिकार है। लेकिन वह किसी के पास नहीं रहना चाहती थी। एक दिन दुखी होकर उसने शरत से कहा, "तुम अब ठीक हो गए हो, चलो मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूं।'

और कहीं जाने को वह चुपचाप उसके साथ निकल पड़ी। इस निकल पड़ने के पीछे मात्र मुक्ति की चाह थी, लेकिन वह अभी कुछ ही दूर जा पाए थे कि उस विधवा के दोनों प्रेमी वहां आ पहुंचे। उन्होंने किसी से कुछ नहीं पूछा, जी भरकर शरत् को पीटा और चीखती-चिल्लाती विधवा को वापस ले गए।

फिर उसका क्या हुआ, शरत् कभी नहीं जान सका। लेकिन वह समझ गया कि एक-दूसरे के विरोधी होते हुए भी लुच्चे –लफंगों में एका होता है और भले लोग अधिक होते हुए भी एक-दूसरे से छिटके-छिटके रहते है। कथाशिल्पी शरत्चन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'चरित्रहीन' का आधार ये ही घटनाएं बनीं और इसी समय उसकी रूपरेखा उसके मस्तिष्क में उभरी।

वह पुरी के मार्ग पर आगे बढ़ गया। फिर गांव-गांव में आतिथ्य लाभ कर जब वह घर लौटा तो उसका चेहरा इतना विकृत हो गया था कि पहचाना तक न जाता था। सुना गया कि प्रसिद्ध गणितज्ञ पी० बसु के घर उसने आश्रय लिया था।

एकाध बार चोर-डाकुओं के दल में भी पड़ जाने की बात सुनी जाती है। असल में वह इतना दुस्साहसी था कि उसके बारे में नाना प्रकार की कथाएं चल निकली थीं। उसका स्वभाव था कि अपने मन की बात कभी किसी से नहीं कहता था। परन्तु अभिनय करना उसे खूब आता था। झूठ को सच बनाकर चलाने की कला में वह निष्णात था।

इस सब अभिज्ञता के पीछे परिवार की स्थिति थी जो सचमुच बहुत खराब हो चुकी थी। दादी का देहान्त हो चुका था। वे थी तो किसी तरह परिवार के मान की रक्षा करती आ रही थीं। पर अब सबके सामने एक बहुत बड़ा शून्य था। कर्ज़ मिलने की एक सीमा होती हे। निश्चय ही 'शुभदा' की कृष्णा बुआ की तरह किसी ने कहा होगा "अपने बाप से कुछ उपाय करने को, कुछ कमाने को कहो। नहीं तो मैं दुःखी गरीब, रुपया-पैसा कुछ न दे सकूंगी।"

इस प्रकार दरिद्रता ओर अपमान को सहन करने की उसकी मां की शक्ति सीमा का अतिक्रमण कर गई थी। पर जाए तो वह कहां जाए? उसके माता-पिता [5] कभी के स्वर्गवासी हो चुके थे। परिवार छिन्न-भिन्न हो गया था। भाइयों की आर्थिक स्थिति ज़रा भी उत्साहजनक नहीं थी। फिर भी जब उसके लिए देवानन्दपुर में रहना असम्भव हो गया तो

डरते-डरते उसने अपने छोटे काका अघोरनाथ को चिट्ठी लिखवाई। अघोरनाथ ने उत्तर दिया, "चली आओ!"

शरत् फिर देवानन्दपुर नहीं लौटा। यहां उसका सारा जीवन घोर दारिद्रय और अभाव में ही बीता। मां और दादी के रक्त और आंसुओं से इस गांव के पथ-घाट भीगे हुए हैं। दरिद्रता के जो भयानक चित्र कथाशिल्पी शरत् ने 'शुभदा' में खींचे हैं उनके पीछे निश्चय ही उसकी यह अभिज्ञता रही है। इसी यातना की नींव में उसकी साहित्य-साधना का बीजारोपण हुआ। यहीं उसने संघर्ष और कल्पना से प्रथम परिचय पाया। इस गांव के ऋण से वह कभी मुक्त नहीं हो सका।

---

1. सन् 1889 या 1890, वर्तमान 7वीं श्रेणी।
2. वर्तमान 10वीं श्रेणी
3. सन् 1893 ई०
4. शरत्साहित्य, भाग 5 पृष्ठ 121 (बिलासी गल्प)
5. माता : 1891 ई० पिता : 1 जनवरी, 1892 ई०।

7

शरत् जब भागलपुर लौटा [1] तो उसके पुराने संगी-साथी प्रवेशिका परीक्षा पास कर चुके थे। [2] और उसके लिए स्कूल में प्रवेश पाना भी कठिन था। देवानन्दपुर के स्कूल से ट्रांसफर सर्टिफिकेट लाने के लिए उसके पास पैसे नहीं थे लेकिन यदि दाखिला नहीं होता है तो उस वर्ष परीक्षा देना असम्भव होगा। सौभाग्य से स्कूल के एक शिक्षक श्री पांचकौड़ी बन्दोपाध्याय के पिता श्री बेनीमाधव बन्दोपाध्याय शरत् के नाना के मित्र थे। इसी नाते वह पांचकौड़ी बाबू को मामा कहता था। प्रधानाध्यापक श्री चारुचन्द्र बसु भी बड़ी साधु प्रकृति के मनुष्य थे। इन्हीं लोगों की कृपा से किसी तरह उसे दाखिला मिल गया। देवानन्दपुर में उसकी शरारतों का कोई अन्त नहीं था, परन्तु यहां आकर उसे जो चुनौती मिली तो वह बिलकुल बदल गया। अपने को किसी से हीन मान लेना उसके स्वभाव के विरुद्ध था। परीक्षा पास करने के लिए उसने रात-रात जागकर पढ़ना शुरू कर दिया। नींद को दूर करने के लिए वह खूब काफी पीने लगा।

उसके पुराने मित्र फिर उसके पास घिर आए। राजू उनमें सबसे प्रमुख था। शीघ्र ही उसने एक नया मित्र और बना लिया। उसका नाम था नीला। उन्हीं की सहायता से उसने अपने को व्यवस्थित कर लिया। राजू ने उसके लिए देवदार के एक बक्स को किताब रखने की अलमारी में बदल दिया। तीन टांग की एक टूटी हुई कुर्सी और ऐसी ही एक छोटी-सी मेज़ को भी उसने ठीक कर दिया। खाट के बिछावन की दरिद्रता को ढकने के लिए वह उस पर एक ओढ़ने की चादर डाले रखता। उसके नीचे एक गुड़गुड़ी रहती थी। खाट के बीच में से तकिये के पास नली निकालकर चोरी-चोरी वह उसको पिया करता था। सुरेन्द्रनाथ ने लिखा है – "सारी रात दिया जलता रहे, इतना तेल भी मां नहीं जुटा पाती थी। साथी लोग मोमबत्ती दे जाते। इन्हीं की कृपा से पुस्तकें मिल जातीं। एक कोने में स्टोव था। टीन की एक केतली थी। एक छोटी-सी सुराही और उस पर ढकने का एक छोटा-सा गिलास था। यही उसकी भौतिक सम्पदा थी। लेकिन इस दैन्य ने उसके मन को हीन नहीं बनाया। इसलिए उसका विद्या-अभियान राजपुत्र के समान ही चल रहा था। नीला आता, तम्बाकू सजाकर कहता, "पी!"

और दोनों मित्र तम्बाकू पीते-पीते गपशप करते या फिर पढ़ते। उस दिन नीला बहुत सवेरे उससे मिलने आया। खिड़की से क्या देखता हे कि शरत् सोया पड़ा है और चादर पर रक्त फैला है। घबराकर उसने पुकारा, "शरत् ओ शरत्!"

नींद से आखें भरी थीं। लेटे-लेटे शरत् ने कहा, "अन्दर आ जा।"

नीला ने पूछा, "बीमार हे?"

"हां!"

"रक्त की उलटी हुई है?"

"दुत्त पागल।"

"तो फिर तेरे कपड़ों पर यह रक्त कैसा है?"

चकित होकर शरत् ने देखा, सचमुच खून था। बोला, "बेटे नेवले की करतूत है। आज उसने फिर चूहे का शिकार किया है।"

लेकिन जब नीला ने अन्दर आकर इधर-उधर देखा तो चकित हो उठा। बोला, "खूब बचा रे शरत्! तुम्हारे नेवले बेटे ने गोखरू सांप मारा है।"

बस फिर क्या था। घर-घर में शोर मच गया। भुवनमोहिनी ने मां मनसा का प्रसाद बांटा। जब सब प्रसाद ले चुके तो शरत् ने कहा, "जिसकी बदौलत प्राण बचे उसको तो मां तुमने पूछा ही नहीं।"

मां बोली, "नीला को तो दिया है।"

"नीला ने क्या सांप मारा है?"

"हाय रे भाग्य! मैं तो भूल ही गई!" मां बोली और दूध-केला मिलाकर नेवले को देने के लिए चली। शरत् ने कहा, "मां, नेवला क्या केला खाएगा? उसे माछ चाहिए।"

मां ने तुरन्त नेवले के लिए दूध-माछ का प्रबन्ध कर दिया।

शरत् की पढ़ाई में एक और बाधा थी। ठीक समय पर उसकी आंख नहीं खुलती थी एक दिन नीला चुपचाप टाइमपीस ले आया। शरत् की आख सजल हो आई। बोला. "नीला तू मुझे इतना प्यार क्यों करता है?"

"वह तो भाई, नहीं कह सकता। सभी यहीं पूछते हैं। एक व्यक्ति दूसरे को क्यों प्यार करता है पता नहीं।"

शरत् ने कहा, "तेरा दिल बड़ा नरम है। दूसरों के दुख को तू अपने मन के भीतर से अनुभव कर लेता है। तू औरों जैसा नहीं है। उस दिन मुझे बादाम-पिश्ता क्यों दे गया, औरों को क्यों नहीं दिया? सच तो यह है कि तेरे भीतर नारी के समान कोमल मन है।"

नीला क्रोध का नाटक करता हुआ बोला, "शैतान-पाजी, मुझे नारी कहता है?"

दोनों मित्र हंस पड़े। नीला भी गाना खूब जानता था। उसके पास इसराज था। परीक्षा के बाद शरत् उसे अपने घर ले आया। जिस कोठरी में कभी बच्चों को बन्द किया जाता था उसी को शरत् ने संगीतशाला बनाया। एक दिन सवेरे-सवेरे उस घर से संगीत का स्वर सुनकर लड़के-लड़कियों के हृदय विचलित हो उठे। सुरेन्द्रनाथ ने दरवाज़ा खटखटाया तो शरत् ने बाहर आकर कहा, "जल्दी कर, कहीं छोटे नाना जान गए तो मुस्किल होगी।"

सुरेन्द्र भीतर आकर कोच के ऊपर बैठ गया। शरत् धीरे-धीरे इसराज बजाकर गाने लगा, "मथुरावासिनी, मथुरावासिनी।"

कई क्षण मंत्रमुग्ध रहने के बाद सुरेन्द्र ने पूछा, "यह किसका है शरत्?"

"मेरा।"

"खरीदा है?"

"नहीं।"

"तब?"

"नीला ने दिया है।"

"एकदम दे दिया है? "

"सीखने के लिए दिया है।"

और यह कहकर शरत् ने बाजे को अंधेरे में छुपा दिया। कहा, "किसी से कहना मत, तुझे भी सिखाऊंगा।"

नीला शरत् को बहुत प्यार करता था। लेकिन वह बहुत दिन जी नहीं सका। उसने पुलिस में नौकरी कर ली थी। अचानक एक दिन हैजा हुआ और वह मर गया। शरत् ने उस दिन पहली बार अनुभव किया कि चिर बिछोह की यह मर्मान्तक वेदना क्या होती है। [3]

परीक्षा पास आ रही थी, लेकिन बाधाओं का भी कोई अन्त नहीं था। बड़े मामा ठाकुरदास की लड़की को कालाज्वर हो आया, और जैसा कि शरत् का स्वभाव था, वह सबकुछ भूलकर उसकी परिचर्या में लग गया। लेकिन वह बच नहीं सकी। तब शरत् इतना दुखी हुआ कि उसके पास होने में सन्देह होने लगा। परीक्षा की फीस जुटाने का प्रश्न भी था। इसीलिए भुवनमोहिनी की चिन्ता का पार नहीं था। बड़े भाई ठाकुरदास पर इन दिनों दफ्तर का कुछ रुपया गोलमाल करने के कारण मुकदमा चल रहा था। यद्यपि अन्त में वे दोषमुक्त हो गए, पर खर्च की कोई सीमा नहीं थी। छोटे भाई विप्रदास की आय बहुत कम थी। उन पर सारे घर का दायित्व भी था। फिर भी साहस करके भुवनमोहिनी ने उन्हीँ से कहा। वे बोले, "घर में तो पैसे नही हैं। कहीं से कर्ज़ लाने होंगे।"

उन दिनों कर्ज़ लेने का एक अड्डा था खंजरपुर में गुलजारीलाल का घर। वह स्थूलकाय कृष्णवर्णीय महाजन भागलपुर का शाइलॉक करके प्रसिद्ध था। विप्रदास सरकारी नौकर थे। उनसे रुपया वसूल करना कोई कठिन काम नहीं था। परन्तु सूद को लेकर गुलजारीलाल ने काफी बकझक की। अन्त में चार पैसे रुपये मास की दर पर फैसला हुआ। इसी रुपये के बल पर शरत् परीक्षा [4] में बैठ सका।

उसके बाद वह जैस मुक्त हो गया। उसका अधिकतर समय राजू के साथ बीतने लगा। वह इन दिनों पढ़ना-लिखना छोड़कर लकड़ी के कारखाने में काम सीखता था। यदि वह मोती जैसे अक्षर लिख सकता था तो लकड़ी की सुन्दर वस्तुएं भी बना सकता था। अद्‌भुत चरित्र था उसका। एक साथ वीरता और बांसुरी की विद्या में निष्णात। कण्ठ-स्वर कैसा मधुर था! हारमोनियम, क्लेयरनेट सभी खूब अच्छी तरह बजाता था। अभिनय करने की उसमें असाधारण प्रतिभा थी। अनेक लोग उसके बारे में अनेक प्रकार की बातें करते थे पर

वह प्रतिभाशालियों के वंश में पैदा हुआ था। इसीलिए प्रतिभा ने उसका मुक्त होकर वरण किया था ओर इसीलिए किसी एक क्षेत्र में अधिक देर रहना उसे नहीं सुहाता था। नाना अनुभव और नाना परीक्षाओं में उसे रुचि थी। परन्तु गांजा, शराब और वेश्या सब कुछ रहते हुए भी उसका अन्तःकरण गंगाजल के समान था। वह बदमाश नही था, केवल दुःसाहसी था। वह योग और आनन्द में रहता था। जैसे गंगाजल सब कुछ को पवित्र कर देता है।

उसकी अपनी एक नाव थी और उसी में वह घूमता रहता था। कभी-कभी होती घोर अंधेरी रात और पूरमपूर भरी होती गंगा, वह शरत् को पकड़ता और कहता, "चलो नाव में घूम आवें।" शरत् को डर लगता, पर राजू तो उसक गुरु है, मना भी करे तो कैसे करे।

गत वर्ष फुटबाल के मैदान में दंगा हो गया था। तब लाठी के ज़ोर पर राजू के दल ने शत्रुओं को परास्त कर दिया था। उस दंगे में शरत् के प्राण संकट में पड़ गए थे। राजू न आ जाता तो कुछ भी हो सकता था। और जब उसे सांप ने काट लिया था तब वही तो तूफानी गंगा में नाव खेकर ओझा को बुलाने गया था। इसीलिए शरत् की राजू की प्रति कृतज्ञता की कोई सीमा नहीं थी। बस उस खरस्त्रोता गंगा में वे अपनी छोटी-सी नाव छोड़ देते और चलते-चलते एक द्वीप पर जा पहुंचते। वहां से गंगा पूर्व से उत्तर की ओर बहने लगती है। वहीं मल्लाह मछली पकड़ते थे। वे लोग बहुत शक्तिशाली थे और इकट्ठे रहते थे। एक दिन राजू ने कहा, "चलो, आज मछली चोरी करें।"

"पीटे जाओगे।"

राजू ने कहा, "कोई चिन्ता नहीं। पिट लेंगे। चलो।"

वे दोनों उसी द्वीप पर पहुंचे। कुछ देर मछलियां पकड़ने का नाटक करते रहे। फिर जब मछवारे सो गए तो चुपके से आकर १०-१२ सेर मछलियां उठा लीं। सहसा उसी समय मछुवे जाग उठे। वे दोनों नाव लेकर भागे और अरहर के खेतों में घुस गए। पानी कम था, नीचे उतर गए और नाव खींचने लगे। वहां बड़े-बड़े सांप थे। राजू सहसा ठिठका तो शरत् ने पूछा, "क्या है दादा?"

शरत् ने उत्तर दिया, "कुछ नहीं! सांप है!"

शरत् सहसा भय से कांप उठा, बोला, "सांप!"

राजू हंसा, "अरे डरता क्यों है? सांप अपना जीवन बचायेगा ओर हम अपना। यही संसार का धर्म है।"

अपराध करने पर उसके हाथों दण्ड पाना अनिवार्य था। वास्तव में अन्याय के विरुद्ध सीना तानकर खड़ा हो जाना उसका स्वभाव था। उस समय पानी के नल नहीं लगे थे। कुलवधुएं और कन्याएं गंगाघाट पर आकर पानी भरती थीं। स्नान-पूजादि सब यहीं होता था। यद्यपि उनके लिए अलग घाट था, फिर भी कभी-कभी अवांछित लोग वहां आ जाते थे। उनकी असभ्य हरकतों से स्त्रियों को बड़ा कष्ट होता था। ऐसे ही एक दिन कुछ लोग हंसी-मजाक करते-करते एक-दूसरे पर पानी फेंकने लगे। किसी ने उन्हें नहीं रोका। हठात्

राजू वहां आ निकला। उसने यह दृश्य देखा। वह एक शब्द भी नहीं बोला। तुरन्त एक व्यक्ति के पास पहुंचा और उसका अंगौछा छीनकर उसी के गले में डाल दिया। फिर खींचकर उसे गंगा के भीतर ले गया और लगा डुबकियां लगवाने। हतप्रभ उस व्यक्ति ने गिड़गिड़ाकर कहा, "माफ कर दो भैया, माफ कर दो। हाथ जोड़ता हूं।"

"फिर आओगे?"

"नहीं, नहीं, इधर पैर भी नहीं रखूंगा।"

"खाओ ईश्वर की सौगन्ध!"

"ईश्वर की सौगन्ध खाता हूं, फिर इधर नहीं आऊंगा।"

"जाओ, माफ किया।"

मोक्षदा स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे। बहुत कम वेतन मिलता था। इसलिए अध्यापन के साथ कुछ और काम भी करते थे। परिणाम यह होता था कि घर लौटते-लौटते देर हो जाती थी। एक दिन संध्या के अंधकार में वे लौट रहे थे कि उन्होंने पीछे से आती हुई गोरे साहब की गाड़ी के घोड़ों की टाप सुनी और दूसरी ही क्षण अनुभव किया कि उनकी पीठ पर चाबुक बरसने लगे है। तड़पकर उन्होंने दृष्टि उठाई तो साहब की गाड़ी अंधकार में विलीन हो चुकी थी। वह यह भी नहीं जान सके कि यह किस अपराध का दण्ड है।

एक बार नहीं, कई बार ऐसा हुआ। उनका मन ग्लानि से भर उठा। तभी सहसा उन्हें ध्यान आया कि राजू इस प्रकार के अत्याचारों का बदला लेने का भार अपने ऊपर ले लेता है। वह उसके पास गए और पीठ पर के रक्त़ के दाग दिखाए। उनकी कहानी सुनकर राजू ने इतना ही कहा, "मास्टर मोशाई, आप घर जाइए। कल की छुट्टी ले लीजिए। परसों, जो कुछ होगा, आप सुन लेंगे।"

अगले दिन संध्या को क्या हुआ कि एक बड़ी रस्सी लेकर राजू और शरत् अपने दल के साथ उस छाया पथ पर जाकर जम गए। उसी पथ से साहब रोज़ क्लब जाता था। ठीक समय पर टमटम के आने का शब्द हुआ। राजू ने अपने साथियों के साथ सड़क के दोनों ओर पेड़ों में वह रस्सी बांध दी। साहब सपने में भी इस बात की कल्पना न कर सकता था। वह उसी शान से चला आ रहा था कि घोड़ा रस्सी में उलझ गया और निमिष-मात्र में साहब उछलकर रास्ते पर जा गिरे। राजू इसी अवसर को टोह में था। जी भरकर उन सबने साहब को पीटा और कहा, "फिर कभी किसी बेकसूर मुसाफिर को मारोगे?"

"कभी नहीं!"

"बोलो, 'माफ करो!' "

"माफ करो!"

"घर जाओ!"

साहब चुपचाप वहां से चला गया। वह इतना लज्जित हुआ कि फिर भागलपुर में नहीं रह सका। बदली कराके कहीं और चला गया। [5]

माघ मास में भागलपुर में दारुण शीत पड़ता था। उसी समय बंगला स्कूल के पण्डितजी की पत्नी का देहान्त हो गया। पण्डितजी स्वयं भी रोगी थे। बच्चा उनका बहुत छोटा था। अब दाह संस्कार हो तो कैसे हो? एक स्कूल के हेडमास्टर ऐसे अवसरों पर पीड़ितजनों की सहायता करने को सदा उद्दत रहते थे। उन्हें खबर मिली तो वह अपने अनुचरों का दल लेकर शवदाह की व्यवस्था करने के लिए उपस्थित हो गए। अनुचरों का यह दल राजू और शरत् का ही दल था। उस दिन अमा निशा थी। आकश मेघाच्छन्न था और श्मशान था दो कोस दूर। शवयात्रा आरम्भ ही हुई थी कि टप-टप वर्षा पड़ने लगी। तब लालटेन बहुत सुलभ नहीं थी। छेदों वाली हांडी में रखा हुआ तेल का दिया ही मार्ग-दर्शन कर रहा था। तेज़-तेज़ कदम रखते और 'हरि बोल, हरि बोल' पुकारते वे आगे बढ़ रहे थे कि वर्षा और भी तेज़ हो आई। देखते-देखते पथ-घाट सब जलमग्न हो गए। यहां तक कि लाश भी भारी हो गई सोचा, शव को इमली के पेड़ के नीचे रखकर सांस ले लेनी चाहिए।

तभी ओले पड़ने लगे। बैठना असम्भव हो गयां। आब मुर्दे का क्या हो? उसे अकेला कैसे छोड़े? राजू ने कहा, "आप सब जा सकते हैं। मैं यहां रहूंगा।"

बहुत देर बाद जब वर्षा बन्द हुई तभी वे लोग लौटे। मुर्दा वैसे ही रखा हुआ था, लेकिन राजू का कहीं पता नहीं था। वे समझ गए कि हज़रत चकमा दे गए हैं। लेकिन वे अभी कुछ निर्णय भी नहीं कर पाए थे कि उन्होंने देखा, लाश धीरे-धीरे हिल रही है। सहसा चीत्कार करके वे भाग चले। और कुछ दूर पर खड़े होकर जनेऊ हाथ में लेकर ज़ोर-ज़ोर से 'राम-राम' पुकारने लगे। लाश धीरे-धीरे हिलती रही। फिर ऐसा लगा, जैसे वह उठने लगी हो। 'राम-राम' का स्वरघोष और भी तीव्र हो उठा और उसी के साथ लाश भी उठकर बैठ गई।

'भागो-भागों चीखते हुए वे लोग भाग चले। लेकिन तेज़ हंसी का स्वर सुनकर पीछे मुड़े तो क्या देखते हैं कि कफन के भीतर से ज़ोर-ज़ोर से हंसता हुआ राजू बाहर निकल रहा है।

शाबाश बेटा। जीते रहो। यही मरदों का काम है।

राजू के इन दुस्साहसिक कार्यों का ठीक लेखा-जोखा किसी के पास नहीं है। परन्तु यह सच है कि रॉबिनहुड जैसे चरित्र भी उसके सामने म्लान पड़ जाते हैं। उसका असीम साहस उसकी अजस्र दया-माया की नींव पर ही खड़ा था। जो अभावग्रस्त थे उनका वह मित्र था। जो बदमाश थे उनके लिए वह साक्षात् यम था। उसे मृत्यु का भय नहीं था। इसीलिए उसकी बांसुरी और संन्यासवृत्ति दोनों चरम सीमा पर थीं।

कालान्तर में कथाशिल्पी शरत् ने बच्चों के लिए जो कहानियां लिखी उनका आधार ये और ऐसी ही बहुत-सी घटनाएं है। ये ही घटनाएं उनकी बैठकी गल्पों में भी आई हैं। उन्होंने लिखा है - "राजू अधिक लिखा-पढ़ा नहीं था, परन्तु उसमें अनन्त गुण थे। उस उम्र में इस तरह का ऊंचे आदर्श वाला आदमी ज़िंदगी में मैंने नहीं देखा।"

शरत् भी कम दुस्साहसी नहीं था। राजू के साहचर्य से वह और भी निडर और दुर्दम हो उठा। उन दिनों भागलपुर में चोरी-डकैती बहुत होती थी। सभी लोग सजग रहते थे और रात में हथियार लेकर सोते थे। उस समय राजू के एक भाई मणीन्द्रनाथ कालेज़ में पढ़ते थे। विश्वविद्यालय में परीक्षाएं हो रही थीं। रात को देर-देर तक ज़ागकर पढ़ना पड़ता था। उनका कमरा गंगा-तट पर वट वृक्ष के बिलकुल पास था। आस-पास कांस का जंगल था, जिसमें भयंकर सांप और रीछ आदि भरे पड़ थे। एक रात पढ़ते-पढ़ते सहसा मणीन्द्रनाथ ने खिड़की पर आहट सुनी। वह सजग हो उठे। तभी देखा, जैसे मनुष्य का सिर उभर रहा है। जैसे वह अपने को छिपा रहा है। उन्होंने तुरन्त बन्दूक संभाली, लेकिन वह दागने ही वाले थे कि किसी ने पुकारा, "मणि-मणि, क्या करते हो? बन्दूक मत चलाओ। यह मैं हूं।"

"मैं कौन?"

"मैं शरत्!"

काटो तो खून नहीं। हतप्रभ मणि देखते रह गए। कई क्षण बाद बोले, "हे भगवान, इतने सेवेरे इस भयानक जंगल में तुम क्या कर रहे हो?"

"कुछ नहीं, बस, तुम्हें डराने आया था।"

रात के दो बजे थे। न ज़हरीले सांपों की चिन्ता, न भयानक रीछों का डर।

दुस्साहस के क्षेत्र में शरत् राजू का साथी था, परन्तु साहित्य के क्षेत्र में उसका राज़दार अभी कोई नहीं था। हां, कुछ इस रहस्य के बारे में जानते-भर थे। उसके सिर पर लम्बे-लम्बे बालों को देखकर वे कहा करते थे, "उसने बाल इसलिए बढ़ाए हैं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समान कवि बनना चाहता है।"

रवीन्द्रनाथ तब तक कवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे और साहित्य के क्षेत्र में किसी के पदार्पण करने का अर्थ था रवीन्द्रनाथ बनना। बंकिम-ग्रन्थावली भी वह पढ़ चुका था। उपन्यास साहित्य में इसके बाद भी कुछ है यह वह उस समय सोच भी नहीं पाता था।

उसका पहला उपन्यास 'बासा या काकबासा' पूरा हो चुका था। [6] केवल मामा सुरेन्द्रनाथ ने उसे छिपे-छिपे लिखते देखा था। घंटों पर घंटे न जाने कहां से आकर कहां चले जाते थे, पर उसका लिखना नहीं रुकता था। लेकिन बाद में यह रचना उसे पसन्द नही आई। पिता की तरह उसने इसे पढ़ा, सोचा के क्या यह रवीन्द्रनाथ जैसी हो सकी है?

नहीं हो सकी।

तब व्यर्थ हे। लिखूंगा तो रवीन्द्रनाथ जैसा, नहीं तो नहीं।

और एक दिन उसने उसे फाड़कर फेंक दिया। 'काशीनाथ' भी अभी इस योग्य नहीं हुआ था। उसे वह लम्बी कहानी का रूप दे रहा था। 'कोरेल ग्राम' कहानी का आरम्भ भी देवानन्दपुर में हो गया था। लेकिन उस रूप में वह कभी प्रकाशित नहीं हो सकी। लिखने की इच्छा बराबर तीव्र हो रही थी। मन में भीतर ही भीतर एक प्रकार की कामना उभरती। इस दुनिया में जो विभिन्न प्रकार की चीज़ें देखते-सुनते है उन्हें क्या कोई रूप नहीं दिया जा

सकता? आरम्भ में वह यहां-वहां से चुराकर लिखता था। अभिज्ञता न होने के कारण कुछ अच्छा नहीं लिखा जाता था। लेकिन जैसे-जैसे जीवन की पाठशाला में नाना अभावों के कारण अभिज्ञता प्राप्त होती गई वैसे-वैसे ही उसकी लेखनी में बल आता चला गया।

कहानियां गढ़कर सुनाने की उसकी जन्मजात प्रतिज्ञा निरन्तर प्रगति कर रही थी। जिस समय दूसरे साथी फुटबाल खेलते थे तब वह छोटी आयु के बच्चों को घेरकर बैठ जाता ओर कहानियों पर कहानियां सुनाकर उन्हें मंत्रमुध कर देता। बीच-बीच में पूछा रहता, "कैसी लगी रे?"

बेचारे बालक, पता नहीं वे कुछ समझते भी थे पर, इस अदम्य साहसी और कथा-विद्या-विशारद से यही कहते, "बहुत अच्छी लगी, दादा।"

राजलक्ष्मी श्रीकान्त के बारे में यही तो कहती है, "इसमें आश्चर्य क्या, आनन्द! अपने मन की बात दबाते-दबाते और कहानियां गढ़कर सुनाते-सुनाते इस विद्या में ये पूरी तरह महामहोपाध्याय हो गए है। [7]

---

1. सन् 1893।

2. आजकल की दसवी कक्षा।

3. शरत् परिचय-सुरेन्द्रनाथ।

4. ये परीक्षाएं सोमवार 12 फरवरी, 1894 को आरम्भ हुई।

5. इस कथा के भी नाना प्रकर प्रचलित हैं, पर मूल रूप में यह सत्य है।

6. सन् 1894 ई०

7. श्रीकान्त-चतुर्थ पर

8

इन दुस्साहसिक कार्यों और साहित्य-सृजन के बीच प्रवेशिका परीक्षा का परिणाम [1] कभी का निकल चुका था और सब बाधाओं के बावजूद वह द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया था। अब उसे कालेज में प्रवेश करना था। परन्तु सदा की तरह फीस देने का प्रश्न फिर बाधा बनकर आ उपस्थित हुआ। जो व्यक्ति प्रवेशिका परीक्षा की फीस नहीं दे सकता था वह कालेज का खर्च कैसे चलाएगा, लेकिन मां की कामना थी कि उसका बेटा बड़ा आदमी बने। इसलिए उसने किस-किसके आगे हाथ नहीं जोड़े। अन्त में छोटी नानी कुसुमकामिनी ने शरत् की रक्षा की। पति से परामर्श करके उसने उसे घर के छोटे बच्चों का ट्यूटर नियुक्त कर दिया। बदले में उसको कालेज की फीस और पुस्तकों का खर्च चलाने लायक पैसे मिल जाते। मामाओं को पढ़ाने के बाद वह स्वयं पढ़ता था। आधी रात बीत जाती। सवेरे उठना उसे कभी प्रिय नहीं था।

उस दिन कलेज के प्रथम वर्ष में विज्ञान की परीक्षा होने वाली थी। पहली रात को उसने अपने सब विद्यार्थियों को बुलाया और कहा, "कल मेरी परीक्षा है। मैं पढ़ना चाहता हूं। आज रात तुम मुझे परेशान मत करना। जो कुछ भी पूछना हो कल सवेरे आकर पूछना।"

विद्यार्थी चले गए और वह मोटी-मोटी विज्ञान की पुस्तकें लेकर पढ़ने बैठ गया। दरवाज़े और खिड़कियां सब बन्द कर लीं। दूसरे दिन सवेरे विद्यार्थियों का दल नियत समय पर आ पहुंचा। देखा अभी तक लैम्प जल रहा है और शरत् दत्तचित्त होकर पढ़ने में लगा है। उनके आने की आहट पाकर वह चौंका और नाराज़ होकर बोला, "कितना मना किया था कि आज रात मुझे परेशान मत करना, कल मेरी परीक्षा है, मैं नहीं पढ़ा सकूंगा, लेकिन तुमने नहीं सुना!"

विद्यार्थी विस्मित-चकित एक-दूसरे की ओर देखने लगे। किसी तरह एक मामा ने साहस करके कहा, "वह तो कल रात की बात थी। अब तो सबेरा हो चुका है।"

शरत् : विभिन्न कालों और मुद्राओं में

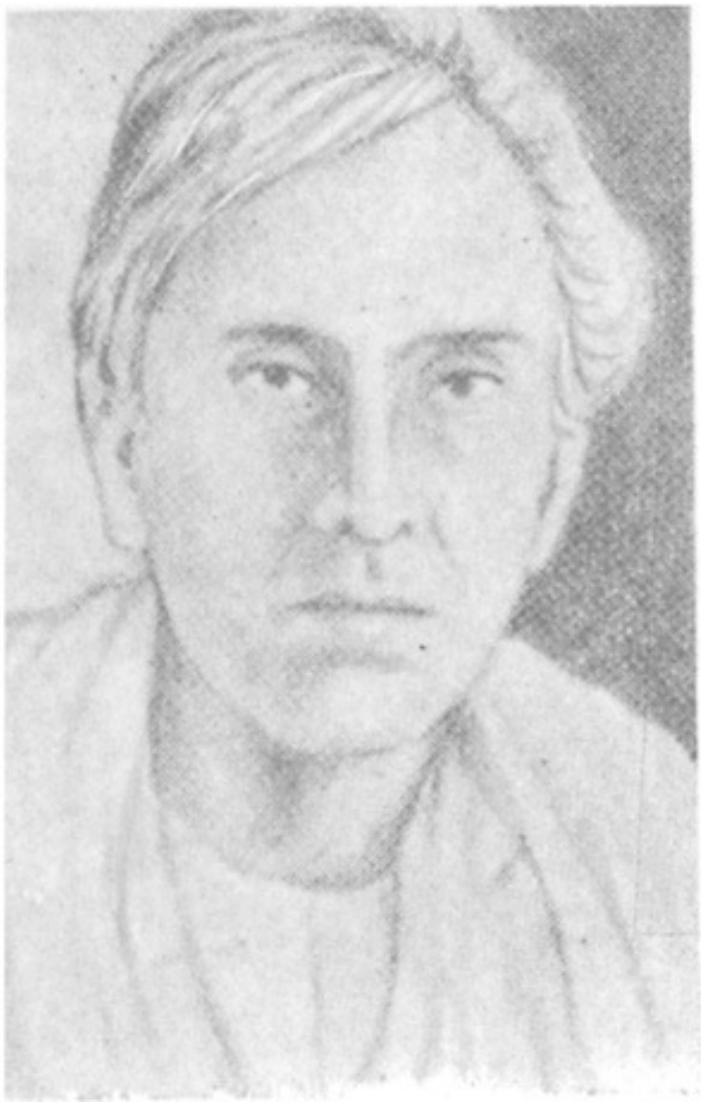

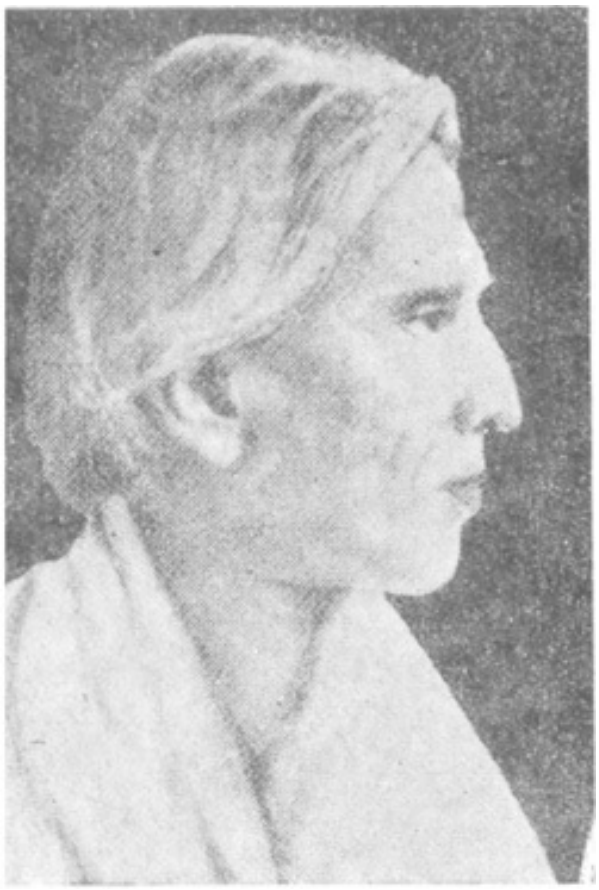

डी. लिट्. (ढाका विश्वविद्यालय) की उपाधि लेते समय

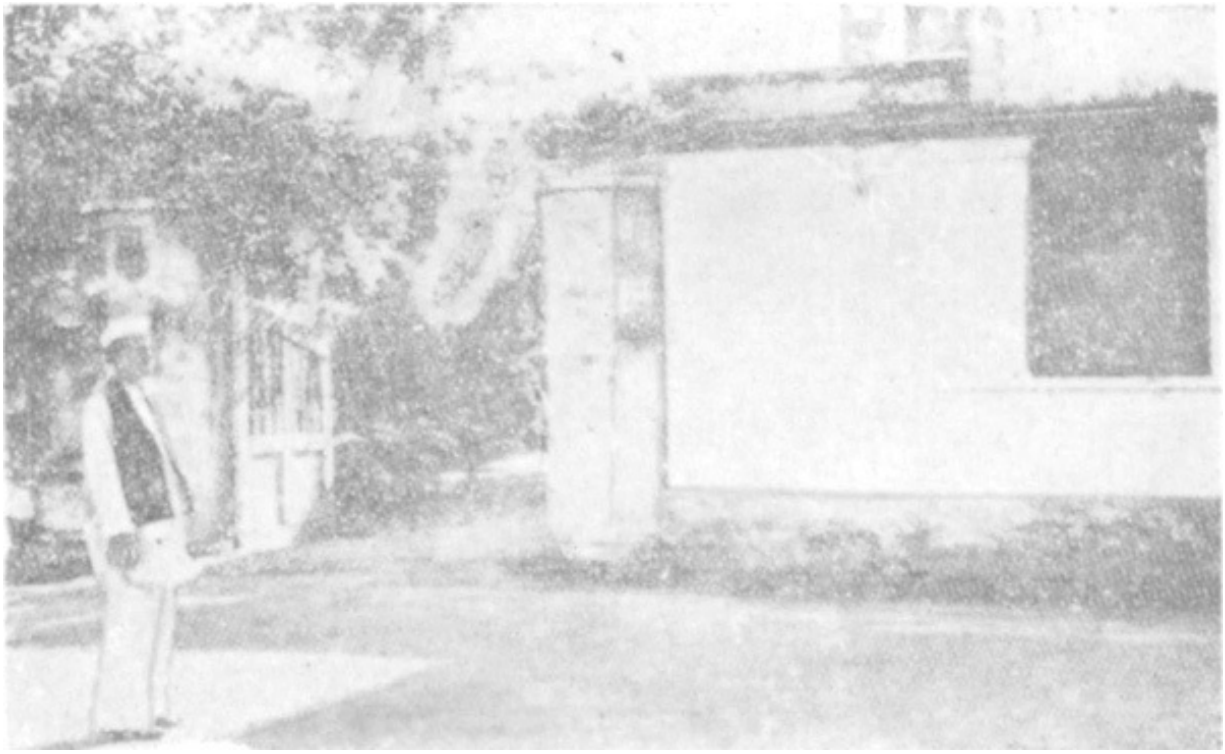

पार्क नर्सिंग होम जहां अंतिम समय में शरत् की चिकित्सा और उनका देहान्त हुआ

देवानन्दपुर में शरत्चन्द्र स्मृति मंदिर

स्मृति स्तम्भ-श्रीकान्त के स्रष्टा चिरव्रात्य शरत्चन्द्र की पार्थिव देह को यहां अग्नि को समर्पित किया गया

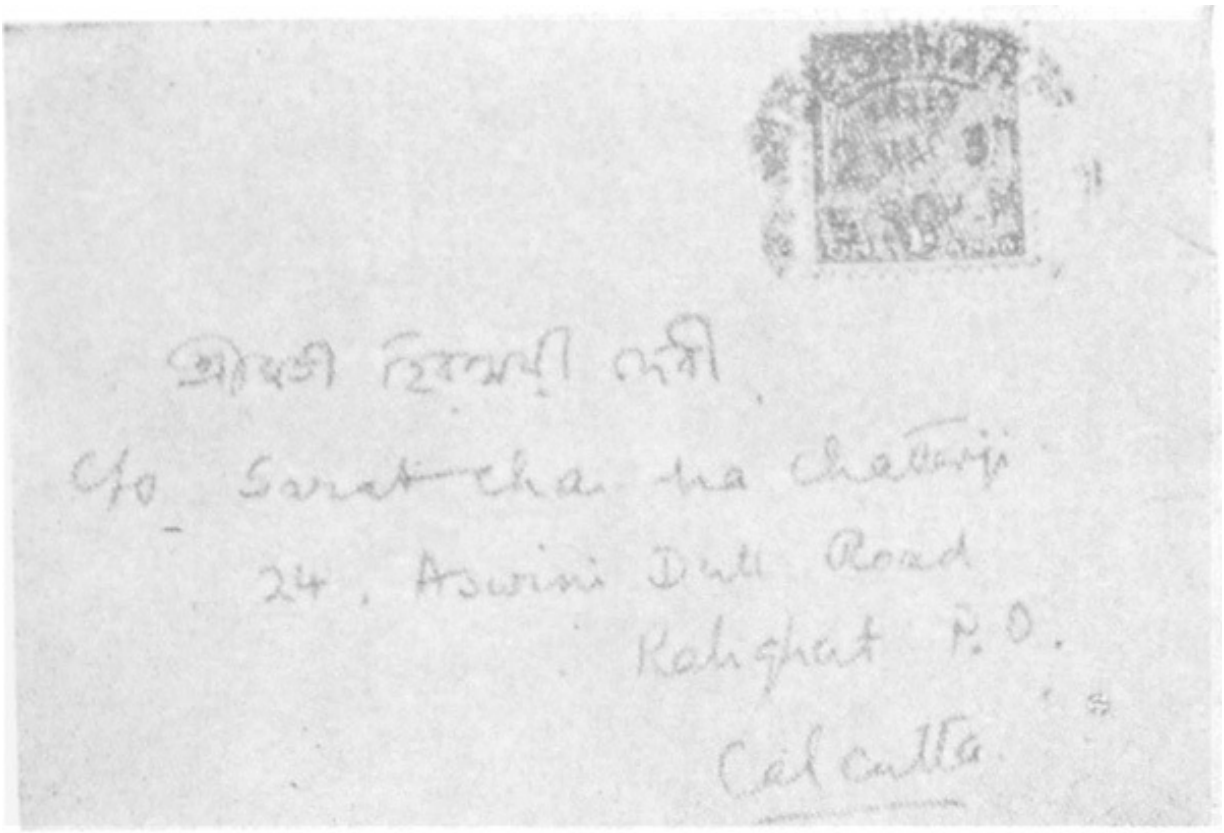

अंतिम दिनों में पत्नी हिरण्यमयी देवी को लिखा एक पत्र (सामने के पृष्ठ पर), पते सहित (नीचे)-यह प्रेमपत्र नहीं है पर इसके शब्द-शब्द से पत्नी के प्रति उनका गहरा प्रेम प्रकट होता है

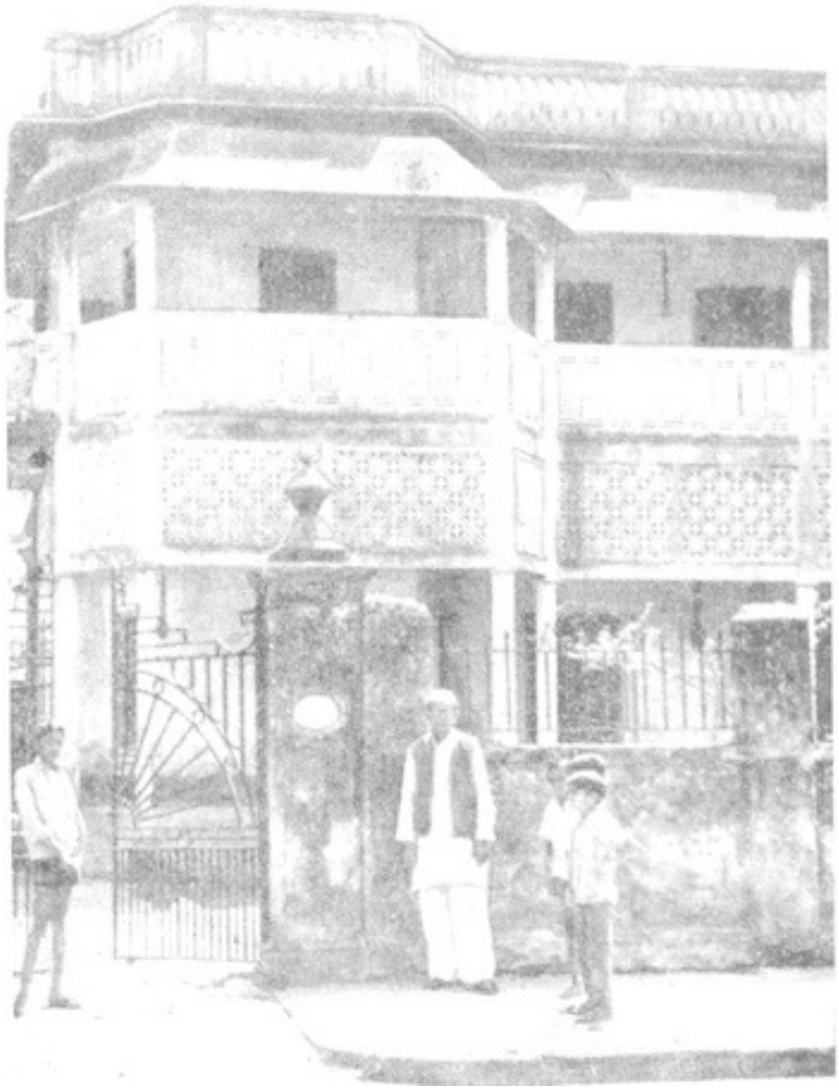

पत्नी के बार-बार अनुरोध करने पर मृत्यु से कुल साढ़े तीन वर्ष पूर्व शरत् बाबू ने कलकत्ता में अश्विनीदत्त रोड पर यह मकान बनवाया था। वे बीच-बीच में गांव से आकर यहां रहते थे।

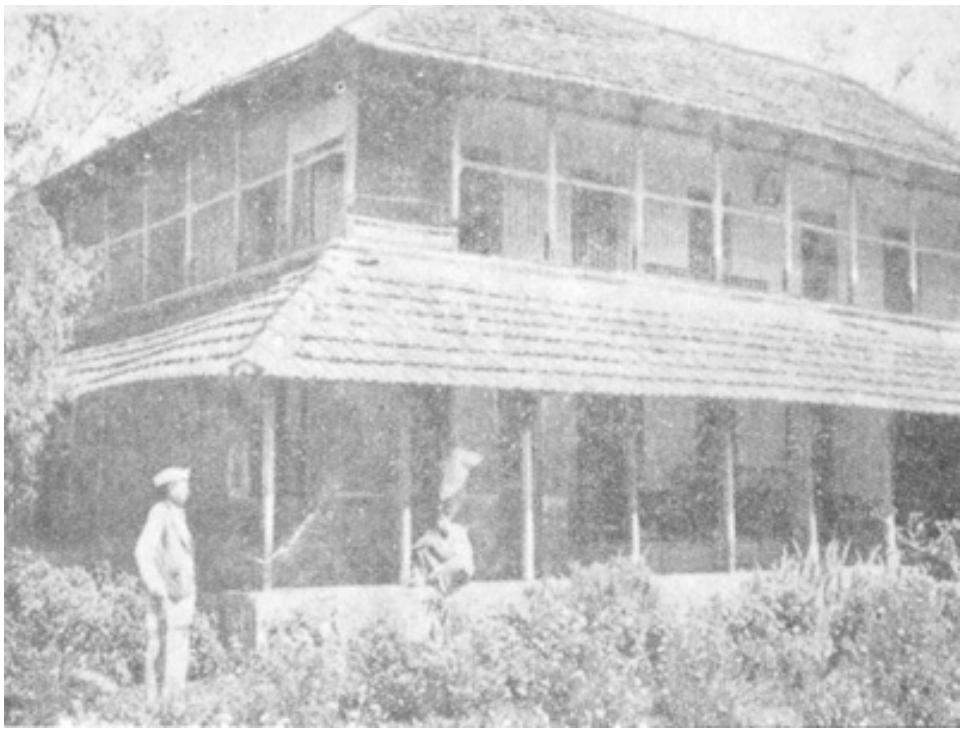

तन और मन के स्वास्थ्य को ठीक करने की चेष्टा मे उन्होंने सामता में रूपनारायण नद के किनारे यह मकान बनवाया था। वह बारह वर्ष इसी में रहे।

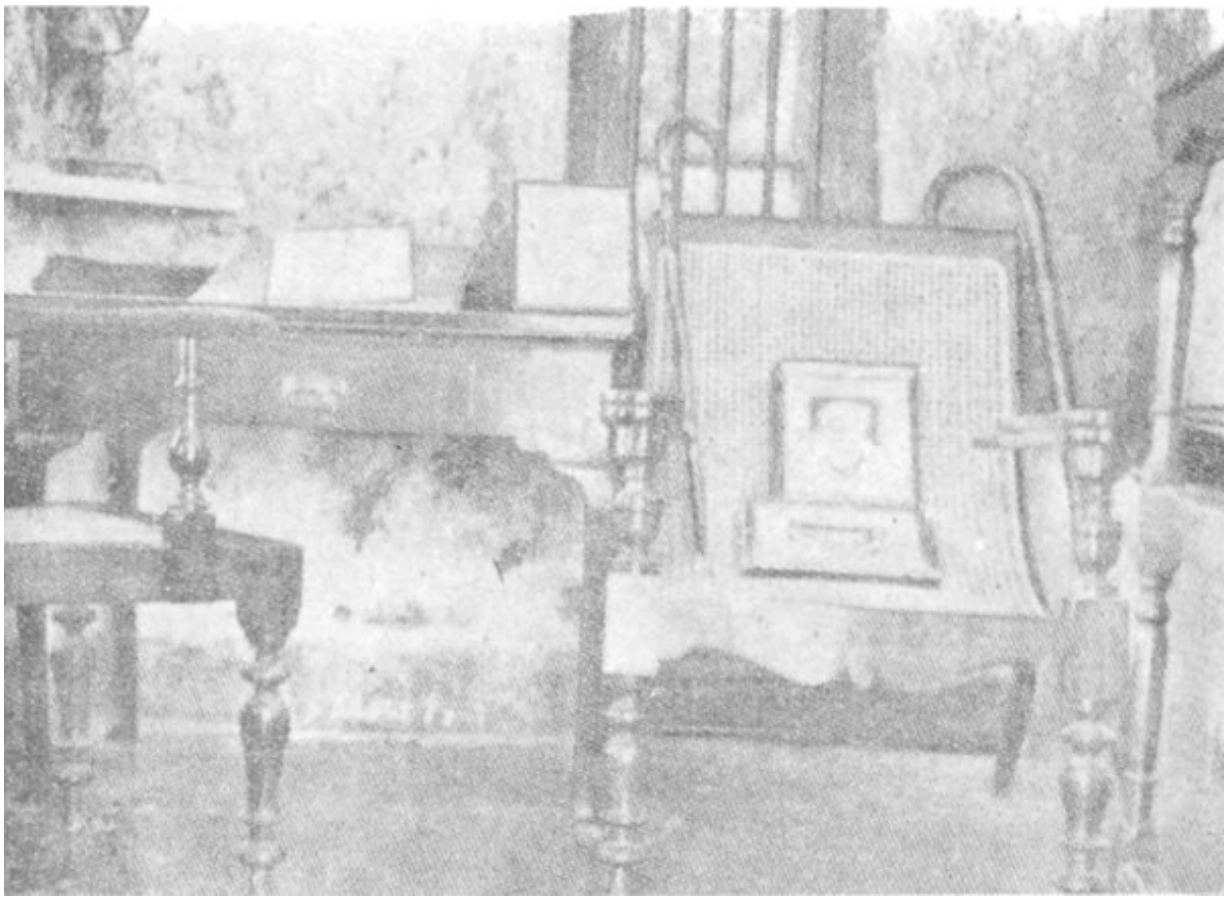

सामता के मकान में सुरक्षित उनके उपयोग में आने वाली कुछ वस्तुएं

ग्रामवासी

'चरित्रहीन' के रचनाकाल मे

‘विराज बहू’ के रचनाकाल में

मंझले भाई प्रभासचन्द्र जो संन्यास लेकर स्वामी वेदानन्द कहलाये

बाल्यसखा सुरेन्द्रनाथ गांगुली-मामा होकर भी जो अन्तरंग मित्र बने रहे

एक और मामा, उपेन्द्रनाथ गांगुली—'विचित्रा' के सम्पादक और प्रसिद्ध लेखक

एक और बाल्यसखा और अन्तरंग मित्र गिरीन्द्रनाथ गांगुली, सुरेन्द्रनाथ के छोटे भाई

प्रसिद्ध इतिहासकार डा. रमेशचन्द्र मजूमदार। उन्हीं के प्रयत्नों-से ढाका विश्वविद्यालय ने शरतचन्द्र को डाक्टर आफ़ लिटरेचर की उपाधि प्रदान की

'भारतवर्ष' के ख्यातनामा सम्पादक रायबहादुर जलधर सेन—चिर आलसी शरत् इतना लिख पाए इसका सबसे अधिक श्रेय इन्हीं को है

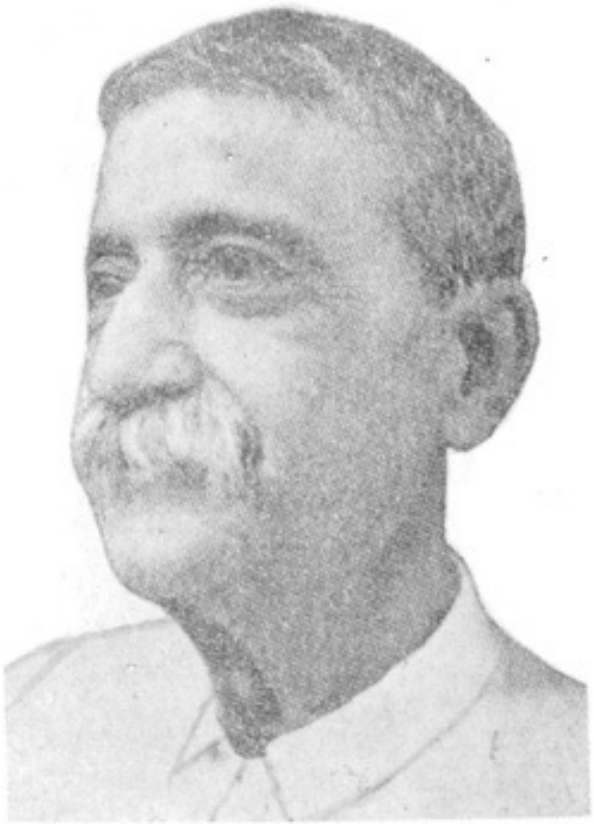

सर आसुतोष मुकर्जी के पुत्र न्यायमूर्ति रमाप्रसाद मुकर्जी, जिनके कारण ‘पथेर दाबी’ क़ा लेखन और प्रकाशन संभव हुआ

कुमुदिनीकांत कर—रंगून के अन्तरंग मित्र और सहकर्मी, ‘श्रीकांत’ की रचना-प्रक्रिया के ये साक्षी रहे

गुरु और शिष्य-रवीन्द्रनाथ न होते तो शरत्चन्द्र भी न होते!

शरतचन्द्र के परम शिष्य दम्पति नरेन्द्रदेव और 'शेषेर परिचय' को पूरा करने वाली राधारानी देवी, अपनी पुत्री के साथ।

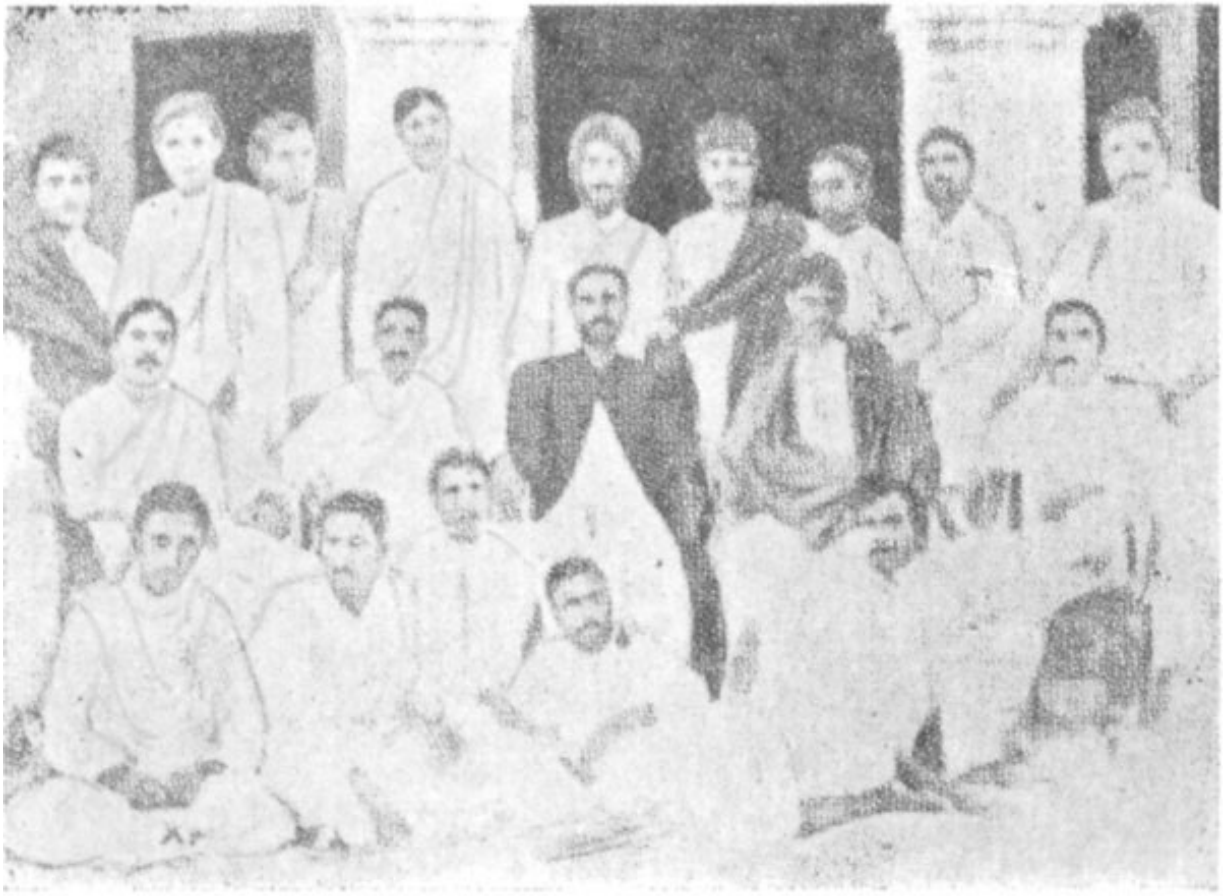

भागलपुर के आदमपुर क्लब के सदस्य—किशोर शरत् बाईं नीचे (x) बैठे हैं। इसी क्लब में उन्होंने अपने भावी जीवन की प्रवृत्तियों को पनपते देखा।

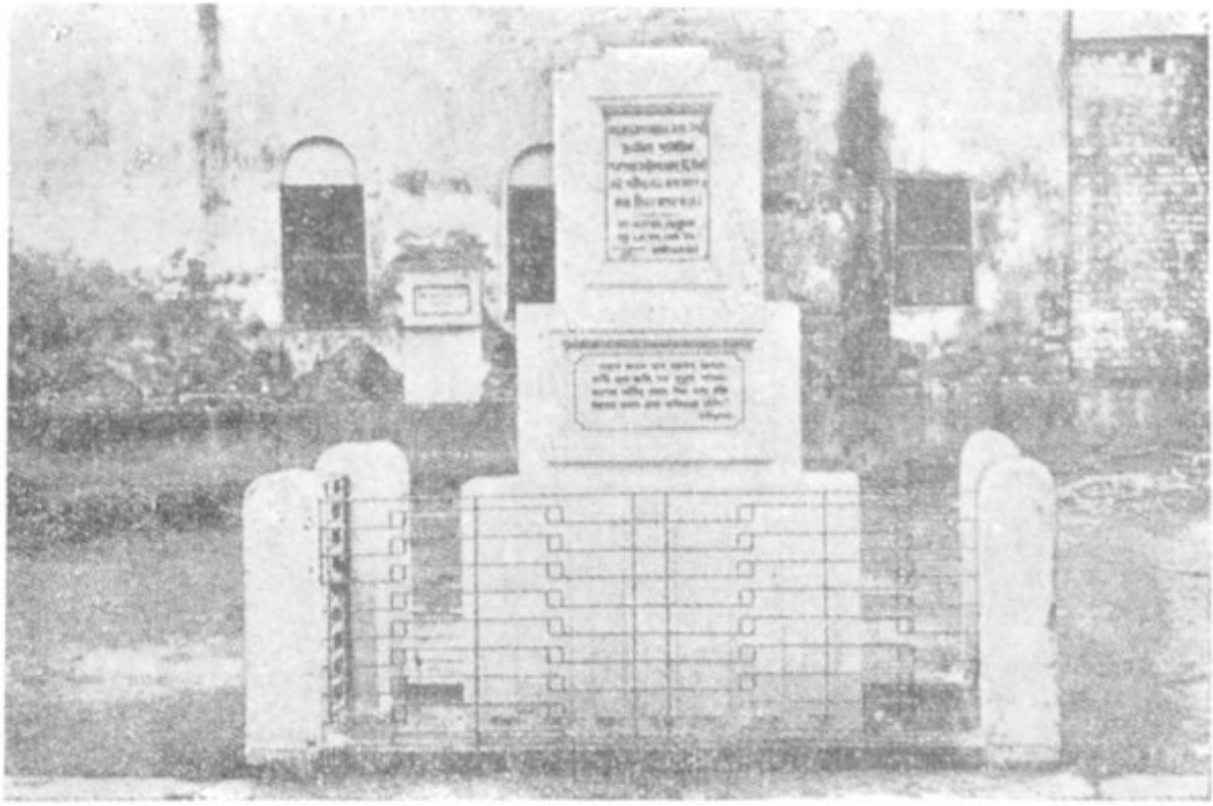

देवानन्दपुर में शरत्चन्द्र का पैतृक भवन जहां उन्होंने जन्म लिया

भागलपुर मैं नानाबाड़ी का प्रवेश-द्वार—बचपन से जीवन तक का क्रीड़ास्थल, उस मकान में बरामदे के उस ओर उनके पढ़ने का कमरा। (नीचे) गंगा बहुत दूर चली गई है परन्तु बरगद का यह पेड़ शरत् की स्मृति में डूबा वहीं खड़ा है।

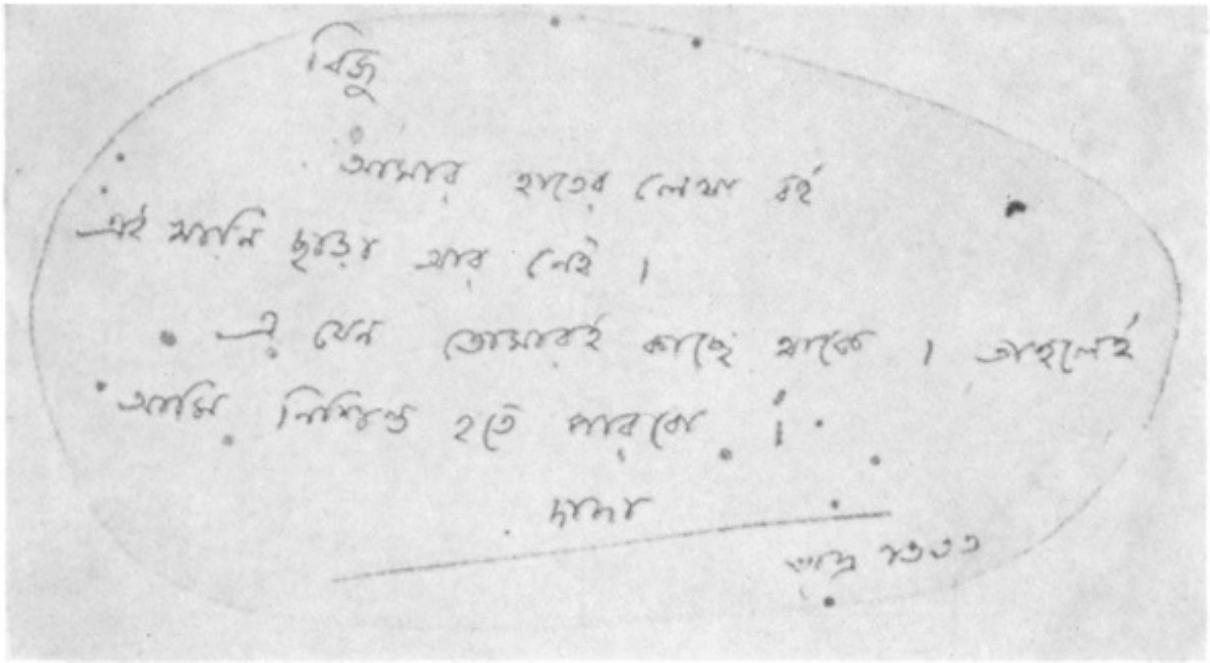

‘पथेर दाबी’ की हस्तलिखित पांडुलिपि श्री उमाप्रसाद मुकर्जी को सौंपते हुए शरत् ने लिखा —‘यह तुम्हारे पास रहेगी। ऐसा होने पर निश्चिन्त हो सकूंगा।’

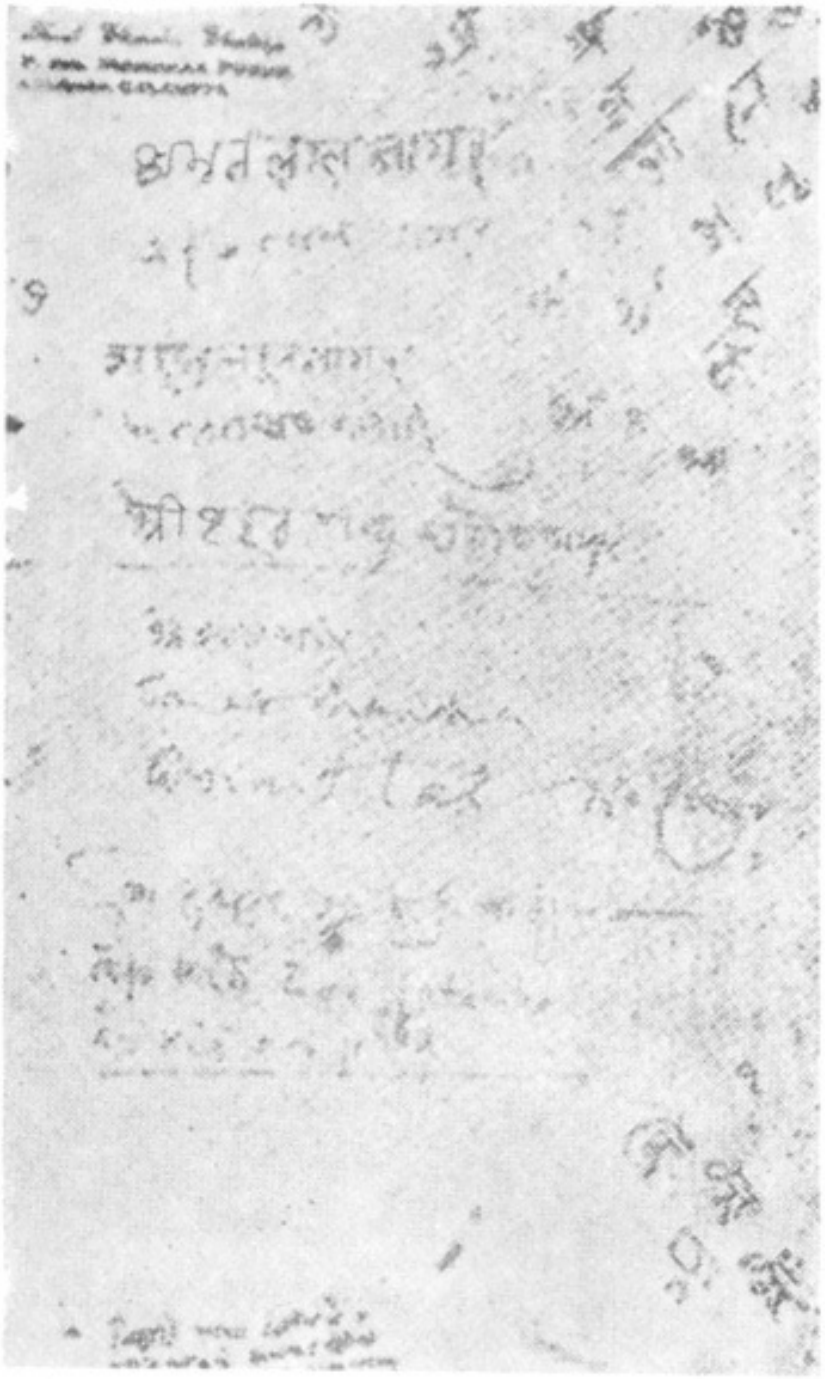

हिन्दी में हस्ताक्षर—सुप्रसिद्ध लेखक अमृतलाल नागर जब उनसे मिलने गए तब अपने लेटरहेड पर उन्होंने ये नाम लिखे थे

अंतिम दर्शन

सामता में घर के बाजू में ही स्वामी वेदानन्द (बाईं ओर की समाधि) और शरत्चन्द्र (दाईं ओर की समाधि) दोनों भाई पास-पास सोए हैं

शरत् ने सहसा उठकर खिड़की खोली तो सुबह की सुनहरी धूप कमरे में फैल गई। पढने की ऐसी धुन थी, तभी तो विज्ञान के प्रश्नपत्र के उत्तर देखकर स्वयं अध्यापक महोदय चक्ति रह गए थे। उन्हें विश्वास ही नहीं आ रहा था कि शरत् ने ये उत्तर लिखे हैं। सोचा, कि अवश्य ही इसने पुस्तक से नकल की है।

उन्होंने शरत् को बुलाया और फिर से नया प्रश्नपत्र बनाकर देते हुए कहा, "इन प्रश्नों के उत्तर दो!"

इस बार ज़बानी ही उन प्रश्नों के उत्तर देकर उसने अध्यापक महाशय को चकित कर दिया। उसकी स्मरणशक्ति सचमुच असाधारण थी। परन्तु धीरे-धीरे राजू से उसका सम्पर्क बढ़ता जा रहा था। देखते-देखते वही मुख्य हो गया और शेष गतिविधियां पृष्ठभूमि में चली गई। मछली-चोरी और ज़रूरतमन्दों की सहायता में वह अधिक रुचि लेने लगा। गाना-बजाना सीखने का शौक इतना प्रबल हो उठा कि यात्रा-थियेटर करते-करते बहुत रात बीत जाती थी। उसके बाद अर्द्धनिशा में पढ़ने का प्रयत्न करता था। यह सब देखकर मां बहुत दुःखी हुई, परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। अच्छे विद्यार्थी के रूप में उसने जो ख्याति अर्जित कर ली थी वह धीरे- धीरे कम होने लगी।

ठीक इसी समय उसकी मां [2] की मृत्यु हो गई। घोर दरिद्रता में इस सरलप्राणा सती मां ने अपने स्वप्नदर्शी निठल्ले पति के परिवार की कैसे प्राणरक्षा की इसे शब्दों में व्यक्त करना असंभव है। एक सम्पन्न और भरे-पूरे परिवार की कन्या होकर भी उन्होंने वधू के रूप में कभी सुख नहीं पाया। बल्कि उनका सारे का सारा जीवन परिवार का पेट पालने के प्रयत्न में ही खप गया। एक भाग्यवादी हिन्दू पतिव्रता की तरह एक-एक करके उन्होंने सभी गहने बेच दिए और बार-बार अपने पिता तथा चाचाओं से भीख मांगी। इसलिए कि उनका बड़ा बेटा शरत् किसी योग्य बन सके। न जाने कितनी बार उन्होंने असीम स्नेह से भरकर कहा होगा, "शरत्, मेरे बच्चे! मैं जानती हूं, अपनी सारी शरारतों के बावजूद तू एक अच्छा लड़का है। तू मन लगाकर पढ़ता रह, मैं तेरी सहायता करूंगी।" लेकिन जीवन के अंतिम दिनों में उनकी यह आशा भौ क्षीण होने लगी थी। वह असमय ही वृद्धा हो गई थीं। आखिर चारों ओर से दुःख और चिन्ताओं से घिरकर उन्होंने प्राणों का विसर्जन कर दिया।

उनके जीवन में वे क्षण भी आए जब उनका असन्तोष उबल उठा। उन्होंने पति को बुरा- भला भी कहा। लेकिन अधिकर तो वे अपने आत्मभोले निठल्ले पति को एक हिन्दू नारी की तरह प्यार ही करती रहीं। शुभद्रा भी तो यही करती है, "स्वामी का सुख उसने एक दिन भी नहीं पाया। कम से कम उसे याद नहीं। उसी स्वामी को अन्न-व्यंजन खिला देने में उसे कितना आनन्द, कितनी तृप्ति मिलती है, इसकी ठीक-ठीक धारणा वह आप ही नहीं कर पाती। आनन्द से उसकी आखों के कोनों में आंसू भर आते हैं।"

भुवनमोहिनी यही प्रेम-प्लावित आत्मा थी। सारा शरत्साहित्य इसी प्रेम-प्लावित आत्मा के मुक्त प्रवाह से आलोकित है। मां शब्द में जो कोमलता, जो त्याग, जो वात्सल्य

और जो महान् दायित्व गर्भित है, उसी को मूर्त करने में उसने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी। लेकिन उसके वात्सल्य में एक विशेषता है, वह अपनी कोख के जाए के लिए ही प्रकट नहीं होता बल्कि नारायणी, विश्वश्वरी, हेमांगिनी, बिन्दो आदि के समान उनके लिए भी अजस्र रूप से झरता है जो सन्तान-स्थानीय होने पर भी अपनी सन्तान नहीं हैं।

भुवनमोहिनी अपने पिता के परिवार में जीवन-भर यही करती रही और इसीलिए अपनी सारी शरारतों के बावजूद शरत् का अपनी मां के प्रति असीम प्यार था। प्रवेशिका परीक्षा पास करने के बाद मां ने कहा, "मुझे तारकेश्वर जाना होगा। मैंने तेरे बाल चढ़ाने की मानता मानी थी।"

शरत् ने बड़े चाव से लम्बे-लम्बे बाल रखे थें इन्हें कटवा देने की कल्पना मात्र से वह कांप उठा। कैसी शक्त हो जाएगी उसकी? बिना बालों के? न-न, वह बाल नहीं कटवा सकेगा। इतना आस्तिक नहीं है वह।

मां बोली, "न कटवा। मैं कुछ और व्यवस्था कर लूंगी।"

"क्या कर लोगी?"

"नायन को बुलाकर अपने बाल कटवा लूंगी और भेज दूंगी।"

बिना एक शब्द बोले शरत् उसी रात तारकेश्वर के लिए रवाना हो गया।

यदि मोतीलाल को भुवनमोहिनी जैसी संगिनी और सहधर्मिणी न मिली होती तो वे बहुत दिन न जी पाते। सुरेन्द्रनाथ ने लिखा है - दोपहर बीत चुकी है। शरद् ऋतु की धूप और भी मन्द पड़ गई है। धागे के सहारे किसी तरह आंखों पर चश्मा चढ़ाए मोतीलाल पुस्तक पढ़ने में व्यस्त हैं। न जाने कब से यह क्रम चल रहा है। भुवनमोहिनी तब अपने मन से गुड़गुड़ी तैयार करके ला देती है। मोतीलाल कृतज्ञता से गद्गद होकर पूछते हैं, "तुम्हें कैसे पता लग गया है कि मेरा मन तम्बाकू पीने को कर रहा है?"

भुवनमोहिनी अर्धउन्मीलित नयनों में आदर भरकर पति को देखती हुई कहती है, "कैसे पता लग जाता है यह मैं स्वयं नहीं जानती।"

मोतीलाल उत्साहित होकर बोल उठते, "अजी, एक दीवा तो ला दो।"

भुवनमोहिनी उत्तर देती, "सारा-सारा दिन सिर गड़ाए पढ़ते रहते हो, अब जाओ ज़रा घूम आओ।" और फिर इच्छा न होने पर भी मोतीलाल तब घूमने निकल पड़ते।

घर में शरत् के अतिरिक्त दो छोटे भाई प्रभास और प्रकाश तथा एक छोटी बहन सुशीला उर्फ मुनिया थी। इसी बहन की प्रसूति में मां ने प्राण दिए थे। बड़ी बहन अनिला की शादी हो चुकी थी। पत्नी के मरने पर छोटे बच्चों को लेकर मोतीलाल सचमुच अपंग हो गए। अनेक कारणों से ससुराल में रहना भी अब संभव नहीं था। कथाशिल्पी ने 'देवदास' में लिखा है, "अपने मामा के यहां रहना उसने बहुत दिनों से छोड़ दिया है। वहां उसका किसी तरह से सुभीता नहीं बैठता।" मोतीलाल अब खंजरपुर मोहल्ले में अलग मकान लेकर रहने लगे। अलग तो वह ससुराल में रहकर भी रहते थे लेकिन अब वह उनसे दूर चले गए।

लेकिन जो अब तक अर्जन की विद्या में शून्य थे वह परिवार का पालन कैसे करते, इसलिए वह विकट समस्या उन्हें हताश कने में ही समर्थ हो सकी।

भुवनमोहिनी की मृत्यु ने मोतीलाल को ही नहीं तोड़ा, शरत् के संसार को भी भंग कर दिया, "मां यदि और कुछ जीती रहती तो मेरा जीवन बहुत सुन्दर हो सकता था। मैं यत्किंचित् जो कुछ लिख-पढ़ सका, वह उन्हीं के आग्रह और चेष्टा का फल था। उनकी अकाल मृत्यु से मेरा संसार भंग हो गया।" [3]

---

1. सन् 1894 ई०

2. नवम्बर, 1895 ई०

3. शरत् परिचय – सुरेन्द्रनाथ, पृष्ठ 168

9

जिस समय शरत्चन्द का जन्म हुआ क वह चहुंमुखी जागृति और प्रगति का काल था। सन् 1857 के स्वाधीनता-संग्राम की असफलता और सरकार के तीव्र दमन के कारण कुछ दिन शिथिलता अवश्य दिखाई दी थी, परन्तु वह तूफान से पूर्व की शान्ति जैसी थी। शीघ्र ही क्रान्ति का स्वर फिर फूटने लगा। साहित्य में इस स्वर की सबसे पहले अभिव्यक्ति हुई बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' में। इसी उपन्यास ने आधुनिक बंगाल को जन्म दिया जो कालान्तर में सारे देश की प्रेरणा बन गया। लेकिन तुरन्त इस असफलता का परिणाम यह भी हुआ कि लोगों का ध्यान राजनीतिक उथल-पुथल से हटकर सामाजिक क्रान्ति को ओर उन्मुख हुआ। सामाजिक क्रान्ति के बिना राजनैतिक क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, यह सत्य जैसे अब स्पष्ट हो गया। इसलिए 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सारा देश सामाजिक क्रान्ति की पुकार से गूंज उठा और शीघ्र ही उसके रंगमंच पर उस क्रान्ति के अनेकानेक मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकारी प्रकट होने लगे। एक के बाद एक इन उत्तराधिकारियों ने मानसिक स्वाधीनता का जो बीज बोया उससे देश की चेतना को जैसे मार्ग मिल गया। वह नाना रूपों में अपना अस्तित्व सिद्ध करने लगी।

इस क्षेत्र में भी बंगाल सबसे आगे रहा। राजा राममोहनराय भारतीय राष्ट्रीयता के जनक माने जाते हैं। परन्तु सबसे पहले उनकी दृष्टि धर्म की ओर ही आकृष्ट हुई थी। इसका कारण खोज लेना कठिन नहीं है। उन दिनों देश में पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति शासकों के कारण उतनी नहीं फैली जितनी पादरियों के कारण। बंगाल इन पादरियों का प्रधान केन्द्र बन गया था। आरम्भ में इनका स्वागत नहीं हुआ। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इनके कारण ही देश में, विशेषकर बंगाल में, सामाजिक चेतना का उत्थान और विकास हुआ।

ये चेतना पैदा करना उनका ध्येय नहीं था परन्तु अपने धर्म का प्रचार करने के लिए उन्हें शिक्षा और सुधार का काम करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अपने धर्म की श्रेष्ठता दिखाने के लिए वे हिन्दू धर्म की कुरीतियों का प्रदर्शन करते थे। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भी समझदार लोगों के मन में चेतना जागी और अनायास ही अपने धर्म में सुधार करने का प्रश्न उनके सामने आ गया। उस समय धर्म ही व्यक्ति और समाज का मूलाधार था। उसके बिना समाज-सुधार की कल्पना हो ही नहीं सकती थी। इसलिए राममोहनराय ने अपने धर्म-संस्कार की ओर ध्यान दिया। उन्होंने निराकार ब्रह्म की साधना, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद को हिन्दू धर्म का शुद्ध रूप प्रमाणित करने की चेष्टा की। और इसी उद्देश्य से उन्होंने

'आत्मीय सभा' [1] की स्थापना की। इस सभा में धर्म-चर्चा के अतिरिक्त जाति-भेद-समस्या, सहमरण, कुलीन प्रथा, सहभोज, निषिद्ध खाद्य समस्या, बाल विधवा ,बहु विवाह और सतीप्रथा आदि सामाजिक कुप्रथाओं पर भी विचार किया जाता था। यही समाज-सुधार का श्रीगणेश था जो बाद में सारे भारत में व्याप्त हो गया और ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तथा थियोसोफी आदि संस्थाओं के रूप में प्रकट हुआ। स्वामी विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण परमहंस की जीवन-दृष्टि सहित ये सब इस काल के महाप्रयाण हैं।

शरत् का जन्म राजा राममोहनराय की मृत्यु के 43 वर्ष बाद हुआ था और जब वह दिशाहारा होकर मार्ग की खोज में भटक रहा था तथा उसकी साहित्य-साधना प्रेम की पीड़ा के भीतर से उन्मुख हो रही थी, तब दूसरे अधिकंश सुधारक भी स्वर्गवासी हो चुके थे, परन्तु उनकी जलाई हुई बौद्धिक स्वातंत्र्य, देशप्रेम और समाज-सुधार की ज्योति प्रखर रूप में प्रदीप्त हो रही थी। इसी महामन्थन का प्रभाव जीवन के सभी अंगों पर पड़ रहा था। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भारतीय नारी के कष्टों को दूर करने के लिए संभवत: सबसे पहले कोई ठोस कदम उठाया। इस क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा कार्य था विधवा-विवाह का समर्थन। बहु विवाह और कुलीन प्रथा पर भी उन्होंने प्रहार किया। परन्तु विचारोत्तेजना के अतिरिक्त इसका कोई परिणाम नहीं निकला। बल्कि कुछ देर तक प्रतिक्रिया ही प्रबल रही। परन्तु फिर ब्रह्म समाज के स्त्री-शिक्षा और स्त्री-स्वातंत्र्य पर ज़ोर देने के कारण सामाजिक कुप्रथाएं आपसे-आप खंडित होने लगीं। इसी आन्दोलन के फलस्वरूप सिविल मैरिज [2] कानून बना और नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकृति मिली।

बंगाल में नई चेतना को जन्म देने में हिन्दू कालेज का भी प्रमुख हाथ रहा है। यद्यपि उसकी स्थापना शरत् के जन्म से 60 वर्ष पूर्व [3] हुई थी, परन्तु कालान्तर में यह बांगला में पाश्चात्य विद्या और शिक्षा का प्रधान केन्द्र बन गया था। इस कालेज के शिक्षक हेनरी डिरोज़ियो ने बड़ी निर्भीकता से विद्यार्थियों का परिचय बेकन, रूसो और टामस पेन जैसे नवयुग के मनीषियों से कराया और 'एकेडेमिक एसोसिएशन' की स्थापना करके दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर आलोचना आरम्भ की। इस संस्था के जो प्राण थे, वहीं 'यंग बंगाल' के नाम से प्रसिद्ध हुए और प्राचीन-पंथियों के लिए आतंक बन गए। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इन युवकों में जहां स्वतन्त्र चिन्तन और प्रगति की ज्योति प्रज्वलित हुई वहां पश्चिम के कुसंस्कार भी उन्होंने ग्रहण कर लिए। कुछ लोग ईसाई भी हो गए। ये नवयुवक इतने जोशीले थे कि इन्होंने शराब पीना भी आरम्भ कर दिया। ऐसा करके वे अपने माता-पिता पर यह प्रकट करना चाहते थे कि वे प्रगतिशील हैं और उनसे भिन्न हैं। शराब पीने की यह प्रवृत्ति बहुत देर तक प्रगति का लक्षण समझी जाती रही। तन से भारतीय किन्तु मन से अंग्रेज़ इन व्यक्तियों के प्रति असन्तोष भी कम नहीं था। उस समय के एक समाचारपत्र के संपादक ने लिखा था, "क्या हिन्दू कालेज में एक नये ढंग के मनुष्यों

की नींव नहीं रखी जा रही है? हिन्दू कालेज से समाज की धार्मिक भावनाओं को जैसे गहरी ठेस पहुंची है, क्या उसका शतांश भी मिशनरियों के आन्दोलनों से पहुंची थी?"

इसके प्रतिक्रियास्वरूप भी भारत में नवोत्थान की लहर उठी। इसे 'पुनर्जागरणवाद' कहना सत्य के साथ अन्याय होगा। वास्तव में यह सत्यों का पुनर्जन्म था। यह क्रान्ति नये युग की सूचक थी और बंगाल था उसमें अग्रणी। एक तो कलकत्ता अंग्रेज़ी शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया था, दूसरे बंगालियों में भावुक प्रवृत्ति के कारण बड़े प्रभावशाली भाषणकर्ता और लेखक बनने की क्षमता थी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, माइकेल मधुसूदनदत्त और कुमारी तोरूदत्त आदि कुछ नाम इस क्षेत्र में पर्याप्त होंगे।

लेकिन ये आन्दोलन जनता के मन के भीतर से होकर प्रकट नहीं हुए थे। इसलिए व्यावहारिक रूप में समाज का एक छोटा-सा भाग ही इनसे आन्दोलित हुआ और शेष पुरानी रूढ़ियों से चिपका रहा। जो व्यक्ति सुधारक दल में शामिल हुए उन्हें पुरातनपंथियों ने जाति-बहिष्कृत करके अपमानति-लांछित करने की चेष्टा की।

बिहार में सुधार का यह स्वर बहुत बाद में प्रकट हुआ। वहां के प्रवासी बंगालियों के एक बहुत ही अल्पसंख्यक भाग ने इन आन्दोलनों में रुचि ली। उन बंगाली भद्र लोगों की लड़कियों को पढ़ने के लिए पाठशाला में जाते देखकर बिहारी लोग बहुत कुद्ध होते थे। कहते थे, "ये बंगाली लड़कियां, बंगालियों की कोई जाति नहीं, मांस-मछली खाते हैं, लड़कियों को बाहर भेजते हैं।"

स्वयं बंग-समाज में सुधार को बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। वह अन्धविश्वास और कुसंस्कारों से पूर्णतया घिरा हुआ था। विधवा-विवाह, जाति-विचार, कुलीनता, धर्म-आडम्बर के विषयों में लोगों की भावनाएं एक अत्यन्त संकीर्ण दायरे में सीमित थीं। प्रभुपाद श्री हरिदास गोस्वामी के शब्दों में "जिस परिवार में विधवा नहीं होती उस परिवार में सदाचार से देव-सेवा आदि कार्य सुसम्पन्न होना दुष्कर है। इसके लिए गृहस्थाश्रम में विधवा की आवश्यकता है। यह श्री भगवान की अपूर्व सृष्टि तथा विशिष्ट दान है। यह बात सहज ही समझ में नहीं आती।"

इसीलिए नवजागरण के विश्वासी व्यक्तियों को बुरी दृष्टि से देखा जाता था। पद-पद पर नारियों को अपमानति होना पड़ता था। वे घर के एक कोठे में दुबकी बैठी रहती थीं। पुरुष की छाया के स्पर्श-मात्र से वे कलंकिनी हो जातीं। दूसरी ओर कुलीनता उनके जीवन का अभिशाप हो गई थी। अनेक कारणों से जिन लड़कियों का विवाह नहीं हो पाता था कुलीन रसोइये कुछ रुपयों के बदले पाटे पर बैठकर उनको पार कर देते थे। मांग में सिन्दूर भरे वे सधवायें फिर सारा जीवन पति की न समाप्त होने वाली प्रतीक्षा में बिता देती थीं। एक ओर संस्कार के आतंक और दूसरी ओर धर्म के ठेकेदारों के बीच साधारण जनता भ्रान्त हो रही थी।

समुद्र-यात्रा करना पाप था। छोटे भाई की पत्नी से बात करना पाप था। नाच, गान, नाटक, क्लब, पार्टी, सब कुछ पाप था। भागलपुर के प्रवासी बंगाली बिहार के मुंगेर आदि अन्य नगरों के बंगालियों की अपेक्षा और भी अधिक कट्टर थे। और इस दल के नेता थे शरत् के नाना केदारनाथ गंगोपाध्याय। शास्त्रसम्मत आचार विचार उन्हें प्रिय था। उसका वे कठोरता से पालन करते और कराते थे। परन्तु अंग्रेजी शिक्षा के कारण स्वाधीन चिन्तन का आरम्भ हो चुका था। प्राचीन आचार संहिता प्रभावहीन होती जा रही थी लेकिन नई का रूप भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ था। इसीलिये अराजकता के इस वातावरण में बंगाली समाज दो दलों में बंट गया था।

---

1. सन् 1815 ई०
2. सन् 1816 ई०
3. सन् 1872 ई०

10

शरत जब दूसरी बार भागलपुर लौटा तो यह दलबन्दी चरम सीमा पर थी। कट्टरपन्थी लोगों के विरोध में जो दल सामने आया उसके नेता थे राजा शिवचन्द्र बन्दोपाध्याय बहादुर। दरिद्र घर में जन्म लेकर भी उन्होंने तीक्ष्ण बुद्धि और अध्यवससाय के बल पर थोड़े ही दिनों में उच्च पद प्राप्त कर लिया था। कानून के क्षेत्र में वह अप्रतिम थे। पन्द्रह-बीस वर्ष की अवधि में ही उन्होंने न केवल प्रचुर धन ही अर्जित किया बल्कि सरकार से राजा की उपाधि भी पाई। उनकी फिटन के साथ-साथ तलवार लिए हुए घुड़सवार सिपाही चला करते थे। प्रत्येक शुभ अनुष्ठान में उनका योगदान रहता था। वह उदार व्यक्ति थे।

कहते हें, एक बार उन्हें उन्माद रोग हो गया। इसी कारण वह स्वास्थ्य-लाभ के लिए यूरोप गये। लेकिन वापस लौटने पर बंगाली समाज ने उन्हें जाति-बहिष्कृत कर दिया। बात यहां तक बढ़ गई थी कि यदि किसी घर में वे आमन्त्रित होते तो दूसरे अतिथि आसन छोड़-छोड़कर चल देते। इस बहिष्कार अन्दोलन के मुखियाओं में शरत् के नाना केदारनाथ भी थे। इनका आरोप था कि विदेश जाकर राजा साहब ने अपने ब्राह्मणत्व का विसर्जन कर दिया हे। आरम्भ में राजा शिवचन्द्र भी समाज की अवहेलना करना नहीं चाहते थे। किसी न किसी रूप में प्रायश्चित करने को वे प्रस्तुत थे। परन्तु नाना कारणों से उन्हें सफलता नहीं मिली, तब वह हिन्दू समाज की संकीर्णता और अविचार के विरुद्ध दृढ़संकल्प हो उठे। दोनों दलों में ईर्ष्या-द्वेष की तीव्र अग्नि भड़कने लगी। यह अग्नि इतनी प्रबल थी कि एक समय तो सारा समाज जर्जर हो उठा। गंगोपाध्याय परिवार के पास ही बन्दोपाध्याय परिवार का घर था। दो पड़ोसियों में इस प्रकार मतभेद होने पर समाज में तीव्र हलचल मच गई। कुछ लोग केदारनाथ के पास जाकर अड्डा जमाते और हिन्दू धर्म का गौरवगान करते, तो कुछ लोग राजा शिवचन्द्र के दल में जाकर कट्टरपंथियों की संकीर्णता पर आक्षेप करते ।

गांगुली परिवार के किशोर और तरुणों को उस घर में जाना एकदम मना था। लेकिन समय- समय पर इस निषेध की अवज्ञा होती रहती थी। उस घर के कर्ता लोग भी इतने कठोर नहीं थे कि इस घर के व्यक्तियों के वहां जाने पर उनकी अवहेलना करते। उलटे आदर ही करते थे।

वे बच्चों को पतंग उड़ाने का शौक पूरा करने के लिए बाज़ार से पतंग खरीद देते थे। तम्बाकू, चुरुट पीने की इच्छा होने पर बेंत से पीटा नहीं जाता था। वह अपराध हंसी में ही उड़ा दिया जाता था। पिकनिक पार्टी खूब जमती थी। संपेरे सांप खिलाते, मदारी बन्दर-भालू नचाते, कठपुतली वाले कठपुतलियों का नाच दिखाते। संध्या होते ही यात्रा दल का साज-

संगीत पड़ोस के बच्चों का मन विचलित करने लगता। शासन के लौहपिंजर में बद्ध गांगुली-परिवार के किशारे इस आनन्द मेले के प्रति कैसी लोलुप दृष्टि से देखते होंगे, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। इस यात्रा दल का नाम था, 'नवहुल्लोड़'। इस शब्द का अर्थ करना कठिन है पर समझना सरल है। इस नवहुल्लोड़ में कोई बेहाला सीखता था, कोई तबले पर थाप देता था। कहीं बांसुरी की मादक ध्वनि उठती थी तो कहीं नुपूरों की छन्छन्न-छन्। कहीं इस श्लोक के साथ हुक्के का धुआं उठता था -

ताम्रकूटम् महाद्रव्यम् स्वेच्छया पीयते यदि,
टाने-टाने महाफलं मर्त्ये दिव्य महत् सुखम्।

दूसरे मादक द्रव्यों पर भी कोई रोक नहीं थी। वृद्ध-युवा-बालक किसी का प्रवेश वर्जित नहीं था।

शरत् का शिल्पी मन बहुत दिन तक इस मौन-मधुर आमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सका। चोरी-छिपे उसने वहां जाना शुरू कर दिया और जब जान-पहचान हो गई तब प्रकट रूप में जाने लगा। गांगुली परिवार का शासन उसे किसी भी तरह बांधकर नहीं रख सका। उल्लंघन करने में उसे मज़ा आता था। बांसुरी, बेहाला, हारमोनियम और तबला आदि बजाना उसे आता ही था। 'चरित्रहीन' का सतीश भी तो इन विद्याओं में दक्ष है। इसके अतिरिक्त कण्ठ उसका मधुर था ही। इसलिए शीघ्र ही वह दल का प्रधान पण्डा बन गया। राजू उस दल का दाहिना हाथ था। जिस काम में वह हाथ डालता उसमें चरम दक्षता प्राप्त किए बिना वह पीछे नहीं हटता।

शरत् को यात्रा दल का शौक बचपन से ही था, परन्तु वह उसे सम्पूर्ण रूप से पागल न कर सका। क्योंकि उसका आनन्द स्थूल था। उसमें सूक्ष्म रस-बोध का अभाव था। यों यात्रा करना हंसी-खेल नहीं। निरन्तर 10-12 घण्टे मजदूर की तरह परिश्रम करने पर कहीं खेल जमता है। निर्विकार भाव से इस प्रकार खटना सरल काम नहीं है। यहीं नशे की आवश्यकता होती है। पैसा न हो तो शराब के अभाव में गांजा और भांग का जुगाड़ ही हो सकता है।

जैसे-जैसे नई सभ्यता का प्रसार होता गया, लोगों का मन उधर से हटता गया। और इस प्रकार भागलपुर के बंगाली समाज में थियेटर का उदय हुआ। लोग थियेटर देखना बहुत पसन्द करते थे। अच्छा-बुरा कैसा भी नाटक हो दर्शकों की खूब भीड़ होती थी। लेकिन उनके बच्चे उसमें भाग लें यह वह नहीं चाहते थे।

एक दिन इसी तरह अभिनय चल रहा था, चारों ओर लोगों की भीड़ थी। एक युवक स्त्री की भूमिका में मधुर संगीत से श्रोताओं को मुग्ध कर वार्तालाप शुरू करने ही वाला था कि उसका पिता दर्शकों की भीड़ में से गर्जन-तर्जन करता हुआ मंच पर आ पहुंचा। प्रचंड धमाके के कारण बड़े परिश्रम और कोशिश से तैयार की गई फुट लाइट की मोमबत्ती न जाने कहां जा गिरी। कालीन में आग लग गई। मंच पर प्रज्वलित इस अग्निकाण्ड में दर्शकों

ने देखा कि पिता पुत्र पर निर्मम प्रहार कर रहा है। उस रात सब कुछ भंग करने के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था।

यह 'आर्य थियेटर' वयस्कों का था। राजू शरत् के दल को यह सन्तुष्ट नहीं कर सका। उनके प्रयत्नों से एक नये थियेटर का जन्म हुआ। इसमें जो पहला नाटक उन्होंने खेला, वह था बंकिमचन्द्र का 'मृणालिनी'। इसमें मृणालिनी का अभिनय स्वयं शरत् ने किया था। यद्यपि इस विद्या में भी राजू उसका गुरु था फिर भी शरत् का अभिनय देखकर सभी दर्शक मुग्ध हो उठे थे। लेकिन गुरुजनों के प्रबल विरोध के कारण इसे बन्द कर देना पड़ा। कई वर्ष बाद 'आदमपुर क्लब' की एक प्रवृत्ति के रूप में इसका पुनर्जन्म हुआ। राजा शिवचन्द्र का बेटा कुमार सतीशचन्द्र इस दल का प्राण था। संगीत और नाटक में उसकी रुचि असाधारण थी। उसके संगी-साथी इसके उत्साही सदस्य थे। अपने दल को पुष्ट करने के लिए वे समय-समय पर कलकत्ता जाते थे और वहां नाटक देखते थे। फिर लौटकर अपनी कला में सुधार करते थे। कुमार सतीश के पुत्र के अन्नप्राशनोत्सव के अवसर पर कलकत्ता के सुप्रसिद्ध मिनर्वा थियेटर के अभिनेता भागलपुर पधारे थे और राजबाड़ी में बड़ी धूमधाम के साथ उन्होंने 'अलीबाबा' नाटक खेला था। शरत् ने इसमें मुस्तफा का पार्ट किया था और इस निपुणता से उसे निभाया था कि दर्शकों में से एक आदमी भी उसे पहचान न सका था।

इस प्रकार विरोध की ये जड़ें गहरी और गहरी होती जा रही थीं। हर क्षेत्र में प्रतियोगिता चलती थी। साधारणतया मृत्यु के अवसर पर सभी वैर-विरोध शान्त हो जाते हैं, परन्तु यहां वह स्थिति भी नहीं रही थी।

इसी समय राजा शिवचन्द्र के नाते के साले और बंगला स्कूल के अध्यापक कान्तिचन्द्र की मृत्यु हो गई। प्रतिशोध का इतना बड़ा अवसर कट्टरपन्धी लोग कैसे जाने देते। उन्होंने शवयात्रा में शामिल होने से इनकार कर दिया। आखिर आदमपुर क्लब के सदस्यों ने यह क्रिया सम्पन्न की।

उन सबको जाति-च्युत कर दिया गया। नगर में ऐसा हाहाकार मचा कि घर-घर में दलादली आरम्भ हो गई। जो दुर्बल थे उन्होंने सिर मुंडवाकर प्रायश्चित कर लिया। परन्तु शरत् के पिता इस बारे में उदासीन थे। इसलिए उस समय तो वह बच गया, परन्तु आगे चलकर उसे बड़ी लांछना सहनी पड़ी। गांगुली परिवार में प्रति वर्ष बड़े समारोह के साथ जगद्धात्री पूजा होती थी। सभी प्रवासी बंगाली उसमें योग देते थे, लेकिन जब से दलादली ने उग्र रूप धारण किया तब से राजा शिवचन्द्र के दल का निमन्त्रण बन्द हो गया।

शरत् को लोग जिस प्रकार आनन्दोत्सव में बुलाते, आपद-विपद में भी उसकी वैसी ही पुकार होती थी। रात- रात जागकर रोगियों की सेवा करना, समय-असमय में श्मशान जाकर दाह संस्कार करना, विवाह-पूजा आदि में आगन्तुकों की सेवा करना, इन सब कामों में वह पटु था। गली में बारोयारी पूजा में और नाना के घर जगद्धात्री पूजा के अवसर पर खिलाने-पिलाने का भार उसी पर रहता था। किन्तु इस बार [1] उसे निमन्त्रित नहीं किया

गया। उसकी कोई ज़रूरत भी नहीं थी। इसलिए अपने मन से वह वहां जाकर काम करने लगा। ब्राह्मण-भोजन चल रहा था। खाना परोसते सभी लोग चारों ओर घूम रहे थे कि दलपति गर्जन-तर्जन कर उठे। मंझले नाना महेन्द्रनाथ दौड़े-दौड़े आए। पूछा, "क्या हुआ दादा?"

दलपति चीख उठे, "क्या हुआ? हुआ क्या नहीं? इस शरता हरामजादे ने कांति का दाह संस्कार किया था। हमारी जान लेने आया है पाजी, हरामजादा।"

सभी हाय-हाय करते हुए उठ खड़े हुए तब महेन्द्रनाथ ने शरत् से कहा, "शरत्, तुम्हारा परोसना नहीं चलेगा।"

राग और अभिमान से शरत् की आखों से पानी बहने लगा। हाथ का बर्तन धरती पर रखकर वह वहां से चला गया। वह इतना मर्माहत हुआ कि कई दिन तक घर भी नहीं आया। जाने कहां-कहां घूमता रहा.....

---

1. 13 नवम्बर, 1896 ई०

11

उस वर्ष वह परीक्षा [1] में भी नहीं बैठ सका था। जो विद्यार्थी टेस्ट परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे उन्हीं को अनुमति दी जाती थी। इसी परीक्षा के अवसर पर एक अप्रीतिकर घटना घट गई। जैसाकि उसके साथ सदा होता था, इस घटना के भी नाना रूप प्रचलित हो गए थे या उसने स्वयं कर दिये थे। उन्हीं में एक यह है। विज्ञान में वह बहुत चतुर था। आधे समय में ही उसने वह पर्चा पूरा कर डाला। उसके बाद साथियों की सहायता करने में प्रवृत्त हो गया। एक कमरे में बैठकर वह प्रश्नों का उत्तर लिखता और दरबान के हाथ साथियों के पास भेज देता। पानी पिलाने तथा दूसरे कामों के बहाने दरबान बार-बार आने-जाने लगा। यह देखकर निरीक्षक को सन्देह हुआ। वह उसके पीछे-पीछे वहीं पहुंच गये जहां शरत् बैठा उत्तर लिख रहा था। अब कुछ छिपा न रह सका। निरीक्षक उसे प्रिंसिपल के पास ले गये। सब कुछ सुनकर प्रिंसिपल ने निश्चय किया कि वे शरत् को परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं देगे। इस अपराध का दण्ड इससे कम नहीं हो सकता।

इसलिए जब परीक्षाफल निकला तो उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों की सूची में उसका नाम नही था। जैसाकि उसका स्वभाव था उसने कुछ नहीं किया। कर भी क्या सकता था, अपराधी था, लेकिन चूंकि वह पढ़ने में चतुर था, इसलिए स्वयं अध्यापकों ने उसकी ओर से प्रिंसिपल से प्रार्थना की कि वे उसे क्षमा कर दें। वे स्वयं अपने निर्णय पर दुखी थे। उन्हें भी लग रहा था कि दण्ड कुछ अधिक हो गया है। इसलिए वे उसे क्षमा करने को तैयार हो गये। परीक्षा की फीस जमा कराने के एक दिन पहले उन्होंने शरत् को बुलाया और कहा, "कल आकर फीस जमा करा जाओ।"

लेकिन एक दिन में फीस का प्रबन्ध कर लेना उसके लिए असंभव था। मां की मृत्यु हो चुकी थी और पिता थे यायावर। पैसा पैदा करना वे नहीं जानते थे। उधर सगे मामा अत्यन्त निर्धन थे। रिश्ते के मामा भी फीस दे सकते हैं, लेकिन न देने पर उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। वह उनकी सगी बहन का पुत्र नहीं था और फिर वह इन लोगों के विरोध में राजा शिवचन्द्र का पक्ष लेता था। तत्कालीन मानदण्ड के अनुसार उसका चरित्र भी ऐसा नहीं था, जिसे अच्छा कहा जा सके। इसलिए मामाओं के परिवार में उसकी ज़रा भी साख नहीं थी।

इस प्रकार पैसे के अभाव में उसकी पढ़ाई समाप्त हो गई। नाटक-थियेटर, गाना बजाना और के साहित्य-सृजन, इन्हीं में उसका मन रमने लगा। राजू के साथ उसके अभियान और भी जोरों के साथ चलने लगे। वेश्या के यहां जाना भी वर्जित नहीं था। उस समय कालीदासी नाम की एक नर्तकी मंसूरंगज में रहती थी। उसके पास बहुत पैसा था।

अपना दुमंजिला मकान था लेकिन मन था उसका धर्म में। कीर्तन करती थी। कण्ठ उसका बहुत मधुर था। इसी माधुर्य के लोभ में राजू अक्सर वहां जाता था। शरत् के कालिज जाने का मार्ग भी उधर से ही था। इसलिए वह उसे भी नहीं छोड़ता था।

सुना जाता है कालीदासी इन दोनों से स्नेह करती थी। आज यह मीमांसा करना व्यर्थ है किए उन्नीस वर्षीय शरत् ने नर्तकी कालीदासी के सम्पर्क में आकर वर्जित फल का स्वाद लिया था या नहीं। परन्तु इतना सत्य है कि कण्ठ के माधुर्य और वाक्पटुता के कारण नारियों का उसके प्रति विशेष आकर्षण रहा है। तथाकथित कुकर्मों के कारण कुलीनों के समाज में उसकी मर्यादा निरन्तर घट रही थी। इसलिए अकुलीनों में ही उसे शरण लेनी पड़ती थी। वहीं पर उसने मनुष्य की खोज की और जाना कि मनुष्यत्व सतीत्व से भी बड़ी वस्तु है।

इन दिनों चोरी-चोरी देवदास का सृजन चल रहा था। यद्यपि प्रौढ़ावस्था में प्रसिद्ध लेखक शरत्चन्द्र ने इस रचना की निंदा की है। बार-बार कहा है, "वह अच्छा नहीं है, अश्लील है, और भी बहुत कुछ है। बचपन की मेरी इस रचना को मत छापो।" लेकिन उस समय निश्चय ही उसने अपने प्रेम के दर्द को देवदास के माध्यम से स्वर देने का प्रयत्न किया था। अतिशय भावुकता के बावजूद यह रचना शरत् के अपने असफल, पर उत्कट प्रेम की आत्मस्वीकृति ही है। इसके सभी चरित्रों का वास्तविक आधार है। जो उसे बहुत अधिक प्यार करती थी, स्कूल की यह साथिन धीरू देवदास में 'पार्वती' के रूप में अवतरित हुई है। धर्मदास के चरित्र का आधार बना नाना के घर का सेवक मुशाई और चन्द्रमुखी का उपादान जुटाया एक नर्तकी ने। स्वयं शरत्चन्द्र ने नर्तकी के इस आभार को स्वीकार किया है। बड़े होकर यह कहानी उसने कई बार, कई मित्रों को, कई रूपों में सुनाई। परन्तु अपने परम भक्त प्रसिद्ध संगीतज्ञ दिलीपकुमार राय से उसने यही कहा था कि यह उसकी व्यक्तिगत अभिज्ञता है। वह स्वयं अपने मित्र के साथ गाना सुनने के लिए वहां गया था। वह मित्र ज़मींदार के यहां काम करता था। उस दिन उसके पास कई हजार रुपये थे।

खूब नाच-गाना हुआ। शराब का दौर भी चला। धीरे-धीरे उसकी मात्रा बढ़ती गई और उसी के साथ खोता गया उनका चैतन्य। मित्र बार-बार जेब से रुपये निकालता और पुकार उठता, "और नाचो, और शराब लाओ।"

उस पर खूब रंग चढ़ रहा था। अनन्त: वह बेहोश हो गया। शरत् भी होश में नहीं रह सका। दूसरे दिन सवेरे मित्र की चीख-पुकार सुनकर उसकी आंखें खुलीं। मित्र पुकार रहा था, "हाय, हाय, मैं तो लुट गया, मेरा सर्वनाश हो गया।"

शरत् ने पूछा, "क्या हुआ, इस तरह क्यों चीख रहे हो?"

मित्र बोला, "मेरे पास तीन हज़ार रुपये थे, वे नहीं मिल रहे हैं। तूने तो नहीं छिपाये?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मैं क्यों छिपाऊंगा, मैं भी तो तभी से बेहोश हूं, तेरी चीख-पुकार सुनकर ही उठा हूं।"

मित्र की आंखों में आंसू आ गए, बोला, "सर्वनाश हो गया। यह तो ज़मीदार का रुपया था। उसे रुपया नहीं मिला तो नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा। जेल भी जाना होगा। सोचा था, दो-तीन सौ रुपये खर्च हो जाएंगे, कोई बात नहीं, चुका दूंगा। पर इतने रुपये इस वक्त मुझे कौन देगा? हाय-हाय, अब मैं क्या करूं?"

और वह फूट-फूंटकर रोने लगा, लेकिन रोने से रुपया थोड़े ही मिलता था। शरत् के कहने पर उसने इधर-उधर खोज की, लेकिन न कहीं रुपया ही दिखाई दिया और न वह नर्तकी। क्या उसी ने तो रुपया नहीं चुराया है.....?

ठीक इसी समय नर्तकी ने वहां प्रवेश किया। उसको देखते ही वह मित्र और भी ज़ोर से रोने लगा। एक ही सांस में उसने सब कुछ कह सुनाया।

नर्तकी ने शान्त स्वर में उत्तर दिया, "तुम्हारा दिमाग खराब हुआ था, कि तुम वेश्या के घर इतना रुपया लेकर आए। यहां दो-चार रुपयों के लिए प्राण ले लिये जाते हैं, तुम्हारे पास तो हज़ारों रुपये थे। बार-बार सबके सामने जेब से निकालकर मुझे दे रहे थे। सबकी दृष्टि तुम्हारी जेब पर थी और तभी आप लोग नशे में लुढ़कते हुए गद्दे से नीचे चले गए। सब लोगों को विदा करके मैंने आपको ठीक किया और आपके सिरहाने तकिया रखा। तब आप लोगों ने मुझे क्या-क्या नहीं कहा। छोड़िए, वह तो हम प्रतिदिन ही सुनती हैं, लेकिन जैसे ही मैं आपको सुलाकर उठी मेरी दृष्टि रुपयों पर पड़ी। उन्हें उठाकर मैंने अपने आंचल में बांध लिया और इस तरह कमर में लपेट लिया कि ज़रा भी छेड़ने पर मेरी आंखें खुल जाएं।

"यह मोहल्ला कितना बदनाम हे! कैसे-कैसे गुण्डे यहां रहते हैं! वे जान गये थे कि आपके पास रुपया है। सारी रात इस मकान के चारों ओर घूमते रहे कि आप निकलें और वे रुपये छीन लें। और मैं थी कि डर के मारे सो भी नहीं सकी। आग जलाकर नौकरानी के साथ सारी रात जागती रही हूं।"

यह कहते हुए उसनें वे रुपये निकालकर मित्र के सामने रख दिये, कहा, "देख लीजिए, सब ठीक है न? और फिर कभी ऐसी मूर्खता न कीजिएगा।"

शरत् उसकी ओर देखता रह गया। सोचने लगा, यह चाहती तो उन्हें हजम कर सकती थी। किसमें हिम्मत थी कि इससे वापस ने सकता! कितनी महान है यह! पथभ्रष्ट हो जाने पर भी मनुष्य के अन्दर की सद्वृत्तियां पूरी नष्ट नहीं होतीं। बाहरी रूप ही मनुष्य का असली परिचय नहीं है। अनेक सती नारियां अनेक कुकर्म करती हैं। चोरी, जालसाज़ी, झूठी गवाही कुछ भी उनसे नही छूटता। इसके विपरीत दुराचारिणियों के हृदय में भी दया-माया बनी रहती है।

क्या यही नर्तकी कालीदासी नहीं थी? देवदास के सृजन के समय वह उसी के पास जाता था। उसका चरित्र भी नर्तकी से मिलता है। सब कुछ दान करके वह संन्यासिनी हो गई थी, लेकिन उसके बाद भी पूजा के अवसर पर लोगों के घर गीत सुनाने वह जाती रही।

उस समय यदि वे लोग उसे कुछ देने की चेष्टा करते तो वह कह देती, "भगवान ने इतना दिया था वही मैं न रख पाई। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

यही कालीदासी चन्द्रमुखी के रूप में अवतरित हुई, इस बारे में तनिक भी शंका नहीं है। तभी तो चुन्नीलाल उससे कह सका, "नहीं, नहीं। नोट-फोट की लालची और ही होती हैं। तुम उनमें से नहीं हो।" (देवदास)।

लेकिन वह कितनी ही धर्मप्राणा हो, थी तो एक नर्तकी ही। शरत् के नाना के परिवार के लोग इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकते थे कि वह उसके घर जाये। उनकी दृष्टि में वह उच्छृंखल और चरित्रहीन होता जा रहा था। इसलिए वह उनके घर में मुक्त भाव से नहीं आ सकता था। अन्दर आने से पहले उसे खांसना पड़ता था, जिससे वयस्का बहनें अन्दर चली जायें।

लेकिन नाना के परिवार के लोगों को प्रसन्न करने के लिए उसने अपना चरित्र सुधारने की ज़रा भी चेष्टा नहीं की। तब एक दिन छोटे नाना अघोरनाथ ने आदेश निकाला, "शरत् को घर में मत आने दो, उसका प्रवेश वर्जित है।"

प्रतिभाशालियों की यही् नियति होती है शायद क्योंकि एक दिन कवि शेली के विद्रोही विचारों के कारण उसकी मां ने भी उसकी बहनों से कहा था कि वे शेली से अधिक बातें न किया करें। वह न धर्म में विश्वास रखता है न विवाह में।

---

1. सन् 1896

12

इसी समय सहसा एक दिन [1] पता लगा कि राजू कहीं चला गया है। फिर वह कभी नहीं लौटा। बहुत वर्ष बाद श्रीकान्त के रचियता ने लिखा, "जानता नहीं कि वह आज जीवित है या नहीं। क्योंकि वर्षों पहले एक दिन वह बड़े सुबह उठकर घरबार, ज़मीन-ज़ायदाद और अपने कुटुम्ब को छोड़कर केवल धोती लेकर चला गया और फिर लौटकर नहीं आया। ओ, वह दिन आज किस तरह याद है!"

शरत् के जीवन में जैसे एक बहुत बड़ा शून्य उभर आया। जीवन के हर क्षेत्र में वही तो उसकी प्रेरणा था।

आदमपुर क्लब के नाटक विभाग ने अनेक सुन्दर नाटक मंचस्थ किये थे। उनमें, प्रमुख थे -मृणालिनी बिल्वमंगल और जना। शरत् ने इनमें क्रमश: 'मृणालिनी' 'चिन्तामणि', और 'जना' की भूमिका निभाई थी। राजू ने गिरिजा और पागलिनी का अभिनय करके यश अर्जित किया था। शरत् के अभिनय में जो गाम्भीर्य, संयम, तेजस्विता और शोक प्रकट करने की भंगिमा थी वह कलकत्ता की प्रतिभाशाली अभिनेत्री के उन्मत्त उच्छ्वासों में भी नहीं पाई जाती थी और राजू द्वारा पागलिनी के अभिनय की याद करके साठ वर्ष [2] बाद भी लोगों को रोमांच हो आता था। वह दृश्य जैसे उनके मन के भीतर चला गया हो। राजू स्वयं भी जैसे पागल हो उठा था। बार-बार उसी का अभिनय करता। एक दिन अपने शिशु भतीजे को लेकर पेड़ पर चढ़ गया और गोद में लेकर वहीं पर पागलिनी का अभिनय करने लगा। देखनेवाले हतप्रभ रह गये। किसी भी क्षण वह बच्चा हाथ से छूटकर नीचे गिर सकता था।

उसी रात को राजू के पिता ने उसे बहुत पीटा और उसी रात को वह लापता हो गया। सुना वह संन्यासी हो गया है। मन उसका संन्यासवृत्ति की ओर काफी दिनों से खिंच रहा था। बहिर्जगत् से विदा लेकर वह मानो मनोजगत् में रम गया था। गंगा-तट पर बच्चों के श्मशान के पास ही अश्वत्थ का जो विशाल वृक्ष था, उसी के ऊपर उसने स्वयं एक काठ का ध्यान-घर बनाया था। शरत् के अतिरिक्त और किसी को उसने यहां नहीं आने दिया। उसमें प्रवेश कर पाना हरेक के बस की बात भी नहीं थी। बांस की सीढ़ा पर से होकर जाना पड़ता था। वहीं वह बीच-बीच में ईश्वर की ज्योति के दर्शन कर आत्मविभोर हो उठता था। वह धीरे- धीरे मौनी होता जा रहा था। अनशन करके दिन काट देता था। बन्धु-बान्धव भी पीछे छूटते जा रहे थे। बस केवल बच्चों को ही वह प्यार करता था। उन्हें छाती से लगाकर उसे तृप्ति मिलती थी। वह उन्हें लेकर पेड पर चढ़ जाता था। पिता उसको पहचान न पाये और पक्षी उड़ गया सागर के उस पार।

कुछ दिन बाद कई व्यक्तियों ने उसे हरिद्वार में देखने का दावा किया। एक बार एक महिला [3] ने उदासी पंथ के अखाड़े में किसी को सुमधुर स्वर में बंगला गीत गाते हुए सुना। स्वर कुछ पहचाना-सा लगा। इसलिए कौतूहलवश अन्दर की ओर झांका। गाने वाले की उस ओर पीठ थी, पर उस पर नश्तर का दाग स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उसे विश्वास हो गया कि निश्चय ही यह राजू है। उसी की पीठ पर नश्तर का दाग था। वह तुरन्त अन्दर गई और बोली, "अरे राजू तेरी मां तेरे लिए पागल हो रही है और तू यहां साधू हुआ घूमता है !"

राजू ने उसी क्षण अपना मुंह ढक लिया। कोई जवाब नहीं दिया। समाचार पाकर उसकी मां तुरन्त हरिद्वार पहुंची, परन्तु तब तक वह दल न जाने कहा चला गया था। बहुत खोज की गई, लेकिन सब व्यर्थ।

राजू चला गया। उसकी वेदना का कोई पार नहीं था। उसके साथ बिताये गये अपने जीवन को याद करके उसके कलेजे में टीस उठने लगती। वह उसका कितना बडा मित्र था! उसी से उसने सीखा था कि भले ही इस संसार में दूसरे मूल्य किसी स्तर पर झूठे लगने लगें लेकिन सहज मानवीय करुणा कभी नहीं झुठलाई जा सकती। उस बार जगद्धात्री पूजा के ठीक अगले दिन मामा के घर यात्रा का आयोजन था। कलकत्ता से नामी दल आया था। टोले-मोहल्ले के सभी लोग देखने के लिए दल बनाकर आ पहुंचे। शरत् भी एक कोने में बैठा तल्लीन भाव से देख रहा था कि तभी न जाने कहां से राजू आ पहुंचा। वह बहुत व्यस्त दिखाई दे रहा था। पास आकर उसने कहा, "चल उठ!"

गुरु का आदेश था। उठना पड़ा। बाहर आकर राजू ने बताया, "उस मोहल्ले के तारापद का बेटा अभी-अभी हैजे से मर गया है। बेचारा तीन साल का बच्चा अनेक प्रयत्न करने पर भी बच नहीं सका। मां-बाप पागलों की तरह रो-पीट रहे हैं। लेकिन इस रोग के रोगी की लाश को अधिक देर तक नहीं रखना चाहिए। इसी दम श्मशान पहुंचा देना चाहिए। मोहल्ले के सभी लोग यहां यात्रा देखने के लिए आ गये हे। अब तू ही मरे साथ चल !"

दोनों तारापद के घर पहुंचे। मां-बाप को समझाकर बच्चे की लाश श्मशान की ओर चे चले। आधी रात बीत चुकी थी। कुछ दूर जाकर शरत् ने कहा, "साथ में बत्ती ले लेना अच्छा रहता।"

राजू ने उत्तर दिया, "रहता तो, मगर इस समय मिले कहा? देगा कौन मेरे पास एक दियासलाई है, उसी के काम चला लेंगे।"

श्मशान ठीक गंगा तट पर था। जितना बड़ा, उतना ही डरावना। दूर-दूर तक बस्ती का निशान नहीं था। चारों ओर बालू का अखण्ड राज्य, कहीं-कहीं खजूर के एक-दो पेड़ या कटीली झाड़ियां, यही कुछ वहां दिखाई देता था।

श्मशान के बीचों-बीच एक झोपड़ा था। आंधी-पानी आने पर या किसी कारण विश्राम करने की आवश्यकता हो तो उसका उपयोग किया जा सकता था। लेकिन लोगों का विश्वास था कि इस झोंपड़ें में भूत रहते हैं। दिन में भी उसके भीतर जाने से डरते थे।

लेकिन राजू इन बातों की चिन्ता नहीं करता था। वह सीधा उसी झोपड़े में जा घुसा। शरत् भी पीछे-पीछे चला आया, लेकिन डर के मारे वह कांप रहा था। राजू ने लाश को फर्श पर रख दिया। बोला, "बहुत देर से बीड़ी नहीं पी है। पहले एक बीड़ी पी लूं।"

तभी सहसा अंधेरे में से एक आवाज़ आई, "एक मुझे भी दोगे?"

शरत् के रोंगटे खड़े हो गए। शरीर से पसीना बहने लगा। राजू ने पूछा, "कौन है?' और साथ ही साथ दियासलाई जलाकर देखा, पाया कि पास ही मैले-से बिस्तर पर एक आदमी गुदड़ी से ढका हुआ लेटा है।

पूछा, "तुम कौन हो?"

फिर आवाज आई, "मैं गंगा-यात्री हूं।"

अब उन्होंने ध्यान से देखा। गुदड़ी के भीतर लगभग 80 वर्ष का एक वृद्ध लेटा हुआ था। राजू ने उसे पीने के लिए एक बीड़ी दी। वृद्ध ने ऐसे कश खींचा मानो अमृत मिला हो। बोला, "आह बेटा, तुमने बचा लिया। कई दिन से यहां पड़ा हूं। मौत भी नहीं आती। मेरे साथ मेरे दो नाती और मोहल्ले का एक आदमी आया है। मैं जल्दी मर नहीं रहा हूं, इसलिए वे बड़े नाराज़ हैं। आज यात्रा देखने चले गए हैं। कहते हैं, इसलिए लाये थे कि बूढ़ा जल्दी मर जाएगा, लेकिन गंगा की हवा खाकर यह तो अच्छा होता जा रहा है। न जाने मेरा क्या होगा? गंगा-यात्री तो वापस लौट नहीं सकता।

राजू ने तुरन्त उत्तर दिया, "कैसे नहीं लौट सकता? तुम भले-चंगे हो। तुम्हारा घर कहां है? हम तुम्हें वहां छोड़ आयेंगे। नहीं तो तुम्हारे साथी तुम्हारा गला दबाकर तुम्हें मार डालेंगे।"

बूढ़े ने कहा, "हां बेटा, वे बार-बार मुझे यही कहकर धमकी दे रहे हैं। न जाने किस वक्त गला दबा दें।"

राजू ने सबसे पहले लड़के को गाड़ा, फिर स्नान किया। इसके बाद शरत् से कहा, "मैं इस बूढ़े को कंधे पर उठा लेता हूं। तू उसकी गुदड़ी बगल में दबा ले।"

और वह उस्ताद संपेरा और अन्नदा दीदी। राजू जैसे 'उस प्रेम-प्लावित आत्मा' को पूजता था। वह समाज-बहिष्कृता कौन थी? ठीक-ठीक इसका पता किसी को नहीं, परन्तु यह सत्य है कि उसका पति मुसलमान हो गया था और समाज के आदेश पर भी वह उसे छोड़ नहीं सकी थीं। वह सांप पकड़ने का काम करता था, पर इससे पेट थोड़े ही भर सकता है। इसीलिए, जैसाकि उनका स्वभाव था, राजू और शरत् उनकी सहायता करते थे। एक दिन दीदी का अपमान करने पर उन्होंने उस्ताद को पीट भी दिया था.....।

इन कहानियों का कोई अन्त नहीं था। शरत् के दुख का भी कोई अन्त नहीं था, पर वह इस दुख को किसी के सामने प्रकट नहीं करता था। फिर राजू की याद उसके साहस को बढ़ाती ही थी। हर कहीं-हर किसी को वह अपने साहस से चकित कर देता था।

1. सन् 1897 ई०
2. सन् 1959 में लेखक भागरनपुर गया था।
3. लेखक सन् 1959 ई० में इसके बेटे से मिला था।

13

इधर शरत् इन प्रवृत्तियों को लेकर व्यस्त था, उधर पिता की यायावर वृत्ति सीमा का उल्लंघन करती जा रही थी। घर में तीन और बच्चे थे। उनके पेट के लिए अन्न और शरीर के लिए वस्त्र की जरूरत थी, परन्तु इस सबके लिए धन का जुगाड़ करना उनके बस की बात नहीं थी। पुराना कर्ज भी वह नही चुका पाये थे। डिग्री हो जाने के कारण गांव के मकान को भी मात्र 225) रु० में छोटे मामा को बेच दिया था। [1] अब भूखों मरने के अलावा और कोई रास्ता नहीं था। शरत् बालक नहीं था, 21 वर्ष का युवक था और अपने कुछ गुणों और कुछ दुर्गुणों के कारण लोकप्रिय भी कम नहीं था। घर की दुर्दशा ने आखिर उसके हृदय को छुआ और वह नौकरी की तलाश में निकल पड़ा।

उन दिनों संथाल परगना में सेटलमेंट का काम चल रहा था। बनैली इस्टेट की ओर से एक बड़ा कर्मचारी इस्टेट के स्वार्थ की देखभाल के लिए नियुक्त था। शरत् को इसी के सहकारी के रूप में नौकरी मिल गई। काम रुचि का था। अक्सर दौरे पर रहना होता था। तम्बुओं में रहना और, जैसा कि देसी राज्यों में तब चलता था, गाना-बजाना, शिकार खेलना, यही बड़े कर्मचारियों का मुख्य काम था। कभी-कभी राजकुमार भी वहां आते थे। शरत् ठहरा दुस्साहसी, बन्दूक चलाने का उसने खूब अभ्यास किया। बहुत शीघ्र ही उड़ती चिड़िया को मार लेने की उसकी ख्याति हो गई। यह गुण उसकी लोकप्रियता को और भी बढ़ाने लगा। वह घूमने निकल जाता। कभी अकेले, कभी दल के साथ। श्मशान भूमि से उसे विशेष प्रेम था। उस दिन घूमते-घूमते वक्रेश्वर जा निकला। वहां की श्मशान भूमि को देखकर वह मुग्ध हो उठा। शिव मन्दिर के पास कैसा निर्जन है! उसके वैरागी मन को निर्जनता सदा प्यारी लगी। ढेर के ढेर नरमुण्ड, झीलों की तरह सेमर की डाल-डाल में लटके चमगादड़ और उनके बीच में उस विराट मौन में आर्त्तकण्ठ से रोता हुआ उनका एक बच्चा -कुछ भी उसके वैरागी मन को विचलित न कर सका।

और उस दिन राजकुमार के आने पर नाच-गान की महफिल विशेष रूप से गुलज़ार हो उठी। सेटलमेंट के बड़े-बड़े अफसर निमंत्रित किये गये। बहुत-सा रुपया पाने की शर्त पर पटना से एक बाईजी भी आई। सुन्दर तो थीं ही, कण्ठ भी अत्यन्त मधुर था। शरत् को भी इस मजलिस में निमंत्रित किया गया। वह ऊंचे पद पा नहीं था, लेकिन उसके मधुर कण्ठ की बात राजकुमार के कानों तक पहुंच चुकी थी। वे बोले, "आज तुमकी गाना होगा शरत्।"

यद्यपि उसका गाना संगीत के व्याकरण की दृष्टि से तो शुद्ध नहीं कहा जा सकता, परन्तु उसका माधुर्य मन को छूने वाला था। स्वयं बाईजी ने भी उसकी प्रशंसा की। वह

नाच-गान में दक्ष थी। प्राणों की शक्ति उंडेलकर उसने मजलिस में वीणा बजाई। परन्तु 'भैंस के आगे बीन बजाये भैंस खडी पगुराय'वाली स्थिति थी। उस मजलिस में केवल शरत् ही रागिनी के मर्म को पहचान सका। मुक्तकण्ठ से उसने बाईजी के वीणावादन की प्रशंसा की। वह गद्‌गद हो उठी। उसका हृदय इस दिशाहारा, पर गुणी युवक के प्रति सहानुभूति से उमड़ आया। कुछ ही क्षणों के परिचय ने दोनों को एक-दूसरे के बहुत पास ला दिया। उस रात बड़ी देर बाद किसी प्रसंग में बाईजी ने उससे कहा, "मैं रुपये के लिए गाती हूं। गाना मेरा पेशा है, लेकिन आप क्यों इनकी मुसाहिबी करते हैं? आप गुणी व्यक्ति हैं। आपको यहां से चले जाना चाहिए।"

अन्तत: शरत् ने वह नौकरी छोड़ दी। इस छोड़ देने के पीछे मात्र बाईजी का आग्रह था, यह बात किसी भी तरह स्वीकार नहीं की जा सकती। अपने पिता से विरासत में उसने जो चंचल स्वभाव पाया था, वह उसे कहीं जमकर नहीं बैठने दे सकता था। एक ज्योतिषी ने उसे बताया था कि 40 वर्ष की आयु में वह राजा के समान प्रसिद्ध होगा। नौकरी छोड़ने का एक कारण यह भी हो सकता है।

और भी कारण हो सकते हैं। वस्तुत: किशोरावस्था से ही वह अपने चारों ओर एक रहस्यमय वातावरण बनाये रखता था। स्वयं नाना प्रकार की कहानियां गढ़कर सुनाना उसका स्वभाव बन गया था। उन कहानियों में अपने संबंध में भी नाना प्रकार के प्रवाद प्रचलित कर देता था। कोई आश्चर्य नहीं, बाईजी का यह आग्रह एक प्रवाद ही हो, लेकिन यह सचमुच सच है कि इन सब कुसंगतियों, स्वच्छन्द और दुस्साहसपूर्ण प्रवृत्तियों के बावजूद उसकी साहित्य-साधना मौन-मंथर गति से आगे बढ़ रही थी। दिन-भर की यायावर वृत्ति के बाद रात्रि के एकान्त में वह अपने पोथी-पत्रों के बीच पहुंच जाता था। नौकरी करते समय भी इस नियम में कोई व्यवधान नहीं पड़ा। प्रारम्भ में उसे कविता से प्रेम था, लेकिन कविता लिखने का धैर्य उसमें नहीं था। रुचि के अनुसार गद्य लिखने में ही वह सारा समय बिता देता था। जब तक ठीक-ठीक शैली और शब्द न पा लेता, तब तक उसे संतोष नही होता था। बार-बार काटता रहता था। परन्तु छन्द का अनुसंधान उसे बहुत शीघ्र उकता देता। 'फूल-बने लेगेछे अगुन।'

इसमें उसने 'सुप्रभा' और 'इन्द्रा' नाम की दो नायिकाओं के मनोभावों का विश्लेषण किया था। अन्त में सुप्रभा की विषपान से मृत्यु हो गई और उस पराजय में से ही उसने अपनी जय-पताका फहराई। उस युग में शरत् जैसे दिशाहारा और भावुक युवक से इससे अधिक और क्या आशा की जा सकती थी। उसने कविता लिखने का प्रयास किया, यह युग के अनुरूप ही था। वह रवीन्द्र-युग था। उसी की भांति अनातोले फ्रांस जैसे विश्व के अनेक साहित्यिकों ने सबसे पहले कविता लिखने की ओर ध्यान दिया है। लेकिन वह कवि नहीं बन सका। उसकी प्रतिभा का विकास गद्य में ही हुआ है। हां, कविता का प्रभाव उस पर निरन्तर बना रहा। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है जैसे कवि बोल रहा हो।

उस समय शिक्षित बंगाली समाज में अंग्रेजी के प्रति वैसा ही अनुराग था जैसे कभी इंग्लैण्ड में लेटिन के प्रति था। चिट्ठी-पत्री तक वे अंग्रेज़ी में लिखते थे। शरत् ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। वह न स्वयं अंग्रेजी में पत्र लिखता और न किसी परिचित को लिखने की प्रेरणा देता। अपने तरुण मामाओं में बंगला भाषा और साहित्य के प्रति अनुराग उसी ने पैदा किया था। उन लोगों ने मिलकर एक हस्तलिखित सचित्र मासिक पत्रिका 'शिशु' का प्रकाशन भी आरम्भ किया था। सम्पादक बने दस वर्षीय मामा गिरीन्द्रनाथ। उनका हस्तलेख बहुत सुन्दर था। 'शिशु' का बंगला और अंग्रेजी कविताएं शिशुओं के ही अनुरूप थीं। 'बांदर' के साथ 'चादर' की तुक मिलाना उनकी चरम उपलब्धि थी।

बांदर बांदर,
छिड़लो केन चादर।
बांदर रूपी रूपी,
परेछिस केमन टूपी।
बांदर बांदर, केन
खेएछिस फेन।
रामसिंह छटके,
पड़ली डोबाए पटके।
लोकरतने,
करले जतने
रामसिंह गेली मरे।।

अंग्रेज़ी रचनाएं भी इसी प्रकार ही होती थीं -

ए लायन किल्ड ऐ माउस,
देन वेण्ट टू हिज़ हाउस।
नाऊ काइट हिज़ मदर,
एण्ड देअरफोर क्राइड हिज़ सिस्टर।

लेकिन उन दिनों ऐसे कामों में न कोई सहयोग देता था और न उत्साह ही बढ़ाता था। 'शिशु' के कई अंक निकले, परन्तु गांगुली परिवार में साहित्य के प्रति जरा भी प्रेम पैदा नहीं हुआ। अध्यापकों ने भी विरक्त होकर कहा, "यह सब करने से क्या होगा? इससे अच्छा तो यह है कि अंग्रेजी लिखना सीखो।"

'शिशु' में शरत् की कई रचनाएं छपीं। 'बोझा' कहानी उसने अपने प्रिय मामा सुरेन्द्रनाथ के नाम से प्रकाशित की। उस समय वह भागलपुर में नहीं था। लौटकर [2] उसने सुना कि वह बड़ी सुन्दर कहानी लिखता है। अवाक् होकर बोला, "मैं कहानी लिखता हूं?"

मित्र ने कहा, "हां, तुम्हारी कहानी 'बोझा' बहुत सुन्दर है।"

सुरेन्द्र ने 'बोझा' कहानी पढ़ी। समझ गया कि यह शरत् का काम है। उसने पूछा, "यह सब क्या है? अपनी रचना मेरे नाम से क्यों छापी है?"

हंसकर शरत् ने उत्तर दिया, "छापी है, इसमें तुम्हारी क्या हानि है?"

यह भी अपने को छिपाने की ही प्रवृत्ति थी। पड़ता भी वह छिपकर ही था। न जाने कितने उपन्यास और विज्ञान की कितने पुस्तकें उसने पड़ डाली थी। डिकेन्स, थैकरे और श्रीमती हेनरी वुड उसके कुछ प्रिय लेखक थे। लिखने का क्रम भी चुपचाप चल रहा था। 'शुभदा' [3] उपन्यास उसने अभी-अभी समाप्त किया था। इस उपन्यास में उसने अपने परिवार की चरम निर्धनता की झांकी दी है। दिन-प्रति-दिन के जीवन में, जो दुख-दैन्य उसने पाया उसका मार्मिक चित्रण उसमें हुआ है। व्यक्तिगत अभिज्ञता के बिना वह कुछ नहीं लिखता था।

यह साहित्य-साधना मात्र उसी तक सीमित नहीं थी। उसके चारों ओर ऐसे ही मित्रों का एक दल इकट्ठा हो गया था। उन्होंने एक साहित्य गोष्ठी की स्थापना [4] भी की थी। यह गोष्ठी वैसे छह पर्ष पूर्व [5] से चल रही थी, पर जान पड़ता है बीच में ढीली पड़ गई थी। अब इसका पुनर्जन्म हुआ। उस गोष्ठी का नेता वह स्वयं था और उसके प्रमुख सदस्यों में थे मामा सुरेन्द्रनाथ और गिरीन्द्रनाथ मित्र, योगेश मजूमदार और विभूतिभूषण भट्ट। सुरेन्द्र प्रारम्भ से ही इसका सदस्य नहीं बन गया था। उस समय वह यहां नहीं था। बाहर से लौटने पर वह भी इसमें शामिल हो गया। एक और व्यक्ति का योगदान अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वह थी विभूतिभूषण की बहन निरुपमा देवी। वह बाल विधवा थी और उस कट्टर और संकीर्ण युग की प्रथा के अनुसार उसे प्रकट रूपमें उस सभा में भाग लेने का अधिकार हो ही नहीं सकता था। जब पुरुष ही लुक-छिपकर यह काम करते थे तो नारी की स्थिति की कल्पना आसानी से की जा सकती है। लेकिन निरुपमा लिखती अवश्य थी और उसके भाई के द्वारा वे रचनाएं गोष्ठी में विचारार्थ उपस्थित की जाती थीं। उस दिन कोई नहीं जानता था कि यह छोटी-सी साहित्य गोष्ठी अनेक भावी साहित्यकारों को जन्म देने में सफल होगी, परन्तु यह सत्य है कि इन लोगों ने साहित्य-सृजन का जो व्रत लिया वह मां सरसस्वी के आशीर्वाद से खूब फला-फूला। जिस समय साहित्याकाश में रवीन्द्रनाथ सूर्य की भांति चमक रहे थे उस समय ये लोग पूर्ण चन्द्रोदय की सम्भावनाओं को सत्य करने के लिए सचेष्ट थे। बहुत वर्षो बाद [6] शरत् ने मामा गिरीन्द्रनाथ को लिखा था, "मेरे दुख-भरे जीवन की सुखद स्मृति यही साहित्य सभा है। घर के लोग जब तुम्हें खोजते फिरते थे, न पाने पर क्रुद्ध होते थे तब हम छिप-बैठकर सहित्यचर्चा करते थे। वे सब बातें एक दिन भी नहीं भूल सका हूं।"

विभूति और निरुपमा यहां के सब-जज श्री नफर भट्ट की संतान थे। यह एक बड़े लोगों का परिवार था। शरत् का इस परिवार से संबंध निरुपमा के मंझले भाई इन्दुभूषण के

माध्यम से हुआ। वह उसका कालेज का सहपाठी था। उसी के द्वारा विभूति और निरुपमा की कविताएं शरत् तक पहुंची और शरत् की रचनाओं का उस परिवार में प्रवेश हुआ।

भट्ट परिवार के मकान के पास पश्चिम दिशा की ओर एक बहुत बड़ा कब्रिस्तान था। किसी गम्भीर रात्रि में उस कब्रिस्तान के प्रांगण से गाने का शब्द उठकर हवा की तरंगों पर लहराता हुआ उनके पास पहुंच जाता था —

"आमि दुदिन आसिनि, दुदिन देखिनि, आमनि मुदिलि आंखि।"

कभी यमुनिया नदी के तीर से वंशी का मादक स्वर सुनाई देता। 'चरित्रहीन' में सतीश जब रेलयात्रा में वंशी बजाता है तो पृथ्वी पर सोई हुई चादनी की नींद उचट जाती हे और उपेन्द्र जम्हाई लेकर उठते- उठते कहते हैं : "बस, अगर कुछ सीखना होगा तो बांसुरी बजाना ही सीखूंगा।"

इन्दुभूषण भी इसी स्वर पर मुग्ध है, तभी तो समझ जाता है कि यह शरत् का स्वर है। परिचय गहराता है और वह उनके घर आने लगता है। कभी-कभी गाना भी सुनाता। नवकृष्ण भट्टाचार्य का यह गीत उसे बहुत प्यारा था -

"गोकुले मधु फूराय गेल, आंधार आजि कुंजबन।"

उस परिवार से आत्मीयता बढ़ जाने का कारण एक और भी था। वे लोग सम्पन्न थे, पर सम्पन्नता का दम्भ उनमें नहीं था। घर के भीतर बड़े कठोर नियम थे, पर बाहर सब ढीला-ढाला था। अर्थात् धोखा दिया जा सकता था। शतरंज खेलने का रिवाज था और इसका अर्थ केवल खेलना ही नही होता था, चाय-पान और तम्बाकू भी खूब चलता था। इन्दुभूषण को इस खेल का बहुत शौक था और शरत् भी इस विद्या में निष्णात था। इसीलिए इस परिवार के वह इतने पास आ सका।

विभूति आयु में छोटा था। बड़े भाई ने उसकी कविताओं की कापी शरत् को देखने के लिए दी थी। उसी को लेकर वह एक दिन विभूति के सामने जा खड़ा हुआ और जोर से उसे मेज पर फेंकता हुआ बोला, "क्या लिखते हो! खाली अनुवाद, वह भी अशुद्ध। अपना लिखने को कुछ नहीं है, तुम्हारे पास?"

सुनकर विभूति तो जैसे अवाक् रह गया। लेकिन इसी क्षण से आरम्भ हुई उनकी मित्रता को मृत्यु भी भंग नहीं कर सकी। विभूति शरत् की तरह ही अध्ययन-प्रिय था। उसने विदेशी दार्शनिकों की अनेक रचनाएं पढ़ डाली थीं। तर्क से वह यह सिद्ध कर सकता था कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। अगर ईश्वर है तो प्रोटोप्लाज़्म है। ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करना उन दिनों पढ़े-लिखें युवकों के लिए शराब पीने की तरह प्रगति का लक्षण था। शरत् स्वयं इसी पथ का पथिक था। लेकिन विभूति जितना मेधावी था उतना ही बन्धुवत्सल भी था। शरत् से उसकी घनिष्ठता का यह एक और कारण था।

चूंकि साहित्य की चर्चा उन दिनों प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकी थी, इसलिए उनकी यह गोष्ठी अभिभावकों की दृष्टि बचाकर ही काम करती थी। सप्ताह में एक दिन किसी निर्जन

स्थान में वें इकट्ठे होते थे। कभी सरकारी स्कूल के पास बड़े नाले में पैर लटकाकर प्रबन्ध-पाठ और आलोचनाएं करते, कभी किसी मठ में पेड़ के नीचे या टीले पर चढ़कर ये तरुण बन्धु अपना विद्रोह प्रकट करते। कब्रिस्तान में भी यह गोष्ठी होती थी। शरत् के नेतृत्व में न जाने कितनी अमानिशायें उस दल ने वहां काटी थीं और स्तब्ध होकर सुना था उसका संगीत। भट्ट परिवार के मकान के पास जो कब्रिस्तान था उसमें एक बड़ा मकबरा था। उसकी छत मैदान के समान लम्बी-चौड़ी थी। सीढ़ी से ऊपर जाने के बाद वे दुनिया की दृष्टि से ओझल हो जाते थे। अड्डा जमाने के लिए यह आदर्श स्थान था।

एक बार सुरेन्द्र ने वहां आकर जो कुछ देखा उससे वह विस्मित रह गया था। वसंत ऋतु और शुक्ल पक्ष की संध्या, वह विशाल छत चन्द्र-ज्योत्स्ना से आलोकित हो रही थी। उत्तर की आरे से बह रहा था गंगा का स्पर्श पाकर शीतल-मंद पवन। इधर-उधर चटाई बिछाकर अलग-अलग दल कार्यव्यस्त थे। एक स्थान पर जोर- शोर से नाटक की रिहर्सल चल रही थी तो दूसरे स्थान पर हारमोनियम लेकर संगीत का अभ्यास हो रहा था और तीसरे स्थान पर साहित्यिक वाद-विवाद की धूम थी। इसी समय कहीं से चाय आ गई। साथ में परात-भर खाने का सामान भी था। फिर तो देखते-देखते हुक्के की गुड़गुड़ाहट उठने लगी और सिगरेट के धुएं से आकाश आच्छन्न हो गया।

इस साहित्य गोष्ठी के संचालन का सारा भार शरत् पर था। रचनाओं के विषय का निर्वाचन वह स्वयं करता था। सदस्य सात दिन के भीतर रचना समाप्त कर सभा में लाकर पढ़ते थे। सभापति शरत् प्रत्येक रचना पर विचार करता। उसकी अशुद्धियां बताता और लेखक को नम्बर देता। कविता लिखने में सबसे आगे थीं निरुपमा। दूसरे सदस्यों को उससे ईर्ष्या होती थी। वे कानाफूसी भी करते थे। इसलिए विशेष करते थे कि शरत् का प्रारम्भ से ही उसकी ओर झुकाव था। उसका निरुपमा से कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। वह उसको अपने दादा का मित्र मानकर ही उसका सम्मान करती थी। लेकिन शरत् उसे उत्साहित करने के लिए विशेष रूप से सजग दिखाई देता था। उसकी कविता में भावों की कृपणता है, इसकी शिकायत उसने विभूति से की थी। कहा था, "एक ही भाव को छोड़कर बूड़ी यदि और कई प्रकार से सोच-विचार कर लिखे तो और उन्नति कर सकती है।"

इसी को विभूति ने कविता में परिवर्तित करके निरुपमा तक पहुंचा दिया.....

"आरो जाओ, आरो जाओ दूरे, थामियोना आपनार सूरे।"

इस शिकायत ने निरुपमा को प्रोत्साहित ही किया। शरत् को प्रसन्न करने के लिए वह अपनी कविताओं पर और भी परिश्रम करने लगी। उन कविताओं के आसपास, ऊपर-नीचे न जाने शरत् ने क्या-क्या और कितना लिखा। उसने विभूति से यह भी कहा, "बूड़ी यदि चेष्टा करे तो गद्य भी लिख सकती है।"

उस समय निरुपमा को इस बात पर विश्वास नहीं आया था। वह तो शरत् की रचनाएं पढ़-पढ़कर ही अभिभूत होती जा रही थी। धीरे- धीरे इन दो-तीन वर्षों में उसने 'बाससा' [7],

'बोझा', 'कोरेलग्राम' [8], 'अनुपमा का प्रेम', 'काशीनाथ', 'चन्द्रनाथ', 'शिशु' (बड़ी दीदी), 'हरिचरण', 'बालस्मृति', 'शुभदा' और 'रेवदास' आदि सभी पढ़ डाले थे। कुछ दिन पूर्व पति से लेकर मंझली भावज ने एक बड़ा-सा खाता उसे दिया था। उस पर छोटे-छोटे सुन्दर अक्षरों में लिखा था, 'अभिमान' [9]। यह मिसेज हेनरीवुड के उपन्यास 'ईस्टलीन' का शरत् द्वारा किया गया छायानुवाद था। उन दिनों उसके मन में मान-अभिमान की जो आंधी चलती रहती थी, उसी के कारण उसने यह अनुवाद किया था। और इसीलिए इसका नाम 'अभिमान' रखा गया था। निरुपमा इसको पढ़कर मुग्ध हो उठी थी।

इन्हीं दिनों शरत् ने मेरी कोरेली के उपन्यास 'माइटी एटम' का अनुवाद करना भी आरम्भ कर दिया था। नाम रखा था, 'पाषाण'। पुराने मार्ग से होकर वह भी निरुपमा के पास पहुंचा। उसमें एक परमाणुवादी नास्तिक पिता की संतान के मानसिक संघात की यंत्रणा से वह द्रवित हो उठी। शरत् की रचनाओं का यह प्रभाव निश्चय ही, परोक्ष रूप में, उसे गद्य लिखने की प्रेरणा दे रहा था।

---

1. 9 नवम्बर, 1896 (देवानन्दपुरे शरतचन्द्र - द्विजेन्द्रनाथदत्त मुंशी, भारतवर्ष-मार्च, 1938-चैत, 1344)

2. सन् 1898 ई ०

3. रचना-काल : 20 जून, 1898 से 22 सितम्बर, 1898 ई०

4. 4 अगस्त, 1900 ई०, शनिवार।

5. सन् 1894 ई०

6. 18 मार्च, 1913 ई०

7. शरत् ने इसे स्वयं नष्ट कर दिया था।

8. बाद में यह फिर से लिखी गई और 'छवि' के नाम से प्रकाशित हुई।

9. यह शरत् के बचपन के साथी केदारनाथ के पास रह गया था। रचनाकाल: सन् 1898-99 ई०।

14

इसी समय निरुपमा की अंतरंग सखी, सुप्रसिद्ध भूदेव मुखर्जी की पोती, अनुपमा के रिश्ते का भाई सौरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय भागलपुर पढ़ने के लिए आया। [1] वह विभूति का सहपाठी था। दोनों में खूब स्नेह था। अक्सर आना-जाना होता था। साथ-साथ क्रिकेट खेलते थे। एक दिन' [2] सौरीन्द्र के हाथ में चोट लग गई। उसके लिए खेलना असम्भव था। विभूति ने उसे एक कापी देते हुए कहा,"लो तुम ये कहानियां पढ़ो।"

सौरीन्द्र ने देखा, कापी के पहले पन्ने पर छोटे-छोटे मोती जैसे अक्षरों में लिखा है- 'बागान' और पलट के दाहिनी ओर पहले पन्ने पर बड़े कलात्मक ढंग से अंग्रेजी अक्षरों में एक नाम अंकित है, शायद वही इसका लेखक है, एस-टी०सी० लारा। एस-टी० यानी शरत् सी० यानी चट्टोपाध्याय, लारा यानी न्याड़ा।

इस कापी में कुछ कहानियां लिखी हुई थीं। ये ही कहानियां निरुपमा पड़ती रहती थी। एक-एक करके सौरीन्द्र ने भी उनको पढ़ना शुरू किया। पड़ता गया और मुग्ध होता गया। परन्तु उस दिन शरत् से उसकी भेंट न हो सकी। वह अवसर आया एक महीने बाद। उस दिन निरुपमा देवी के किसी व्रत के उपलक्ष में परिवार में प्रीतिभोज की व्यवस्था थी। उसी में निमन्त्रित होकर सौरीन्द्र जब वहां पहुंचा तो देखा, बैठक में बड़ी मेज के सामने की कुर्सी पर एक क्षीणकाय व्यक्ति बैठा है। बहुत दिनों के रोगी जैसा चेहरा, सिर पर लम्बे-पतले और बिखरे हुए बाल, उलझी-सी एक छोटी दाढ़ी, सामने एक मोटी-सी पुस्तक खुली है, उसी को तन्मय होकर पढ़ रहा है। बीच-बीच में सिर के बालों में उंगली देकर न जाने वह क्या सोचने लगता है।

सौरीन्द्र के बैठ जाने पर विभूति ने पुकारा, 'शरत् दा !"

सहसा शरत् ने विभूति की ओर देखा। विभूति ने कहा, "शरत् दा ! यह मेरा मित्र सौरीन्द्र है। यह दारुण रेबिक है। यानी रवीन्द्रनाथ का भक्त है। तुम्हारी कहानियां पड़कर उस दिन इसी ने समालोचना की थी।"

अब शरत् ने सौरीन्द्र की ओर देखा। उस दृष्टि में तीव्र दीप्ति थी। वही दीप्ति तो हर किसी को अपनी ओर खींच लेती थी। और पराभूत कर देती थी। संकोच और भय से सौरीन्द्र विचलित हो आता। कई क्षण उसकी ओर देखते रहने के बाद शरत् ने पूछा, "तुम कहानी लिखते है।?"

सौरीन्द्र ने उत्तर दिया, "नही।"

विभूति ने कहा, "यह कविता लिखता है।"

शरत् अब भी सौरीन्द्र की ओर देख रहा था। वह दृष्टि सौरीन्द्र को बींधने लगी। वह अनमना हो उठा। तभी शरत् ने फिर कहा, "गल्प क्यों नहीं लिखते?"

सौरीन्द्र बोला, "लिख नहीं सकता, इसलिए।"

शरत् ने कहा, "पद्य लिखते हो और गल्प नही लिख सकते! लिखने की चेष्टा करो। गल्प किसे कहते हैं, कैसी होती है, यह ज्ञान तुम्हें हे। विभूति से तुमने मेरी गल्पों की जो समालोचना की थी, यह उसने मुझे बताई थी। वही सुनकर मैं कहता हूं कि गल्प के बारे में तुम्हें ज्ञान है, तुम लिखो।."

निमिष मात्र में सौरीन्द्र का संकोच दूर हो गया। बोला, "लिखूंगा।"

धीरे-धीरे दोनों में घनिष्ठता बढ़ती गई। वे अक्सर साहित्य-चर्चा करते। तब 'शिशु' (बड़ी दीदी) कहानी के अन्त में दो लाइनें इस प्रकार थीं, "परलोक में सुरेन्द्रनाथ के पैरों के पास माधवी को थोड़ा स्थान देना भगवान !"

इस पर आपत्ति करते हुए सौरीन्द्र ने कहा, "तुम लेखक हो, तुम्हें किसी पात्र के प्रति ममत्व नहीं रखना चाहिए।"

इस बात को लेकर दोनों में बहुत तर्क हुआ। उस समय शरत् किसी भी तरह सौरीन्द्र से सहमत नही हो सका। पर दो महीने बाद उसने कहा, "सुनकर खुशी होगी सौरीन्द्र, अन्त की वे दोनों लाइनें मैंने काट दी हैं।"

सौरीन्द्र बहुत दिन भागलपुर नहीं रह सका, अगले वर्ष' [3] ही वह कलकत्ता लौट गया। लेकिन जाते समय शरत् की कुछ रचनाएं अपने साथ साथ लेता गया। वे रचनाएं धीरे-धीरे छात्र-समिति में पड़ी गई। उनकी सराहना करते हुए सदस्यों ने एक स्वर में कहा, "रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छेड़कर इतनी सुन्दर कहानियां और कोई नहीं लिख सकता।"

इस साहित्य गोष्ठी के एक और सदस्य थे सतीशचन्द्र मित्र । एक दिन एक खाते को मासिक पत्र के आकार में बंधवाकर उसके पहले पन्ने पर उन्होंने लिखा, 'आलो।' उसके नीचे संपादक के स्थान पर लिखा, 'सतीशचन्द्र मित्र और योगेशचन्द्र मजूमदार।" यह सुझाव शरत् की ओर से ही आया था, इसलिए इसके पन्ने भरने का भार भी उसी पर आ पड़ा। उसका विश्वास था कि साहित्य-रसिक बन्धु-बांधवों का उत्साह पाकर यह पत्रिका शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाएगी। लेकिन उसकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। एक पखवाड़े के भीतर ही सतीशचन्द्र की मृत्यु हो गई। उनके इस अकाल वियोग पर साथी बहुत दुःखी हुए और उनकी समृति-रक्षा के लिए व्यग्र हो उठे। गिरीन्द्र ने प्रस्ताव किया कि इस पत्रिका को 'छाया' नाम देकर फिर से प्रकाशित किया जाए।

यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया' [4] । उसके संपादक नियुक्त हुए योगेशचन्द्र मजूमदार। इनको संतुष्ट करना बहुत कठिन था विभूतिभूषण ने तो उनके सम्बन्ध में यह कविता लिख डाली थी-

एई कुंचित केश मार्ज़ित बेश क्रिंटिक योगेश कुद्ध।

बले दीनतार छबि, एई सब कबि कारगारे हवि रुद्ध।।

शरत् ने इस पत्रिका के लिए कई गल्पें और निबन्ध लिखे। ‘क्षुद्रेर गौरव" [5], नामक प्रबन्ध और 'आली ओ छाया' नामक छोटा उपन्यास इसी पत्रिका में प्रकाशित हुए थे।

लेखक कई थे, लेकिन लेखिका केवल एक ही थी। अन्त:पुर-चारिणी विधवा निरुपमा। उसकी रचनाएं इसमें 'श्रीमती देवी' के नाम से प्रकाशित हुईं। इसी समय कविता के अतिरिक्त उसने गद्य लिखना भी आरम्भ किया। थोड़े ही दिनों में इस पत्रिका की धूम मच गई। सौरीन्द्र तब तक कलकत्ता चला गया था। वहां पर उसने इसी तरह की एक पत्रिका निकाली। नाम था ‘तरुणी’। शरत् के एक और रिश्ते के मामा उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय उसके साथी थे। इस दल का नाम था ‘भवानीपुर साहित्य समिति। दोनों पत्रिकाओं का डाक द्वारा आदान-प्रदान होता था। एक-दूसरे की खूब आलोचना करते थे। ‘छाया दल' ने इस कार्य के लिए एक बोर्ड बनाया था। इसका प्रत्येक सदस्य ‘तरुणी' की रचनाएं पढ़कर उन पर आलोचना लिखता था। और संपादक महोदय इस कौशल से उसका संपादन करते थे कि उनमें जो माधुर्य होता था वह नष्ट हो जाता था। रह जाता था केवल विष। ‘तरुणी' की ओर से भी ऐसे ही तीव्र उत्तर मिलते थे। दोनों ओर से कोई किसी का लिहाज नही करता था। परन्तु शरत् इन बातों में कोई विशेष रस नहीं लेता था। निरन्तर लिखना ही उसका मुख्य कार्य था।

---

1. सन् 1899 ई० का अन्त।

2. जनवरी, 1900 ई०

3. सन् 1901

4. 23 अप्रैल सन् 1900 ई० सोमवार

5. इस पर बंकिमचन्द्र के ‘कमलाकान्त का दफ्तर’ की छाप है। जुलाई, 1901 ई०

15

एक समय होता है जब मनुष्य की आशाएं, आकांक्षाएं और अभीप्साएं मूर्त रूप लेना शुरू करती हैं। यदि बाधाएं मार्ग रोकती हैं तो अभिव्यक्ति के लिए वह कोई और मार्ग ढूंढ लेता है। ऐसी ही स्थिति में शरत् का जीवन चरम उपेक्षाओं और अनन्त आशाओं की छया में बीत रहा था। न साधन, न स्नेह का वरदहस्त, न सहानुभूति और न प्रोत्साहन की अमृतवाणी, मां क्ई मृत्यु के बाद तो जैसे जीवन में कुछ मधुर रह ही नहीं गया था। लेकिन उसमें कहीं कुछ ऐसा था जो अतिशय भाबुक होने के बावजूद उसे जीवन से हार नहीं मानने दे रहा था। अपने आक्रोश और आकांक्षाओं, अभावों और आदर्शो को अभियक्ति देने का माध्यम उसे मिल गया था। इसी माध्यम ने उसमें जीने की अदम्य चाह पैदा कर दी थी।

सृजन के इन दिनौ में वह आकंठ प्रेम में डूबा हुआ था। इस आयु में हर युवक की आत्मा में प्रेम के लिए तड़प जागती है। विचारों ओर भावनाओं का एक तूफान मन और मस्तिष्क को आलोड़ित करता रहता है। कितनी विभिन्नता, कैसा विरोधाभास! न सही हाड़-मांस की प्रेमिका, काल्पनिक प्रेमिका से भी तो यह भूमिका निभाई जा सकती है।

एक दिन वह मामा सुरेन्द्र के साथ उसके घर गया। कुछ दिन पहले तक वह इसी घर का सदस्य था। सब कुछ जाना-पहचाना, इसलिए बातों का अंत ही नहीं आ रहा था। रात बहुत बीत गई थी। सुरेन्द्र ने कहा, "चलो तुम्हें छोड आऊं।"

रास्ते में फिर बातें होती रहीं। इस बार शरत् ने कहा, "चलो मामा, मैं तुम्हें छोड़ आऊं।"

और इसी तरह रास्ता काटते-काटते वह रात कट गई। कितनी बातें की उन्होंने। सरस्वती उस समय शरत् की जिह्वा पर आ बैठी थी। इसी समय किसी प्रसंग में उसने कहा, "मैं सचमुच एक लड़की से प्रेम करता हूं।"

सुरेन्द्र आश्चर्य से उसकी ओर देखकर बोला, "क्या सच?"

"हां, तुमसे क्या कभी मैं कुछ छिपाता हूं?"

"कौन हे वह?"

"न न, यह नहीं बताऊंगा।"

"अच्छा, उसका नाम तो बता !"

"उसका नाम है, नीरदा!"

शरत् ने यह भी कहा कि बनैली राज्य के काम से यात्रा करते हुए वह एक दिन नीरदा के प्रेम में पड़ गया था। वह कहानी दादी के राजकुमार जैसी थी। तेज घोड़े पर चढ़कर शरत्

भी अंधेरे में ही संथाल परगना की ओर चल देता था। वहीं तो थी उसकी यह प्रेमिका। उसके मन में तब एक ही बात रहती थी कि नीरदा उसकी राह देखती जागती बैठी है। हठात् वह घोड़े समेत एक दिन उस नदी में भी गिर पड़ा था। लेकिन इससे क्या वह रुका? भीगे कपड़े पहने ही वह पवन-गति से उड़ चला।

सुरेन्द्र ने बड़े आश्चर्य से यह कहानी सुनी, लेकिन वह उस नीरदा को कभी देख नहीं पाया। कोई भी नहीं देख पाया। हां, चर्चा बहुत लोग करते थे। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि शरत् एक यहूदी लड़की से प्रेम करता है। कुछ लोगों ने उसे भिन्न-भिन्न लड़कियों के साथ एकांत में बात करते या बांसुरी बजाते भी देखा था, लेकिन आश्चर्य इस बात का था कि कोई किसी दूसरे को उसे इस स्थिति में नहीं दिखा सका। उसक प्रेम इतना मौन, इतना रहस्यमय था कि उसका ताप ही लोगों को छूता था। उसका रूप कभी किसी के सामने नहीं आ सका। नीरदा कभी कल्पनालोक के एकांत में उसके पास ऐसे आती जैसे नींद में चल रही हो। उसे लिखते देखती रहती, देखती रहती, बोलती नहीं। शरत् को यह मौन असह्य हो उठता, तब नीरदा एकाएक पास आ बैठती, कहती, "सुनाओ तो, क्या लिखा है !"

शरत् सुनाने लगता, उसकी श्वास जोर-जोर से चलने लगती। नीरदा मुस्कराती हुई अपना मस्तक उस अभागे के कन्धे पर रख देती, और फिर उसे होश न रहता। उसी बेहोशी में बांसुरी बजाकर वह उसे मुग्ध कर देता। कभी उससे लड़ भी पड़ता और उसे छोड़कर चल देता। फिर नीरदा उसकी तलाश में निकल पड़ती, उसे ढूंढ लाती, अपने घर ले जाकर सबसे अच्छी शैया पर उसे सुलाती, उसके लिए हुक्का तैयार करती, अपने हाथों से संदेस बनाकर खिलाती। फिर उसकी चारपाई के पास ही चटाई पर लेटकर उसकी बातें सुनती, अन्तहीन कल्पनालोक की बातें... ।

कभी ऐसा भी होता कि वह अभिमान से उसे छोड्कर चली जाती । कहती, "तुम्हारा-मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम कुछ भी तो नहीं करते।"

"मैं....मैं.....कृतिकार हूं। एक दिन....."

"कृतिकार!" वह हंस पड़ती, "कृतिकार भूखे मरते हैं। आवारा, चरित्रहीन, भला तुमसे मेरी शादी कैसे हो सकती है? कुल-मर्यादा का विचार भी तो....."

"कुल-मर्यादा? मैं कुल-मर्यादा में विश्वास नहीं करता। इस लोग-दिखाऊ मर्यादा के ऊपर निर्भर करके तुम्हें दो प्राणों का नाश नहीं करना चाहिए।"

फिर उग्र होकर कहता, जुम यह सब कैसे कह सकीं? तुम इतनी स्वाभिमानिनी हो, यह मैं नही जानता था। मैं तुम्हें नहीं चाहता। बिलकुल नहीं चाहता। तुम जो चाहो करो.....।."

"नाराज़ हो गये? मैं जानती हूं तुम मुझे प्यार नहीं करते। मैं चाहती भी नहीं कोई मुझसे प्यार करे। यह तो केवल मैं ही तुम्हें प्यार करना चाहती हूं.....।"

इस प्रकार नीरदा के साथ मान-मनव्वल का यह कार्यक्रम चलता रहता, लेकिन कब और कहां, यह कोई नहीं जानता था। सब यही जानते थे कि शरत् दुश्चरित्र है। यह नीरदा बचपन की साथिन धीरू भी हो सकती है। कितनी कहानियां इस नाम के साथ जुड़ गई थीं। सुना कि वह शरत् से विवाह करने को आतुर थी। यह भी सुना कि विधवा होने के बाद उसकी भेंट फिर शरत् से हुई थी।

कहानियां ही कहानियां, सत्य कभी प्रकट नहीं हुआ, पर जाने दें धीरू को, नीरदा का नाम राजलक्ष्मी भी हो सकता है। उसे पार्वती व माधवी भी कहकर पुकारा जा सकता है। और यह भी हो सकता है कि यह नीरदा निरुपमा ही हो। उसकी रचनाएं पढ़ा-पढ़कर अभिभूत होती रहती थी और शरत् उसकी कविताओं की प्रशंसा करता रहता था। इसी प्रशंसा के माध्यम से मन ही मन प्रेम का अंकुर सब बाधाओं को ठेलकर ऊपर आ रहा था। एक दिन ऐसा हुआ कि वह घर में अकेली थी और शरत् बाहर बैठक में बैठा हुआ था। अक्सर वहीं बैठकर वह कभी पढ़ता तो कभी लिखता। दिन का अधिकांश भाग उसका वहीं बीतता था। उस दिन न जाने क्या हुआ, वह अपने को रोक न सका। एकाएक उसके सामने आकर खड़ा हो गया। बोला, "अजी कैसी हो?"

अत्यन्त धर्मपरायणा वह विधवा सहसा शरत् को देखकर हतप्रभ रह गई। उस एक क्षण में जैसे सहस्त्र युग समा गए। किसी तरह साहस बटोरकर उसने कहा, "तुम यहां से चले जाओ। तुम्हें यहां नहीं आना चाहिए।"

"बूड़ी....."

"....."

"....."

"जाओ, नहीं तो....."

और शरत् मस्तक नीचा किए धीरे-धीरे वहां से लौट आया। निरुपमा उसे इस बात के लिए क्षमा न कर सकी। उसने अपने दादा से इसकी शिकायत की। कहा, "यह तुम्हारा मित्र कैसा है? घर में कोई नहीं, फिर भी वह मुझसे बातें करने चला आया।"

दादा शरत् के सहपाठी थे। उन्होंने सोचा होगा कि निर्धन, निरीह और तत्कालीन मानदण्डों के अनुसार दुस्साहसी और दुराचारी शरत् यह साहस कैसे कर सका? कोई सुन लेगा तो क्या होगा? क्या होगा नीतिपरायण सम्भ्रान्त परिवार की इस विधवा का.....?

लेकिन क्या इन दोनों का विवाह नहीं हो सकता?

नहीं, नहीं, नहीं, यह दुस्साहस है।

उस युग में विधवा-विवाह के लिए आन्दोलन तो बहुत हुए थे, लेकिन समाज ने उसे अभी स्वीकार नहीं किया था। यह प्रस्ताव भी कैसे स्वीकृत हो सकता था? शायद किसी ने इस बात पर विचार भी नहीं किया होगा। शायद यह सब कुछ उसके उर्वर कल्पना-जगत् में घटित हुआ होगा, या फिर.....

कुछ भी हुआ हो, यौवन की उस प्रथम बेला में यह प्यार व्यर्थ हो गया। लेकिन समस्त उच्छृंखलताओं के बीच वह हमेशा के लिए उसके अन्तर में समा गया।

यद्यपि निरुपमा उसकी रचनाओं को पढ़कर अभिभूत हुई थी, फिर भी तत्कालीन सामाजिक कठोरता को देखते हुए उसके मन की बात जानने का कोई मार्ग नहीं था। जानने के लिए प्रयत्न करना भी अपमानजनक हो सकता था। समाज-शास्त्री सिर उठाकर कठोर स्वर में कह सकता था, "तुम एक उच्च कुल की विधवा को अपमानित करना चाहते हो! जिसने पर-पुरुष की छाया तक नहीं देखी, वह प्रेम कैसे कर सकती है? ऐसा सोचना ही पाप है।"

लेकिन क्या एकतरफा प्रेम कम शक्तिशाली होता है? क्या वह अपने-आप में मधुर नहीं होता? क्या सफलता ही उसके होने का प्रमाण है? मन ही मन किसी के लिए अपने को विसर्जित नहीं किया जा सकता है क्या? इस वेदना को स्नेह कहो, प्रेम कहो, आयु का दोष कहो, पर इसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। उसमें प्रेम की भूख अपार है, लकिन तृप्ति का कहीं कोई साधन नहीं है। यह अतृप्ति दर्द के रूप में कुण्डली मारकर उसके अंतर में रम गई और उसकी अभिव्यक्ति हुई 'देवदास' और 'बड़ी दीदी' आदि रचनाओं में। इन रचनाओं में असफल प्रेम का वही दर्द परिव्याप्त है। नीरदा हो या निरुपमा, 'देवदास' की पारो हो या 'बड़ी दीदी' की माधवी, वे सब एक ही हैं। असफल प्रेम के दर्द की प्रतिमाएं। निरुपमा उसे चले जाने के लिए कहती है। माधवी भी सुरेन्द्रनाथ के आने पर छोटी बहन प्रमिला से कहती है, "प्रमिला, मास्टर साहब से बाहर जाने के लिए कह दे।"

लेकिन वह निरुपमा के समान कठोर नहीं है। वह जाने के लिए कहती है, पर कोमल स्वर में। सिर पर लम्बा घूंघट खींचकर एक कोने में खिसक जाती है और बाद में लाज के मारे सुरेन्द्रनाथ की देखरेख में कुछ कमी भी कर देती है।

ये सब उपन्यास की बातें हैं। लेकिन भित्तिहीन वे नहीं हैं। उसके भोगे हुए यथार्थ पर आधारित हैं। बहुत वर्षों बाद अपराजेय कथा-शिल्पी शरत्चन्द्र ने सुप्रसिद्ध कवयित्री राधारानी देवी को लिखा था, "कभी सम्भव हुआ तो तुम्हें एक कहानी सुनाऊंगा। सुनने में कथा-कहानी की तरह अवास्तविक लगेगी, लेकिन इससे अधिक वास्तव सत्य मेरे जीवन में और कुछ नहीं हे।"

क्या यह कहानी निरुपमा की कहानी ही नहीं है? इस सत्य पर पहुंचने का कोई मार्ग अब शेष नहीं है। केवल इतना ही ज्ञात है कि प्रेम में असफल होकर भी शरत् न तो आत्महत्या कर सका और न संन्यासी बन सका, लेकिन स्त्रष्टा बनने का मार्ग निश्चय हो उसे मिल गया। इस मार्मिक अनुभूति ने साहित्य में प्रतिबिम्बित होने का मार्ग पा लिया। नीरदा या निरुपमा से मिलन उसको व्यक्तिगत तृप्ति का कारण हो सकता था, परन्तु बिछोह ने एक शक्तिशाली कलाकार को जन्म दिया। विरहबोध ही जीवन और यौवन का आवेग है। बुद्धि इसकी थाह नहीं पा सकती, हृदय से ही इसका स्वरूप जाना जा सकता है। उसके साहित्य

में यही विरहबोध मुखर हुआ। आदर्श और यथार्थ, समस्या और समाधान, सब कुछ हृदय-रस की संजीवनी में डूबे हुए हें।

एक और क्षेत्र से उसकी इस प्रवृत्ति को बल मिला। 'बंगदर्शन' में उसने 'आख की किरकिरी' पढ़ी थी। रवीन्द्रनाथ ने अपनी इस युगान्तरकारी रचना में विधवा के प्रणय को स्वर दिया है और बंकिमचन्द्र की तरह आदर्श की रक्षा के नाम पर उसकी हत्या नहीं की। स्पष्ट कहा कि यदि किसी विशेष अवस्था में कोई विधवा किसी पुरुष के प्रति आसक्त हो जाती है तो उसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है, इसके विपरीत 'कृष्णकान्त के वसीयतनामा' में रोहिणी की प्रणय-आकांक्षा को सार्थक न करके बंकिमचन्द्र ने उसकी हत्या करा दी है। इसके लिए शरत् जीवन-भर उन्हें क्षमा नहीं कर सका, और रवीन्द्रनाथ की संस्कार-मुक्ति के कारण जीवन-भर उनको गुरु मानता रहा।

उसके अन्तर के संघर्ष के मूल में ये दो साहित्यस्त्रष्टा शुरू से ही आसन मारके बैठ गये थे।

16

गृहस्थी से शरत् का कभी लगाव नहीं रहा। जब नौकरी करता था तब भी नहीं, अब छोड़ दी तो अब भी नहीं। संसार के इस कुत्सित रूप से मुंह मोड़कर वह काल्पनिक संसार में जीना चाहता था। इस दुर्दान्त निर्धनता में भी उसकी सौंदर्य-भावना तनिक भी धूमिल नही हुई थी। वह जितना उच्छृंखल था उसका रहने का कमरा उतना ही व्यवस्थित था। उसके कमरे में रस्सी की एक खाट थी, एक फोल्डिंग मेज़ थी। ये दोनों चीज़ें उसे अपने मामा ठाकुरदास से मिली थीं। कुर्सी स्वयं राजू ने बनाकर दी थी। मेज पर उसके प्रिय लेखकों, हेनरी वुड, मेरी कोरेली, लिटन और डिकेंस की पुस्तकें सजी रहती थीं। लिखने का सामान सभी टिपटाप और सुन्दर था। लेकिन सौन्दर्य-भावना पेट की आग नहीं बुझा सकती। गृहस्थी कल्पना के सहारे नहीं चलती। वह तो ठोस द्रव्य चाहती है। और यहां उसका कोई सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं था। न उसे इसकी चिन्ता थी और न उसके पिता को। जो कुछ बेचने योग्य था वह सब बिक गया था। मित्र और रिश्तेदार कब तक सहायता कर सकते हैं! उधार मांगने की भी एक सीमा होती है। और वे जिस वर्ग के थे उसे भीख देने का कोई साहस नहीं कर सकता था। केवल बाग से तरकारी बटोर लाने से तो पेट नहीं भरता। इसलिए कभी-कभी उन्हें भगवान से प्रार्थना करनी पड़ती थी, "हे भगवान, कुछ दिन के लिए बुखार दे दो, जिससे दो जून खाने की चिन्ता न करनी पड़े।"

अपनी अकर्मण्यता को छिपाने के लिए भगवान की आड़ लेने पर भी दायित्व से नहीं बचा जा सकता। पिता और पुत्र दोनों गैरज़िम्मेदार थे। शतुरमुर्ग जैसे रेत में सिर गड़ाकर शत्रु के अस्तित्व को झुठता देना चाहता है, वैसे ही पिता और पुत्र अपनी-अपनी सौन्दर्य-भावना में डूबकर भूख के अस्तित्व को नकारने की चेष्टा कर रहे थे। पुत्र साहित्य-साधना में व्यस्त था तो कल्पनाविहारी पिता इस स्थिति में भी नाना प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पत्थर सहेजते रहते थे।

शरत् जानता था कि उन्हें वे सदा ताले-कुंजी में रखते हैं। उन दिनों उसे पैसों की बहुत आवश्यकता थी। ऐसी हालत में भी दूसरों की सहायता करना उसने नहीं छोड़ा था। इसलिए एक दिन उसने सोचा, आखिर पिता इन पत्थरों का क्या करेंगे! क्यों न ये किसी के काम आयें।

बस उसने पिता की आंख बचाकर उन पत्थरों को निकाल लिया। लेकिन यह बात बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। गरीब के घर में केवल यही तो सम्पत्ति थी। मोतीलाल

धक् से रह गये। घर में सबसे पूछा, अन्त में शरत् को बुलाकर पूछा, "छोरा, तूने वे पत्थर लिए हैं?"

शरत् ने उत्तर दिया, "हां, लिये हैं।"

"क्यों लिए?"

"क्योंकि मुझे पैसों की जरूरत थी, और वे पत्थर किसी काम नहीं आ रहे थे।"

पिता के क्रोध का पारावार नहीं रहा। असहाय और दुर्बल व्यक्ति को जब क्रोध आता है तो सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। मोतीलाल ने शरत् की अत्यन्त कड़े शब्दों में भर्त्सना करते हुए कहा, "तुझे शर्म नहीं आती? जवान लड़का है। कुछ कर नहीं सकता? सब भूखे मर रहे हैं और तू है कि कुछ पैसों के लिए मेरे बड़े शौक से इकट्ठे किए गए पत्थरों को ले गया?"

स्तब्ध शरत् पिता को देखता रह गया। सन्तान के लिए उसके स्वप्नदर्शी पिता के हृदय में बड़ी दया-माया थी। उसकी सारी शरारतों के बावजूद आज तक उन्होंने शरत् को कभी दो शब्द भी नहीं कहे थे। और इस समय उनकी कटुता की कोई सीमा नहीं थी। वह भी निर्जीव पत्थरों के लिए। उसके भावुक हृदय पर गहरी चोट लगी। उसी क्षण वह घर छोड़कर चला गया।

लेकिन इस गृहत्याग का कारण केवल इतना ही नहीं था। घर में एक दाई थी जो रसाई बनाती थी और छोटे भाई-बहनों की देख-भाल करती थी, लेकिन उनके प्रति उसका बर्ताव बहुत अच्छा नहीं था। वह उनको धमकाती ही नहीं, पीट भी देती थी। इस बात को लेकर एक दिन पिता-पुत्र में कहा-सुनी हो गई। पिता ने दाई का पक्ष लिया। घर की अवस्था को देखते हुए इस बात के लिए उनको दोष नहीं दिया जा सकता। उसी के सहारे तो गृहस्थी चल रही थी। लेकिन शरत् इस बात को स्वीकार नहीं कर सका। उसने अनुभव किया कि पिता दाई [1] के अनुचित प्रभाव में हैं। लेकिन वह कर क्या सकता था? वह स्वयं भी तो इस स्थिति के लिए दोषी था। इसीलिए वह घर छोड़कर चला गया।

शरत् के किसी भी काम के पीछे कोई एक कारण नहीं रहता था। न हों तो गढ़ लिए जाते थे। वह स्वयं इस विद्या में दक्ष था। इसीलिए घर छोड़ने का एक कारण यह भी सुना गया कि उसकी प्रेमिका उसे चकमा देकर कहीं चली गई है और प्रेम की पीड़ा से व्याकुल उसने निश्चय किया है—"मैं उसे ढूंढूंगा।"

किसी भी कारण से हो, कुछ पाने की व्यथा से पीड़ित दिशाहारा शरत् एक बार फिर निरुद्देश्य यात्रा पर निकल पड़ा [2]।

---

1. शरत् बाबू जब प्रसिद्ध होकर भागलपुर आये थे तब यह दाई उनसे मिली थी। उन्होंने उसे उदारतापूर्वक पैसे दिये थे।

2. जुलाई, 1901 के बाद, क्योंकि उस तारीख की उसकी रचना ‘क्षुद्रेर गौरव’ हस्तलिखित पत्रिका ‘छाया’ में

17

घूमते-घूमते श्रीकान्त की तरह एक दिन उसने पाया कि आम के बाग में धुंआ निकल रहा है, तुरन्त वहां पहुंचा। देखा अच्छा-खासा सन्यासी का आश्रम है। प्रकाण्ड धूनी जल रही हे। लोटे में चाय का पानी चढ़ा हुआ है। एक बाबाजी आधी आंखें खोले हुए सामने ही विराजमान हैं। आस-पास गांजा पीने के साधन हैं। दूध के लिए एक बकरी और गाय है। ऊंट और टट्टू भी हैं। और इसी के साथ भांग छानने का सरंजाम भी है। शरत् ने तुरन्त आगे बढ़कर बाबाजी के चरण छुए और विनम्र स्वर में कहा, "मैं गृहत्यागी, मुक्ति-पथान्वेषी, हतभाग्य शिशु हूं। दया करके अपने चरणों की सेवा करने की आज्ञा दीजिए।"

बाबाजी हंसे, फिर सिर हिलाकर बोले, "बेटा, घर लौट जा, यह पथ बड़ा ही दुर्गम है।" शरत् ने करुण स्वर में कहा, "बाबाजी, बहुत-से पापी आप जैसे सन्तों के चरण पकड़कर उतर गए हैं। क्या मैं आपके चरणों में पड़कर मुक्ति भी नहीं पा सकता?"

बाबाजी प्रसन्न हुए। बोले, "तू सच कहता है। अच्छा बेटा, भगवान की यही इच्छा है तो यहीं रह।"

और शरत् को उस दल में शरण मिल गई। गांजा आदि तैयार करने मे तो वह निपुण था ही, बाबाजी को प्रसन्न करने में देर नहीं लगी। बहुत जल्दी उसे दीक्षित कर लिया गया और बाकायदा गेरुवे वस्त्र तथा रुद्राक्ष की माला ग्रहण करके वह उनका शिष्य बन गया।

कई दिन तक इसी प्रकार शिष्यत्व निभाता हुआ वह उनके साथ घूमता रहा। लेकिन एक स्थान पर अधिक दिन ठहरना उसके लिए असम्भव था। एक दिन वह उनसे बिछुड़ गया। तभी उसका एक श्रद्धालु परिवार के साथ परिचय हुआ। उन दिनों उस प्रदेश में शीतला खूब फैली हुई थी। वह परिवार भी उसके आक्रमण से नहीं बच सका। शरत्, जेसा कि उसका स्वभाव था, जी-जान से उनकी सेवा में लग गया। धीरे-धीरे रोग का प्रकोप कम हुआ और वे सब स्वस्थ हो गए। उसके प्रति उनकी कृतज्ञता की कोई सीमा नहीं थी। उन्होंने उसे अपने साथ चलने का निमन्त्रण दिया।

वे आगे बढ़ने की तैयारी कर रहे थे कि सहसा शरत् को ज्वर हो आया और तब वह परिवार उसे ऐसे छोड़कर चला गया जैसे कभी कोई परिचय ही नहीं हुआ हो। जब उसकी आंख खुली तो वहां कोई भी नहीं था। उस अवस्था मे वह स्वयं स्टेशन की ओर चल पड़ा। मार्ग में एक बूढ़े बिहारी ने दया करके उसे अपनी गाड़ी में बिठा लिया और स्टेशन पर जाकर छोड़ दिया।

कब तक वह वहां पड़ा रहा, कैसे वह ठीक हुआ, यह काई नहीं जानता। उसे इतना ही याद था कि एक गरीब बंगाली लड़का उसके लिए अपना फटा हुआ बिछौना लाकर बिछा गया था। उसे गरम-गरम दूध पिलाया था और फिर कहा था, "डरने की कोई बात नहीं है, अच्छे हो जाओगे। घर का पता बताओ तो मैं तार दे सकता हूं।"

लेकिन उसने किसी को कुछ नहीं बताया। अच्छा होने तक वहीं पडा रहा। उस लड़के ने तथा स्टेशन के दूसरे लोगों ने उसकी बराबर देख-भाल की। जब चलने फिरने लायक हो गया तो वह मुजफ्फरपुर चला गया। वहां एक धर्मशाला में ठहरा। अभी भी वह संन्यासी के वेश में था। इस वेश में भीख मिलने में सुविधा रहती है।

एक दिन बंगालियों के क्लब में जाकर उसने शुद्ध हिन्दी में एक व्यक्ति से कहा, "मुझे एक पोस्ट कार्ड चाहिए, और कलम भी। चिट्ठी लिखना चाहता हूं।"

सामान मिल जाने पर वहीं एक कोने में बैठ गया और पत्र लिखने लगा। आस-पास बच्चे धूम रहे थे। संन्यासी को पत्र लिखते देखकर वे कौतूहल से झांकने लगे। देखा कि वह अत्यन्त सुन्दर बंगाली अक्षरों में पत्र लिख रहा है।

एक कान से दूसरे कान होती हुई यह बात सदस्यों तक पहुंच गई। वे भी उस संन्यासी के प्रति कौतूहल से भर उठे। प्रमथनाथ भट्ट नाम के एक युवक ने पास आकर बंगला में पूछा, "आप कौन हैं और कहां से आए हैं?"

शरत् ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "मैं बिहारी हूं, घूम-घूमकर जीवनयापन करता हूं।"

उस मुस्कराहट ने रहस्य खोल दिया। प्रमथ ने कहा, "रहने दीजिए, आप बिहारी नहीं, बंगाली हैं। अब यह सत्तू खानेवालों की भाषा छोड़कर अपनी मातृभाषा में बात कीजिए।

उसके बाद साधु का वह बाना न जाने कहां चला गया, लेकिन अभी भी जो अपरिचित थे उन्हें वह 'बिहारी हूं' कहकर परिचय देता था और धर्मशाला में ही रहता था। उस दिन छत पर बैठा तन्मय होकर गा रहा था कि उसी समय एक युवक निशानाथ बन्दोपाध्याय वहां से गुजरा। संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर वह ठिठक गया। उसके परिवार की संगीत में बड़ी रुचि थी। प्रतिदिन कोई न कोई गवैया आकर मजलिस जमाता था। वह तुरन्त शरत् के पास प़हुंचा, कहा, "आप बहुत सुन्दर गाते हैं, कहां के रहने वाले हैं?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मैं भागलपुर से आया हूं। मेरा नाम शरच्चन्द्र है।"

निशानाथ बोला, "भागलपुर! वहां के श्री भूदेव मुकर्जी की पोती अनुरूपा देवी मेरी भाभी हैं।"

शरत् ने कहा, "मैं उन्हें पहचानता हूं, विभूति की बहन निरुपमा की वह सखी हैं। सौरीन्द्रमोहन मेरा मित्र है।"

अब तो निशानाथ बड़े आग्रह के साथ शरत् को घर ले आया। बड़े भाई शिखरनाथ से कहा, "ये भागलपुर के शरच्चन्द्र हैं, कण्ठ बड़ा मधुर है इनका।"

शिखरनाथ हंस पड़े, बोले, "और ये कहानी भी तो लिखते है। तुम्हारी भाभी ने मुझे इनके बारे में बताया था।"

शरत् वहीं रहने लगा। नित्य संगीत की मजलिस जमती थी। एक सुगायक के रूप में शीघ्र ही उसकी ख्याति फैल गई। वर्षों बाद उसके कण्ठ को याद करके शिखरनाथ कह उठते, "अहा, शरत् इस गाने को जैसे गाता था, अब भी कानों में गूंज रहा है।"

दो महीने किधर से आकर न आने किधर चले गये, कोई जान भी नहीं सका। वह अनाथों की तरह मुजफ्फरपुर आया था, लेकिन शीघ्र ही मित्रों से घिर गया। बंगालियों के अतिरिक्त एक नवयुवक बिहारी महादेव साहू से भी उसका घनिष्ठ परिचय हो गया। वह धनी ज़मींदार था और बंगाली लिखना-पढ़ना और उनके समान ही पोशाक पहनना उसने सीख लिया था। शरत् के प्रति उसके आकर्षण के कई कारण थे। मधुर कण्ठ और क्या कहने की अद्‌भुत क्षमता। एक दिन उसने कहा, "मैंने राणाघाट में पुलिस के हाथ से एक अविवाहित लड़की की रक्षा की थी।"

साहू के एक साथी ने मुस्कराकर पूछा, "सच?"

"बिलकुल सच।"

लेकिन जब उस साथी ने राणाघाट जाकर शरत् की कहानी के बारे में छानबीन की तो पता लगा कि सब कुछ कपोलकल्पित है। लेकिन कुछ भी हो, वे कहानियां सुनकर श्रोता गद्‌गद् हो उठते। वे उन्हें कौतूहल से ही नहीं भरती थीं, हंसाती भी खूब थी। जिस सहज भाव से वह हंसा सकता था, उसी सहज भाव से असहाय रोगियों की परिचर्या और मृत व्यक्तियों का संस्कार जैसे कठिन कामों के बीच भी वह एकान्त भाव से डूब सकता था।

कुछ ही दिनों में साहू और वह दोनों ऐसे घुल-मिल गए कि शराब पीना और वेश्यागमन आदि सभी कामों में एक-दूसरे य साथ देने लगे। शिकार भी साथ-साथ खेलने जाते थे। साहू किस्सा अलिफफैला के आबूहसन की तरह मुसाहिबों से घिरा रहता था। वह बिलियर्ड भी खूब खेलता था, पर शरत् इस कला से अनभिज्ञ ही रहा। हां, सुविधा होने पर पीने का शौक अवश्य कुछ बढ़ गया। लेकिन बदहवास होते उसे किसी ने नहीं देखा। इसके विपरीत बांसुरी का स्वर तब और भी मादक हो उठता। श्रोता मुग्ध होकर उसे सुनते रहते।

साहू भी सुनता था और शिकार, शराब तथा वेश्या के पीछे पानी की तरह पैसा बहाता था। उसके सम्बन्धी बड़े परेशान हुए। उन्होंने कहना शुरू किया, "भागलपुर से एक बंगाली युवक शरत् ने आकर साहू को पथभ्रष्ट कर दिया हे।"

दूसरा दल कैसे पीछे रहता। उसने कहा, "साहू ने शरत् को बिगाड़ा है।"

परस्पर दोषारोपण के इस घात-प्रतिघात से दोनों मित्र बेखबर हों, यह बात तो नहीं थी, लेकिन इसकी चिन्ता उन्होंने कभी नहीं की। दोनों मन ही मन हंसते, क्योंकि दोनों जानते थे कि वे मिलने से पहले ही सब कुछ सीख चुके थे। शरत् को अब पैसे की सुविधा हो गई और साहू को मिल गया एक मनचाहा मीत। वह शरत् को अपना आदर्श मानने लगा। शरत् ईश्वर

में विश्वास नहीं करता था। साहू भी कहने लगा, "शरत् दादा कहते हैं कि ईश्वर नहीं हैँ। इसलिए सचमुच ही ईश्वर नहीं है। मैं भी मानता हूं कि ईश्वर नहीं है।"

वह अभी तक शिखरनाथ के घर रह रहा था, लेकिन साहू के साथ जब मजलिस जमने लगी तो रात को लौटने में भी देर होने लगी। घर की स्वामिनी उसे पुत्र के समान प्यार करती थी। वह देर तक बैठी उसकी राह देखती रहती। लेकिन इधर उसने ऐसा अनुभव किया कि कभी-कभी शरत् होश में नहीं होता। उसके मुंह से बदबू भी आती है। उसने शिखरनाथ से शिकायत की, "शरत् का इतनी रात को इस तरह घर में आना मुझे अच्छा नहीं लगता।"

शिखरनाथ ने उसी दिन शरत् से कहा, "तुम्हारा देर से आना और शराब पीना इस घर के लोगों को अच्छा नहीं लगता। तुम्हें सावधान रहना चाहिए।"

वह परिवार संगीत का प्रेमी था, परन्तु था धर्मप्राण। शरत् ने अपनी गलती अनुभव की। वह फिर वहां नहीं लौटा। एक मेस में जाकर रहने लगा, पर जेब में पैसे कहां थे? आखिर वह महादेव साहू के पास चला गया। उसका खाना-पीना, उठना-बैठना, जागना-सोना, अब साहू के साथ होने लगा।

प्रेम की पीर अभी भी शरत् को परेशान कर रही थी। उसकी प्रेमिका नीरदा उससे विमुख होकर भागलपुर से चली आई थी। उसने सुना था कि आबकारी के किसी दरोगा के साथ वह यहां आकर रहने लगी है। इसीलिए वह मुजफ्फरपुर आया था। और एक दिन उसने उसे ढूंढ़ ही लिया, लेकिन नीरदा ने उसकी ओर दृष्टि उठाकर देखा तक भी नहीं।

प्रेम अन्धा होता है। शरत् अब भी यह विश्वास करता था कि नीरदा उससे प्रेम करती है। वह उसका पीछा करता रहा। परेशान होकर एक दिन नीरदा ने दरोगा से शिकायत कर दी। दरोगा ने उसी दिन शरत् को पकड़ा और खूब पीटा। इतना कि बहुत देर तक वह बेहोश पड़ा रहा। मालूम नहीं उसके बाद भी उसका भ्रम टूटा या नहीं, या सारी कहानी ही एक विराट भ्रम है। लेकिन यह सच है कि मुजफ्फरपुर में रहते हुए उसे नारियों के साहचर्य की कमी नहीं हुई। पूंटी नामक एक सुन्दर वेश्या को बुलाकर साहू प्रतिदिन नृत्य-गान की मजलिस जमाता था और दोनों मित्र उसमें मुक्त होकर भाग लेते थे।

इसी समय शरत् का परिचय राजबाला नाम की एक अत्यन्त सुन्दरी से हुआ। उसके जीवन की कहानी अत्यन्त रोमांचक है। उसके पिता विधुभूषण बाबू एक वकील थे। घर से भागी हुई एक बंगाल वधू को उन्होंने शरण दी थी। कुछ दिन बाद उसका प्रेमी उसे छोड़कर चला गया। तब वह असहाय वधू उनके ही पास रहने लगी। अन्ततः उन्होंने उससे विवाह कर लिया। उससे दो पुत्र और चार पुत्रियां उन्हें प्राप्त हुई। पुत्रियां एक से एक बढ़कर सुन्दर थीं। राजबाला विशेष रूप से सुन्दर थी। जैसे-जैसे वह युवती होती गई वैसे-वैसे उसके सौंदर्य की कहानी शहर में फैलती गई। गौर वर्ण, कसे हुए अंग, तीखे नक्श और मादक स्वभाव, उसे पुरुषों की संगति बड़ी प्रिय थी। विवाहित होने पर भी वह शहर के सभी

मनचले युवकों की हृदयवल्लभा बन गई। तब शरत् और साहू से उसका परिचय कैसे नहीं होता। साहू के पास सभी सुविधाएं थीं, इसलिए शरत् को वहां जाने में कोई असुविध नहीं हुई। वह मुक्त होकर राजबाला के रूप-जाल में फंस गया

मुजफरपुर का यह जीवन हर दृष्टि से बोहेमियन था। शिकार, शराब और वेश्या— इनकी सुविधा होने पर और हो भी क्या सकता था! वह न सुन्दर था और न स्वस्थ। पैसा भी उसके पास नहीं था, लेकिन वे गुण तो थे, जो किसी को सबका प्रिय बना देते थे। स्त्रियां विशेष रूप से उसके वाग्जाल में फंसकर उसकी ओर आकर्षित होती थीं।

लेकिन इस चरित्रहीनता के बीच में से निस्संग होकर उठ जाने की शक्ति उसमें अब भी थी। अन्तर में बैठा वैरागी शरत् उसे खींच ले जाता था दूर निर्जन में। वह नदी के तट पर जाकर घण्टों अकेला बैठा रहता और लिखता रहता। न जाने कितनी रचनाएं उसने लिखीं। एक पूरा उपन्यास 'ब्रह्मदैत्य' उसी में था।

असमाप्त 'चरित्रहीन' की पाण्डुलिपि भी उसके पास थी। उसी को लेकर प्रमथनाथ से उसकी मित्रता गहरी हुई। ये वर्द्धमान ज़िले के रहने वाले थे। यहां वे अपने काका के पास रहकर पढ़े थे। इस समय मिलने के लिए आये हुए थे। यह मित्रता कालान्तर में कई रूपों में आदर्श प्रमाणित हुई।

मित्रों के अतिरिक्त यहां वह और भी विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से मिलता था। वेश्याएं, साधु, जमींदार, कारकुन, वकील, संगीत-प्रेमी और नीचे तबके के लोग। वह उनका खूब अध्ययन करता, उनकी बातें सुनता, और उन्हीं के आधार पर एकान्त में जाकर लिखता रहता। कभी-कभी वह व्यक्तियों के रेखाचित्र लिखकर सुनाता भी। उन रेखाचित्रों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण रहता था। साधारण व्यक्ति के लिए जो जीवन अप्रतिष्ठा और कलंक का कारण हो सकता है वही साहित्यिक के लिए बड़ी शक्ति बन जाता है। विश्वकवि ने लिखा है :—

जीवन-मन्थन से निकला विष
वह जो तुमने पान किया।
और अमृत हो बाहर आया,
उसे जगत को दान दिया।

18

इस जीवन का अन्त न जाने कहा जाकर होता कि अचानक भागलपुर से एक तार आया। लिखा था—तुम्हारे पिता की मुत्यु हो गई है। जल्दी आओ।

जिस समय उसने भागलपुर छोड़ा था घर की हालत अच्छी नहीं थी। उसके आने के बाद स्थिति और भी बिगड़ गई। मोतीलाल पागलों की तरह इधर-उधर घूमते रहते। फटी चट्टी, कीचड़ से भरा हुआ बदन, सिर पर बढ़ी हुई जटा, पेट में अन्न नहीं, हाथ में पैसा नहीं। ऐसी स्थिति में स्वप्नविहारी मनुष्य पागल ही हो सकता हे।

इन्हीं दिनों उनके चचिया ससुर अघोरनाथ भागलपुर आए। दोनों सहपाठी रह चुके थे। मोतीलाल उनसे मिलने ससुराल पहुंचे। खूब शीत पड़ रहा था। बदन पर वस्त्र नहीं था, अघोरनाथ पिता-पुत्र दोनों से खुश नहीं थे। लेकिन बचपन के साथी की ऐसी दशा देखकर वह द्रवित हो आये। पूछा, "तुम यह घर छोड़कर क्यों चले गए मोतीलाल?"

"अच्छा नहीं लगता था, छोटे काका।"

"इतनी ठण्ड में कपड़ा क्यों नहीं पहनते?"

"हैं नहीं।"

"शरत् कहां हे?"

"झगड़ा करके कहीं भाग गया है।"

"आजकल कुछ काम-वाम हे?"

"नही।"

"तब कैसे चलता है?"

मोतीलाल ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। आंखे डबडबा आई, टप टप आंसू गिरने लगे और वह जाने के लिए उठकर खड़े हो गए। तब बदन के वस्त्र उन्हें पहनाकर अघोरनाथ ने एक नोट उनके हाथ में थमा दिया। मोतीलाल के चेहरे पर मुस्कराहट खिल आई। पूछा, "कितने दिन है छोटे काका?"

"कल ही चला जाऊंगा।"

मोतीलाल ने पांव की तरल लेकर कहा, "अब और मिलना नहीं होगा। उम्र पूरी हो गई हैं।" [1]

सचमुच ही मिलना न हो पाया। कुछ दिनों बाद मन में अजस्त्र प्यार-भरे धरती के अयोग्य, स्वप्नदर्शी मोतीलाल विपरीत परिस्थितियों की ठोकरें खाते-खाते जर्जर होकर स्वर्गवासी हो गए।

पिता की मृत्यु का समाचार पाकर शरत् बहुत दुखी हुआ। वह उनसे लडकर आया था और यहां के इस बोहेमियन जीवन में कौन कह सकता है कि उसने उन्हें कितनी बार याद किया था, लेकिन अब जब वह नहीं रहे तो उसे उनके अगाध स्नेह की याद आने लगी। वह उसी क्षण भागलपुर के लिए रवाना हो गया।

उसकी अनुपस्थिति में मामा मणीन्द्रनाथ मे अन्तिम संस्कार किया था। श्राद्ध के अवसर पर भी उसी ने सहायता की। वह उसका सहपाठी था, परन्तु पुरातनपंथी गांगुली परिवार का सच्चा पुत्र भी था। उसे शरत् के जीवन से घृणा थी। फिर भी जिस व्यक्ति के श्राद्ध का प्रश्न था वह गांगुली परिवार का दामाद था। उसी के अनुरूप वह सम्पन्न होना चाहिए। इसीलिए उसने सहायता की।

मां पहले ही चली गई थी। पिता भी चले गए। बड़ी बहन दूसरे घर की थी। शेष रह गए थे, तीन छोटे-भाई बहन और वह स्वयं। उसे अपनी चिन्ता नहीं थी। चिन्ता थी इन अबोध बालकों की। छोटी बहन सुशीला को मकान-मालकिन बहुत प्यार करती थी। उसने उसे अपने पास रख लिया। छोटा भाई प्रभास 11-12 वर्ष का था। शरत् उसे आसनसोल ले गया। वहां उसका एक मित्र रेलवे में काम करता था। काम सीखने के लिए प्रभास को वह उसी के पास छोड़ आया।

अब रह गया प्रकाश, उसे किसके पास छोड़े। कोई भी उसका अपना नहीं था। बहुत सोचा और अन्त में छोटे नाना अघोरनाथ की शरण उसने ली। वह शरत् से बहुत नाराज़ थे। लेकिन शरत् को नानी पर भरोसा था। न जाने कितनी बार उन्होंने शरत् की प्राणरक्षा की थी। प्रकाश को लेकर वह जलपाईगुड़ी पहुंचा। उसने नाना के चरण पकड़ लिए। स्वाभाविक था कि वह पहले कुछ नाराज हुए, लेकिन एक तो मोतीलाल की मृत्यु हो चुकी थी, दूसरे पत्नी का भी आग्रह था, वह इनकार नहीं कर सके।

छोटी नानी के कारण शरत् की एक बार फिर रक्षा हुई। नाना ने कुछ उपेक्षा के साथ और नानी ने कुछ प्यार के साथ उससे कहा, "अब घर का दायित्व तुम पर है। तुम्हें कुछ करना चाहिए।"

शरत् ने उत्तर दिया, "वही करने जा रहा हूं।"

भाई-बहनों की ओर से निशिंचत होकर उसने बिहार को अन्तिम नमस्कार किया और जीविका की तलाश में कलकत्ता पहुंचा। नाते के कई मामा वहां पर रहते थे। उपेन्द्रनाथ से उसकी कुछ घनिष्टता भी थी। उसे भी साहित्य में अनुराग था। एक दूसरे मामा लालमोहन यहां वकालत करते थे। भागलपुर की कचहरी के मुकदमों की अपील कलकत्ता हाईकोर्ट में ही होती थी, लालमोहन वहीं काम करते थे। निश्चय हुआ कि इन्हीं के पास रहकर नौकरी की तलाश की जाए। एक वयस्क व्यक्ति के लिए खर्च-पत्ते के वास्ते अभिभावकों के आगे हाथ फैलाने में कुण्ठा होती है। इस कुण्ठा से मुक्तिपाने के लिए शरत् हिन्दी की अर्जियों का अंग्रेज़ी में अनुवाद करने लगा। उसके बदले में उसे खर्च के लिए कुछ पैसे मिल जाते थे।

किन्तु आइन-अदालत की भाषा से उसका कोई विशेष परिचय नहीं था, इसलिए इस काम में उसका मन अधिक दिन नहीं लग सक्ता था। इसके अतिरिक्त उसे घर की साग-सब्ज़ी भी लानी पड़ती थी। साधारण नौकरों जैसे और भी काम करने पड़ते थे। अपमान भी कम नहीं होता था। घर के अन्दर जाते समय भागलपुर की तरह यहां भी उसे खांसकर जाना होता था। एक बार वह मामा के ब्रुश से बाल ठीक कर रहा था कि अचानक वे वहां आ गये। उनके क्रोध की कोई सीमा नहीं थी। उन्होंने एक बार शरत् की ओर देखा और फिर उस ब्रुश को उठाकर बाहर फेंक दिया। मानो उन्होंने कहा, "जिस ब्रुश को तुम इस्तेमाल कर चुके हो वह मेरे योग्य नहीं रहा।"

इस घृणा और अपमान के कारण उसके दर्द की कोई सीमा नहीं थी। अक्सर सोचता था कि दूसरे के घर पर रहकर ऐसा अपमान पाने से तो सड़क, जंगल, रेगिस्तान कहीं भी रह जाना अच्छा है। उसकी बड़ी बहन कलकत्ते के पास गोविन्दपुर गांव में रहती थी। प्रयत्न किया कि उसके पास जाकर रह सके, गिरीन्द्रनाथ को लिखे एक पत्र से ऐसा लगता हे कि वह वहां जाकर रहा भी था। [2] परन्तु वहां भाइयों में झगड़े आरम्भ हो गये थे। इसलिए मुकर्जी महाशय इस स्थिति में नहीं थे कि उसके लिए कुछ कर पाते। उन्होंने पत्नी से कहा, "तुम तो जानती ही हो कि यह गांव है। शरत् का यहां रहना सम्भव नहीं हो सकेगा। गांव के लोग आलोचना करेंगे।"

"तो...?" अनिला भाई के प्रति करुणा से भर उठी, कुछ कह न सकी।

मुकर्जी महाशय ने कहा, "उसे कहो, कहीं और चला जाए। खर्चे का प्रबन्ध मैं कर दूंगा।"

उन्होंने कुछ सहायता की भी थी, परन्तु उसके लिए कलकत्ता में रहना असंभव हो गया। कहां जाए, यह सोचते-सोचते उसे अपने मौसा अघोरनाथ चट्टोपाध्याय की याद हो आई। वे रंगून में एडवोकेट थे। कई वर्ष पहले वे भागलपुर आये थे तो मोतीलाल से उन्होंने कहा था, "लड़के को कालेज में क्यों भेजते हो? मेरे साथ रंगून भेज दो। पढ़-लिखकर वकील बनने में देर नहीं लगेगी। भविष्य में काफी पैसा भी पैदा कर सकेगा।"

कई कारणों से तब उसका जाना नहीं हो सका था। परन्तु अब उसके सामने जीविका का प्रश्न था। कलकत्ता में बहुत-से लोगों ने बर्मा के बारे में उसे नाना प्रकार की कहानियां सुनाई थीं। बताया था कि अमुक व्यक्ति बर्मा में नौकरी करके बहुत धनवान हो गया है। वहां राह-घाट में रुपये बिखरे पड़े हैं। केवल समेटने-भर की देर है। जहाज़ से उतरते ही बंगालियों को साहब लोग कंधो पर उठा ले जाते है और नौकरी पर लगा देते हैं।

ये बातें सुन-सुनकर शरत् के भीतर का घुमक्कड़ उसे परेशान करने लगा। वह किसी तरह बर्मा पहुंचने के लिए लालायित हो उठा। इसी समय अचानक अघोरनाथ कलकत्ता आये और लालमोहन के पास ही ठहरे। शरत् को उन्होंने ऐसी-ऐसी रोमांटिक कहानियां सुनाई कि उसने निश्चय कर लिया—अब वह बर्मा ही जाएगा।

ऐसी अनिश्चित और विपरीत, परिस्थितियों में भी उसकी साहित्य-साधना मौन रूप से चल रही थी। 'चरित्रहीन' का सृजन आरम्भ हो चुका था। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था, पर शायद उस बारे में कोई कुछ नहीं जानता था। सौरीन्द्र मोहन भी नहीं। भागलपुर का उसका यह पुराना मित्र यहीं रहता था। वह उससे बहुत प्रभावित था। प्रतिदिन संध्या के समय वह शरत के पास आता और फिर दोनों मित्र घूमने के लिए निकल पड़ते। अक्सर वे साहित्य चर्चा करते।

एक दिन सौरीन ने कहा, "शरत्! स्टार थियेटर में क्षीरोदप्रसाद का नाटक 'सावित्री' चल रहा है! तुम उसे अवश्य देखो।"

शरत् उसे देखने गया, लेकिन लौटकर उसने सौरीन्द्र को आड़े हाथों लिया, बोला, "बाप रे बाप, तुम्हें यह नाटक कैसे अच्छा लगा? सत्यवान के मरने तक तो बहुत बुरा नहीं था। अमृत मित्र ने माण्डव्य का अभिनय भी अच्छा ही किया, लेकिन सत्यवान को जो रूप था, उसे देखकर लगता था कि वह सावित्री का छोटा भाई है। उसके मरने पर सावित्री ने मृत देह को गोद में लेकर गाना गाया। उस अवस्था में क्या कोई मनुष्य गाना गा सकता है?"

सौरीन्द्र ने उत्तर दिया, "उसको तुम ठीक स्वर-लय वाला गाना क्यों मानते हो? उस अवस्था में मनुष्य चिल्लाकर रोता है, 'अजी तुम कहां चले गये? मेरा क्या होगा?' इत्यादि-इत्यादि। शोक के उसी आवेग को नाटककार गान के छन्द के स्वर में प्रकट करता है।

शरत् ने कहा, "ऐसा होने पर भी क्या दो-दो गाने होंगे? एक ही बहुत था। मुझे यह सब बहुत बुरा लगा। गाने से तो करुण रस का श्राद्ध ही हो जाता है। ट्रेज़ेडी भी उत्पन्न नहीं हो सकती।"

मुजफ्फरपुर का उसका मित्र प्रमथनाथ भट्ट भी यहीं पाथुरेघाटा में राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर के निजी सचिव के रूप में काम करता था। अक्सर उसके पास जाकर वह अपनी कृतियों पर चर्चा करता। इसके अतिरिक्त सुरेन्द्र और गिरीन्द्र भी अब कलकत्ता में ही पढ़ रहे थे। वे भी उससे मिलने आया करते थे। दिन सहसा गिरीन्द्र ने कहा, "शरत्, तुम 'कुन्तलीन पुरस्कार' के लिए गल्प क्यों नहीं लिखते? पच्चीस रुपये मिलते हैं।"

शरत् ने पूछा, "यह 'कुन्तलीन पुरस्कार' क्या है?"

गिरीन्द्र बोला, "स्वदेशी का युग है। सभी देशप्रेमी स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देना चाहते हैं और उन्हें देना चाहिए। 'कुन्तलीन' एक सुगन्धित स्वदेशी तेल है। बहू बाज़ार के एच० बसु उसके निर्माता हैं। इसके प्रचार के लिए ही यह प्रतियोगिता चलाई गई है। नामी लेखक इसका निर्णय करते हैं। ये कहानियां पुस्तक रूप में भी छपती हैं।"

शरत् ने कहा, "स्वदेशी की बात तो ठीक है, लेकिन कहानी लिखना, और फिर पुरस्कार के लिए, मेरे लिए बिलकुल सम्भव नहीं है। इतने बड़े-बड़े लेखकों के सामने मुझे कौन पूछेगा?"

गिरीन्द्र बोला, "तुम नही जानते। तुम बहुत अच्छी कहानियां लिखते हो। जरूर लिखो। तुम्हें पुरस्कार मिलेगा।"

लेकिन जैसा कि उसका स्वभाव था, वह तुरन्त ही इस बात को स्वीकार नहीं कर सका। मामा लोग आग्रह करते रहे और वह टालता रहा। आखिर अन्तिम दिन आ पहुंचा। गिरीन्द्र ने फिर कहा, "तुम कहानी क्यों नहीं लिखते? पुरस्कार नहीं मिलेगा तो क्या होगा? कहानी लिखो।"

अन्त में वह लिखने के लिए तैयार हे गया। उस दिन उसने जो कहानी लिखी उसका नाम था 'मन्दिर'। उसे समाप्त करते न करते संध्या घिर आई, वह इसलिए गिरीन्द्र को लेकर तुरन्त 'कुन्तलीन' के कार्यालय में पहुंचा। व्यवस्थापक बसु महोदय ने कहा, "अन्तिम दिन के अन्तिम क्षण कहानी लेकर आये हो!"

शरत् बोला, "यदि समय नहीं है तो मैं कहानी लेने के लिए आग्रह नहीं करूंगा।"

बसु मुस्कराये। बोले, "नही, नहीं, अन्तिम क्षण तो है ही। लाओ, मैं कहानी ले लूंगा।"

कहानी देकर शरत् ने स्वस्ति की सांस ली। लेकिन उस कहानी पर लेखक के रूप में उसने अपना नाम नहीं दिया था। उसे विश्वास नहीं था कि वह पुरस्कार पा सकेगा। न पाने पर जो लज्जा और व्यथा होती उसी से बचने के लिए वह कहानी उसने अपने मामा सुरेन्द्रनाथ के नाम से भेजी। उससे कहा, "मैंने यह कहानी तुम्हारे नाम से दी है। यदि भाग्य से पारितोषिक मिल जाए तो मोहित सेन द्वारा प्रकाशित रवीन्द्रनाथ की काव्य-ग्रन्थावली मुझे भेज देना।"

शायद यह उसके नाम का प्रभाव था कि जब प्रतियोगिता का फल प्रकाशित हुआ तो प्रथम पुरस्कार बंगाली टोला, भागलपुर के श्री सुरेन्द्रनाथ गांगोपाध्याय को मिला। मित्रों ने उसे हार्दिक बधाई दी, लेकिन उसका मन ग्लानि से भर उठा। वह जानता था कि वह इस यश और बधाई का अधिकारी नहीं हैं। लेकिन जो सचमुच अधिकारी था, वह शरत् तो तब तक कलकत्ता छोड़ चुका था। डेढ़ सौ गल्पों मे प्रथम स्थान प्राप्त करना कम सौभाग्य की बात नहीं थी, लेकिन उदासीन शरत् तो अपने को छिपाने में ही आनन्द पाता था।

रंगून जाने की बात भी उसने किसी से नहीं कही। उसे डर था कि उसके मित्र उसे जाने नहीं देंगे, लेकिन उसके सामने पूरा जीवन पड़ा था! उसके भाई-बहन थे। उनका भार अब वह किस पर छोड़ सकता था। उसे किसी तरह जीविका अर्जन करनी ही चाहिए। केवल अपने एक मामा देवी को ही उसने अपने इस निश्चय की सूचना दी थी। उसके पास पैसे भी तो नहीं थे। किसी तरह उसने किसी से भाड़े के रुपये उधार लिये और एक दिन सवेरे चार बजे भवानीपुर के घर से स्टीमर घाट की ओर चल पड़ा। बस अकेला देवी ही उसके साथ था। भाड़ा चुकाकर उसकी जेब में एक-दो रुपये शेष रह गये। वह नहीं जानता था कि अब वह फिर भारत लौट भी सकेगा या नहीं।

इस पलायन के साथ-साथ उसके जीवन रूपी नाटक का एक अंक जैसे समाप्त हो गया। उसकी आयु छब्बीस वर्ष की हो चुकी थी। यौवन का सूय मध्याकाश में था, लेकिन जैसे ठण्डे और घने कुहरे ने उसे आच्छादित कर दिया था 'श्रीकान्त' की तरह दूसरे की इच्छा से दूसरे के घर में वर्ष के बाद वर्ष रहकर वह अपने शरीर को कैशौर्य से यौवन की ओर धकेलता रहा था, लेकिन मन को न जाने किस रसातल की ओर खदेड़ता रहा। उसका वह मन कभी लौटकर नहीं आया।

और इस प्रकार वह उच्छृंखल, आवारा, अर्द्धशिक्षित और धनहीन व्यक्ति किसी बंधुहीन-लक्ष्यहीन प्रवास के लिए निकल पड़ा।

मां की मत्यु के बाद उससे कोई यह पूछने वाला भी नहीं था कि तुमने खाया भी है या नहीं। कोई उसकी राह देखता हुआ प्रतीक्षा नहीं करता था। किसी को यह जानने की इच्छा नहीं थी कि उसके पास पहनने को है या नहीं। अपनी इच्छा से वह अभिनय, गाने-बजाने, नाना खेलों, ताम्रकूट आदि के सेवन और सेवा में रस लेता था। यह सभी कार्य नाना के परिवार में न करने योग्य थे। इसलिए अपमान की मात्रा भी बड़ी थी। वह इस अपमान को न पहचानता हो, यह बात नहीं थी। परन्तु वह यह भी जानता था कि धर्मशास्त्र में जिस आचार-संहिता की चर्चा है, वह सब युगों के लिए नहीं होती। जैसे युग पलटते हैं, वैसे ही संहिताएं भी पलटती हैं। इसलिए वह अपमान उसकी शक्ति बन गया था। इसीलिए उसके दिशाहारा मन के भीतर जो सौंदर्य और साहित्य-सृष्टि के बीज अंकुरित हो चुके थे उनके विकास में यह जीवन सहायक हुआ। उसने दुख को केवल भोक्ता होकर सहा ही नहीं था, दृष्टा होकर देखा भी था।

दासता का अन्त करने वाले राष्ट्रपति लिंकन से उसकी तुलना बहुत संगत नहीं है, परन्तु अपने प्रारम्भिक जीवन में वे दोनों आश्चर्यजनक रूप से कुछ प्रवृत्तियों में समान थे। शारीरिक शक्ति-प्रदर्शन, विनोदप्रियता, अध्ययन, कहानी कहने की कला और प्रेम की व्यथा का दोनों को खूब अनुभव था। लार्ड चार्लवुड ने लिखा है, "उसने अराजक विचारधाराओं वाले कुछ लेखकों का अध्ययन किया जिनमें टामसपेन, वाल्तेयर और बोलने प्रमुख थे.....मुर्गे लड़ाना, शारीरिक शक्ति-प्रदर्शन, कुन्हाड़ी हथौड़ा या आरे के उपयोगी कौशल या नकल करने की मज़ाकिया प्रवृत्ति इन दिनों बदस्तूर जारी रही।.....उसमें एकान्तप्रियता या अपने में खो जाने की प्रवृत्ति पनप उठी।.....(प्रियतमा की मृत्यु) का लिंकन पर गहरा और चिरस्थायी प्रभाव पड़ा।

शरत् की प्रियतमा की मृत्यु तो नहीं हुई थी पर बिछोह सम्पूर्ण था। उस बिछोह का उसके जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा। उसने कहीं लिखा है, "सच्चा प्रेम मिलाता ही नहीं दूर भी करता है।"

क्या वह इसीलिए तो दूर नहीं जा रहा था?

1. शरत्-परिचय—सुरेन्द्रनाथ
2. 24 दिसम्बर, 1902 ई०

द्वितीय पर्व

... दिशा की खोज ...

श्रीकान्त की तरह जिस समय एक लोहे का छोटा-सा ट्रंक और एक पतला-सा बिस्तर लेकर शरत् जहाज़ पर पहुंचा तो पाया कि चारों ओर मनुष्य ही मनुष्य बिखरे पड़े हैं। बड़ी-बड़ी गठरियां लिए स्त्री-बच्चों के हाथ पकड़े वे सारी रात इसीलिए जेटी पर पड़े रहे थे कि सुबह जहाज़ पर अच्छी-सी जगह पा सकेंगे। वे भारत के कोने-कोने से आये थे और धीरे-धीरे कतार बांधकर खड़े हो रहे थे। मालूम हुआ कि डाक्टरी परीक्षा होने वाली है। कैसी थी वह परीक्षा? डाक्टर सन्देहमूलक स्थान में हाथ डालकर सोजिश टटोलते थे। उस समय उनका रूप देखते ही बनता था। उन्हें इस बात की बहुत चिन्ता थी कि कहीं कोई प्लेग का यात्री तो नहीं जा रहा है। यह रोग बम्बई से ही बर्मा पहुंचा था

इस परीक्षा में पास होने पर जहाज़ पर चढ़ने की बारी आई वह चढ़ना भी उस दातों वाली चक्करों की मशीन जैसा था जो निरन्तर आगे-पीछे होती रहती है। ऊपर जाकर फिर नीचे जहाज़ के गर्भगृह में उतरना था। वहीं पहुंचकर सब लोग अपने-अपने कम्बल बिछाकर स्थान पर कब्ज़ा कर रहे थे, लेकिन शरत् को वहां जगह न मिल सकी। ऊपर जाकर ही किसी तरह सांस ले सका। आखिर बैठने का स्थान मिला और फिर जो कुछ देखा उसे 'भारत दर्शन' ही कह सकते हैं।

यह कोई कुछ घंटों की ही बात नहीं थी। पूरे चार दिन तक उसे मनुष्यों के वास्तविक जीवन से परिचय प्राप्त करने का सुयोग मिला। अधिकांश ऐसे थे जो बराबर आते- जाते रहते थे। कुछ ऐसे भी थे जो रोज़ी की तलाश में बर्मा जा रहे थे। कुछ प्रेमी भी थे। वे हिन्दुस्तानी समाज से बचने के लिए छिपकर भाग रहे थे, लेकिन इन सबसे भी अधिक था साइक्लोन का अनुभव। वह कैसा होता है इसकी कल्पना भी उसने नहीं की थी। प्रारम्भ में थोड़ी-थोड़ी वृष्टि होती रही, फिर हवा और वृष्टि दोनों का ज़ोर बढ़ गया। वह वृष्टि, हवा, अंधकार और जहाज़ का झूलना और समुद्र की लहरों का आकार, ये सब देखकर वह व्याकुल हो ही रहा था कि सहसा एक ऐसा विकट शब्द कानों में आ पड़ा जैसे हज़ारों राक्षसिनियां एक साथ मृत्यु की यंत्रणा से चीखती हुई और धरती को अपने पैरों के बोझ से कुचलती हुई, इधर-उधर दौड़ रही हैं। वे तूफानी हवायें थीं। उनसे बचना अमम्भव जैसा था। उनके सहारे समुद्र की तरंगें विराट रूप धारण करके जहाज़ को ग्रसने के लिए दौड़ती थीं और इस समुद्र-जल के टकराने से एक तरह की ज्वाला-सी चमक उठती थी। अंधकार के कारण समुद्र की जलराशि दिखाई नहीं देती थी, लेकिन यह ज्वाला उसकी भयानकता को उजागर कर देती थी।

सहसा सब लोग एक साथ गला फाड़-फाड़कर चीखने लगे। एक महातरंग जहाज़ को निगलने आ पहुंची थी और चारों ओर पानी ही पानी हो गया था। लगा जैसे सब डूब

गये हैं, लेकिन कुछ क्षण बाद जब लहरों का आक्रमण समाप्त हुआ तो पाया कि वहां का दृश्य महानाश के दृश्य के समान है। सब लोग सिर छुपाने के लिए इधर-उधर भाग रहे हैं। मनुष्य ही नहीं उनमें पशु-पक्षी भी है और वे इस प्रकार गडुमगडु हो रहे हैं जैसे नाना प्रकार के चबेने मिला दिये हों। सारी रात मनुष्य एक-दूसरे को इस तरह पीसते रहे जैसे कोई सिल पर लोढ़े से मसाला पीसता है। बहुत-से लोगों से वमन भी हो गई थी और जिसके कारण चारों ओर बदबू फैल गई थी। डाक्टर, मेहतर और खलासियों को लेकर सफाई में लगा था।

इसी तरह इस नये जीवन से परिचय प्राप्त करता हुआ शरत् रंगून पहुंच गया। बंदरगाह जैसे-जैसे पास आ रहा था वैसे-वैसे 'करेंटीन' की चर्चा बढ़ रही थी। वहां पहुंचते ही खलासी डेक आकर चिल्लाने लगे, "रंगम शहर, रंगम शहर, सब तैयार हो जाओ। 'करेंटीन' में जाना होगा। वहां बिन जाए कोई भी शहर में दाखिल नहीं हो सकता।"

बर्मा की सरकार प्लेग के डर के कारण बहुत सावधान रहती थी। शहर से आठ मील दूर रेत में कांटेदार तार से थोडा-सा स्थान घेरकर बहुत-सी झोपड़ियां खड़ी कर दी गई थीं। डेक के सारे यात्रियों को नगर में जाने से पहले आठ या दस दिन तक यहीं रहना होता था। हां, यदि किसी का कोई परिचित शहर में होता तो वह किसी कौशल से अपने यात्री को छुटकारा दिला सकता था। शरत् ने किसी को सूचना नहीं दी थी। वह ऊंचे दर्जे का यात्री भी नहीं था। उसे वहां जाना ही पड़ा। जो अनुभव में रस लेना जानता था। वे दिन कैसे बीते इसकी कल्पना ही की जा सकती है। कम से कम वहां 'साइक्लोन' नहीं आया और न डेक पर भेड़-बकरियों की तरह जीवन बिताना पड़ा। लेकिन फिर भी वह घर नहीं था। जिस दिन 'क्वरेंटीन' की मियाद खत्म हुई, उस दिन या एक दिन दा ठाकर के होटल में बिताकर पूछते-पूछते शरत् अपने रिश्ते के मौसा अघोरनाथ चटर्जी के घर [1] पहुंचा तो उसका रूप देखते ही बनता था, जैसे कोई भिखारी हो। बिखरे बाल, मैले कपड़े, शरीर पर एक फटी कमीज़, पैर में एक जोड़ा चट्टी, कंधे पर गमछा। इतने दिन तक हाथ से पकाकर खाना पड़ा था। इससे अवस्था और भी दयनीय हो रही थी। जैसे ही घर में प्रवेश करके उसने अघोरनाथ को देखा तो वह ज़ोर से रो पड़ा। रोते-रोते ही उसने मौसा को प्रणाम किया। मौसा चकित रह गये। बोले, "क्यों रे शरत्, तू कहां से आ गया?"

शरत् ने कहा, "मुझको क्वरेंटीन में रोक रखा था।"

मौसा अवाक् होकर बोले, "तूने मेरा नाम क्यों नहीं लिया? मेरा नाम लेकर न जाने कितने लोग पार हो जाते हैं। तू क्वरेंटीन में पड़ा रहा। तू तो मूर्ख है।"

अघोरनाथ रंगून के ख्यातनामा एडवोकेट ही नहीं थे, बड़े आदमी भी थे। देहयष्टि जैसी दर्शनीय थी मन भी वैसा ही मुक्त था। घर में प्रति शनिवार को खूब खाना-पीना और

गाना-बजाना चलता था। सभी जातियों और धर्मों के लोग उसमें भाग लेते थे। उनकी पत्नी वहां के रीति-रिवाजों के अनुसार हाट-बाजार करती थी। जाकेट, शमीज और जूता-मोजा पहनती थी। इसी परिवार में शरत् अनाथ की तरह पहुंचा। लेकिन मौसा-मौसी ने सहज प्यार और आत्मीयता से उनका स्वागत किया। वहां न तो भागलपुर की अवहेलना-उपेक्षा थी, न था भवानीपुर का अपमान-आदेश। मौसा बोले, "तुझे सबसे पहले बर्मी भाषा पढकर कानून का अध्ययन करना है। फिर तू मेरी तरह वकील बनेगा। इसी बीच तेरे लिए नौकरी का प्रबन्ध भी कर दूंगा।"

तीन महीने भी न बीतने पाये थे कि शरत् बर्मा रेलवे के आडिट आफिस में काम करने लगा। घर पर वह मौसेरी बहन को संगीत की शिक्षा भी देता था।

ऐसा लगा जैसे दुख के दिन बीत गए, लेकिन वह मात्र एक छल था। वह नौकरी डेढ़ वर्ष भी नहीं चल सकी और बर्मा भाषा की परीक्षा में भी सफलता नहीं मिली। तब वकील कैसे बन सकता था। जो स्वप्न उसने देखा था वह बस स्वप्न बनकर ही रह गया। हां, अपने जन्मजात गुणों के कारण यहां के मध्यमवर्गीय बंगाली समाज में वह अब तक काफी प्रसिद्ध हो चुका था। उसका गाना सुनने के लिए अनेक भद्र लोग अघोरनाथ के घर आते थे। जिन लोगों से उसका विशेष परिचय हुआ। उनमें एक थे विश्वपर्यटक गिरिन्द्रनाथ सरकार। उनके साथ शरत् का गाना-बजाना, कथा-वार्ता सभी कुछ चलता था। पीना-पिलाना भी पीछे नहीं छूटा था।

अचानक एक दिन घर लौटकर पाया कि मौसा को निमोनिया हो गया है। बेटी के विवाह के संबंध में व्यवस्था करने के लिए मौसी तब कलकत्ता गई हुई थी। उस समय उसने रात-रात भर जागकर अपने मौसा की सेवा की, परन्तु वह व्यर्थ हो गई। वे बच नहीं सके।

एक बार फिर निराश्रित होकर वह पथ-घाट में घूमने लगा।

पथ-घाट में घूमने की इस बात को लेकर उसके प्रत्येक कार्य की तरह नाना प्रकार के प्रवाद प्रचलित हो गये थे। लेकिन वह यह बात अच्छी तरह जानता था कि अब उसका वहां रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि कोई न कोई मामा आयेगा और उसे फिर अपमान और उपेक्षा का जीवन जीना होगा। इसालिए उनके आने से पूर्व ही वह वहां से चला गया।

मौसी के साथ आये मामा मणीन्द्रनाथ। सुना कि शरत् पीड़ित होकर किसी अस्पताल में है। उसे कोई ऐसा रोग हो गया है कि वह सबसे मिल भी नहीं सकता। मणि मामा उसके स्वच्छन्द आचरण के कारण उससे बराबर दूर हटते जा रहे थे। इसलिए उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि रोग क्या है? उन्होंने उससे मिलने की चेष्टा नहीं की।

सुना है, कुछ दिन बाद मामा लालमोहन भी वहां गये थे। वे तो शरत् को देख भी नहीं सकते थे। बहन को सिखा-पढ़ाकर उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि शरत् फिर किसी भी तरह उस घर में प्रवेश न पा सका। [3]

कारण कुछ भी रहा हो, शरत् ने मौसा का घर सदा के लिए छोड़ दिया।

---

1. जनवरी, 1903 ई०
2. शरत् के बर्मा-प्रवास पर इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी जो अब अप्राप्य है। उसमे वर्णित बहुत-सी घटनाएं अविश्वसनीय हैं।
3. लेखक अघोरनाथ जी के पुत्र से मिला था।

2

वहां से हटकर वह कई व्यक्तियों के पास रहा। कई स्थानों पर घूमा। कई प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। जैसे एक बार फिर वह दिशाहारा हो उठा हो। आज रंगून में दिखाई देता तो कल पेगू या उत्तरी बर्मा भाग जाता। पौंगी (बौद्ध साधु) बनकर घूमना उसके लिए उतना ही सहज था, जितना बांसुरी बजा लेना। लेकिन प्रश्न अब केवल उसी का नहीं था। देश में छोटे भाई-बहन को निराश्रित छोड़ आया था। इसलिए पांच-छ: महीने के उच्छृंखल जीवन के बाद उसने एग्ज़ामिनर, पब्लिक वर्क्स एकाउंट्स [1] के दफ्तर में तीस रुपये मासिक पर एक अस्थायी नौकरी कर ली।

पब्लिक वर्क्स एकाउंट्स, बर्मा के डिप्टी एग्ज़ामिनर श्री मणीन्द्रकुमार मित्र एकज़ीक्यूटिव इंजीनियर के कार्यालय में हिसाब की जांच करने पेगू आये थे। उस समय शरत् उनके रिश्ते के एक भाई के पास यहीं रहता था। उसके मधुर कण्ठ के कारण वे उसे बहुत प्यार करते थे। एक दिन उन्होंने मित्र महोदय के सम्मान में सांध्य भोज का प्रबन्ध किया। उसमें अनेक मित्र आमंत्रित होकर आये। शरत् तो था ही। उसका गाना सुनने को सभी आतुर रहते थे। पुकार हुई, "शरत् दा, वही 'ओहे जीवन बल्लभ, साधन दुर्लभ हे' गीत सुनाओ।"

वह बार-बार मना करता रहा, परन्तु बिना सुनाये मुक्ति कैसे मिल सकती थी! सभ्य समाज से जोड़ने वाला यही एक गुण तो उसके पास था। इसलिए एक ही नहीं, कई और गीत भी सुनाने पड़े। जितनी देर गाता रहा मित्र महाशय मंत्रमुग्ध सुनते रहे। वे अत्यन्त सरल प्राण सहृदय व्यक्ति थे। गद्‌गद् होकर बोले, "शरत् दा, निश्चय ही आपके स्वर में माधुर्य है।"

शरत् मुस्कराकर रह गया, परन्तु इसी सूत्र को लेकर वे दोनों शीघ्र ही दोस्ती के अटूट बन्धन में बंध गये। उन्हीं की कृपा से उसे यह नौकरी मिल सकी थी। उसका कार्यकाल समाप्त होने पर वह रंगून आकर उन्हीं के पास रहने लगा। लेकिन एक महीने के बाद ही वह फिर पेगू चला गया। वहां उसे एक्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर, पेगू डिवीज़न के कार्यालय में काम मिल गया था। [2] उसने चतुर्थ श्रेणी के पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट एकाउंटेंटशिप की परीक्षा भी दी, पर सफल न हो सका।

एक के बाद एक कई नौकरियां उसे मिलीं, लेकिन वे सब अस्थायी थीं। बीच-बीच में बेकार रहना पडता था। इस बेकारी का अर्थ था बांसुरी बजाना, शतरंज खेलना, शिकार करना या फिर गेरुवे वस्त्रों की शरण लेना। पौंगी बनकर वह अपनी चिर-परिचित दिशाहीन यात्रा पर निकल पड़ता। थक जाता तो फिर रंगुन लौट आता। बर्मा में हर व्यक्ति को जीवन

में एक बार पौंगी बनना ही होता है। उसकी अवधि सात दिन से लेकर जीवनपर्यन्त हो सकती है। उस वेश में उन्हें खूब सम्मान मिलता है और वे बहुत कुछ करने को स्वतन्त्र होते हैं। चुरुट-सिनेमा कुछ भी वर्जित नहीं होता। इसलिए शरत् को यह वेश धारण करने में कोई असुविध नहीं होती थी। वैसे भी लम्बे-लम्बे बालों और दाढ़ी से उस विशेष प्रेम था। बाउलों का वेश था न, सोचता होगा बाउलों के वेश में एकतारा लिए गाता रहूं, घूमता रहूं।

आखिर मित्र महोदय की कृपा से उसे एग्जामिनर, [3] पब्लिक वर्क्स एकाउंट्स रंगून के दफ्तर में 'अस्थायी' क्लर्क की 'स्थायी' नौकरी मिल गई। वेतन था पचास रुपये मासिक, जो तीन माह बाद ही सन्तोषजनक कार्य के कारण पैंसठ रुपये हो गया। लगा, जैसे उसका अनिश्चित, और एक दृष्टि से, बोहेमियन जीवन समाप्त हो गया है। दस वर्ष बाद जब उसने त्यागपत्र दिया, तो उसका वेतन नब्बे रुपये तक पहुंच गया था और उसका यह विभाग एकाउंटेण्ट-जनरल के कार्यालय में मिल गया था।

अभी भी वह मणीन्द्र मित्र के पास रहता था। दोनों संगीत और दर्शन की चर्चा करते अघाते नहीं थे। इसके अतिरिक्त वह मित्र महाशय के बच्चों को संगीत की शिक्षा भी देता था।

रंगून में बंगालियों का अपना एक क्लब था, 'बंगाल सोशल क्लब'। प्रतिदिन संध्या को लोग यहां इकट्ठे होकर संगीत, नाटक और अध्ययन में भाग लेते थे। उसके सदस्यों में अधिकतर सरकारी कर्मचारी थे। इसलिए शरत् भी उस क्लब में आने लगा और शीघ्र ही वहां का प्रमुख गायक हो गया। उसके मधुर कण्ठ से रवीन्द्रनाथ के गीत सुनकर भावुक श्रोता रस-विभोर हो उठते। नीलकण्ठ, निधु बाबू, दाशरथीराय आदि प्राचीन कवियों के गीतों के अतिरिक्त वैष्णव पदावली तथा दूसरे दोहे और भजन भी यह खूब गा लेता था। बाउल गान और कीर्तन की विशेषता उसके कण्ठ का परस पाकर और भी दीप्त हो उठती। उस दिन जब उसने ज्ञानदास का यह पद गाया :

तोमारि गर्बे गरबिनी राई, रूपसी तोमारि रूपे।

तो लगा जैस उसका रुग्ण-शीर्ण कण्ठ संगीत के भार से फट जाएगा। प्राणों की वह वेदना कैसी अद्भुत थी। कैसा था वह मार्मिक क्रन्दन जो संगीत के भीतर से होकर सभी के मर्म में प्रवेश कर गया था! उस क्षण उसने न जाने कितने भक्त पाए।

और उसी दिन क्यों, शरत् जितना भागता था दफ्तर के संगी-साथी उतना ही उसको पकड़ते थे। मेम में किसी के पास हारमोनियम था। न जाने कब से उस पर धूल चढ़ रही थी, उसी को झाड़-पोंछ कर एक दिन मित्रों ने शरत् को थमा दिया। बोले, "शरत् दा! आज तो गाना ही होगा।"

और उसे गाना पड़ा।

श्रीमुख पंकज देखबो बॅले हे, ताई एशे छिलाम एक गोकुले।

आमाय स्थान दिये राई चरण तले।

उन लोगों ने यह गाना एक सुगायक के मुख से भी सुना था। संगीत विद्या के व्याकरण की दृष्टि से उसका गाना शरत् से श्रेष्ठ था, परन्तु जहां तक प्राण का सम्बन्ध है, वह निश्चय ही शरत् के कण्ठ में अधिक था। इसीलिए तो उस दिन यह गीत सुनकर वे लोग हंस पडे थे, लेकिन आज आंखों से अविरल अश्रु बहा रहें थे।

बहुत वर्षों बाद 'शेष प्रश्न' के स्त्रष्टा ने शिवनाथ का परिचय देते हुए लिखा—"इसके अतिरिक्त वह शराबी भी है, शराबी होने के कारण वह आवारा कालेज की प्रोफेसरी से भी निकाला गया है और कभी-कभी शायद वेश्यागमन भी करता है। हां, वह गवैया बहुत ऊंच दर्जे का है, इसीलिए इन तमाम कारणों के बावजूद वह मजलिसों में आदर के साथ बुलाया जाता है।"

क्या यह उसका अपना ही चरित्र नहीं है? सुगायक के रुप मे उसकी ख्याति शिवनाथ से कम नहीं थी । इसी मधुर कण्ठ के कारण उसने मजलिस में आदर पाया और पाये अनेक मित्र। इसी समय के आस-पास 'प्लासी युद्ध' के सुप्रसिश्द लेखक और कवि भी नवीनचन्द सेन रंगून आए। 'बंगाल सोशल कल्ब' ने एक दिन उनके सम्मान में एक विशाल सभा का आयोजन किया। इस अवसर पर मणीन्द्रनाथ ने शरत से आग्रह किया, "शरत् दा, इस सभा में अभ्यर्थना-गीत आपको ही गाना होगा।"

उसने गाया, लेकिन परदे के पीछे बैठकर। मित्रों की गोष्ठी में निःसंकोच वह गा सकता था लेकिन विशाल जनसमूह के सामने गाना या भाषण देना उसके लिए असंभव था। अपने को छिपाने की प्रवृत्ति उसमें भयानक रूप से बढ चुकी थी। वह दम्भ नहीं था, थी आत्मविश्वास की कमी, इसलिए पलायन में ही उसे सुख मिलता था। लेकिन परदे के पीछे बैठने से कण्ठ का माधुर्य तो नष्ट नहीं होता, इसलिए उस दिन उसका गाना सुनकर सभा ही स्तब्ध नहीं हुई, स्वयं सेन महाशय भी विभोर हो उठे।

रवीन्द्रनाथ का एक गीत भी उसने गाया। समाप्त होने पर सेन महाशय ने कहा, "मैं इस व्यक्ति से मिलना चाहता हूं।"

लेकिन वह तो तब तक वहां से पलायन कर चूका था। कविवर ने कहा, "इतने मधुर कण्ठ से बंगला संगीत बहुत कम सुना है। आप उसे ढूंढ़कर लाइए।"

बार-बार अनुरोध करने पर भी शरत् उनसे मिलने के लिए तैयार नहीं हुआ और जब किसी तरह द्दुआ भी तो एक अद्‌भुत दृश्य उपस्थित कर दिया। सेन महाशय जहां ठहरे हुए थे, वहां पहुंचकर वह सीढी पर चढने लगा। अंतिम पैड़ी पर पैर रखते ही उसने देखा कि सामने ड्राइंग रूम है और कविवर सेन रंगून हाईकोर्ट के जज श्री यतीन्द्रनाथ सरकार से बातें कर रहे हैं। सहसा वह पीछे मुड़ा और तेजी के साथ नीचे उतरता चला गया। आवाज होने पर सब लोग बाहर आए। चकित-विस्मित सेन महाशय ने देखा कि ऊपर सीढ़ी पर एक जूता पड़ा हुआ है और शरत् नंगे पैर भागा जा रहा है।

लेकिन एक दिन शरत् को उनके घर आना ही पड़ा। वे बोले, "आपका गाना सुनने की आशा से मैं प्यासे चातक के समान लालायित हूं।"

शरत् ने उत्तर दिया, "मैं गाना सुनाने नहीं आया हूं। आपके पुत्र निर्मलचन्द्र सुगायक हैं। उनका गाना सुनने आया हूं।"

कविवर बोले, "शरच्चन्द्र के साथ निर्मलचन्द्र की तुलना नहीं है।"

उस समय रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष, स्वामी रामकृष्णानन्द वहीं उपस्थित थे। उन्होंने कहा, "आज यहां निर्मलचन्द्र, शरच्चन्द्र और नवीनचन्द्र सभी उपस्थित हैं। पर मैं शरत्-सुधा-पान करना चाहता हूं।"

लेकिन शरत् निर्मलचन्द्र से पहले गाने के लिए किसी भी तरह सहमत नहीं हुआ। पहले निर्मलचन्द्र ने गाया और फिर शरत् ने:

आमार रिक्त शून्य जीवने सखा बाकी किछु नाईं।

ओ दाओ बाचीवार मत तार बेशी नाईं चाई।।

कविवर निर्मलचन्द्र जैसे विभोर हो उठे। बोले, "आपके गाने के भाव उद्दीपन से वही चिर सुन्दर मन में उतर आया है। नहीं जानता था कि रंगून में ऐसा रत्न छिपा है। मैं आज आपको 'रंगून रत्न' की उपाधि देता हूं।"

लेकिन क्या वह इस उपाधि की रक्षा कर सका? उपेक्षा और अभिमान से एक दिन उसने कण्ठ के माधुर्य को खो दिया। धीरे- धीरे संगीत से अरुचि होने लगी। दूसरा गीत गाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। पहला गीत गाते-गाते ही वह उठकर भाग जाता। मित्र कहते रह जाते, "शरत् दा! यह क्या किया? घाट पर लाकर नाव दुबो दी। दूसरा गीत नहीं गाते तो न गाओ, इसे तो पूरा कर दो।"

लेकिन उसने कभी किसी के अनुरोध की चिन्ता नहीं की और एक दिन इस अस्थिर-चंचल स्वभाव ने संगीत के रस को सोख लिया। लोग भूल गये कि शरत् गाना भी जानता है। उसका स्वास्थ्य बहुत खराब था। गाते-गाते वह थक जाता था। इसके अतिरिक्त एकांत में अध्ययन करने का उसका शौक निरन्तर बढ़ता जा रहा था। एक दिन वही शौक सब कुछ को परे धकेलकर सर्वोपरि हो उठा। तब कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इस पलायन के पीछे उसके लेखक बनने की मौन साधना ही छिपी हुई है।

---

1. जुलाई, 1905 ई०

2. अगस्त, 1905 ई०

3. अप्रैल, 1906 ई०

3

वह अपने को निरीश्वरवादी कहकर प्रचारित करता था, लेकिन सारे व्यसनों और दुर्गुणों के बावजूद उसका मन वैरागी का मन था। वह बहुत पढ़ता था। समाज विज्ञान, यौन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, दर्शन, कुछ भी तो नहीं छूटा था। मणीन्द्रकुमार मित्र के साथ पाश्चात्य दार्शनिकों को लेकर उसकी खूब चर्चा चलती थी। इसी दर्शन-प्रेम के कारण वह स्थानीय रामकृष्ण मिशन के स्वामी रामकृष्णानन्द के सम्पर्क में आया। प्रारम्भ में वह वहां मिस्त्री पल्ली के निवासियों के साथ कीर्तन में भाग लेने के लिए जाया करता था। बाद में वह कभी-कभी उनके साथ ईश्वर-संबंधी चर्चा भी करने लगा। उस दिन उसने स्वामीजी से पूछा, "अच्छा, स्वामीजी आप ईश्वर को क्यों नहीं देख पाते?"

स्वामीजी बोले, "ठाकुर ने कहा है, समुद्र में रत्न हैं, यत्न करने की आवश्यकता है। संसार में ईश्वर है, साधना करनी चाहिए। काई से ढके तालाब के सामने खड़े होकर यदि जल लेना चाहो तो काई को हटाना होगा। इसी प्रकार माया से ढके हुए नेत्र लेकर ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते। सबसे पहले माया से मुक्त होना है।"

शरत् ने जिज्ञासा की, "माया क्या चीज़ है?"

स्वामीजी बोले, "विषय, वस्तु और कामिनी-कंचन में डूबे रहना ही माया है। इनके मोह को छिन्न-भिन्न करके सरलप्राण होकर पुकारने पर मन शुद्ध होगा। उसकी दया होगी।"

शरतचन्द्र ने पूछा, "सुना जाता है वे मंगलमय हैं। ऐसा होने पर पृथ्वी पर इतना दुख क्यों है?"

स्वामीजी मुस्कराए, उत्तर दिया, "इस संसार में जिसको हम दुख कहते हैं वह तो वास्तविक दुख नहीं है। वह तो उसकी दीक्षा है। सुख पाते ही मनुष्य उसको भूल जाता है। व्यथा रूपी दुख पाने पर ही उसके मन में समझ आती है। दुख ही सबसे बढ़के इस पृथ्वी की प्रिय वस्तु है। नहीं तो उसको याद ही क्यों करोगे। उसकी महिमा की उपलब्धि का अवसर कैसे पाओगे?"

शरत् सहसा अनमना हो उठा। कई क्षण बाद बोला, "अच्छा, अदृष्ट दैव और पुरुषकार का अर्थ क्या है?"

स्वामीजी बोले, "पूर्व जन्म में अर्जित फल का नाम अदृष्ट है। अवश्य ही वर्तमान जीवन के कुछ अंशों का उसके साथ सम्बन्ध है, जिसको हम चलती भाषा में कर्म कहते हैं। दैव तथा पुरुषकार, दोनों एक ही हैं। एक को छोड़कर दूसरे की गति नहीं। इसलिए दैव की

साधना में पुरुषकार आवश्यक है। इसी तरह पुरुषकार साधना में दैव या भगवत्कृपा आवश्यक है।" [1]

शरत् फिर मौन हो गया। कई क्षण बाद बोला, "गेरुवा वस्त्र बिना पहने क्या संन्यासी हुआ जा सकता है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "धर्म का सम्बन्ध मन से है। गेरुआ न पहनने पर भी मुक्त हुआ जा सकता है। मनुष्य मन से ही बन्धन में आता है। मन के कारण ही मुक्त होता है। इसलिए पहले मन चाहिए, बाद में बाहर की सहायता। मन यदि अच्छा है तो बाहर के गेरुए वस्त्र तुम्हारी सहायता करेंगे। नहीं तो ढोंग की ही सृष्टि होगी।" [1]

इसी प्रकार यह विचार-विनिमय दिन पर दिन चलता रहता था और सब व्यसनों के बावजूद उसका वैरागी मन चुपचाप सच्चे ईश्वर की खोज की ओर उन्मुख होता आ रहा था। सहसा तभी रंगून में प्लेग फूट पड़ी। मित्र महोदय के घर भी चूहे मरने लगे। वह भय से कांप उठे और तुरन्त वह घर छोड़कर शहर से दूर एक छोटे से घर में रहने चले गये। शरत् उनके साथ नहीं जा सका। वह दफ्तर के बाबुओं के मेस में जाकर रहने लगा।

प्लेग का यह आक्रमण इतना भयानक था कि हर व्यक्ति किसी दूसरे की चिन्ता किए बिना भाग खड़ा हुआ। रोगी अकेल तड़प-तड़प कर समाप्त होने लगे। शरत् असहाय लोगों की सहायता करने में सदा आगे रहता आया था। यहां भी आगे रहा। जहां 'पिलेग' शब्द सुनकर बड़े से बड़ा साहसी भी अपने प्रिय से प्रिय जन को छोड़ देता था, वहां शरत् एक अजनबी के पास भी पहुंच जाता था। औषधि आदि खरीद देने तक में उसे संकोच नहीं होता था। राजू की पाठशाला में मानवीय करुणा का जो पाठ उसने पढ़ा था, उसे वह कभी भूल नहीं सका।

न जाने कैसे-कैसे अनुभव उसे हुए और वर्षों बाद ये ही अनुभव-चित्र प्रस्फुटित हुए 'श्रीकान्त' में। अचानक एक दिन उसे भी बुखार हो आया। उसका साथी पहले ही रोगग्रस्त हो चुका था। बहुत देर तक दोनों एक दूसरे के सिर पर आइस बैग रखते रहे, लेकिन साथी की अवस्था निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। बीच-बीच में उसे होश आ जाता था। अपना अन्त निकट जानकर उसने शरत् से कहा, "मेरे ट्रंक में कुछ गिन्नियां हैं, वे मेरी पत्नी को भेज देना।"

शरत् को विश्वास था कि मेस के दूसरे लोग उनकी सहायता करेंगे, लेकिन कोई नहीं आया। डरते-डरते उसने बराबर के कमरे में झांका, पाया कि दो व्यक्ति तकिये पर सिर रखे सोए पड़े हैं। लेकिन वह नींद हज़ार चिल्लाने पर भी अब टूटने वाली नहीं थी। लौटकर अपने साथी को देखा तो वह छटपटा रहा था। दो क्षण बाद वह भी सो गया। यह सोना भी वैसे ही था, जिसमें जागा नहीं जाता।

उस रात उसे नींद नहीं आई। दूसरे दिन पुलिस को बुलाने, तार देने और शवदाह की व्यवस्था करने में संध्या हो गई। तबियत अब भी बहुत साफ नहीं थी, लेकिन जाये तो कहां

जाये? सौभाग्य से उसका बुखार प्लेग का बुखार नहीं निकला। कुछ दिन बाद वह ठीक हो गया। लेकिन ये दिन उसने कैसे और कहां बिताये, कोई भी ठीक-ठीक नहीं जानता।

जहां निम्न वर्ग के लोग रहते थे, बीच-बीच में वह वहीं मिस्त्री पल्ली में जाकर रहता था। उसके अन्तर का हीन भाव उसे सभ्य समाज से दूर इन तथाकथित छोटे लोगों के बीच में ही आनन्द देता था। देश में वह जाति-बहिष्कृत था। उसके रिश्तेदार उसे अपनाने से हिचकते थे। भद्र लोगों की दृष्टि में वह चरित्रहीन था। यहां भी उच्च वर्ग के बंगाली उससे नफरत करते थे। वे मानते थे कि ऐसे लोगों से कोई वास्ता नहीं रखना चाहिए, जो अधार्मिकता और अध:पतन की ओर ले जाते हों। निश्चय ही उसके अन्तर में उनसे बदला लेने की भावना जाग उठी थी। इसीलिए वह निम्न वर्ग के लोगों को और भी अधिक प्यार करने लगा था।

उसकी इस प्रवृत्ति से अध्ययन और लिखने की रुचि को बहुत बल मिला। दफ्तर के बाद वह चुपचाप वहा की सुप्रसिद्ध बनार्ड लाइब्रेरी के एक कोने में जाकर बैठ जाता और पढ़ता रहता। उस पर किसी तरह की कोई पाबंदी नहीं थी। किस अलमारी में, कौन-सी किताब, कहां रखी है; वह यह जानता था। एक-एक पुस्तक उसने पढ़ डाली थी। एक-एक पुस्तक को वह इस तरह प्यार करता था मानो वह उसकी अन्तंरग मित्र हो। इन दिनों ताल्स्ताय उसका प्रिय लेखक था। विशेषकर 'अन्नाकेरिनिना' और 'रिज़रेक्शन' का प्रणेता होने के कारण। 'अन्नाकेरिनिना' तो उसने पचास बार पढ़ी थी। इस साधना की छाप उसके साहित्य पर स्पष्ट देखी जा सकती है। 'नारी का मूल्य', 'नारी का इतिहास', इनकी सामग्री उसने यहीं से एकत्रित की थी।

जब वह सदा के लिए कलकत्ता जा रहा था तब उसने कहा था, “मैं इस लायब्रेरी के कारण ही रंगून छोड़ना नहीं चाहता। कलकत्ता की इम्पीरियल लायब्रेरी में इतनी स्वतंत्रता कहां मिलेगी?”

‘अधिकार' में जो कवि है उसके बारे में सव्यसाची कहता है, 'तुम लोग कोई उसे पहचानती नही, भारती, उस जैसा वास्तविक गुणी आदमी सहसा कहीं ढूंढ़े नहीं मिल सकता। अपने टूटे बेहाला मात्र की पूंजी से ऐसी कोई जगह नहीं, जहां वह न गया हो। इसके सिवा बड़ा भारी विद्वान है वह। कहां किस पुरतक में क्या लिखा है, उसके सिवा हम लोगों में और कोई आदमी ऐसा नहीं जो बता सकता हो।"

शरत् को भी कौन पहचानता था!

इन्हीं दिनों वह 'चरित्रहीन' लिख रहा था। यद्यपि उसका आरम्भ भारत में ही हो चुका था, लेकिन मेस जीवन की अभिज्ञता उसे यहीं प्राप्त हुई। 'चरित्रहीन' का नायक सतीश मेस में ही रहता है। दिन-भर के काम के बाद जब रात को लालटेन जलाकर वह लिखने बैठता तो उसके संगी-साथी बहुत चिढ़ते। चिल्ला-चिल्लाकर कहते, "देखो, देखो, यह बनेंगे

लेखक। आधी रात में लालटेन जलाकर बैठे हैं। उहूं, पचास रुपल्ली के क्लर्क और ख्वाब देखते हैं लेखक बनने के। यह मुंह और मसूर की दाल।''

और वे ठहाका मारकर हंस पड़तें। लालटेन बुझा देते। कभी-कभी बकाबकी भी हो जाती। यह सब देखकर एक दिन उसने स्थायी रूप से मिस्त्री पल्ली में जाकर रहने का निश्चय कर लिया। वह स्थान शहर से दो मील दूर 'बोटाटांग पोजान डंग' रोड पर था। धान, काठ, डॉकयार्ड और ढलाई के कारखाने के अनेक बंगाली मिस्त्री वहां रहते थे। उसका मकान सड़क के किनारे पर ही था। उस पार विस्तृत मैदान फैला पड़ा था। जहां उसका अन्त होता था वहां से आरम्भ होती थी अर्द्धचन्द्राकार पोजान डंग की खाड़ी। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। बालकनी में खड़े होकर देर तक वह उस दृश्य में डूबा रहता।

यहां आने पर मित्र मंडली से उसका सम्बन्ध बहुत कम हो गया। जो बहुत अंतरंग थे वे ही यहां आ पाते थे, नहीं तो मिस्त्री पल्ली के कारीगर ही उसके साथी थे। वे आपस में खूब लड़ते-झगड़ते और शरत् को उनका पंच बनना पड़ता। छुट्टी के लिए प्रार्थना-पत्र, घर भेजने के लिए चिट्ठी और मनीआर्डर, सब लिखना जैसे उसका नियम हो गया था। जब वे लोग बीमार हो जाते तो वह होम्योपैथ दवाओं का बैग उठाकर घर-घर उनकी परिचर्या करता फिरता।

लेकिन अभी यहां रहते हुए कुछ ही दिन बीते थे कि उसका मित्र बंगचन्द्र दे बीमार हो गया। बहुत समय तक शरत् उसके साथ मेस में रहता रहा था। वह उसके उन कुछ मित्रों में से था, जिन्हें वह केवल प्यार ही कर सकता था। वह पूर्वी बंगाल का रहने वाला एक उच्च शिक्षाप्राप्त और अध्ययनशीळ व्यक्ति था। अंग्रेज़ी पत्रों में उसके लेख छपते थे, लेकिन ज्ञान की प्यास उसकी जितनी अनन्त थी, शरीर की प्यास भी उतनी ही उग्र थी। जितनी मुक्तता से वह हास-परिहास में रस लेता था, उतनी ही मुक्तता से शराब भी पीता था। दोनों प्रकार के इन समान गुणों के कारण उन दोनों में गहरी प्रीति हो गई थी।

शरत् बंगचन्द्र को देहाती बंगाली कहकर चिढ़ाता और तब बंगचन्द्र खूब बकाबकी करता। बंगचन्द्र नवीनचन्द्र का परमभक्त था और शरत् उपासक था कविगुरु रवीन्द्रनाथ का। दोनों की कविताओं को लेकर उनके वाद-विवाद का अन्त ही नहीं आता था। लेकिन जब शरत् तर्क न करके कविगुरु की यह कविता पढ़ता –"तोमार कथा हेथा केहो तो बॅले ना, करे शुधू मिछे कोलाहल, सुधा सागरेर तीरेते बसिया, पान करे शुधू हलाहल।'' तो बंगचन्द्र मौन हो जाता।

पूर्व और पश्चिम बंगाल की प्रतिस्पर्धा सर्वविदित है, लेकिन इसी कारण उन दोनों में कभी एक क्षण के लिए भी मनमुटाव नहीं हुआ। बकाबकी, हास-परिहास, पीना-पिलाना और गहन दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद सब एक साथ और समान रूप से चलता था। बंगचन्द्र ने शरत् की प्रतिभा को पहचान लिया था और शरत् बंगचन्द्र के ज्ञान से प्रभावित था, परन्तु उनकी अटूट मित्रता का कारण थी उनकी निविड़ मानवता।

इसलिए बंगचन्द्र की बीमारी का समाचार पाकर शरत् तुरन्त मेस पहुंचा। रोग सचमुच सांघातिक था। आस-पास के सभी बन्धु-बान्धव उसे छोड़कर चले गये थे, लेकिन शरत् ने जी-जान से उसकी सेवा की। वह ज़रा स्वस्थ हुआ तो अपने घर ले आया। अकेला था, उसके लिए दवा लाता, पानी गर्म करके सिकाई करता, साबूदाना बनाकर खिलाता और इस सबके बीच में हास-परिहास तथा बकाबकी का क्रम भी अबाध गति से चलता रहता। परन्तु इतना कुछ करके भी वह अपने मित्र के प्राण नहीं बचा सका। एक दिन उसकी गोद में सिर रखकर बंगचन्द्र दे ने उसकी ओर देखते हुए सदा के लिए अपने नेत्र मूंद लिए। अपने इस प्रिय मित्र की मृत्यु से शरत् बहुत दुखी हुआ। उस दिन उसके हृदय पर एक बार फिर मर्मान्तक चोट लगी। समाप्त हो गया हास-परिहास और गाना-बजाना। रह गया केवल एकाकीपन, चिन्तन और साहित्य-सृजन। वैरागी मन और वैरागी हो उठा।

---

1. ब्रह्मदेशे शरत्—गिरीन्द्रनाथ सरकार

4

एक दिन क्या हुआ, सदा की तरह वह रात को देर से लौटा और दरवाज़ा खोलने के लिए धक्का दिया तो पाया कि भीतर से बन्द है। उसे आश्चर्य हुआ, अन्दर कौन हो सकता है। कोई चोर तो नहीं आ गया। उसने फिर ज़ोर से धक्का दिया, लेकिन दरवाज़ा सचमुच बन्द था। उसने पुकारा, "भीतर कौन है?"

कोई उत्तर नहीं।

फिर पुकारा, बार-बार पुकारा। मानो चीख पड़ा हो। तब कहीं आहट हुई दरवाज़ा खुला। विस्मित-विमूढ़ शरत् ने देखा, आधी में पुरइन के पत्ते की तरह कांपती नीचे के तल्ले में रहने वाली यज्ञेश्वर मिस्त्री की लड़की शांति उसके सामने खड़ी है। आखों से आसुओं का झरना बह रहा है। नीची दृष्टि किए बस वह खड़ी की खड़ी रह गई है। शरत् देखता रहा, सोचता रहा। युगों जितने दो क्षण बाद उसने पूछा, "बात क्या है शांति? तुम यहां क्या करने आई हो?"

कई क्षण फिर सन्नाटा छाया रहा। बार-बार आश्वासन देने पर किसी तरह सुस्थिर होकर उसने कहा, "बाबा ने कुछ पैसा लेकर शराबी और बदमाश बूढ़े घोषाल के साथ मेरा विवाह कर देने का फैसला किया है। आज नशे में धुत होकर उसने मेरे साथ स्वतन्त्रता बरतने की कोशिश की। उसी के डर के मारे मैं यहां घुस आई थी . . ."

कहते-कहते शांति शरत् के चरणों में गिर पड़ी और करुण स्वर में बोली, "मेरी रक्षा कीजिए, मुझे बचाइए!"

अब कुछ सोचने को शेष नहीं रह गया था। शांति उसकी शरण में आई है। वह पीछे कैसे हट सकता है। बोला, "डरो नहीं शांति ! आज की रात तुम यहीं सोओ। मैं कहीं और चला जाता हूं। सवेरे आकर कुछ उपाय करूंगा।"

वह जानता था कि यज्ञेश्वर मिस्त्री का घर आवारा लोगों का अड्डा है। नशेबाज़, गंजेड़ी, ये ही सब उसके संगी-साथी हैं। स्त्री है नहीं, बेचारी शांति ही उनकी फरमाइश पूरी करते-करते तंग आ जाती है। ज़रा चूक हुई नहीं कि चक्रवर्ती उसको निर्मम होकर मारता है। 'अधिकार' में भारती ऐसे ही एक बंगाली मिस्त्री के वासे में जाती है। वह अधेड़ उम्र का है। कारखाने में पीतल-ढलाई का काम करता है। शराब पीकर काठ के फर्श पर पड़ा-पड़ा किसी को बुरी-बुरी गालियां दे रहा है। भारती ने पुकारा, "मानिक, किस पर गुस्सा हो रहे हो? सुशीला कहां है? आज दो दिन से वह पढ़ने क्यो नहीं जाती?"

मानिक किसी कदर हाथ-पैरों के सहारे उठकर बैठ गया और गौर से देखकर पहचानने के बाद बोला, "बहनजी हैं! आओ बैठो। सुशीला तुम्हारे स्कूल में कैसे जाये, बताओ? खानापकाना चौका-बासन करना, लड़के को संभालना सभी तो उसे करना पड़ता है। छाती फट जाती है बहनजी। जदुआ साले को कतल न कर दिया तो मैं कायथ की पैदाइश नहीं हूं। बड़े साहब को ऐसी दरखास्त दूंगा कि साले की नौकरी ही खतम हो जाय।"

अनजाने ही शरत् को शांति से सहानुभूति हो आई थी । इसीलिए सवेरे आकर उसने उसके पिता से कहा, "सुना है, तुम शांति का विवाह बूड़े घोषाल से करना चाहते हो।"

यज्ञेश्वर ने उत्तर दिया, "जी हां।"

"लेकिन वह तो उसके लिए उपयुक्त वर नहीं है। बूढ़ा है, नशा करताहै।"

चक्रवर्ती ने उत्तर दिया, "गरीब आदमी हूं। इस विदेश में उससे अच्छा पात्र कहां से पा सकूंगा। उसके पास पैसा है। लड़की को खाने-पीने का दुख नही होगा। नशा करता है तो क्या? मैं भी करता हूं, आप भी करते हैं। रही उम्र की बात, तो भला आदमी जात की उम्र कौन देखता है?"

मिस्त्री का तर्क सुनकर शरत् मुस्कराने लगा। समझाने की बहुत कोशिश की, लेकिन व्यर्थ। जैसी स्थिति थी, उसमें किसी को भी समझा पाना असंभव जैसा था। फिर भी शरत् ने उससे कहा, "तुम्हेँ घोषाल का जो कुछ देना है वह मैं चुका दूंगा।"

चक्रवर्ती बोला, "तो इससे क्या हुआ, लड़की की शादी आखिर करनी ही है। और बाबू साहब, आपके अन्दर यदि इतनी ही दया-माया है, तो क्यों नहीं इस गरीब ब्राह्मण की लड़की से शादी करके मेरी जाति और कुल की रक्षा करते?"

सुनकर शरत् अवाक् रह गया। स्वयं विवाह करने की बात उसके दिमाग में शायद ही उठी हो। शायद कैशोर्य का वह असफल प्रेम उसे अभी तक साल रहा था। इसलिए उस क्षण वह वहां से चला गया। लेकिन मन ही मन उसने लड़की के साथ होने वाले अन्याय का प्रतिकार करने का फैसला कर लिया था। बहुत दौड़-धूप की। इधर-उधर हाथ-पैर मारे, लेकिन उसके उपयुक्त वर नहीं जुटा सका। अन्त में एक दिन उसने चक्रवर्ती से कहा, "मैं तैयार हूं।"

यह विवाह किस रीति से सम्पन्न हुआ, रंगून के कितने कुलीन बंगाली उसमें शामिल हुए इसका लेखा-जोखा किसी के पास नहीं है। वे तो यह भी नहीं जानते थे कि शरत् ने वास्तव में विवाह किया था। यही मानते रहे कि वह किसी निम्न श्रेणी की औरत के घर जाकर रहता है। और इस तरह किसी औरत के पास रहना निरी चरित्रहीनता है।

जो भी हो। अब उसके अव्यवस्थित जीवन में एक नारी पदार्पण कर चुकी थी। उसका कोमल परस पाकर उसके जीवन की धारा आनन्द के स्रोत को ओर मुड़ गई। नारियां उसके जीवन में न आई हों यह बात नहीं, परन्तु संसारी होने का यह पहला अवसर था। उस दिन से उसके लिए जीवन का अर्थ ही कुछ और हो गया। वह अब अकेला नहीं था। उसके पास

थी उसकी प्रियतमा, जो उसे अपने अन्तरतम से प्यार करती थी, क्योंकि वह उसका पति ही नहीं त्राता भी था।

न जाने कितने दुखों के बीच से होकर उन्होंने यह सुख पाया था। दोनों न जाने कितनी-कितनी देर तक बातें करते रहते। एक-दूसरे की आखों में झांकते रहते। दफ्तर के मित्रों ने उसे स्त्रैण कहना शुरू कर दिया, लेकिन उसने किसी बात की चिन्ता नहीं की। मिस्त्री पल्ली के लोग पुकारते तभी वह होमियोपैथी का बक्स उठाकर बाहर निकलता। या फिर कभी अध्ययन-लेखन की प्रेरणा होती तो नयी अनुभूति के साथ साधना में लग जाता, नहीं तो उसका संसार शांति में सीमित होकर रह गया था।

धीरे-धीरे, एक वर्ष बीत गया। एक और नया प्राणी उसके संसार में आ पहुंचा। शिशु की किलकारियों से वह घर गूंजने लगा। जो अब तक प्यार और सहानुभूति के अभाव में निराश्रित होकर भटकता रहा था, जिसने सदा उन्हीं स्थानों पर आश्रय पाया था जो भलेमानुसों के लिए वर्जित थे, उसके जीवन में, यह कैसा अप्रत्याशित सुख · · · ।

लेकिन दुर्भाग्य अभी भी मुस्करा रहा था। नये जीवन के अभी दो वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे कि प्लेग की महामारी ने एक बार फिर रंगून शहर पर आक्रमण किया। चारों ओर हाहाकार मच उठा। इधर-उधर लाशें दिखाई देने लगी। तभी एक दिन शरत् ने घर लौटकर पाया कि शांति को ज्वर हो आया है। वह कांप उठा। उसने बहुत पास से उस ज्वर के उग्र रूप को देखा था। तुरन्त पहचान गया कि यह प्लेग ही है। सहायता के लिए पड़ोसियों से प्रार्थना की, लेकिन ऐसे समय कौन आगे आता। दौड़ा हुआ वह अपने मित्र गिरीन्द्र सरकार के पास पहुंचा और अवरुद्ध कण्ठ से बोला, "भाई गिरीन! मैं बड़ी विपद में फंस गया हूं। शांति तीव्र ज्वर में छटपटा रही है।"

"क्या कहते हो शरत् दा, किसी को दिखाया है?"

"अभी तक किसी को नहीं। महीने का अन्त है, हाथ में पैसा नहीं है।"

"कोई चिन्ता नही। मैं अभी डाक्टर अपूर्व या डाक्टर डे को बुलाता हूं।"

गिरीन्द्रनाथ सरकार ने एक सत्कार समिति का गठन किया था। वह ऐसे समय रोगियों के इलाज तथा मरने पर उनके दाहकर्म में सहायता करती थी। शरत् बोला "तुमने सत्कार समिति बनाकर बहुत पुण्य अर्जित किया है। इस विपत्ति में मेरी रक्षा करो भाई।"

फिर हताश भाव से कुर्सी पर जैसे गिर गया। दीर्घ नि:श्वास खींचकर बोला, "भाग्य है भाई, सब भाग्य है। जो लिखवाकर लाया हूं वही तो होना है।"

सरकार ने उसे सांत्वना दीं। समिति की अलमारी खोलकर रोगी के इस्तेमाल में आने वाली कुछ चीज़ें और कुछ दवाइयां भी दीं। कहा, "तुम घर चलो, मैं अभी आता हूं।"

कुछ देर बाद डाक्टर के साथ जब वह वहां पहुंचे तो पाया, लकड़ी के एक तख्त के ऊपर चादर से मुंह ढके रोगिणी अचेतन अवस्था में छटपटा रही है। प्राण कण्ठ में आ गए हैं। एक बुढ़िया उसके सिरहाने बैठी पंखा झल रही है। डाक्टर तुरन्त समझ गए कि प्लेग है

और बचने की कोई आशा नहीं है। दो क्षण उसे देखकर वह बाहर आ गए। शरत् और भी कातर हो उठा। विकल-विहल वह शान्ति की प्राणरक्षा के लिए बार-बार डाक्टर से अनुरोध करने लगा। लेकिन वे क्या कर सकते थे? सांत्वना देकर तथा उपचार बताकर वहां से चले गए। शरत् फिर रोगिणी की शैया के पास आ गया।

अन्त में कुछ क्षण पूर्व शान्ति की संज्ञा लौटी। क्षीण कण्ठ से धीरे- धीरे उसने कहा, "मेरे कारण आपको बहुत दुख पहुंचा है। उस सबके लिए क्षमा कर दो।"

शरत् आर्त स्वर में बोल उठा, "ऐसी बात मत कहो। मुझे डर लगता है।"

शान्ति ने कहा, "छि:! डर किस बात का? लाओ, मुझे जरा अपने पैरों की धूलि तो दो। आशीर्वाद भी दो।"

शरत् समझ गया कि अब आशीर्वाद देने को कुछ नहीं बचा है। सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए हैं। शांति संसार के दुख-कष्टों को तुच्छ करके परलोक चली गई। वह अपलक दृष्टि से स्त्री के मृत्यु से विवर्ण मुख को देखता हुआ रो उठा।

उस समय जैसी अवस्था थी, पड़ोसियों से कोई सहायता मिलने की आशा नहीं थी। और जो भद्र बंगाली थे उनसे वह सदा दूर रहा। वे भी क्यों आते? इसलिए केवल गिरीन्द्रनाथ की सहायता से ही उसे सब कुछ करना पड़ा। बड़ी कठिनता से एक कुलीगाड़ी भाड़े पर ली और उस पर रखकर शव को श्मशान ले गये।

वहां एक संन्यासी रहते थे। इन्हें निसंग देखकर उन्होंने स्वयं ही चिता निर्मित की और इस प्रकार शान्ति देवी का दाह संस्कार सम्पन्न हुआ। [1]

शरत् के शोक की कोई सीमा नहीं थी। कैशार्य के उस असफल प्रेम के समान इस सदमे का भी उसके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। छूट गया अध्ययन, छूट गया लिखना और चित्रांकन, बस बावलों की तरह इधर-उधर घूमता रहता। इसी बीच में शिशु भी महामारी का शिकार बन गया था। वर्षों बाद अपने मित्र के युवा पुत्र की मृत्यु पर उसकी मां से उसने दार्शनिक उपेक्षा से कहा था, "दीदी, तुम तो इतने दिन तक पुत्र-सुख देख चुकी मैं तो एक वर्ष भी उस सुख को नहीं भोग सका था।" पर उस दिन उसकी व्यथा का अन्त नहीं था। सब कुछ लुटाकर एक बार फिर वह अकेला रह गया।

मित्रों ने सलाह दी, 'कुछ दिन घूम आओ।"

उसका सारा जीवन एक यात्रा ही था। एक निरुद्देश्य दिशाहीन यात्रा। एक बार फिर वह धूमने निकल गया। लेकिन अब पहले की तरह मुक्त नहीं था। छुट्टी की एक सीमा होती है, आखिर उसे अपने काम पर लौटना पड़ा। फिर, दर्द सहा जाता है, प्रचारित नहीं किया जाता, तभी तो वह शक्ति बनता है, इसलिए अध्ययन, लेखन, चित्रांकन सब कुछ फिर आरम्भ हो गया। उस दर्द ने उन्हें गहराई दी और दी विशालता, लेकिन उस घर में वह नहीं रह सका। उसके कण-कण में उसके अल्पकालिक दाम्पत्य जीवन की स्मृति अंकित थी। पास ही एक और घर लेकर वह उसमें चला गया।

1. ब्रह्मदेशे शरत्—गिरीन्द्रनाथ सरकार

5

शरत् ने बहुमुखी प्रतिभा के धनी रवीन्द्रनाथ के समान न केवल साहित्य में बल्कि संगीत और चित्रकला में भी रुचि ली थी। यद्यपि इन क्षेत्रों में उसकी कोई उपलब्धि नहीं है, पर इस बात के प्रमाण अवश्य उपलब्ध है कि कई वर्ष तक उसने चित्रकला की साधना की थी और बहुत-से चित्र बनाये थे।

तीन वर्ष बाद अपने घर में आग लग जाने की सूचना देते हुए, उसने एक पत्र में अपने प्रिय मित्र प्रमथनाथ भट्ट को लिखा था [1] -"एक और समाचार तुम्हें देना बाकी है। लगभग तीन वर्ष पहले हृदय रोग के लक्षण प्रकट हुए थे, तब मैंने तैलचित्रांकन शुरू किया था। पढ़ना छोड़ दिया था। इन तीन वर्षों में बहुत-से चित्र इकट्ठे हो गए थे। वे भी खत्म हो गये हैं। अंकन का केवल सामान-भर रह गया है। मुझे क्या करना उचित है, यदि यह बता दो तो तुम्हारे कहने के मुताबिक चेष्टा कर देखूंगा। नावेल, हिस्ट्री या पेंटिंग कौन-सा शुरू करूं?"

लेकिन ऐसा लगता है कि इस अग्निदाह के बाद चित्रकला में उसकी रुचि फिर नहीं जागी। केवल महाश्वेता के अधूरे चित्र को, जो किसी तरह अग्निदाह से बच गया था, वह पूरा कर सका [2] पर इन दिनों उसने अनेक चित्र बनाये थे। उसके मित्र और सहकर्मी योगेन्द्रनाथ सरकार ने लिखा है, "एक दिन रविवार को जाकर देखा कि एक कपड़े के आवरण के नीचे स्टैण्ड पर एक चित्र टंगा है । पूछा, "यह क्या है शरत् दा?"

"'हंसकर शरत् ने उत्तर दिया, 'अच्छा पहले तुम्हीं बताओ तो यह क्या है?'

"'और क्या होगा, तस्वीर।'

"'यह क्या बात हुई, तस्वीर छोड्कर वहां और क्या हो सकता है? तुम्हारी कल्पनाशक्ति की बात तो तब है जब बता सको कि यह तस्वीर किसकी है?'

"'यदि मैं कहूं कि नारदमुनि की है तो?'

"'वही तो है देख!'

"यह कहते-कहते शरत् ने चित्र पर से पर्दा हटा दिया। मैं तो अवाक् रह गया सचमुच यह उस बूढ़े का चित्र था। गांव के तालाब के पास अस्त-व्यस्त वृक्षसमूह, उसके बीच में टेढ़ा मेढ़ा रास्ता और उस रास्ते के पास वृक्ष की छाया में बैठा हुआ एक वृद्ध, बिलकुल नारदमुनि जैसा। वार्धक्य और दारिद्रय के ऊपर निराशा की गहरी छाया किस प्रकार छायी हुई थी, यह तो देखने पर ही जाना जा सकता था।..... "

सरकार उस चित्र को देख ही रहे थे कि वह बूढ़ा आ पहुंचा। सीढ़ी पर पैर रखते ही उसने पुकारा, "देवता घर में हैं क्या?"

शरत तुरन्त नीचे गया। बड़े आदर और प्रेम के साथ उस वृद्ध को सहारा देकर ऊपर ले आया। और वह तस्वीर उसके सामने लाकर रख दी। देखते ही उस वृद्ध के कोटर में धंसे हुए नेत्र ज्योति में भर उठे। बोला, "देवता! आपके दिमाग में इतना कुछ है!"

शरत् ने कहा, "देखो नारद! तुम्हें एक काम करना होगा। बहुत कठिन नहीं है। रोज सवेरे मेरे घर आकर बैठना होगा। चाय आदि लेते हुए मुझे यह चित्र बनाते हुए देखना होगा।"

चाय की बात सुनका वृद्ध नारद के मुंह में पानी भर आया। शरत् तुरन्त अन्दर से एक प्याला चाय ले आया। मधुर स्वर में बोला, "बड़ा कष्ट होता है तुम्हें। लो चाय पियो।"

वृद्ध ने झिझकते हुए पूछा, "आप पी चुके देवता?"

शरत् ने उत्तर दिया, "अजी देवता किसका इंतजार करते हैं। तुम जल्दी से पियो, नहीं तो ठण्डी हो जाएगी।

सरकार ने पूछा, "यह शिक्षा तुमने किससे ग्रहण की?"

अपने कपाल की ओर इशारा करते हुए शरत् ने कहा, "इस विद्या का गुरु मैं स्वयं हूं।"

चित्रकला का अध्ययन उसने स्वयं किया था। प्रकृति चित्रण से बढ्कर उसे मानव आकृति के चित्रण से प्रेम था। उसका कहना था कि शरीर विज्ञान का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त किए बिना मनुष्य की आकृति का अंकन नहीं हो सकता। जब तक कोई आकृति हूबहू जीवन्त न बने तब तक उसे छवि कैसे कहा जा सकेगा। चिथड़े के ऊपर रंग से कुछ आकृति बना देने से तो छवि नहीं बन जाती। वह चित्रकार विन्सेण्ट वान गाग की बात दोहरा रहा था। उसने कहा था, "यदि किसी को चित्र बनाना सीखना है तो उसे मनुष्य के शरीर का पूरा ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। यदि वह नहीं जानता तो वह केवल नकलची बनकर रह जाएगा।" एक दिन उसने सरकार से पूछा, "अच्छा बताओ संसार में सबसे बड़ा चित्रकार कौन है?"

सरकार ने उत्तर दिया, 'रैफेल!"

"न-न", शरत् से कहा, 'रैफेल से तो माइकेल एंजिलो बड़ा है और बड़े-बड़े आलोचक तिसियन को सबसे बड़ा चित्रकार मानते हैं।"

तिसियन के संबंध में स्वयं शरत् की भी बड़ी ऊंची धारणा थी। वे इतलावी चित्रकला को सबसे श्रेष्ठ मानते थे। उसके बाद आती थी फ्लेमीश, डच और बरतानवी चित्रकला। उसका एक मित्र था चित्रकार बाथिन। 'छवि' कहानी में शरत्चन्द्र ने बाथिन को अमर कर दिया है। उसी से शायद उसने कला की प्रेरणा ली थी। साधारणतया बंगाली अपने में ही सीमित रहते हैं। लेकिन शरत् अपवाद था। कार्यालय के अतिरिक्त भी उसका अबंगालियों से मेलजोल था। उन्हीं में चित्रकार बाथिन था। एक दिन सतीशचन्द्रदास [3] को साथ लेकर वह उससे मिलने भी गया था। दास ने लिखा है, "संध्या घिर आई थी। सर्वहारा भारतीयों की 'काला-बस्ती' में न तो प्रकाश का अच्छा बन्दोबस्त था, न कोई अच्छी सड़क ही थी।

मदिर में आरती की शंखध्वनि भी नहीं सुनाई दे रही थी। मैंने कहा, ‘शरत् दा, कहां ले जा रहे हो? क्या आखिर गुण्डों-बदमाशों के हाथ जान देनी होगी?"

“शरत् दा बोले, नहीं, नहीं, मेरे साथ चले आओ। गुण्डे-बदमाशों का यहां कोई काम नहीं।'

“तुम कुछ भी कहो दादा! ऐसी खराब जगह नहीं जाना चाहिए। हम गांव के आदमी हैं, लेकिन यह तो उससे भी बदतर है। वर्षा-ऋतु में तो यहां चलना भी कठिन होता होगा। एक-एक ईंट टुकड़े-टुकड़े होकर बस मिट्टी के साथ अटकी हुई है।'

“शरत् दा ने अब कोई जवाब नहीं दिया। मैं विवश होकर उनके पीछे चलता रहा। लेकिन बस्ती के कुत्तों की बात मन में आते ही छाती धक-धक कर उठती। बर्मियों के भी दो-चार काठ के घर थे। मिट्टी के तेल के दीवों के प्रकाश में देखा जा सकता था कि उनके घर के आगे लेटे हुए कुत्ते नवागंतुकों को देखकर उन पर झपटने के लिए अपने मालिक के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वहां के कुत्ते इतने शैतान थे कि किसी प्रकार का शोर किए बिना पीछे से आकर मुंह मार देते। मुझे इसका अनुभव था। मैंने कहा, 'शरत् दा इस बस्ती के कुत्ते बड़े शैतान ···
।

“बात पूरी होने से पहले ही शरत् दा बोल उठे, 'डरो नहीं, मेरे साथ चले आओ। पशु हैं इससे क्या! वे भी आदमी को पहचानते हैं।'

कुछ दूर जाकर शरत् दा, एक काठ के घर के सामने खड़े हो गये। उनको देखकर एक अल्पायु की बर्मी स्त्री ने अपनी भाषा में उन्हें पुकारा। उन्होंने भी उसी भाषा में उत्तर दिया और फिर वे लोग भीतर चले गये। वहां एक लड़की बैठी हुई थी। स्त्री ने उससे कुछ कहा और वह तुरन्त बाहर चली गई। कुर्सी पर बैठकर शरत् दा उस स्त्री से परम आत्मीयता से बातें करने लगे। कुछ ही देर बाद उस लड़की के साथ बाथिन बाहर से लौट आये। शायद बहुत दिनों के बाद भेंट हुई थी, इसलिए वे बहुत देर तक एक-दूसरे के प्रति शिकवा-शिकायत करते रहे। इसके बाद सत्कार आरम्भ हुआ। मेज़ पर नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ सजाए जाने लगे। शरत् दा ने मुझसे चुपचाप पूछा, 'खाओगे?'

"मैं वह सब देखकर ही अवाक् रह गया था। क्या कहता? जिनको खाने-पीने का कोई विचार नहीं, उनके साथ खाकर क्या जात देनी होगी?

"और मैंने अपनी जात बचाकर हिन्दुस्तानी रीति से चाय और बिस्कूट ही लिए। किन्तु शरत् दा अपने मित्र के परिवार के साथ एक ही मेज़ पर खाते रहे और हास्य-विनोद करते रहे। बहुत रात हो जाने पर मैंने कहा, चलो न, बहुत देर हो जाएगी।'

'शरत् दा उठ खड़े हुए। बर्मी मित्र गली के मोड़ तक रोशनी लेकर उनके साथ आए। उसके लौटने के बाद मैंने पूछा, यह कौन है? कैसे इसके सांथ दोस्ती हुई? लगता है एक ही दफ्तर में काम करते हैं?'

"शरत् दा ने कहा, 'नहीं, यह व्यक्ति-कुशल चित्रकार है। घर में जितने चित्र तुमने देखे, वे सब इसी के बनाए हुए हैं। पेगू में इसके साथ परिचय हुआ था।'

"मै बोला, मित्र की दृष्टि से भेंट करने आए, यह तो अच्छा है, लेकिन दादा, आपने इनके साथ खाया कैसे?'

"शरत् दा हंस पड़े बोले, पागल और किसे कहते हैं? यह भी तो हिन्दू जाति की शाखा है। ये लोग अत्यन्त धर्मभीरु हैं। संकोच इनमें उतना नहीं हैं दो-एक दिन का परिचय होते ही ये व्यक्ति को अपना बना लेते हैं। हिंसा, घृणा और संकोच इनके धर्म के विरुद्ध है।"

वैसे शरत् को यह गुण पैतृकदाय के रूप में भी प्राप्त हुआ था। मोतीलाल अच्छे चित्रकार हो सकते थे, लेकिन वह कोई भी काम जमकर नहीं कर सके। शरत् में उनके सारे स्वप्न मानो साकार होने की चेष्टा कर रहे थे। बाधिन की मित्रता से इस चेष्टा को बल मिला और उसने कई चित्र बनाये। उनमें सबसे सुन्दर चित्र था भहाश्वेता ' का। उसे देखकर मित्रों ने कहा, "आप इसे प्रदर्शनी में क्यों नहीं भेजते?"

ख्याति और प्रदर्शन से सदा दूर भागने वाला शरत् मित्रों के अनुरोध़ को कैसे स्वीकार कर सकता था। लेकिन पारखियों की दृष्टि में वह चित्र सचमुच सुन्दर था। योगेन्द्रनाथ सरकार ने लिखा है, "आलोक और छाया का इस प्रकार सम्मिश्रण हुआ था कि उसे देखकर यह कहना असम्भव था कि यह किसी अनगढ़ चित्रकार का बनाया हुआ है। शरीर विज्ञान, पृष्ठभूमि और पर्सपेक्टिव की दृष्टि से उसमें कोई कमी नहीं थी.....। पुरुष और प्रकृति की कला के मिलन के समान तपस्विनी महाश्वेता की आकृति बहुत ही सुन्दर उतरी थी। वर्षा के दिन नदी के तीर पर सब कुछ कुहरे में आच्छादित और अस्पष्ट। उस पार सघन मेघों से घिरा हुआ आकाश और भी अस्पष्ट, इधर एक ओर से लजीला सूर्य मानो ताक-झांक कर रहा हो। किनारे पर वृक्ष के नीचे मुक्तकेशा, सद्यःस्नाता तपस्विनी महाश्वेता, रुदन करती हुई प्रकृति की एक जीवंत प्रतिमा थी।"

छोटे-से घर के एक कोने में, जिसमें आलोक भी कम था, उस छवि को इस प्रकार रखा हुआ था कि किवाड़ खोलने पर जितना प्रकाश उस घर में आए उसी की सहायता से उस छवि को अच्छी तरह समझा जा सके। शरत् ने उसी अवस्था में सरकार महोदय को वह चित्र दिखाया। उन्होंने लिखा है - सभी उन्नत कलाओं में उसी चिर सुन्दर आनन्दघन रसमूर्ति के ही विकास-साधन की चेष्टा है। वास्तव में कुछ उदार दृष्टि से देखने पर एकदम कुत्सित वस्तु भी सुन्दर जान पड़ती है। वह चित्र नग्न सौंदर्य का चित्र नहीं था। नग्न होने पर भी उसे कुत्सित नहीं कहा जा सकता था। क्योंकि उसके साथ पृष्ठभूमि में प्रकृति का दृश्य अत्यन्त चमत्कारपूर्ण था।" वह चित्र उसे भी प्रिय था। मामा गिरीन्द्रनाथ को उसने लिखा था [4], "अभी पूरा नहीं हुआ। कहोगे तो कर दूंगा। मर तो घर-द्वार है नहीं, तुम्हारे है। मुझे यह (चित्र) बहुत प्रिय है इसलिए, जिससे नष्ट न हो, तुम्हारे पास रखना चाहता हूं।"

लेकिन इस साधना के बावजूद शरत् का चित्रकला का ज्ञान नितान्त एकांगी था। उसके बनाए हुए चित्र उच्च श्रेणी के नहीं थे। फिर भी चिनगारी उसके अन्तर में थी अवश्य। जब वह विख्यात लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था तब कलकत्ता आर्ट कालेज के अध्यापक सतीशचन्द्र सिंह के घर उनका चित्रांकन देखते-देखते उसने 'मां और बेटे' का पेंसिल स्केच बनाया था और उनके बेटे को 'हर-पार्वती' का चित्र बनाते देखकर स्वयं भी 'हर-गौरी' का स्केच बना दिया था। वह चित्र आज भी कहीं सुरक्षित है।

---

1. 22 मार्च, 1912 ई०

2. 18 मार्च, 1913 का पत्र मामा गिरीन्द्रनाथ के नाम

3. इन्होंने भी शरत के बर्मा प्रवास के संस्मरण लिखे हैं।

4. 18 मार्च, 1913

6

रंगून जाने से पहले शरत् अपनी सब रचनाएं अपने मित्रों के पास छोड़ गया था। उनमें उसकी एक लम्बी कहानी 'बड़ी दीदी' थी। वह सुरेन्द्रनाथ के पास थी। जाते समय वह कह गया था, "छपने की आवश्यकता नहीं। लेकिन छापना ही हो तो 'प्रवासी' को छोड़कर और किसी पत्र में उसकी कोई भी रचना बिना अनुमति के न छापी जाए।" अचानक सुरेन्द्रनाथ की एक ऐसे व्यक्ति से भेंट हो गई जो इस काम में सहायक हो सकता था। भागलपुर के मुंसिफ श्री ज्ञानेन्द्र कुमार बंदोपाध्याय साहित्य-रसिक व्यक्ति थे। 'प्रवासी' के संपादक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय से उनका परिचय भी था। वे सुरेन्द्रनाथ की 'साहित्य संहार सभा' नाम की संस्था के सदस्य बन गए थे। उस सभा में शरत्चन्द्र की रचनाएं पढ़ी जाती थीं। ज्ञानेन्द्र बाबू को ये रचनाएं बहुत अच्छी लगीं। 'प्रवासी' में छपवाने का वायदा करके उन्होंने 'बड़ी दीदी' की नकल प्राप्त कर ली।

उन्हीं दिनों श्रीमती सरला देवी चौधरानी 'भारती' निकालती थीं। लेकिन वह स्वयं अधिकतर लाहौर में रहती थीं। इसलिए प्रकाशन समय पर नहीं हो पाता था। उन्हें एक सम्पादक की आवश्यकता थी। संयोग से सौरिन्द्रमोहन मुखोपाध्याय को इस काम के लिए चुना गया। वह शरत् के मित्र थे। 'बड़ी दीदी' की एक प्रति उनके पास भी थी। उन्होंने यह प्रति सरला देवी को पढ़ने के लिए दी। पता नहीं ज्ञानेन्द्र बाबू ने उसे 'प्रवासी' में छपवाने का प्रबन्ध किया या नहीं पर सरला देवी से उसकी प्रशंसा अवश्य की थी। पढ़कर वे मुग्ध हो उठीं। बोलीं, "चमत्कार! इसे 'भारती' में छपने के लिए दे दो। तीन-चार संख्याओं में छापो और शुरू में लेखक का नाम मत दो। लोग समझेंगे कि यह रचना रवीन्द्रनाथ की है और इस प्रकार पत्रिका के देरी से प्रकाशित होने की बात वे भूल जायेंगे।"

सौरीन्द्रमोहन ने कहा, "छापने से पहले लेखक की अनुमति लेनी होगी।"

सरला देवी बोलीं, "तो चिट्ठी लिखकर अनुमति ले लो।"

सौरीन्द्रमोहन ने कहा, "वह बर्मा में हैं लेकिन कहां हैं इसका कोई ठिकाना नहीं। बहुत देर से मैंने उनकी कोई खबर नहीं पाई।"

सरला देवी बोलीं, "जहां भी होंगे छपने पर किसी न किसी से इसकी चर्चा सुन ही लेंगे। क्या बिना अनुमति के छापने का दायित्व तुम नहीं ले सकते?"

सौरीन्द्रमोहन गर्व से भर उठे। बोले, "क्यों नहीं ले सकता! वह प्रचार के भूखे नहीं हैं। कहते हैं लिखने में मुझे आनन्द आता है। तुम पढ़ो वही काफी है। छापने का क्या काम? तुम्हारे अतिरिक्त मेरी कहानी और कौन पढ़ेगा?"

सरला देवी बोलीं, “ऐसे शक्तिशाली लेखक का इस प्रकार शर्मीला होना अच्छा नही। तुम यह उत्तरदायित्व लो और छाप दो।”

सौरीन्द्रमोहन ने तुरन्त तीन संख्याओं में छापने के लिए तीन भाग करके कहानी प्रेस में दी। लेकिन इसी बीच में अन्तिम भाग न जाने कहां खो गया। अब क्या हो? मुकर्जी महाशय ने भागलपुर विभूतिभूषण भट्ट को लिखा। उन्होंने उत्तर दिया कि शरत् की सभी रचनाएं सुरेन्द्रनाथ के पास हैं।

मुकर्जी महाशय ने सुरेन्द्रनाथ को लिखा, “बड़ी दीदी' का शेषांश नकल करके तुरन्त भेज दो। नहीं तो 'भारती' का जीवन संकट में पड़ जाएगा।”

सुरेन्द्रनाथ जानते थे कि शरत् कहां है। उन्होंने उसी पते पर लिखा। उत्तर आया, “दे दो, अब और कोई रास्ता ही नहीं है।”

‘भारती' का वह अंक [1] प्रकाशित होते ही बंगाल के साहित्यिक क्षेत्र में हलचल पैदा हो गई, “इतनी सुन्दर रचना किसने लिखी है?”

"भाषा और शैली कैसी परिष्कृत, प्यारी और गठी हुई है!”

“यह तो बंगाल के घर-घर की कहानी है। किसी कुशल चितेरे ने कैसी सुघड़ता से इसे कागज़ पर उतारा है!”

जो साहित्य के मर्मज्ञ थे, उन्होंने सोचा, हो न हो रवीन्द्रनाथ ने छद्म नाम से यह कहानी लिखी है। उनके अतिरिक्त ऐसी सशक्त और उकृष्ट रचना और कौन कर सकता है? 'बंगदर्शन' के सम्पादक शैलेशचन्द्र मजूमदार की भी यही राय थी। लेकिन कुछ दिन पूर्व ही रवीन्द्रनाथ ने उनसे कहा था कि वह इस समय नया उपन्यास लिखने की स्थिति में नहीं हैं। अब जब मजूमदार महाशय ने 'भारती' में 'बड़ी दीदी' की पहली किस्त पढ़ी तो चकित रह गए। तुरन्त उनके पास पहुंचे और बोले, “आप तो कहते थे कि अभी नया उपन्यास नहीं लिख सकूंगा। लेकिन 'भारती' के लिए बिना नाम दिये आप लिख रहे हैं।”

रवीन्द्रनाथ ने कहा, "हां, मैं उपन्यास नहीं लिख सकता। किसी ने मेरी कविता-ववितां इधर-उधर से लेकर छाप दी होगी।”

नेत्र विस्फारित कर शैलेश बोले, “कविता-ववितां नहीं महाशय, उपन्यास!”

रवीन्द्रनाथ अवाक् रह गए। बोले, “उपन्यास, क्या कहते हो शैलेश! मैंने उपन्यास लिखा? और वह 'भारती' में प्रकाशित हुआ! नहीं, नहीं, निश्चय ही कहीं भूल हुई है।”

विरक्त भाव से 'भारती' में प्रकाशित 'बड़ी दीदी' के अंश जेब से निकालकर शैलेश ने कहा, “नाम न देने से क्या आप छिप सकते हैं?”

शैलेश के अभियोग की तीव्रता के कारण हो या ‘बड़ी दीदी' के प्रारम्भिक दो-चार पंक्तियों के आकर्षण के कारण, रवीन्द्रनाथ ने निस्तब्ध होकर उस अंश को पढ़ डाला। पढ़कर बोले, “सचमुच रचना बड़ी चमत्कारपूर्ण है। लेकिन, मेरी नहीं है किसी दूसरे ही व्यक्ति की है। पर जिसकी भी हो वह असाधारण रूप से शक्तिशाली लेखक है।”

ठाकुर परिवार के दूसरे लोगों ने भी इस कहानी को पढ़ा। वे सब भी यह जानने को उत्सुक हो उठे कि आखिर इसका लेखक कौन है? अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के दामाद मणीलाल गंगोपाध्याय 'भारती' के संपादक सौरीन्द्रमोहन मुकर्जी के अन्तरंग मित्र थे। उन्हीं से जाकर उन्होंने लेखक का परिचय पूछा। फिर एक दिन उनको अवनीन्द्रनाथ के पास ले आए। वहां से वे दोनों रवीन्द्रनाथ के पास गए। रवीन्द्रनाथ ने शरत्चन्द्र के बारे में सौरीन्द्रमोहन से अनेक प्रश्न पूछ डाले।

सब कुछ बताने के बाद सौरीन्द्रमोहन ने कहा, "उसकी लिखी हुई ऐसी बहुत-सी कहानियां हैं।"

रवीन्द्रनाथ बोले, "तो जमा क्यों कर रखी हैं? उन्हें छापो, देश का मंगल होगा।"

सौरीन्द्रमोहन ने कहा, "लेकिन वह यहां नहीं है। रंगून में कहां रहता है, मुझ पता नहीं। उसकी अनुमति के बिना उसकी रचनाएं नहीं छप सकतीं।"

रवीन्द्रनाथ बोले, "कुछ भी करो, उसका पता लगाओ। उसे पकड़ लाओ, बंगाल में उसके जोड़ का लेखक नहीं मिल सकता।"

महान ताल्स्ताय ने अपनी प्रथम कहानी 'बचपन' एल०एन० के छद्म नाम से लिखी थी और उसे पढ़कर सेण्टपीटर्सबर्ग के साहित्यिक क्षेत्रों में जैसे तूफान आ गया था। एक लेखक तो घर-घर जाकर उस कहानी को सुनाते थे और तुर्गनेव ने उस अज्ञात लेखक की वैसी ही प्रशंसा की थी जैसी रवीन्द्रनाथ ने शरत् की। उसने संपादक को लिखा था, "वह निश्चय ही प्रतिभाशाली है। उसे लिखो कि वह लिखता रहे। उसे यह भी बता दो कि मैं उसे प्रणाम करता हू और अपनी शुभकामनाएं और प्रशंसा भेजता हूं।"

शरत् ने रंगून में 'बड़ी दीदी' के स्वागत की बात न सुनी हो, ऐसा नहीं। सुनकर वह प्रसन्न भी हुआ। लेकिन जैसा कि उसका स्वभाव था, उसने वहां किसी से इसकी चर्चा नहीं की। लेकिन जब तीसरी किस्त पर लेखक का नाम छपा तो मित्रों को शंका हुई कि कहीं यह हमारा 'पगला शरत्' तो नहीं है? उनमें से किसी ने शरत्चन्द्र से पूछा, "क्या 'बड़ी दीदी' के लेखक तुम ही हो?

शरत् ने दृढ़ता से उत्तर दिया, "मैंने अपनी कोई रचना 'भारती' को नहीं भेजी।"

लेकिन अपने अंतरंग मित्रों से उसने कुछ नहीं छिपाया। योगेन्द्रनाथ सरकार को सब कुछ बता दिया, कहा, "यह रचना मैंने बचपन में लिखी थी। सुरेन्द्र के पास छोड़ आया था। उसी ने दे दी।"

'बड़ी दीदी' के प्रकाशन के बाद वह कलकत्ता आया। हाइड्रोसील का आपरेशन कराना था। कारमाइकिल कालेज में वह आपरेशन हुआ। चार-एक [2] महीने तक वह कलकत्ता रहा, लेकिन इच्छा होने पर भी शर्म के मारे अपने किसी अंतरंग मित्र से नहीं मिला। जैसे अपने रंगून के जीवन के कारण वह उनका सामना करने से कतराता हो। लेकिन वह भले ही मित्रों से न मिल सका हो, विवाह के योग्य कन्याओं के पिताओं ने उसे

ख़ूब परेशान किया। एक पत्र [3] में उसने लिखा, "मेरे दुख के दिनों में वे न जाने कहां थे, किन्तु आज जब निश्चिंत होकर दिन काट देने का समय आया है, तो वे दया करके झुण्ड के झुण्ड न जाने किस अज्ञात स्थान से बाहर आ रहे हैं, समझ में नहीं आता।"

जब कभी भी वह कलकत्ता आता तो न मित्रों के पास ठहरता और न रिश्तेदारों के पास। उसका आवास बदनाम गलियों में ही होता था। इन्हीं बदनाम गलियों की बदनाम नारियों में उसने नारीत्व की खोज की थी। न जाने कितनी अभागी नारियों का इतिहास उसने संचित किया था। उनके पास रहकर उसने गीत सीखे और अपने मुंह से अपनी यह सुख्याति करते हुए वह कभी नहीं झिझका।

इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि 'बड़ी दीदी' का ऐसा भव्य स्वागत होने पर भी उसने सौरीन्द्रमोहन से मिलना ठीक नहीं समझा। जाते समय वह अपने छोटे भाई प्रभासचन्द्र से केवल इतना कह गया था कि 'भारती' के जिन अंकों में 'बड़ी दीदी' प्रकाशित हुई है वे अंक खरीदकर वह उसे भेज दे।

वह अपने मित्रों से क्यों नहीं मिल सका, इसका कारण उसने अपने उस पत्र में स्पष्ट किया है जो उसने रंगून लौटकर विभूतिभूषण भट्ट को लिखा था। इस पत्र से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपने तथाकथित अज्ञातवास के दिनों में वह मित्रों को यदा-कदा पत्र लिखता रहा है। उन्होंने ही उसे उत्तर नहीं दिया।

"बहुत दिन बाद पत्र लिख रहा हूं। प्रार्थना करता हूं तुम्हें मिल जाए। मेरे सभी दुष्कर्मो को भूलकर इसे प्यार की दृष्टि से पढ़ना भाई, जिससे यह लिखना सार्थक हो जाए। तुम्हें चिट्ठी लिखते लज्जा आती है, डर भी लगता है कि मेरे इस हिज्जों की गलती से भरे विश्रृंखल लेख को देखकर तुम हंसोगे और सोचोगे कि बचपन में इसे कैसे प्यार करता रहा हूं?.....कैसा अभागा हूं मैं? चार-एक महीने कलकत्ता रहने पर भी तुमसे मिल नहीं सका। उन दिनों तुम भी कलकत्ता में आए हुए थे। अब ऐसा लगता है कि फिर कभी तुमसे भेंट नहीं होगी। एक बार आशु [4] के साथ, एक बार अकेले ही तुम्हारे घर जाने को तैयार हुआ, किन्तु शर्म के मारे जा नहीं सका।

"पंटु, कैसा दुर्भाग्यपूर्ण है जीवन मेरा! कैसे अर्थहीन, निष्फल, नीरस दिन, मास, वर्ष सिर पर से गुज़र जाते हैं, सोच नहीं पाता। भगवान ने जब बुद्धि दी थी तो थोड़ी सुबुद्धि भी दे सकते थे। नहीं दी तो इतना प्यार करना क्यों सिखाया? प्यार करने के लिए एक पात्र मुझे भी दे देते तो क्या उनके विश्व में मनुष्यों की कमी पड़ जाती? नहीं जानता यह उनका कैसा न्याय है?

"सोचता हूं जो मेरे आत्मीय बन्धु-बान्धव हैं उन सभी का मैं धृणा का पात्र हूं। इस बात का ज्ञान कितना मर्मान्तक है, यह बताने पर भी लोग विश्वास नही करेंगे। जानता हूं, विश्वास करने का कोई मार्ग ही मैंने नहीं छोड़ा है। चिर प्रवासी, दुखी, कुत्सित आचार वाला, मैं किसी के सामने आने के योग्य नहीं हूं, किन्तु पुंटु, क्या इस सबका कारण मैं ही हूं? मेरी

पतंग के नीचे भार नहीं है। मेरे तीर के सिर पर फलक नहीं है। मेरी नाव में पाल नहीं है। सीधा नहीं चलता यह कह धिक्कार देकर दोनों हाथों से उसे धकेल देते हैं। यह सब क्या मेरा ही दोष है? साधु नहीं बनता, इस पंकिल जीवन में साधुत्व का कृत्रिम आचरण नहीं टिकेगा, लेकिन तुम तो भले हो। तब तुम इतने निष्ठुर क्यों हो गए? सुरेन्द्र, गिरीन को पत्र लिखा, जवाब नहीं मिला। तुमने भी नहीं दिया। मुझे एक लाइन लिख भेजने पर क्या तुम पतित हो जाते? इतनी दूर रहकर तुम्हें कोई हानि नहीं पहुंचा सकूंगा। एक चिट्ठी लिखने से ही तुम्हारा चरित्र मलिन हो जाता? ऐसी चीज़ के निर्मल रहने से क्या, मलिन होने से क्या? एक दिन तुम मुझे प्यार करते थे। आज मैं मिन्नत करता हूं कि इस चिट्ठी का जवाब देना भाई। हमेशा मेरे मन में यह विश्वास रहा है कि तुम और बुड़ी (निरुपमा देवी) कभी मुझसे विमुख नहीं होगे। मेरा यह विश्वास भंग मत करना। यदि मिथ्या भी हो तो उससे क्या हानि? यह मिथ्या किसी की कोई हानि नहीं करेगा, बल्कि एक व्यक्ति को आश्रय देगा। नैतिक अवनति. के कारण मैं कितना गिर चुका हूं, यह मापकर देखने की शिक्षा मुझे नहीं मिली। किन्तु दयामाया और प्यार के स्वर्णांग में एक तिल भी दाग नहीं लगेगा, यह निश्चित रूप से कह सकता हूं...।"

लेकिन ऐसा लगता है कि अगले चार वर्षों में इस विश्वास की बहुत रक्षा नहीं हो सकी। स्वयं उसने भी अपने को प्रकट करने की कोई चेष्टा नहीं की। यश की कामना उसे ज़रा भी नहीं थी। मामा गिरीन्द्रनाथ को उसने लिखा था, [5] "यदि मैं यश-लोलुप होता तो इतने दिन इतना समय इतने सहजभाव से नष्ट न कर पाता।"

'मन्दिर' गल्प पर पारितोषिक मिलने पर भी उसने अपने को प्रकट नहीं किया। 'बड़ी दीदी' के छपने पर भी नहीं किया। रवीन्द्रनाथ की भूरि-भूरि प्रशंसा पाकर भी वह अन्धकार में छिपा रहा। लेकिन निश्चय ही कुछ ऐसा हो चुका था जिसने न केवल उसके जीवन को ही बदल दिया बल्कि भारतीय साहित्य की धारा को भी नया मोड़ दिया। जन-मन को अभिभूत कर देने वाली एक जीवन्त सृजनात्मक शक्ति, मानव की अभिज्ञता को रूप देने वाला एक महान लोकप्रिय कथाशिल्पी! क्या सचमुच उसका जन्म हुआ होता यदि सौरीन्द्रमोहन ने 'भारती' में 'बडी दीदी' को प्रकाशित न कर दिया होता? यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि यदि ऐसा न होता तो अपने को छिपाने की प्रवृत्ति में सिद्धहस्त शरत् की प्रतिभा रंगून के एकाउंटेंट जनरल के दफ्तर की फाइलों में ही दफन होकर रह जाती। अपने को छिपाने की इस प्रवृत्ति का कारण उपर्युक्त पत्र में ढूंढा जा सकता है। कुछ और लोगों ने भी नाना रूपों मे इसका विश्लेषण किया है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री इलाचन्द्र जोशी ने, जो कलकत्ता में कई वर्ष उनके सम्पर्क में रहे, लिखा है, "ऐसा जान पड़ता है कि साहित्य-समाज में अपरिचित और अज्ञात बने रहने में उसे एक विचित्र प्रकार के सुख का अनुभव होता था। उसके अन्तर में कुछ ऐसी ग्रन्थियां थीं कि जिनके कारण वह अपने जीवनकाल में ख्याति का सामना करने से कतराता था। और लिखता इसलिए चला जाता था कि उसकी

मृत्यु के बाद उनका प्रकाशन हो। तब एक स्वर्गीय लेखक की रचनाओं के भीतर से बोलने वाली महान आत्मा समस्त लेखकों पर हावी हो जाए।"

शायद इसीलिए लिखना उसका किसी दिन नहीं रुका। धीमी गति से वह निरन्तर चलता रहा। फिर भी उसके बर्मा के साथियों में बहुत कम लोग जानते थे कि शरत् सचमुच एक सुन्दर लेखक है। यह रहस्य प्रकट हुआ उसके एक निबन्ध से जो उसने 'बंगाल क्लब' की 'साहित्य गोष्ठी' के लिए लिखा था।

इस क्लब की स्थापना 'बंगाल सोशल क्लब' से अलग हो जाने वाले कुछ सदस्यों ने की थी। इसकी गोष्ठियों में कविता, कहानी तथा विभिन्न विषयों पर प्रबन्ध पढ़े जाते थे। उन पर चर्चा होती थी। शरत् वाक्पटु तो था ही। आलोचना करने में आगे रहता। तब कई बार मित्रों ने उससे कहा, "इतना बोलते हो तो स्वयं क्यों नहीं लिखते?"

उसने उत्तर दिया, "मैं लिखना नहीं जानता, बहुत कम पढ़ा-लिखा हूं।"

वही झूठ, वही अपने को छिपाने की प्रवृत्ति। लेकिन एक दिन जब नारी चरित्र को लेकर उस गोष्ठी में तुमुल तर्कयुद्ध मच उठा, तब अनेक विद्वानों की पुस्तकों से उद्धरण पर उद्धरण देकर उसने सबको चकित कर दिया। यहीं पर वह फंस गया। मित्रों ने कहा, "तुम तो कहते थे कि बहुत कम पढ़े-लिखे हो। इतना ज्ञान बिना पढ़े कैसे हो सकता है? अगली बार तुम्हें निबन्ध लिखना होगा।"

बचने का कोई मार्ग शेष नहीं रहा था। उसी समय यह घोषणा कर दी गई कि 'नारी के सामाजिक जीवन पर यौन प्रभाव' विषय को लेकर आगामी बैठक में शरत् एक निबन्ध पढ़ेगा। शीर्षक होगा-'नारी का इतिहास।'

इस स्वीकृति के बाद सदस्यों में, विशेषकर युवकों में उत्साह की जैसे कोई सीमा न रही। बड़ी उत्सुकता से वे उस दिन की राह देखने लगे। निश्चित दिन और निश्चित समय पर वह सभा आरम्भ हुई। विषय की रोचकता के अनुरूप उस दिन काफी भीड़ थी। लेकिन वक्ता शरत् कहीं नहीं दिखाई दे रहा था। समय बीतने लगा, भीड़ में व्यग्रता भी बढ़ने लगी। सभापति कुर्सी पर बैठे-बैठे थक गए। आखिर यह निश्चय किया गया कि दो सदस्य शरत् को बुलाने के लिए उसके घर रवाना हों और इस बीच में उद्‌बोधन संगीत के साथ सभा का कार्य आरम्भ कर दिया जाए।

खूब वर्षा हो रही थी। योगन्द्रनाथ सरकार एक अन्य सदस्य के साथ डेढ़ मील की यात्रा पर निकले लेकिन जब घर पहुंचे तो पाया कि शरत् वहां भी नहीं है। बहुत पुकारने पर एक व्यक्ति बाहर आया। सरकार ने कहा, "क्या शरत् अन्दर नहीं है?"

उस व्यक्ति ने पूछा, "आप कौन हैं, और कहां से आए हैं?"

सरकार ने कहा, "हम बंगाल क्लब से आए हैं। आज शरत् को वहां

पूरी बात सुने बिना वह व्यक्ति अन्दर चला गया। दोनों सदस्य चकित रह गए, लेकिन वे कुछ करते इससे पूर्व ही वह व्यक्ति फिर बाहर आया। उसके हाथ में नत्थी किए हुए

कागज़ों का एक ढेर था। सरकार को वे कागज़ देते हुए उसने कहा, "बाबू विशेष काम से बाहर चले गए हैं, सभा में नहीं आ सकेंगे। मुझे ये कागज़ देने को कह गए हैं।"

प्रबन्ध का रूप देखते ही वे दोनों सदस्य घबरा गए। छोटे-छोटे अक्षरों में लिखा हुआ मानो वह महाभारत ही था। लौटकर उन्होंने सभा में इस बात की सूचना दी। निश्चय हुआ कि यदि शरत् बाबू नही आ सके हैं तो उनका यह निबन्ध पढ़ा जाए। लेकिन पढ़े कौन? अक्षर यद्यपि सुन्दर थे फिर भी इतने छोटे थे, और कागज़ इतने अधिक थे कि उनको पढ़ने के लिए कोई भी राज़ी नहीं हो सका। अन्त में यह भार योगेन्द्रनाथ सरकार को ही उठाना पड़ा।

सुना गया कि शरत् ने निबन्ध इसी शर्त पर लिखा था कि वह स्वयं उसे नहीं पढ़ेगा, वह पढ़ ही नहीं सकता था। राशि-राशि कोटेशनों से भरे हुए उस निबन्ध को पढ़ने में योगेन्द्र को पूरे दो घण्टे लगे। लेकिन जब वह निबन्ध पूर्ण हुआ तो सभा स्तब्ध थी। भाषा ऐसी ललित, शैली ऐसी मोहक, विषयवस्तु का निरूपण ऐसा सहज और तर्कसम्मत, ऐसा मौलिक और गंभीर कि सबने मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा की। उसकी बचपन की रचना 'बड़ी दीदी' प्रकाशित हो चुकी थी, लेकिन उसकी सहज प्रतिभा और प्रौढ़ रचनाकौशल का वास्तविक परिचय पहली बार ही प्रकट हुआ।

उसके चित्र देखते-देखते एक दिन योगेन्द्रनाथ ने एक पाण्डुलिपि खोज निकाली थी। मोटे मेलट की कापी पर मोतियों जैसें अक्षरों में आठ-नौ अध्याय लिखे हुए थे। नाम था 'चरित्रहीन'। पढ़ना शुरू किया तो छोड़ते न बना। रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' को छोड़कर ऐसी सुन्दर रचना उन्होंने नहीं पढ़ी थी। अभी कुछ दिन पहले [6] ही तो उसका प्रकाशन हुआ था।

उन्होंने यह भी देखा कि उस पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर कुछ व्यक्तियों के नाम लिखे हुए हैं। पूछा, "ये कौन हैं?"

शरत् ने उत्तर दिया, "भागलपुर में हमारी एक साहित्य सभा थी। उसीके ये भी सदस्य थे।"

उनमें से सौरीन्द्रमोहन मुखोपाध्याय की कहानियों का एक संग्रह 'शेफाली' [7] के नाम से प्रकाशित हो चुका था। योगेन्द्रनाथ ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। तब शरत् ने कहा, "हां-हां, वह खूब मिलता है, और तुम उससे पूछोगे तो वह मुझे अपना गुरु बताएगा।"

सरकार ने कहा, "ठीक है, किन्तु ऐसा लगता है कि अब शिष्य ने गुरु को पराजित कर दिया है।"

हंसकर शरत् ने जवाब दिया, अरे, मैं भी एकदम खराब नहीं लिखता। लिखूं तो बहुतों से अच्छा लिख सकता हुं।"

योगेन्द्र जानते थे कि अन्तर में जो आग है वह बहुत दिनों तक दबी नहीं रह सकती। इसीलिए वे उसे बराबर प्रोत्साहित करने और उकसाने लगे। उसी का परिणाम था यह 'नारी का इतिहास।' बंगाल में कुल-त्याग करने वाली भिन्न-भिन्न ज़िलों की सात सौ अभागिनी

नारियों के करुण जीवन की कहानी इसमें अंकित थी। नाम, पते उम्र, जाति, परिचय और कुल-त्याग का संक्षिप्त विवरण तक दिया था। नारी के यौन जीवन के रहस्य और उसके दैवी और मानवीय अगोचर, विचित्र चरित्र के संबंध में गम्भीर विवेचना और अनुशीलन करके सत्य का उद्घाटन किया था। इसके लिए उसे देश-विदेश के इतिहास और साहित्य का मंथन करना पड़ा था| अपने इस संग्रह के सम्बन्ध मै बहुत दिन बाद उसने लिखा, "इस बात को असंघिग्ध रुप से जान सका की जो कुल त्याग करके आती है उनमे अस्सी प्रतिसत प्राय: सध्वाए है विधवाए बहुत ही कम है| पति के जीवित रहने से ही क्या कड़े पहरे रखने से ही क्या? और विधवा होने से भी क्या? अनेक दुखो से नारी अपना धर्म नष्ट करने के लिए तैयार होती है, और जिस लिए होती है वह पर पुरुस का रुप नहीं, किसी वीभत्स प्रवृति का लोभ भी नहीं| जब वे अपनी इतनी बड़ी वस्तु को नष्ट करती है, तो बाहर जा कर किसी आश्रय वस्तु को पाने के लोभ से नहीं, सिर्फ किसी बात से अपने को मुक्त करने के लिए ही इस दुख को सिर पर उठा लेती है| [8]

लेकिन साधारण लोग यह मानने को तैयार नहीं थे कि शरत् जैसा क्लर्क पश्चिम के दर्शनशास्त्रियों का अध्ययन भी कर सकता है। इसलिए जब भी वह गंभीरता से बातचीत करता तो वे कुछ न समझ पाने और मज़ाक उड़ाने लगते, "अरे क्या शरत् चाटुज्जे है, न जाने यह क्या बकता रहता है?"

वे कुछ भी समझते हों पर वह खूब पढ़ता था। मिल, स्पेंसर और कांट उसको बहुत प्रिय थे। स्पेंसर की सहज-सरल अभिव्यक्ति पर वह मुग्ध था। मानता था कि सत्य की सहज उपलब्धि के बिना अभिव्यक्ति सहज नहीं हो सकती। 'डिस्क्रिप्टिव सोशियोलॉजी' का उसने खूब अध्ययन किया था।

उपन्यासकार डिकेंस का वह अब भी बहुत प्रशंसक था। तालस्ताय भी डिकेंस को प्यार करते थे और दोनों का ऐसा करने का कारण भी एक था। तालस्ताय ने अपनी डायरी में लिखा था, "लेखक की लोकप्रियता की पहली शर्त वह प्यार है जो वह अपने द्वारा सृजित चरित्रों के प्रति प्रकट करता है। इसीलिए तो डिकेंस के चरित्र तमाम विश्व के समान मित्र हैं।" शरत् अमेरिका और रूस के मनुष्य को एक करने वाले इन्हीं चरित्रों की तलाश में था। डिकेंस के अतिरिक्त तालस्ताय तथा ज़ोला और हेनरी वुड भी उसके प्रिय रहे थे, लेकिन रविन्द्रनाथ के प्रति उसकी भक्ति की सीमा नहीं थी। उनसे बड़ा कोई कवि है यह मानने को वह तैयार नहीं था। कहता था, "दूसरे कवियों जैसा होने की चेष्टा की जा सकती है, पर रवि बाबू, देखो तो उनकी यह कविता! ऐसी सुन्दर कविता कोई सकता है?

"जीवने यत पूजा हल ना सारा
जानि है जानि ताओ हर्यान हाग
जे फूल ना फूटिते झरेछे धरणीत
जे नदी मरुपथे हारालो धारा

जानि हे जानि ताओ हयनि हारा
जीवने आजो जाहा रेयेछे पिछे
जानि हे जानि ताओ हयनि मिछे
आमार अनागत, आमार अनाहत
तोमार वीणातारे बाजिछे तारा
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा।"

पढ़ते-पढ़ते उसके नयन भीग आए, बोला "कविता के मूल में कल्पना होने से ही वह महान् नहीं हो जाती, सत्य की उपलब्धि भी होनी चाहिए, तभी साहित्य की सृष्टि होती है।"

सरकार ने कहा, "बहुत-से लोग कहते हैं कि रवि बाबू की कविता बहुत कठिन है?"

शरत् बोला, "यह तो ठीक है, परन्तु सहानुभूति की ऊष्मा से जो वस्तु क्लिष्टता को सरलता में बदल देती है, उसकी उपलब्धि अन्तर से ही हो सकती है। नहीं तो कविता को समझने की चेष्टा विडम्बना-मात्र है। कविता ऐसी हो, जो पढने-सुनने में सुन्दर लगे एक बार पढ़ने-सुनने मात्र से तृप्ति न हो, जिसमें ऐसा गहरा भाव हो जो सहज धारणा से परे हो. नहीं तो 'तुमि मारले धाक्का, आमी मारलाम ठेला' इसे क्या कविता कहते हैं? यह तो उन श्रीमान वंशीमोहन की 'ओहे तालगाछ, तुमि केनो एतो लम्बा, भीत जगदम्बा' जैसी कविता है।"

---

1. 'भारत', बेशाख - 1907 ई० (अप्रैल-मई)।
2. नवम्बर, 1907, से फरवरी, 1908 ई०।
3. 22 फरवरी, 1908 ई०।
4. विभूतिभूषण भट्ट का एक भतीजा।
5. 18 मार्च, 1913 ई०
6. सन् 1910 ई०
7. सन् 1909 ई०
8. 14 अगस्त, 1919 ई०

7

एक ओर अंतरंग मित्रों के साथ यह साहित्य-चर्चा चलती थी तो दूसरी और सर्वहारा वर्ग के जीवन में गहरे पैठकर वह व्यक्तिगत अभिज्ञता प्राप्त कर रहा था। इन्ही में से उसने अपने अनेक पात्रों को खोजा था। जब वह असहाय और निराश्रित अपने इन देशवासियों को देखता तो कातर हो उठता। उन्हें हीन काम करते देखकर उसका आत्माभिमान जाग उठता। यथाशक्ति वह उनकी सहायता करता। देश लौट जाने के लिए स्वयं टिकट खरीदकर जहाज़ पर बैठा आता। अनेक विपथगा नारियों की उसने इसी प्रकार सहायता की।

कैसे-कैसे चरित्र आए उसके जीवन में! उन दिनों खाने-पीने की कोई सुविधा नहीं थी। चाय के प्याले पी-पीकर वह दिन पर दिन बिता देता था। लेकिन एक दिन सहसा घर के पास रहने वाले एक ब्राह्मण पुजारी से उसकी भेंट हो गई। धीरे-धीरे वह परिचय इतना घनिष्ठ हो उठा कि पुजारी ने उससे कहा "दादा आपको खाने की बड़ी असुविधा है, तब क्यों नही आप हमारे घर खाते"?

"नहीं-नहीं", उसने कहा, "मुझे कोई असुविधा नहीं है।"

लेकिन पुजारी का आग्रह निरन्तर बढ़ता ही गया। आखिर उस परिवार के स्नेह-निमन्त्रण को वह अस्वीकार नही कर सका। इसका एक और भी कारण था। बामन ठाकुर की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। शरत् यदि उसके घर खाता है तो इससे उसको भी लाभ होगा, यही सोचकर वह सहमत हो गया। लेकिन अचानक एक दिन उस घर में एक असभ्याव्य घटना घट गई। शरत् नहीं जानता था कि घर में जो नारी खाना बनाती है, वह बामन ठाकुर की पत्नी नहीं, रक्षिता है। उस नारी का नाम हरिमति था। शरत् बाबू का वह बहुत आदर करती थी। उस दिन न जाने किस बात को लेकर दोनों में झगड़ा शुरू हुआ कि बामन ठाकुर गले का जनेऊ कमर में बाधकर हठात् आसन से उठ खड़ा हुआ। बोला, "देखो तो दादा, मागी का काण्ड, इस छोटी जात का दिमाग.....!"

वह अपना वाक्य पूरा भी न कर पाया था कि हरिमति भभक उठी। शीघ्रता से उसने भात की हंडिया चूल्हे पर रखी। सिर पर कपड़ा लिया और दरवाजे की आड़ में खड़े होकर बोली, "सावधान, छोटी जात का कौन है? तू, तू है, मैं नहीं। खबरदार, जात को लेकर बात मत कर। तू सोचता है कि मैं बाजारू औरत हूं कि जो बोलेगा मान लिया जाएगा। मैं वैष्णवी हूं। तेरे जैसी छोटी जात के ब्राह्मण बहुत देखे हैं। मुंह संभालकर बात कर। न खाने को देता है, न पहनने को, उस पर डींग मारता है इतनी लम्बी.....!"

फिर जो वाक्‌युद्ध आरम्भ हुआ उसका कोई अन्त नहीं था। शरत् समझ गया कि वे लोग बेहद गरीब हैं और वामन ठाकुर का बर्ताव हरिमति के साथ बहुत अच्छा नहीं हैं। परिश्रम कर-करके खिलाते-खिलाते, वह बीमार रहने लगी है। उम्र भी काफी हो गई है।

उसे बहुत दुख हुआ। उसने झगड़ा समाप्त कराने का प्रयत्न किया। लेकिन वह सफल नहीं हो सका। इसी प्रसंग को लेकर उसकी बामन ठाकुर से काफी तेज कहा-सुनी हो गई और उसके बाद उसने हरिमति को खर्च देना बन्द कर दिया। अब तो उसके कष्टों की सीमा न रही। रो-रोकर उसने शरत् बाबू को अपनी सारी कहानी कह सुनाई।

शरत् बोला, "मेरी सलाह है कि तुम कलकत्ता चली जाओ।"

हरिमति ने कहा, "दादा ठाकुर, आप यदि प्रबन्ध कर देंगे तो बड़ी कृतज्ञ होऊंगी। मागो के इस देश से मैं जितनी जल्दी हो सके चली जाना चाहती हूं।"

शरत् बाबू ने उसे कलकत्ता भेजना स्वीक़ार कर लिया। परन्तु हठात् एक दिन उसे ज्वर हो आया और चौबीस घण्टे के भीतर ही उसके प्राण मुक्त हो गए। डाक्टर ने आकर बताया, "प्लेग है।"

शरत् मुसीबत में फंस गया। प्लेग का नाम सुनकर कोई पास नहीं आया। किसी तरह शराब पिला-पिलूकर उसने चार-पांच व्यक्तियों को तैयार किया और तब कहीं जाकर हरिमति का अंतिम संस्कार हो सका।

मिस्त्री पल्ली में ऐसी कहानियों का कोई अन्त नहीं था और किसी न किसी मार्ग से होकर शरत् उनसे जा जुड़ता था। वह होम्योपैथी दवाइयां भी बांटता था। डाक्टर के रूप में भी उसकी प्रसिद्धि कम न थी। उस दिन पड़ोस के मिस्त्री की स्त्री को तेज़ ज्वर हो आया तो वह दौड़ा-दौड़ा शरत् बाबू के पास आया और रोता हुआ बोला, "दादा ठाकुर, बहू को बहुत तेज ज्वर हो आया है। आप चलकर ज़रा देख लीजिए।"

सदा की तरह होम्योपैथी का अपना बक्स उठाकर शरत् उसके साथ चल पड़ा। स्त्री सचमुच ज्वर के कारण संज्ञाहीन थी, लेकिन भाग्य की बात कि दवा देने पर उसकी संज्ञा लौट आई। और ज्वर भी धीरे-धीरे उतर गया। उसी क्षण से वह स्त्री उन्हें 'बाबा' [1] कहकर पुकारने लगी।

धीरे-धीरे यह स्नेह-सम्बन्ध प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होता गया। लेकिन हठात् एक दिन शरत् बाबू ने सुना कि दोनों में कुछ झगड़ा हो गया है। और वह झगड़ा काफी तीव्र है। शरत् ने मिस्त्री से पूछा, "मैंने तुम्हारी स्त्री को कभी जोर से बोलते हुए नहीं सुना। आज क्या बात हुई?"

मिस्त्री अत्यन्त क्रुद्ध था। बोला, "आप तो सब कुछ जानते हैं बाबा ठाकुर। मैंने इस मागी को श्मशान से लौटाया कि नहीं? न इसे खाने का कष्ट है, न पीने का, पहनने को अच्छे कपड़े मिलते हैं, लेकिन फिर भी रात-दिन झिक-झिक करती रहती है। अगर ऐसा ही करना था तो मेरे साथ कण्ठी-बदल क्यों की?"

अपनी स्त्री को दोष लगाते हुए मिस्त्री को शरत् ने कभी नहीं देखा था। अब एकाएक इतनी बड़ी बदनामी उसके सिर पर लाद दी गई। तब भला वह कैसे चुप रह सकती थी? सिर पर कपड़ा डालकर वह आड़ में आकर खड़ी हो गई और तीव्र स्वर में बोली, बाबा ठाकुर के सामने तुमने मेरे बारे में बहुत कुछ कहा है। अपने को भद्र व्यक्ति बता रहे हो और मेरा सर्वनाश करके मेरे ही सिर पर दोष लगा रहे हो। वह तो मौसी थी, नहीं तो मुझे कल तुम मार ही बैठते। भला मैं तुम्हारी मार क्यों खाऊं? बार-बार मुझे कहते हो, 'निकल, निकल जा', मैं क्या कुछ सुनती-समझती नहीं? वह तो कहनी ही होगी, और कहना भी क्या है! मेरा गहना-गांठा और कलकत्ते का खर्च-पत्तर मुझे दो और अपनी मागी को लेकर जहां जाना है जाओ। बहुत सह चुकी। अब और मुझसे नहीं सहा जाता। मेरा सब कुछ तो ले लिया, अब बाहर निकालता है? तेरे जैसे छोटी जात वाले के ऊपर झाड़ू मारती हूं। कलकत्ता में भीख मांगकर खा लूंगी लेकिन अब और नहीं सहूंगी। आज ही इसी समय मुझे सब कुछ चाहिए। कहे देती हूं। अब मेरा सर्वनाश कर दिया लेकिन अभी भी चन्द्र-सूर्य प्रकाशित हैं। भगवान करे रात बीतते-बीतते तेरा सर्वनाश देखूं। '

यह कहकर बहू कपडा मुंह में देकर फूट-फूटकर रोने लगी। शरत् ने उस समय किसी तरह समझा-बुझाकर उन्हें शांत किया। मिस्त्री कारखाने चला गया, लेकिन फिर लौटकर नहीं आया। एक-एक करके कई दिन बीत गए और इसी बीच में शरत् ने सब कुछ पता लगा लिया। बहू का इस काण्ड में कोई अपराध नहीं था। मिस्त्री की विवाहिता पत्नी भाई के पास आकर ठहरी थी। उसी को लेकर न जाने वह कहां चला गया। शरत् बाबू ने तब उससे कहा, तुम कलकत्ता चली जाओ। '

बहू बोली, कलकत्ता जाकर अब मैं क्या करूंगी, दादा ठाकुर, मेरे लिए तो काशीवास ही ठीक है।

शरत् ने उसे काशी भेज दिया।

इन कहानियों का कोई अन्त नहीं था और यह भी नहीं था कि वह केवल सर्वहारा वर्ग में ही रुचि लेता हो। कष्ट में पड़े अपने मित्रों को सहायता करने से भी वह कभी पीछे नहीं हटता था।

एक मित्र थे श्री सुरेन्द्रनाथ मान्ना। दोनों एक ही घर में रहते थे। गाने-बजाने का शौक था। विशेषकर संकीर्तन में उसकी रुचि थी। शरत् सुर-योजना करता और वह गाता था। उनका अपना एक संकीर्तन दल था। एक दिन अचानक सुरेन्द्र की नौकरी छूट गई। करे तो क्या करे। बहुत प्रयत्न करने पर उसे पता लगा कि नामटू गोल्ड माइन में नौकरी मिलने की सम्भावना है। शरत् ने कहा, तुम फौरन नामटू चले जाओ। '

कई दिन बीत गए। लेकिन सुरेन्द्र नहीं जा सका। शरत् ने पूछा, क्यों, तुम जा क्यों नहीं रहे हो?'

पहले तो वह कुछ झिझका। फिर उसने कहा, कैसे जाऊं दा ठाकुर? पास में एक भी तो पैसा नहीं है। होटल के खाने का पैसा देना है। मित्रों से उधार ले रखा है वह भी चुकाना है।

शरत् ने सहसा कुछ जवाब नहीं दिया। साधारण किरानी ही तो था। लेकिन दूसरे दिन सुरेन्द्र को उसने बुला भेजा। बोला, नामटू जाने का रास्ता जानते हो? पहले मांडले जाना होगा। फिर लासिओं के मार्ग पर नामिओ आएगा। वहां से गोल्ड माइन की ओर एक गाड़ी जाती है। वह मुसाफिरों को नहीं ले जाती। लेकिन तुम्हारे पास तुम्हारे मित्र का जो पत्र है वह उन्हें दिखाओगे तो वे तुम्हें ले जायेंगे। भाड़े में कुल पन्द्रह रुपये खर्च होते हैं। वह मैं तुम्हें देता हूं। तुरन्त चले जाओ।"

सुरेन्द्र को सहसा विश्वास नहीं आया। फिर बोला दादा ठाकुर! मुझे कर्जा भी तो चुकाना है।

शरत् ने कहा, "उसके बारे में चिन्ता मत करो, मैं सब चुका दूंगा। और देखो, वहां सर्दी बहुत पड़ती है। कपड़ों की जरूरत हो तो मुझे लिख देना। "

फिर पैसे देकर कहा, गाड़ी सवेरे ही जाती है। तुम निश्चिंत होकर चले जाओ। '

वह चला गया, लेकिन शायद वह नहीं जानता था कि किराये के पैसे देकर शरत् के पास उस दिन एक भी पैसा नहीं बचा। केवल एक प्याला चाय पीकर ही वह दफ़्तर गया था और रात को केवल एक कटोरा दूध पीकर ही उसने गुज़ारा किया था।

योगेन्द्र ने नारद मुनि का चित्र बनाते शरत् को देखा था। ऐसे और भी न जाने कितने व्यक्ति नाना प्रकार की सहायता मांगने उसके घर आते रहते थे। एक दिन इन्हीं व्यक्तियों के दुख-दैन्य की चर्चा चल रही थी कि सीढियों पर ठक, ठक ठक शब्द सुनाई दिया। झांककर देखा तो वही चिर परिचित नारद मुनि। लाठी के सहारे कांपते-कांपते ऊपर चढ़ रहा है।

शरत् तुरन्त दौड़कर नीचे गया और बड़े प्यार से सहारा देकर ऊपर ले आया। उसका परिचय देते हुए उस दिन उसने योगेन्द्र से कहा 'यह व्यक्ति सचमुच ही भगवान की दया का पात्र है। प्यार के कारण कोई याद अपना सब कुछ लुटाकर राह का भिखारी हो सकता है तो इसकी कहानी सच ही है। पुरोहित को बुलाकर शंख बजाकर और मन्त्र पढ़कर इसने विवाह किया था या नहीं, यह तो यह जाने या इसका अन्तर्यामी जाने लेकिन वह कोई भी रही हो उसे इसने किसी मन्त्रपूत पत्नी से कम प्यार नहीं किया। वहीं उसकी पत्नी उस बार प्लेग में मर गई। उसी क्षण इसका दिमाग खराब हो गया। डाक्टर का खर्चा भी क्या कम हुआ! तीन-चार सौ से अधिक ही हुआ होगा। फिर भी यदि पत्नी बच जाती तो कोई बात नहीं थी। इसीलिए मैं कहता हूं कि यह सचमुच भगवान की दया का पात्र है। उन्होंने जैसे उसे मारा है वैसे ही रक्षा भी करेंगे। नहीं तो संसार कैसे चलेगा?'

इतना कहकर शरत् ने दीर्घ नि:श्वास ली। कई क्षण शून्य में ताकता रहा। शायद उसे अपनी पत्नी की याद हो आई थी। वह भी तो इसी प्लेग में चल बसी थी। फिर अन्दर जाकर

चाय ले आया और स्नेहपूरित नयनों से देखते हुए बोला, 'देखो नारद मुनि, जब जो चाहिए मुझे आकर बताना। यदि ऐसा नहीं करोगे तो मैं कभी माफ नहीं करूंगा। यदि किसी दिन भी सुना कि तुम भूखे रहे तो साफ कहता हूं फिर मेरी चौखट पर मत चढ़ना। '

गद्‌गद्‌ होकर नारद मुनि ने कहा, 'ऐसी बात कभी हो सकती है देवता! आप जैसे दयालु ठाकुर के रहते मैं भूखा रहूंगा?'

"हां, लोहा-लक्कड़, काल-कब्ज़े का सख्त काम करते हो, यह सीधा-सा काम नहीं कर सकोगे? कर सकोगे?

यह कहकर शरत्‌ तम्बाकू पीने लगा। नारद मुनि उस व्यक्ति का असली नाम नहीं था। वह तो एक साधारण मिस्त्री था। कौन-सा नशा उसने नहीं किया था। पाप की परिभाषा में जो काम आ सकते हैं वे भी उसने या उसके दूसरे साथियों ने कम नहीं किए थे। शनिवार को शराब पीकर सोमवार तक धुत पड़े रहने की बात उनके लिए बहुत सहज थी। फिर बीमारी का बहाना बनाकर वे छुट्टी ले लिया करते थे।

शराब पीकर अति करते उसने न जाने उन्हें कितनी बार देखा, तभी तो 'अधिकार' का स्रष्टा लिख सका था—खाली लकड़ी के फर्श पर बैठे हुए छः-सात मर्द और आठ-दस औरतें मिलकर शराब पी रहे थे। एक टूटा- सा हारमोनियम और एक बांया तबला बीच में पड़ा था। तरह-तरह की छोटी-बडी रंग-बिरंगी रीती बोतलें चारों तरफ लुढ़क रही थीं। एक बूढ़ी-सी औरत ज्यादा नशा हो जाने के कारण एक तरफ इस तरह पड़ी हुई थी कि उसे नंगी भी कहा जा सकता था। साठ से लेकर पच्चीस वर्ष तक के स्त्री-पुरुष उसमें शामिल थे। आज रविवार था। छुट्टी का दिन ठहरा। प्याज- लहसुन की तरकारी की और साथ-साथ सस्ती जर्मन शराब की, अवर्णनीय दुगना अपूर्व की नाक में जाते ही उसका जी मिचलाने लगा। एक कम उम्र की औरत के हाथ में शराब का गिलास था। शायद वह अब तक पक्की पियक्कड़ नही हो पाई थी। क्योंकि थोड़े ही दिन पहले घर से निकली थी। उसने बायें हाथ से अपनी नाक दबाकर बड़ी मुश्किल से शराब का गिलास अपने मुंह में उड़ेल लिया और तख्तों की संध में से लगी बार-बार धूकने। एक मर्द ने जाकर झटपट उसके मुंह में तरकारी ठूस दी। एक भारतीय स्त्री को अपनी आखों के सामने शराब पीते देख अपूर्व एकदम हक्का-बक्का-सा हो गया। "

लेकिन शरत्‌ हक्का-बक्का नही हुआ। क्योंकि वह जानता था कि ये लोग उससे अलग कहां थे, और इसीलिए मानता था कि भलाई करना अगर संसार में कोई शब्द हो और उसकी अगर कहीं जरूरत हो तो यहीं पर है। जब लोग अति करके अपना जीवन नष्ट करते हैं तो उनसे घृणा नहीं की जा सकती। प्यार से उन्हें समझाया ही जा सक्ता हे। एक दिन योगेन्द्र के सामने ऐसा ही एक व्यक्ति बीमार होने की बात कहकर छुट्टी की अर्जी लिखवाने आया। शरत्‌ ने सदा की तरह अर्जी लिख दी और वह चला गया। तब योगेन्द्र ने शरत्‌ से पूछा, 'बीमारी के कुछ लक्षण तो दिखाई नहीं देते।'

शरत् हंस पड़ा। बोला, हो तो दिखाई दें। शनिवार की संध्या को सिर पर भूत सवार होता हे। फिर दो-तीन दिन उसी के अधीन रहते हैं। बहुत समझाता हूं धमकी देता हूं कि यदि इस शनिवार को भी भूत चढ़ा तो मैं स्वयं जाकर तुम्हारे साहब को बता दूंगा। तब तुम्हारी नौकरी खत्म हो जाएगी। उस समय ये लोग तरह-तरह की कसम खाते हैं। कहते हैं, 'अब नहीं पिएंगे। कभी पिएं तो मां-बाप के रक्त के समान। ' लेकिन मां-बाप का रक्त भी उनकी रक्षा नहीं कर पाता। '

चकित होकर सरकार ने कहा, 'ऐसे लोगों के बीच में आप क्यों रहते हैं?

जैसे किसी ने तीव्र आक्रमण किया हो। शरत् ने आंखें उठाकर सरकार की ओर देखा। वे डबडबा आई थीं। कहा, "बेशक ये लोग अभागे हैं सरकार, लेकिन फिर भी मनुष्य तो हैं ही। इनका कुछ भला न करके मैं इन्हें दुरदुराऊं तो ये और भी बिगड़ जायेंगे।"

जैसे वह कहीं खो गया हो। कई क्षण इसी तरह आत्मविभोर बैठा रहा, फिर बोला, "मनुष्य से किसी भी अवस्था में घृणा नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति खराब दिखाई देते हैं उन्हें सुधारने की चेष्टा करनी चाहिए। यह बहुत बड़ा काम है। भगवान के इस राज्य में मनुष्य जितना शक्तिशाली है उतना दुर्बल भी है। किसी दिन सोमवार के सवेरे यहां आकर देखो तो पाओगे मैं सच कह रहा हूं। सिर का भूत जब उतर जाता है तब संसार का भान होता है। अर्ज़ी न देने पर साहब उन्हें बरखास्त कर देगा। तब क्या होगा? वेतन काटने या जुर्माना होने पर भी इतना नुकसान नहीं होता। यही सोचकर लज्जा से सिर नीचा किए हुए वे बीमारी की अर्ज़ी लिखवाने मेरे पास आते हैं। उस समय मैं उनकी बुरी आदत को भूल जाता हूं और केवल यही सोचता हूं कि हाय, ये अभागे मनुष्य कितने असहाय हैं?"

कहते-कहते शरत् की आंखें फिर सजल हो आईं।

वह क्रोध न करता हो यह बात नहीं, लेकिन घृणा कभी नहीं करता था। क्योंकि वह मानता था कि बुद्धि और हृदय की विशालता के मामले में शराब पीने वाले न पीनेवालों से क्षुद्र हैं, यह किसी भी तरह सत्य नही है। इसीलिए वे लोग उसका सम्मान करते थे और उसे 'बामुन दा' कहकर पुकारते थे। उनके साथ मिलकर उसने एक संकीर्तन दल का गठन भी किया था। यद्यपि उसका मन अभी तक ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाया था तो भी उनके दुर्गुण छुड़ाने के उद्देश्य से वह खूब कीर्तन करता था और रामकृष्ण मिशन के उत्सव में भाग लेता था।

क्या यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि जो स्वयं शराब पीने और नाना प्रकार के दूसरे गुनाह करने के लिए बदनाम हो वह दूसरों के ये ही दुर्गुण छुड़ाने का प्रयत्न करे। अपने मित्रों को समय-समय पर लिखे गए पत्रों में उसने अपने इन दुर्गुणों का रस ले-लेकर बखान किया है। और इसी के आधार पर बहुत-से लोगों ने बहुत-सी अविश्वसनीय घटनाओं की सृष्टि कर ली है। लेकिन ये सब अतिरंजित ही नहीं, झूठ भी है। सत्य केवल इतना ही लगता है कि उसके अन्तर में कई शरत् आसन जमाये बैठे थे और इसीलिए वह अपने चारों ओर एक

रहस्यमय वातावरण बनाये रखना चाहता था। अपने को छिपाये रखने और उपचेतना में कुंडली मारकर बैठे हुए समाज से बदला लेने की भावना उससे यह सब काम करवाती रहती थी। वह 'कुछ' है, यही वह बताना चाहता था। अन्यथा पीकर माताल होते शायद ही किसी ने उसे देखा हो। पचास वर्ष बाद [2] उसके एक साथी के छोटे भाई ने कहा था, "उस दिन वे बहुत देर से लौटे। मेस के द्वार बन्द हो चुके थे। बार-बार पुकारने पर भी किसी ने उधर कान नहीं दिये। आखिर मैंने ही द्वार खोला। वे अन्दर आये। शायद बहुत पुकारने से उनका जी खराब हो गया था, उन्हें कै हो गई। उन्होंने पी रखी थी पर वह होश में थे। बडे प्यार से उन्होंने मुझसे कहा, 'कनिष्ठ, तुम ही बस मुझे प्यार करते हो।"

पीते और लोग भी थे। वह भी पीता था। लेकिन इसी कारण लक्ष्यभ्रष्ट वह कभी नहीं हुआ। उसका सबसे बड़ा अपराध यही था कि वह तथाकथित छोटे और चरित्रहीन लोगों के बीच में रहता था। यही नहीं, अवसर पाकर वह जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि तत्कालीन बदनाम द्वीपों मे घूमने निकल जाता और वहां के लोगों के बीच में उनका होकर जीवन को जीता। इस प्रवृत्ति के कारण उसने बहुत कुछ खोया पर बहुत कुछ पाया भी। शरीर एकदम जर्जर हो गया परन्तु अभिज्ञता का कोश बढ़ता ही गया।

और यह अमिज्ञता प्रकट हुई 'श्रीकान्त' में, 'चरित्रहीन' में और उन अनेक कहानियों में, जिन्होंने उस युग के मानव का मन मोह लिया था। और आज भी क्या वह उस मोह से मुक्ति पा सका है।

---

1. पिता

2. 1960 ई० में लेखक रंगून में उससे मिला था।

8

शांति की मृत्यु के बाद शरत् ने फिर विवाह करने का विचार नहीं किया। आयु काफी हो चुकी थी। यौवन आपदाओं-विपदाओं के चक्रव्यूह में फंसकर प्राय: नष्ट हो गया था। दिन-भर दफ्तर में काम करता था, घर लौटकर चित्र बनाता या लिखता। लेकिन सभ्य समाज में उसको लेकर जो नाना प्रकार के प्रवाद प्रचलित होते रहते थे उनमें कोई कमी नहीं हुई थी। उनमें एक यह भी था कि शरत नीच जाति की एक स्त्री के साथ रहता है। एक कहता, "उस स्त्री का नाम बिराज बहू है।"

दूसरा कहता, "उसका नाम नयनतारा है।"

तीसरा कहता, "नहीं, उसका नाम शशितारा है।"

और भी कई नाम वे लोग जानते थे, लेकिन किसी ने उसके घर जाकर वास्तविकता का पता लगाने का प्रयत्न नहीं किया। भद्र लोग एक चरित्रहीन के घर जा भी कैसे सकते है? कार्यवश किसी को जाना भी पड़ता तो वह बाहर बैठक में बैठकर ही चला आता। उसके लिए इतना जान लेना ही क़ाफी होता था कि घर में कोई नारी है। और वह उसकी पत्नी नहीं है।

उस बार माघोत्सव के अवसर पर कीर्तन के लिए मृदंग की आवशकता हुई। एक सहकर्मी ने कहा, "शरत् के पास मृदंग है, मैं वहां से ले आऊंगा।"

इससे पूर्व वह कभी शरत् के घर नहीं गए थे। उस दिन जाने पर उसने उनका बड़ा स्वागत किया। कहा, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं?"

बन्धु बोला, "ब्रह्म समाज के उत्सव के अवसर पर मृदंग की आवश्यकता आ पड़ी है। क्या आप दे सकेंगे?"

शरत् ने उत्तर दिया, "हां-हां, यह जो टंगा है, यह आपके लिए ही है।"

बन्धु बोले, "क्या कोई व्यक्ति यहां से इसे ले जाने के लिए भी मिल सकता है?"

उस दिन रविवार था और वहां की जो स्थिति थी उसमें उस समय किसी व्यक्ति का मिल पाना बड़ा कठिन था। शरत् कुछ उत्तर दे पाता कि भीतर से एक नारी-कण्ठ ने उलाहना दिया, "जो भक्त है, उन्हें मृदंग उठाने के लिए किसी की सहायता की आवश्यकता क्यों हो?"

यह तीव्र व्यंग्य था। बन्धु ने उस चोट को अनुभव किया। कहा, "निश्चय ही मैं इसे स्वयं उठाकर ले आऊंगा।"

वह मृदंग लेकर चले गए। और साथ ही यह जानकारी भी ले गए कि शरत् के घर में एक नारी है जो धर्मप्राण जान पड़ती हे।

वह नारी प्रचलित अर्थों में उनकी पत्नी नहीं थी। हिन्दू रीति से बरात चढ़ाकर और अग्नि के चारों ओर फेरे देकर उन्होंने उससे विवाह नहीं किया था लेकिन वह उनकी जीवनसंगिनी निश्चित ही थी।

बंगाल से कृष्णदास अधिकारी नाम के एक व्यक्ति रंगून पैसा कमाने के लिए आए थे। वह मेदिनीपुर ज़िले के रहनेवाले थे। उनके साथ उनकी कन्या भी थी। नाम था उसका मोक्षदा। उस कन्या के साथ कोई न कोई प्रवाद जुड़ा था। क्या था इसकी कल्पना अनेकों ने अनेक प्रकार से की है। पर वह मात्र कल्पना ही है, सत्य नहीं। फिर वह सुन्दर ज़रा भी नहीं थी। न दूध जैसा रंग न चित्रांकित नयन। पर अंगों की सुडोलता अद्‌भुत थी। वृष्टि से भीगे फूल-पत्तों जैसा लावण्य था, और स्नेहमयी भी वह कम नहीं थी। पिता अधिकारी थे। अधिकारी वैष्णव होते है, कुलीन ब्राह्मण नहीं होते। फिर गरीबी इतनी थी कि दहेज की व्यवस्था करना असम्भव था। इसीलिए तो बेचारे पैसा कमाने के लिए ही यहां आये थे। इतनी दूर बर्मा में अपवाद की बात भी कौन जान सकेगा।

अधिकारी महाशय जिस व्यक्ति के पास रुके थे वह शरत् का भी मित्र था। उसी नाते उसका उनसे परिचय था। दूसरों के दुख से दुखी हो उठना उसका स्वभाव था। अधिकारी महाशय की भी सहायता करने का उसने प्रयत्न किया। परन्तु मोक्षदा के लिए वर ढूंढना संभव नहीं हो सका। एक दिन कृष्णदास ने शरत्चन्द्र से कहा, "लड़की सयानी हो गई है। मैं इसे अकेला लेकर कहां घूमता फिरूं? गरीब ब्राह्मण हूं। यदि आप अनुग्रहपूर्वक इसे ग्रहण कर लें, तो मेरा बड़ा उपकार होगा।"

शरत् इसके लिए तैयार नहीं हो सका। लड़की को वह जानता था। उसके लिए कुछ करना भी चाहता था। लेकिन विवाह करने की स्थिति में वह नहीं था। शायद अभी शांति देवी की स्मृति उसे परेशान कर रही थी।

अचानक इसी समय वह बीमार पड़ गया। बीमार तो वह सदा ही रहता था। स्वतंत्र और दायित्वहीन जीवन में खाने-पीने की व्यवस्था जैसी हो सकती है वैसी उसकी थी। फिर बर्मा ठहरा मलेरिया और प्लेग का घर। उसका ज्वर तेज़ हो चला। उस समय मोक्षदा ने बंगाली नारी के आन्तरिक स्नेह के साथ उसकी देखभाल की। कई दिन बाद, जब उसका ज्वर उतरा तो पाया मोक्षदा उसके सिरहाने बैठी है। पूछ रही है, "अब जी कैसा है?"

यह स्नेहसिक्त संबोधन सुनकर शरत् को शान्ति की याद हो आई। मां के बाद उसके जीवन में वही तो एक नारी थी, जिसने सचमुच उसे स्नेह दिया था। आज फिर वही स्नेहसिक्त वाणी उसे आन्दोलित करने लगी। दृष्टि में कृतज्ञता भरकर उसने कहा, "अब ठीक हूं। तुमने मेरी बहुत सेवा की। मेरा सारा कष्ट जैसे तुमने ही सहा है।"

मोक्षदा की आखें भर आईं। अपना हाथ शरत् के माथे पर धीरे-धीरे फेरते हुए वह अवरुद्ध कण्ठ से बोली, "मुझ अभागिनी को इतना बड़ा सौभाग्य कहां मिल सकता है?"

शरत् क्षीण पर स्नेहसिक्त स्वर में बोला, "नहीं-नहीं, तुम अभागिनी नहीं हो। तुम बंगाल की नारी हो। तुम चिरस्नेहमयी हो।"

फिर वह जैसे अपने-आप से बातें करने लगा हो, "तुम्हें रूप का वरदान नही मिला, लेकिन तुम्हारे अन्तर में स्नेह का सागर है। तुम जिसके साथ भी रहोगी, वह धन्य होगा। मेरी मां भी ऐसी थी। वह भी अन्तर के रूप से रूपसी थी। तुम भी वैसी ही महान हो।"

मोक्षदा ठीक-ठीक नहीं सुन पाई, लेकिन उसने शरत् के प्रकाशित होते श्यामल मुख को देखा। वह जैसे भर उठी। विलासी ने मृत्युंजय को जीत लिया [1]। उसकी स्नेहसिक्त छाया में शरत् धीरे-धीरे अच्छा होने लगा। कृष्णदास बहुत प्रसन्न थे। उन्हें जैसे विश्वास हो चला था कि अब उनके कष्ट दूर हो गए हैं। लेकिन शरत् फिर भी विवाह के लिए राज़ी नहीं हुआ।

तब एक दिन कृष्णदास ने कहा, "यदि आप मोक्षदा से विवाह नहीं करना चाहते तो मुझे कुछ धन दीजिए, जिससे मैं देश लौटकर इसका विवाह कर सकूं।"

शरत् के पास इतना पैसा कहां था? वह अधिकारी महाशय की सहायता नहीं कर सका। लेकिन तभी एक दिन क्या देखता है कि बिना कुछ कहे कृष्णदास अधिकारी मोक्षदा को उसी के पास छोड़कर भारत लौट गए हैं। मोक्षदा अत्यन्त कातर हो उठी। शरत् भी उद्विग्न हो आया, फिर भी उसने मोक्षदा को सांत्वना दी। कहा, "तुम्हें दुखी होने की आवश्यकता नही। जब तक कोई और प्रबन्ध हो, तुम यही रह सकती हो।"

और मोक्षदा शरत् के पास रहने लगी। और उसको लेकर एक बार फिर नाना प्रकार के प्रवाद प्रचलित होने लगे। एक दिन शरत् ने कहा, "चलो, मैं तुम्हें कलकत्ता छोड़ आता हूं।"

लेकिन कहना जितना सरल था, मोक्षदा को छोड़ना उतना ही कठिन था। बचपन से ही जो दूसरों के लिए प्राण संकट में डालता आया है, वह कैसे इस निरीह लड़की को छोड़ देता। इसीलिए एक दिन लौटकर शरत् ने मोक्षदा से कहा, "आज मैंने तुम्हारे लिए एक वर ढूंढ लिया है।"

मोक्षदा हठात् शरत् की ओर देखती रह गई। फिर उसकी आंखें भर आईं। बोली, "इस तरह की बातें करते हुए आपको अच्छा लगता है?"

शरत् ने कहा, "ना-ना, मैं परिहास नहीं कर रहा और तुम्हें बुरा भी नहीं मानना चाहिए। आखिर तुम्हें विवाह तो करना ही है, जो व्यक्ति मैंने तुम्हारे लिए ढूंढा हैं, वह तुम्हारा आदर करता है और तुम्हारे प्रति सदय भी है।"

मोक्षदा और भी विस्मित हो उठी। अटक-अटक कर उसने कहा, "मैं इस बारे में कुछ नहीं जानती। वह व्यक्ति कौन है? बिना जाने उसके बारे में मैं क्या कह सकती हूं?"

शरत् ने शरारत से मुस्कराते हुए कहा, "तुमने उसे देखा है।

"क्या?"

"हां, बहुत बार देखा है।"

जैसे मोक्षदा के मस्तिष्क में प्रकाश उभरने लगा। फिर भी अनजान बने रहते हुए उसने कहा, मैं कुछ नहीं जानती।"

शरत् बोला, "मुझे नहीं जानती?"

मोक्षदा ने एकाएक दृष्टि उठाकर शरत् की ओर देखा। अविश्वास और विस्मय से भरी वह दृष्टि शरत् के अन्तर में भर गई। फिर सहसा भरी हुई बदली की तरह वह नीचे झुकी कि शरत् के चरण पकड़ ले, लेकिन बीच में ही रोककर शरत् ने कहा, "क्या तुम्हें वह व्यक्ति स्वीकार है ?"

मोक्षदा ने अब भी कोई जवाब नहीं दिया। वह उसी तरह नीचे. झुकी रही।

इसके बाद कहने को कुछ शेष नहीं रह जाता। शैव रीति से दोनों ने विवाह कर लिया। शायद यह कहानी राई-रत्ती इसी तरह नहीं घटी, कैसे घटी यह कोई नहीं जानता, पर यह सच है कि यह विवाह समाज और कानून सभी प्रकार के विवाहों से किसी प्रकार कम नहीं हुआ। लेकिन जब तक गाजे-बाजे के साथ विधि-विधान सम्पन्न न हो, तब तक समाज इस बात को कैसे स्वीकार करे। न करे, सर्वहाराओं के बीच रहने वाले शरत् ने तो स्वीकार कर लिया था। उसने मोक्षदा से कहा, "आज से तुम हिरण्मयी हुई। तुम खरे सोने के समान हो। उस पर कभी भी किसी प्रकार का मैल नहीं जम सकता। तुम्हारे अन्तर के उज्जवल रूप को मैंने देख लिया है। वह मेरी शक्ति बनेगा।"

मालती से सुरेन्द्र भी तो यही कहता है, "तुमसे विवाह कर लिया, इतने दिनों में आज तुम मेरी स्त्री हुई। अब तुम कहीं, भाग नहीं सकोगी। जो माला, आज मैंने पहनाई है उसके बन्धन को जन्म-जन्मान्तर में भी तुम खोल नहीं सकोगी।" (शुभदा)

और उस दिन हिरण्मयी ने कानूनसम्मत पत्नी न होते हुए भी पत्नीत्व के दायित्व को पूण रूप से ओढ़ लिया। मन का यह मिलन ही सच्चा विवाह है। विवाहमंत्र चाहे भाषा में पढ़े जाएं, चाहे संस्कृत में इससे क्या होता है? इस दुनिया में स्त्री-पुरुष के ऐसे मिलन हुए हैं जिन्हें किसी भी तरह पवित्र नहीं कहा जा सकता। उन सब मिलनों को को भी समाज ने स्वीकार किया था और विवाह के मंत्रों से पवित्र भी कर लिया था। इसलिए हिरण्मयी देवी मंत्र दीक्षित पत्नी नहीं हुई तो क्या हुआ? समाज ने उन्हें पत्नी की प्रतिष्ठा नहीं दी तो उससे क्या अन्तर पड़ता है? शरत् के प्रति उनके हृदय में आदर, भक्ति और श्रद्धा का अंत नहीं था। वह भी उन्हें मन-प्राण से प्यार करता था।

एक बार फिर जैसे उसके लिए जीवन के अर्थ बदल गए। बना-बनाकर प्रेम-कहानियां प्रचारित करने की आवश्यकता अब नहीं रही। न जाने कितनी ऐसी कहानियां स्वयं उसने अपने बारे में प्रचारित कर दी थीं। उसका आवारा कथाकार उसके वैरागी मन को अक्सर पराजित कर देता था। सोचकर देखें तो दोनों का एक समान आधार भी तो था और वह था

अंधकार। वैष्णवी श्रीकान्त से कहती है न, "तुम्हारा यह उदासीन वैरागी मन, जगत में इससे बढ़कर अहंकार से भरा हुआ और भी कुछ है क्या?" (श्रीकान्त, चतुर्थ पर्व)

कुछ दिन पूर्व अपने मित्र विभूतिभूषण भट्ट को उसने एक पत्र [2] में लिखा था कि "मैं डेढ़ वर्ष तक एक नारी के साथ घर बसाकर रहा हूं। कैसा असीम-अगाध प्रणय था वह! लेकिन एक दिन मधुर झगडा हुआ और इससे पहले कि मानभंजन हो पाता, मेरी उस प्रेमिका न एक दूसरे सुपात्र के गले में जयमाला डाल दी।

"यह सब क्या हुआ, आज भी इसकी मीमांसा नहीं कर सकता। वधू ब्रह्मदेश की नहीं, खांटी स्वदेशी थी। जब पता लगा कि वह जाति की धोबन थी तब कान पकड़े और नाक रगड़ी। फिर इरावती में स्नान करके किसी तरह प्रायश्चित्त किया और विरह की वेदना से मुक्ति पाने के लिए डाक्टर का सर्टिफिकेट देकर छुट्टीली और हांगकांग चला गया। सुना है, चण्डीदास ने कुछ इसी तरह करके विरहात्मक गीति काव्य लिखा था। मैंने भी स्थिर किया है कि बहुत पहले जो 'चरित्रहीन' शुरू किया था इस बार उसे समाप्त करूंगा।"

पूरी चिट्ठी पढ़ने पर ऐसा नहीं लगता कि उसने यह कहानी बनाकर लिखी है परन्तु गम्भीर होकर परिहास करना भी उसका सहज स्वभाव था। यदि 18 महीने के इस प्रणय में जरा भी सच्चाई होती तो गिरीन्द्रनाथ सरकार, जिन्होंने अनेक सम्भाव्य-असम्भाव्य रोचक कथाओं का वर्णन किया है, इस सत्य कथा को न छोड़ते, इसलिए ऐसा लगता है कि कैशौर्य की प्रेमिका नीरदा की भांति यह सारी कथा एक रोमांचक कल्पना-मात्र है। महाकवि चण्डीदास ने धोबन से प्रेम किया था। शायद शरत् के कल्पनालोक में वही प्रेम कुण्डली मारकर बैठ गया था। लेकिन केवल यह धोबन ही उसके कल्पनालोक की प्रेमिका रही हो, ऐसा भी नहीं था। बहुत दिन बाद जब वह कलकत्ता लौट आया था, उसने अपने मित्र अक्षयकुमार सरकार [3] से नारी चरित्र की समीक्षा करते हुए कहा था कि रंगून में एक बंगाली स्त्री थी। उसका पति बीमार था। कैसे-कैसे उसने मुझसे प्रणय निवेदन किया! मैं उसके संग के लिए व्याकुल हो उठा, लेकिन कई दिन साथ रहने के बाद वह यकायक अन्तर्धान हो गई। मेरी क्या दशा हुई तब, विरह-व्यथा से मैं जैसे पागल हो उठा। तब मकान-मालकिन ने मुझसे कहा. "किसके लिए पागल होते हो जी? उसे अपने बन्धु के लिए पैसे चाहिए थे, सो उसने तुमसे ठग लिए और उसके साथ चली गई। वह तुम्हें जरा भी प्रेम नहीं करती थी।"

ये कहानियां सच हों या झूठ, उसके मानस के अध्ययन का अच्छा अवसर प्रदान करती हैं। वह उन लोगों में से था जो मानते हैं कि नारी का प्रेम ही पुरुष में साहस जगाता है। उसके लिए प्रेम का अर्थ शरीर की भूख नहीं था, बल्कि अपने उपास्य के लिए अपने को बलिदान कर देना था। कैशौर्य के अपने उस विफल प्रेम के बाद कम से कम एक बार तो उसने अवश्य ही सचमुच किसी को प्यार किया था। उन दिनों अक्सर भले घर की लड़कियों को भगाकर दुष्ट लोग रंगून ले जाते थे। ऐसी ही एक युवती थी गायत्री। जैसी आकर्षक देहयष्टि वैसा ही मादक रूप, जो अंगार की तरह वैधव्य की राख में छिपा था। शायद मां-

बाप उसके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करते थे। इसीलिए वह मौसा के पास लखनऊ जाना चाहती थी। पड़ोस के एक युवक नन्द दुलाल ने उसे विश्वास दिलाया कि वह उसे मौसा के पास पहुंचा देगा। लेकिन हुआ यह कि वह लखनऊ की ओर न जाकर रंगून की ओर चल पड़ा। बेचारी गायत्री मार्ग में किससे क्या कहे? जहाज पर बर्मा के एक युवक से उनकी भेंट हुई। उसका नाम था पांचकौड़ी। नन्द दुलाल ने पांचकौड़ी को बताया कि गायत्री उसकी पत्नी है। इसी रूप में वे रंगून में वहां के प्रसिद्ध एडवोकेट कुंजबिहारी मुखोपाध्याय के घर जाकर ठहरे। शायद गृह-स्वामिनी का स्नेह पाकर गायत्री का खोया हुआ साहस लौट आया। उसने उनसे कहा, "मां, यह मेरा पति नहीं है। मैं विधवा हूं। मौसा के पास पहुंचाने का बहाना करके यह धोखे से मुझे यहां ले आया है।"

गृह-स्वामिनी स्तब्ध रह गई। उसने तुरन्त गिरीन्द्रनाथ सरकार को बुला भेजा। उन्होंने आकर नन्द दुलाल को खूब अपमानित किया। फिर शरत् आदि मित्रों के सहयोग से उसे स्वदेश जाने के लिए जहाज पर चढ़ा दिया। गायत्री के पिता को भी पत्र द्वारा सूचना दे दी गयी। लेकिन गायत्री तब तक कहां रहे? गृह-स्वामिनी उसे रखने को तैयार नहीं थी। गिरीन ने तब शरत् के मोहल्ले में एक घर लेकर उसके रहने की व्यवस्था कर दी। पांचकौड़ी उसकी देखभाल करने लगा। शरत् भी रात को पांचकौड़ी के पास ही जाकर सोता था।

एक दिन गायत्री के पिता का उत्तर भी आ गया। वे अपनी कुलटा कन्या को किसी भी शर्त पर घर में रखने के लिए तैयार नहीं थे। उधर से निराश होकर गिरीन ने गायत्री के मौसा को लिखा, लेकिन इसी बीच में बार-बार आने-जाने के कारण शरत् गायत्री के प्रति अनुरक्त हो उठा। बेचारी विधवा, उसका कोई सहायक नहीं है, इसलिए शायद उसके मन में करुणा भी उभरी होगी। इसीलिए तो एक दिन वह गायत्री के प्रति प्रणय-निवेदन करने का साहस कर सका। उसने कहा, "आजकल विधवा-विवाह का प्रचलन है। फिर भी यदि समाज उसे स्वीकार नहीं करता तो हम वैष्णव धर्म स्वीकार कर सकते हें।"

गायत्री की व्यथा का पार नहीं था। वह बोली, "शरत् दा, जो फूल टूटकर गिर चुका है उससे देवता की पूजा नहीं होती।"

केवल शरत् ने ही उससे प्रणय-निवेदन नहीं किया, पांचकौड़ी का धनी स्वामी भी उस पर आसक्त हो उठा था। उस दिन व्यापार के संबंध में पांचकौड़ी को खोजते-खोजते वह उसके घर आया था। तभी सहसा उसने गायत्री को देखा और उस पर मुग्ध हो गया। उसी दिन से नाना प्रकार के प्रलोभन उसने देने शुरू क़र दिये। कभी उपहार भेजता, तो कभी किसी महिला को। और फिर एक दिन वह स्वयं गाड़ी लेकर उसे लेने आ पहुंचा। उसके पास शक्ति थी। शरत् के पास साहस था। गायत्री की रक्षा के लिए वह सामने आकर डट गया। उस क्षण उसने निश्चय ही मन ही मन राजू को याद किया होगा।

इस युद्ध को देखने के लिए दर्शक भी कम नही आए थे। रक्तपात होने की पूरी सम्भावना थी। लेकिन तब तक गिरीन्द्र को सूचना मिल चुकी थी। कुछ क्षण बाद वह वहां

आ पहुंचा। उसके साथ कई लठैत थे। उन्हें देखकर एक-एक करके सब लोग वहां से चले गए। दो-तीन दिन बाद गायत्री के मौसा का पत्र आ गया। लिखा था-"गायत्री को लखनऊ पहुंचा दो।"

वह चली गई और शरत् का यह प्रणय भी व्यर्थ हो गया।

यद्यपि इस कथा का स्रोत स्वयं शरत् नहीं है फिर भी यह असत्य हो तो आश्चर्य की कोई बात नही। क्योंकि उसके संबंध में नाना प्रकार के लोग नाना प्रकार की कथाएं प्रचारित करते ही रहते थे। लेकिन सत्य मान लेने पर भी बहुत अन्तर नहीं पड़ता। मनुष्य के जीवन में गोपन-अगोपन ऐसे अनेक अवसर आते हैं। फिर शरत् तो सचमुच ही सैकड़ों ऐसी कुलीन और अकुलीन नारियों के संपर्क में आया था और वह कोई यती या संन्यासी भी नहीं था। अपने को किसी के प्रति विसर्जन कर देने की आकांक्षा सभी में होती है। उसमें कुछ अधिक थी। वेश्यालयों में वह जाता रहा है पर वहां भी सेवा-सुश्रूषा का अवसर आने पर वह पीछे नहीं हटा। उस दिन मित्रों के साथ रंगून में एक प्रसिद्ध नर्तकी के घर जाने पर देखा कि वह चेचक से पीड़ित है। मित्र लौट गए पर वह रह गया। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब वह उसे नहीं बचा पाया तो विधिपूर्वक उसका अंतिम संस्कार करके ही वह लौटा।

इसी कारण तो भद्र लोग उसे चरित्रहीन और अछूत समझते रहे और उससे मिलने से बराबर इनकार करते रहे। उसने भी कभी प्रयत्न नहीं किया। लेकिन जहां तक उसके निजी जीवन का संबंध था, गृहस्थी बसा लेने के बाद उसकी सौन्दर्य-भावना फिर जाग आई थी। प्रेम ने उसके घर में फूलों की सुषमा बिखेर दी। उसे पुस्तकों से प्रेम था, फूलों से प्रेम था, पशु-पक्षियों से प्रेम था। वह प्रेम अब सुव्यवस्थित और सघन हो उठा। हिरण्मयी के कारण हिन्दू के घर में तुलसी का पौधा भी आ गया।

पक्षी उसके पास निरन्तर रहे। एक मैना थी, जिसे प्यार से वह 'मौना' कहकर पुकारता था। अचानक उसकी मृत्यु हो गई। वह ऐसे दुखी हुआ, जैसे कोई संतान के मरने पर होता है। फिर एक सिंगापुरी नूरी पक्षी ले आया। बड़े प्यार से नाम रखा 'बाटू बाबा'। उसे बातें करना सिखाया। रात को बार-बार उठकर उसे खिलाता। मित्र कहते, "पक्षी को क्या रात को खिलाया जाता है?"

शरत् उत्तर देता, "पक्षी जंगल में रहते हैं। इच्छानुसार खाते रहते हैं, लेकिन जब वे संसार में जाकर रहने लगते हैं, तब उन्हें हमारी तरह खाना-पीना पड़ता है। यदि हम उन्हें हाथ से न खिलाएं तो वह बुरा मानते हैं। उन्हें यदि हम प्यार नही कर सकते तो बन्द करने से क्या फायदा?"

वह पक्षी रात के समय गाता भी बहुत सुन्दर था। सुनकर पड़ौसी पूछते, "शरत् बाबू, रात आपके घर में कोई गा रहा था, 'सखि रे की ऑर बोलिब आमि'। बड़ा मधुर स्वर था।"

शरत् हंसकर कहता, "अरे बाटू बाबा गाता है।"

जब कोई घर आता तो बाटू बाबा तुरन्त कहता, "कौन जी, कौन हो तुम?"

शरत् उत्तर देता, मैं हूं।"

तब बाटू बाबा चिल्लाता, "बाटू टू-टू-टू।"

शरत् ने इसके लिए चांदी का एक खम्भा, सोने की जंजीर और पैरों के स्प्रिंगदार सोने के कड़े बनवा दिये थे। अपनी शय्या के पास ही उसके सोने के लिए शय्या लगवाई थी। उस पर बहुमूल्य रेशम का तकिया, तोसक और मसहरी की व्यवस्था भी थी। रात को शरत् जंज़ीर खोल देता। तय बाटू बाबा अपने खम्भे पर से उतर कर आता और मसहरी के भीतर अपने बिस्तर पर सो जाता।

यह बाटू बाबा जैसा प्यारा था, वैसा ही दुर्दान्त भी था। शरत् जब इसकी चोंच चूम लेता तो गद्‌गद् होकर वह उसके गाल पर अपना सिर रगड़ता, लेकिन यदि दूसरा व्यक्ति ऐसा करता तो तार-सप्तक में चीखकर आपत्ति प्रकट करता। उसके हाथ में काट लेता। इसलिए कोई भी नया व्यक्ति घर में नहीं आ सकता था। द्वार-रक्षक कुत्ते की तरह वह सदा सतर्क रहता था। एक दिन जब घर में कोई नहीं था तो नौकरानी ने रसोईघर में घुसकर घी निकालने की चेष्टा की। वह समझती थी कि कोई देख नही रहा है, लेकिन बाटू बाबा ने तुरन्त शोर मचाना शुरू कर दिया। पड़ोसी जानते थे कि यह शोर मचाता ही रहता है, किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। नौकरानी भी आश्वस्त थी, लेकिन इसी बीच में बाटू बाबा ने चोट कर-करके जंजीर को तोड़ डाला और बाहर आकर नौकरानी पर आक्रमण करने लगा। उसने इतनी तेज़ी से काटना शुरू किया कि नौकरानी चीख उठी, "मार डाला रे, बाबा रे।"

लेकिन बाटू बाबा ने उसे भागने नहीं दिया। तभी शरत् लौट आया। नौकरानी रंगे हाथों पकड़ ली गई।

एक दिन यही बाटू बाबा मर गया। सोने की ज़ंजीर उसके गले में फंस गई। शरत् अत्यन्त कातर हो उठा। विधिपूर्वक नदी-तट पर ले जाकर उसका दाह-संस्कार किया। कई दिन तक न तो घर से बाहर निकला, न खाया, न पिया। जय निकला तो शोक के कारण उसका हृदय भरा हुआ था। बाल बिखरे हुए थे। मित्रों ने पूछा, "क्या हुआ शरत् बाबू? आप इतने दुखी क्यों हैं?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मेरे बच्चे की मृत्यु हो गई है।"

उसने एक कुत्ता भी पाला था। ठेठ देसी उसपर बेहद बदसूरत—असभ्य। लेकिन एक फकीर ने हिरण्मयी देवी से कहा था, "इस कुत्ते को पालने से तुम लोगों का भाग्य चमक उठेगा।"

कुत्ते के कारण हो या किसी और कारण, भाग्य सचमुच चमक आया था। इसीलिए बहू ने बड़े प्यार से उसका नाम रखा 'वंशीवदन'। लेकिन प्यार क्या इतने सुन्दर नाम की अपेक्षा रखता है! कोई छोटा-सा अटपटा नाम ही प्यार का प्रतीक हो सकता है। इसलिए शरत् ने उसका नाम रखा 'भेली'। उस पर उसके प्यार की कोई सीमा नही थी। उसके अन्तर में जो असीम स्नेह भरा हुआ था वह निरन्तर मार्ग ढूंढ़ता रहता था। दुनिया सम्पन्न

और सुन्दर को प्यार करती है पर उसने मन ही मन निश्चय किया कि वह उन्हीं ही प्यार करेगा जो सर्वहारा हैं, जो असुन्दर हैं....।

---

1. देखें, प्रथम पर्व, अध्याय-6
2. 22 फरवरी, 1908 ई०
3. इन्होंने अपनी डायरी में इस कथा की चर्चा की है। (2-2-1930 ई०)

9

'चरित्रहीन' प्राय: समाप्ति पर था। 'नारी का इतिहास' प्रबन्ध भी पूरा हो चुका था। पहली बार उसके मन में एक विचार उठा-क्यों न इन्हें प्रकाशित किया जाए। भागलपुर के मित्रों की पुस्तकें भी तो छप रही हैं। उनसे ये किसी भी तरह हीन नहीं हैं। लेकिन किसको लिखूं, सौरीन को, सुरेन को, विभूति को, या प्रमथ को?

प्रमथ पर उसे सबसे अधिक विश्वास था, लेकिन कई वर्ष हो गए उसका कुछ पता नही, कलकत्ते में है भी या नहीं..... ।

वह कुछ निर्णय कर पाता कि अचानक एक संध्या को उसके घर में आग लग गई। नीचे के तल्ले में एक धोबी रहता था। जिस समय आग लगी, सब सोये हुए थे। पड़ोसियों के आर्तनाद करने पर ही उसकी नींद खुली । देखकर हतप्रभ रह गया। आग काफी फैल चुकी थी। सबसे पहले उसने हिरण्मयी देवी, कुत्ते और पक्षी को निरापद स्थान पर पहुंचाया। फिर कुछ अत्यन्त दुर्लभ और नितान्त प्रयोजनीय ग्रंथों और वस्त्रों को एक स्टील के ट्रंक में डाला और नीचे भागा। लेकिन आग तब तक ऊपर बढ़ आई थी। लकड़ी का घर धू-ध करके जलने लगा था। यह देखकर उसने उस ट्रंक को फेंक दिया और छलांग मारकर नीचे कूद पड़ा। और एक ओर खड़े होकर अग्निदाह को देखने लगा। उसके कई मित्र जो सामने के मैदान में बैठे हुए वायु सेवन कर रहे थे वहां आ गए। उन्होंने देखा, शरत् एकटक अपने जलते हुए मकान को देख रहा है। आकण्ठ सहानुभूति से भरकर एक मित्र ने कहा, "शरत् दा, घर की चीज़े तो वहीं रह गईं। लाइब्रेरी, तैलचित्र, पाण्दुलिपियां -सब कुछ नष्ट हो गया।"

निस्संग भाव से शरत् ने उत्तर दिया, "हो गया। अब क्या किया जा सकता है ?"

एक विदेशी बन्धु की पूरी लायब्रेरी उसने थोड़े मूल्य पर खरीद ली थी। बड़े परिश्रम से घर को सजाया था। बड़ी साध से तैलचित्र तैयार किए थे। अभागिनी नारियों का इतिहास, 'चरित्रहीन' न जाने कितने वर्षो से लिखता आ रहा था। सब कुछ को उसने अपनी आंखो के सामने भस्म होते हुए देखा और मौन खड़ा रहा। बचा सका केवल कुछ पुस्तकों को, अपनी पत्नी को, पक्षी को और प्यारे कुत्ते को ।

उसी समय सहसा धोबी का आर्तनाद सुना। प्राणों के भय से वह अपनी बकरी खोलना भूल गया था। शरत् तुरन्त दौड़ा। किसी के निषेध की उसने परवाह नहीं की। जलते हुए घर में घुस गया। सभी लोग 'हाय-हाय' करने लगे। परन्तु उसी क्षण आग और धुएं के कुण्डल के बीच में से बकरी के बच्चे को छाती से चिपकाए हुए वह विधुत् गति से बाहर आ गया। ठीक इसी समय वह जलता हुआ घर बड़े ज़ोर से टूटकर गिर पड़ा।

फिर बचाने के लिए कुछ शेष नहीं रहा । इस अग्निदाह के संबंध में भी अनेक व्यक्तियों ने अनेक बातें कहीं है। लेकिन इसकी सूचना देते हुए उसने अपने बचपन के प्रिय साथी प्रमथनाथ भट्टाचार्य को दो पत्र लिखे थे। इससे पहले उसने उन्हें कभी लिखा हो इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इन पत्रों से भी लगता है कि वह बहुत वर्षो बाद लिख रहा था। अग्निदाह के लगभग एक महीना बाद [1] उसने पहला पत्र लिखा:

प्रमथ को सूचना दे रहा हूं कि मैं इस देश में बीच-बीच में आता रहा हूं और भविष्य में भी आने की आशा रखता हूं। पिछली बार जब आया था, तो दो बार प्रमथ का ठिकाना चेष्टा करने पर भी न पा सका और इसी कारण भेंट नहीं हो सकी।

मैं अच्छा नहीं हूं क्योंकि दो वर्ष पहले हृदय रोग से बहुत कष्ट पाया। आज भी संभवत: स्वस्थ नहीं हो सका हूं, फिर भी पीड़ा कम है। 5 फरवरी की रात को मेरा घर-द्वारा सब जल गया। घर जल जाने से एक मुसीबत में पड़ गया हूं। हज़ार-दो हज़ार की वस्तुएं तो गई ही, एक बहुमूल्य पुस्तकालय तथा पाण्डुलिपि आदि सब नष्ट हो गए। मन में सोचा था कि इनको इस महीने के अन्त में प्रेस में भिजवा दूंगा। किसके ऊपर भार रखूं यह सोचने पर अनेक बार प्रमथ की बात मन में आई, लेकिन यह मन में नहीं हुआ कि वह शायद अभी कलकत्ते में है। आशा करता हूं सब समाचार अच्छे हैं। मई माह में फिर कलकत्ता आऊंगा ।

बारह दिन बाद [2] फिर दूसरा पत्र लिखा :

प्रमथ,

तुम्हारा पत्र पाकर आज ही जबाब लिखता हूं ऐसा तो नही हुआ। जो मेरा स्वभाव जानते हैं, उनके सामने इससे अधिक कुछ कहना व्यर्थ है। बहुत बार तुम्हें मेरी याद आई है, यह मैं जानता हूं। क्योंकि जिनको याद करने का कोई प्रयोजन नहीं है वे भी जब याद करते हैं, तब तुम तो करोगे ही। मेरे भाग्यविधाता ने मेरी समस्त शास्ति, से बड़ी यही शास्ति, जन्म से ही जान पड़ता है, मेरे भाग्य में लिखी है। आज यदि मैं यह सोच सकता कि मेरे सभी परिचित-आत्मीय-स्वजन बन्धु-बान्धव मुझे भूल गए हैं तो सुखी होता, शांति पाता। यह होनेवाला नहीं है। जो मुझे याद करेंगे वे मेरी खोज लेना चाहेंगे, विचार करेंगे और बराबर मेरे पतन पर दु:खी होकर दीर्घ नि:श्वास खींचेंगे और मेरे मर्मान्तक दुख के बोझ को अक्षय कर देंगे। लोगों ने मुझसे क्या-क्या आशा की थी, क्या नहीं पाया और क्या होने पर वे मुझको निष्कृति दे सकते थे, यह यदि मुझे बता सकते तो मैं चिरकाल तक उनका कृतइा रहता। यदि तुम पुरानी बातें याद न दिला देते तो मैं यह सब न कहता। मैं मर गया हूं, यही बात किसी दिन देख पाओ तो कहना।

यह कहकर तुम दुखी मत होना। तुमसे मुझे डर नहीं लगता। क्योंकि तुम, जान पड़ता है, मेरा विचार करने का गुरु भार. लेना नहीं चाहोगे। इसी से कुछ और दिन जीवित रहने पर भी हानि होगी, ऐसा नहीं सोचता हूं। तुम मेरे मित्र हो, शुभचिन्तक हो। विचारक होकर मुझे दुख नहीं दोगे, यही आशा करता हूं।

मेरे बारे में जानना चाहते हो। संक्षेप में वह इस प्रकार है: -1. शहर के बाहर मैदान के बीच में और नदी के किनारे एक छोटे-से घर में रहता हूं।-2. नौकरी करता हूं। नब्बे रुपये वेतन मिलता है। और दस रुपये भत्ता। 3. दिल की बीमारी है। किसी भी क्षण.....4. बहुत पढ़ा है, लिखा प्राय: कुछ भी नहीं। पिछले दस वर्षो में शरीर विज्ञान, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान और इतिहास पढ़ा है। शास्त्र भी कुछ पढ़ा है। 5. आग से मेरा सब कुछ जल गया। पुस्तकालय और 'चरित्रहीन' उपन्यास की पाण्डुलिपि भी। 'नारी का इतिहास' करीब चार-पांच सौ पृष्ठ लिखा था, वह भी जल गया। इच्छा थी, इस वर्ष छपवाऊंगा मेरे द्वारा कुछ हो यह शायद सम्भव नही, इसीलिए सब कुछ स्वाहा हो गया। फिर कुछ करूंगा, ऐसा उत्साह नहीं हो रहा। 'चरित्रहीन' पांच सौ पृष्ठों में प्राय: समाप्त हो चला था। सब कुछ गया ।

तुम्हारे क्लब की बात सुनकर अत्यन्त आनन्द हुआ। किसी भी तरह हो, बीच-बीच में लिखते रहा करो। स्वयं ही कुछ करना अच्छा है, आज के फैशन के युग में यह बात भूलना उचित नहीं है।

तुम्हारा जैसा स्वभाव है उससे तुम जो इतने लोगों के साथ घनिष्ठ भाव से परिचित हो गए हो, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। हमारी पुरानी साहित्य सभा की एकमात्र सदस्या निरुपमा देवी ही साहित्य-सेवा कर रही है और सबने छोड़ दिया है। यही ना? मेरी कोई पुरानी रचना मेरे पास नहीं है। कहां हैं? है या नहीं है, कुछ नहीं जानता। जानना चाहता भी नहीं ।

एक और समाचार तुम्हें देना बाकी है। लगभग तीन वर्ष पहले हृदय रोग के प्रथम लक्षण प्रकट हुए थे। तब मैंने तैल-चित्रांकन शुरू किया था। पढ़ना छोड़ दिया था। इन तीन वर्षो में बहुत-से चित्र इकट्ठे हो गए थे, वे भी खत्म हो गए हैं। अंकन का केवल सामान-भर रह गया है। अब मुझे क्या करना उचित है यदि यह बता दो तो तुम्हारे कहने के मुताबिक कुछ दिन चेष्टा कर देखूंगा। नावेल, हिस्ट्री या पेटिंग, कौन-सा फिर शुरू करूं ?

तुम्हारा स्नेही,
शरत्

पत्र उसने इससे पहले भी लिखे होंगे, पर केवल दो पत्रों [3] को छोड़कर उनका लेखा-जोखा किसी के पास नहीं है। उसके जीवन में नये युग का सूत्रपात प्रत्यक्ष रूप से इन्हीं दो पत्रों से होता है पिछले नौ वर्षों में उसके चारों ओर जो रहस्यमय वातावरण बन गया था, वह जैसे अब दूर होने लगा। उसके मन में यह विचार पैदा हुआ कि मेरी पुस्तकें भी छप सकती हैं। 'बड़ी दीदी' का पांच वर्ष पूर्व जैसा अपूर्व स्वागत हुआ था, रवीन्द्रनाथ ने जिस

प्रकार उसकी प्रशंसा की थी, उससे निश्चय ही उसके मन से हीनता की भावना दूर हो चली थी। आत्मविश्वास जाग आया था।

इस पत्र में उसने चाय की दुकान खोलने की चर्चा की है। वह सत्य है। एक दिन अचानक उसने दफ्तर के अपने साथियों से कहा, मैंने एक चाय की दुकान खोली है।"

साथी उसकी ओर देखते रह गए। सपनों की दुनिया में रहनेवाला, यह आवारा व्यक्ति क्या दुकान खोलेगा? अविश्वास के स्वर में एक मित्र ने पूछा, "क्या सच!"

"देखना है तो चलो।"

दफ्तर बन्द हो जाने के बाद, आग्रहपूर्वक वह दो-चार मित्रों को अपनी दुकान पर ले गया। घर के पास एक लकड़ी के मकान में सचमुच चाय की दुकान थी। एक मित्र ने कहा, "शरत् बाबू, अब आप नौकरी छोड़ दीजिए। चाय की दुकान पर स्वयं न बैठने से दो दिन में सब कुछ समाप्त हो जाएगा।"

शरत् ने उत्तर दिया, "नहीं रे, बैठना नहीं होगा। जानते हो मैंने क्या बन्दोबस्त किया है? एक टिन दूध में कितनी चीनी मिलानी होगी, उससे कितने प्याले चाय तैयार होगी, यह सब मैंने ठीक कर लिया है। सवेरे दूध का एक टिन खरीद दूंगा, सारा दिन जितना दूध खर्च होगा, संध्या को उसी के हिसाब से पैसे ले लूंगा।"

यह गणित कहने में जितना सरल था, व्यवहार में उतना ही कठिन प्रमाणित हुआ। वह दुकान बहुत जल्दी समाप्त हो गई।

---

1. 11 मार्च, 1912 ई०

2. 22 मार्च, 1912 ई०

3. दिसम्बर, 1902 का पत्र मामा गिरीन्द्रनाथ के नाम फरवरी, 1908 का पत्र विभूतिभूषण भट्ट के नाम

10

गृहदाह के बाद वह कलकत्ता आया [1]। साथ में पत्नी थी और था उसका प्यारा कुत्ता। अब वह कुत्ता लिए कलकत्ता की सड़कों पर प्रकट रूप में घूमता था। छोटी दाढ़ी, सिर पर अस्त-व्यस्त बाल, मोटी धोती, पैरों में चट्टी, बदन पर चाइना कोट, कोई भी देखकर बता सकता था कि यह व्यक्ति शहरी नहीं हैं।

इस बार खोज-खोजकर उसने मित्रों से भेंट की। सौरीन्द्रमोहन मुकर्जी 'भारती' का सम्पादन कर रहे थे। वह उनसे मिलने के लिए गया। कलकत्ता छोड़ने के बाद यह शायद उनकी पहली भेंट थी। दोनों ने एक-दूसरे को बहुत कुछ कहा-सुना। शरत् ने कहा, "चिकित्सा के लिए मैं कलकत्ता आया था। तुम्हारी बहुत खोज की, लेकिन भेंट न हो सकी।"

सौरीन्द्रमोहन ने कहा, "तुमने लिखना क्यों छोड़ दिया? समझ में नहीं आता। तुम नहीं जानते कि तुम्हारे लिखने से बंगला साहित्य की कितनी समृद्धि होगी? तुम्हारे भाग्य में महान होना लिखा है। 'भारती' में जब 'बडी दीदी' छपी थी तो बहुत शोर मचा था कि वह रवीन्द्रनाथ की रचना है।"

उन्होंने विस्तार से वह कहानी पढ़ सुनाई। यह भी बताया कि रवीन्द्रनाथ ने क्या कहा था। शरत् जानता न हो यह बात नहीं, लेकिन विश्वस्त रूप में एक मित्र के मुख से सुनना और ही बात है। बोला, "जहां जा पड़ा हूं और रोजगार की चेष्टा में जिस प्रकार फंस गया हूं, उससे अब मन टूट गया है।"

मुकर्जी महोदय बड़े आग्रह के साथ उसे घर ले गए। मामा उपेन्द्रनाथ गांगुली, एक युवक साहित्यिक फणीन्द्रनाथ पाल तथा और कई व्यक्ति भी आ जुटे थे। कालीपूजा का पर्व था। दोपहर के दो बज चुके थे। घर के बच्चे आतिशबाज़ी लेकर धमाचौकड़ी मचा रहे थे। लेकिन शरत् ने सौरीन्द्रमोहन से कहा, "एक बार 'बड़ी दीदी' पढ़ो तो सुनूंगा। ठीक याद नहीं, क्या कहानी लिखी थी"।

उसके बाद बैठक में बिछे तख्तपोश [2] पर लेट गया और बोला, "तुम पढ़ो, मैं सुनता हूं।"

सौरीन्द्रमोहन कहानी पढ़ने लगे। सुनते-सुनते शरत् अभिभूत हो उठा। आंखों में पानी भर आया। बीच-बीच में बोल उठता, "रुको-रुको क्या यह मेरा ही लिखा हुआ है? बहुत खराब तो नहीं लिखा। सुनकर मन भर आया है। यह कहानी मैंने अपनी ही हाथ से लिखी है! आश्चर्य होता है।"

मुकर्जी बोले, "यही तो, लोग ऐसा लिख पाते हैं वे ही यदि लिखना छोड़कर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाएं तब उनका अपराध क्षमा नहीं किय जा सकता। तुम अगर नहीं लिखोगे तो मैं समझता हूं कि आत्महत्या करोगे। रवीन्द्रनाथ ने कहा था, 'तुम यदि नहीं लिखते तो निष्ठुरता ही होगी।"

कहानी में जिस जगह रोग-शय्या पर लेटे हुए सुरेन्द्रनाथ ने अपनी स्त्री शान्ति की दीवार पर टंगी हुई अपनी छवि दिखाकर कहा था, "यह तस्वीर अगर चार ब्राह्मणों के द्वारा नदी के किनारे जला सको, नाम की कीमत समझने के लिए....." उस स्थान पर जब मुकर्जी पढ़ रहे थे, तब आखें बन्द किए शरत् पागलों की तरह उठ बैठा। और उसका हाथ पकड़कर बोला, रुको।'

उसे कण्ठावरोध हो आया था। कई क्षण वह चुपचाप बैठा रहा। उसके बाद दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोला, "अब पढ़ो।"

मुकर्जी ने फिर पढ़ना शुरू किया। वह लेट गया और लेटे-लेटे आखें बन्द किए उसने बाकीकहानी सुनी। समाप्त होने पर बोला, "अच्छा तो लिखा है। हां, अब मैं फिर लिखूंगा। तुम लोगों का विश्वास है कि मैं अच्छी कहानी लिखता हूं?"

मुकर्जी बोल, फणीन्द्र पाल ने इस वर्ष बी०ए० पास किया है, सरकारी नौकरी नहीं करना चाहता। 'यमुना' नाम की एक पत्रिका निकालने का विचार कर रहे हैं। उसी के संपादन में जीवन समर्पण कर देने कई कामना है। इनके पत्र में तुम्हें लिखना होगा।"

शरत् बोला, "हां, लिखूंगा, यदि तुम लोग भी लिखो। तुम लोग यानी निरुपमा, सुरेन, गिरीन विभूति, तुम, तुम्हारी छोटी बहन और उपेन, तब मैं भी निश्चय ही लिखूगा। मैंने एक अद्‌भुत रचना लिखी थी, 'नारी का इतिहास'। लगभग पांच सौ पन्ने फुलस्केप साइज़ के थे। घर जल जाने पर सब राख हो गया। कहानी नहीं थी, लेकिन गल्प-उपन्यास से भी बहुत अधिक रोचक थे। अनेक इतिहास और पुरातत्व की पुस्तकें तथा अनेक जीवनियों का अनुशीलन करके उसे लिखा था। उसके भस्मसात् हो जाने पर मन को बड़ी चोट लगी है।"

मुकर्जी ने कहा, "क्या कुछ भी याद नहीं?"

शरत् बोला, "कुछ-कुछ याद है।"

मुकर्जी ने कहा, "जितना याद है, उसी के आधार पर लिखना शुरू कर दो!"

शरत् बोला, "लिखूंगा। एक और कहानी लिखी है। वह प्रकाण्ड उपन्यास होगा। चौथाई हिस्सा लिखा पड़ा है। वह भी तुमको पढ़ने को दूंगा। कहानी का नाम है 'चरित्रहीन'। यदि उसे पूरा कर सका तो वह एक नई चीज़ होगी। दो-तीन महीने बाद फिर एक बार कलकत्ता आना ही है। साथ लेता आऊंगा। यदि 'नारी का इतिहास' लिख सका, तो उसके भी लेता आऊंगा। इस बार आकर कुछ दिन कलकत्ता .रहूंगा।"

'चरित्रहीन' के कुछ पृष्ठ वह अपने साथ लाया भी था। उस समय 'साहित्य' पत्रिका की बड़ी धूम थी। समाजपति महोदय उसके सम्पादक थे। वे पृष्ठ लेकर शरत् उपेन्द्र मामा के

साथ उनसे भी मिला। फणीन्द्रनाथ से भी चर्चा हुई। लेकिन अभी तक उसकी पूरी रूपरेखा स्पष्ट नहीं हुई थी। शरत् स्वयं भी कुछ नहीं कह सकता था। इसलिए कोई अन्तिम निर्णय नही हो सका। और फिर से लिखने का आश्वासन देकर वह रंगून लौट गया। आने से पूर्व इस बार बहरामपुर जाकर विभूतिभूषण भट्ट और निरुपमा देवी से भी मिलना वह नहीं भूला।

शीघ्र ही छुट्टी लेकर वह फिर कलकत्ता आया। यद्यपि मित्रों से परिचय हो गया था लेकिन इस बार भी वह किसी के पास नहीं ठहरा। वहीं ठहरा जहां भले आदमी नहीं ठहरा करते। पिछली बार वह हावड़ा के एक वेश्यालय में ठहरा था। खोजते-खोजते जब मामा उपेन्द्रनाथ वहां पहुंचे तो देखा पास ही एक मकान में शीशे के सामने खड़ी एक स्त्री बाल संवार रही है। उसी से पूछा, क्या यहां कोई शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय ठहरे है? वे रंगून से आये हैं"।

स्त्री ने उत्तर दिया, "ओह, दादा ठाकुर के बारे में पूछते है? "वे ना ऊपर है। यह जो जीना है, इससे आप ऊपर चले जाएं। सामने ही मिलेंगे।"

ऊपर जाकर उपेन्द्रनाथ ने देखा कि शरत् 'चरित्रहीन' लिखने में व्यस्त है।

बहुत दिनों बादबहुत दिनों बाद [3] फणीन्द्रनाथ पाल ने लिखा, "उस दिन की बात याद आती है। श्रीयुत उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय ने सूचना दी—शरत् कलकत्ता आया है। कल वह मेरे घर आया था, कहां ठहरा है बताकर नहीं गया। उसे कैसे खोजा जाय, इस पर बहुत सोचा। जो भी हो अनन्त: हमने उसे खोज ही लिया।"

इस बार वह 'चरित्रहीन' की पाण्डुलिपि साथ लेकर आया था। बादामी रंग के फुलस्केप नाप के कोई 70-80 पृष्ठ होंगे। मुकर्जी से उसने कहा, "पढ़कर देखो, चल सकता है या नहीं। प्रकाण्ड उपन्यास होगा। तुम लोगों की राय जानने के बाद ही इसे पूरा करूँगा। अभी तक तो कथा में नायिका का प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसकी नायिका 'किरणमयी' है। यह एक नयी चीज़ होगी।"

वे पृष्ठ उसने 'यमुना' के सम्पादक फणीन्द्रनाथ पाल को भी पढ़कर सुनाए थे। सुनते-सुनते पाल महाशय तन्मय हो उठे और बार बार उसे पूरा करने का अनुरोध करने लगे। कहा, "मैं इस उपन्यास को निश्चय ही 'यमुना' में प्रकाशित करना चाहता हूं।"

'भारती' और 'साहित्य' के संपादकों, से भी उसके प्रकाशन की चर्चा हुई। किसी कारणवश उस समय साहित्य के संपादक उसे स्वीकार नहीं कर सके। 'भारती' का दावा सबसे पहला था, क्योंकि प्रकाश मे आनेवाली, उसकी एकमात्र रचना 'बड़ी दीदी' उसी में छपी थी। कहना चाहिए कि 'भारती' के संपादक सबसे पहले शरत् को प्रकाश में लाए थे। मुकर्जी महाशय ने 'चरित्रहीन' के वे अंश स्वयं पढ़े और फिर स्वर्णाकुमारी देवी को दिए। वह तो पढ़कर गद्गद हो उठी। बोली, "रचना चमत्कार है। लेकिन पूरी पढ़ लेने पर ही कुछ कहा जा सकेगा। उसके बाद मुझे देना। मैं इसके लिए 100 रुपये पेशगी दे सकती हूं।"

इस प्रस्ताव से शरत् तनिक भी उत्साहित नहीं हुआ। कहा "यह रचना जल्दी में पूरी नहीं हो सकती, बहुत सोच समझकर लिखता हूं।" लेकिन किरणमयी की कथा जब लिखी जायेगी तब क्या यह एक महिला द्वारा सम्पादित साहित्य में प्रकाशित करने योग्य रह जायेगी ? शायद नहीं।"

अब केवल यमुना ही शेष रह गई थी। निश्चय हुआ कि इसे धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया जाए। फणीन्द्रनाथ पत्रिका में पृष्ठ संख्या बढ़ाने के लिए राज़ी हो गए। लेकिन अभी तो रचना पढ़ी नहीं हुई थी। इसलिए यमुना में उसकी एक पुरानी कहानी 'बोझा' प्रकाशित हुई [4]। 'बड़ी दीदी' के बाद उसके नाम से किसी पत्र में प्रकाशित होने वाली उसकी यह सर्वप्रथम रचना थी। लेकिन इसके लिए भी किसी ने उससे नहीं पूंछा था था। सुरेन्द्रनाथ से लेकर सौरीन्द्रमोहन ने यह रचना 'यमुना' के लिए दे दी थी इस बात से शरत् बहुत दुखी हुआ। उसने तुरन्त अपने मित्रो को लिखा, "अब बिना मेरी अनुमति के मेरी कोई पुरानी रचना प्रकाशित नहीं की जानी चाहिए।"

वह अपनी पुरानी रचनाओं को अच्छा नहीं समझता था। और उसके मित्र उन्हें प्रकाश में लाने के लिए कटिबद्ध हो चुके थे। लेकिन यह समझ नहीं आता कि पांच वर्ष पूर्व 'बड़ी दीदी' प्रकाशन के अवसर पर वे सब लोग क्यों चुप रहे। न तो उन्होंने शरत् की तलाश की और न स्वयं शरत् ने ही लिखने की पहल की। क्या वह आश्चर्य की बात नहीं कि 'बड़ी दीदी' के अभूतपूर्व स्वागत और रवीन्द्रनाथ की प्रशंसा की बात सुनकर भी नई रचनाएं लिखने या पुरानी छपवाने की प्रवृत्ति उसमें नहीं जागी।

ऐसा लगता है तब तक भी वह अपने लिखने के बारे में आश्वस्त नहीं हा पाया था। संभवत: रवीन्द्रनाथ द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर उसके मन में, उनके जैसा लिखने की प्रवृत्ति और भी सघन हो उठी। कुछ दिन पूर्व ही उन्हें नोबेल पुरस्कार मिल चुका था। और उनकी इस अभूतपूर्व ख्याति ने देश का मस्तक ऊंचा किया था। शरत् के सामने वही ऊंचा लक्ष्य रहा होगा। 'चरित्रहीन' की रचना के पीछे साधना का जो इतिहास है, वह उसकी इस कामना का साक्षी है।

इस बार कलकत्ता आने के बाद उसका अज्ञातवास प्राय: समाप्त हो चुका था। और वह अपरिचय के अन्धकार से बाहर आ गया था। होनहार लेखक के रूप में उसकी प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी। यहां तक कि उसने नौकरी छोड़ देने का विचार कर लिया। कहा, "यदि लिखने से सौ रुपये मासिक का भी प्रबन्ध हो सकता है, तो मैं नौकरी छोड़कर कलकत्ता आ बसूंगा।"

'भारती' की संपादिका स्वर्णकुमारी देवी और 'यमुना' के संपादक फणीन्द्रनाथ पाल इतना प्रबन्ध करने के लिए सहमत हो गए। पाल महाशय शरत् के पूर्ण भक्त हो गए थे। उसके लिए कुछ भी करने को तैयार थे। उनकी मां भी उससे स्नेह करने लगी थीं। सामने बिठाकर खाना खिलाती थीं। अपनी मां की मृत्यु के 15-16 वर्ष बाद उसे ऐसा प्यार मिला

था। उसने कहा, "फणीन्द्र, तुम्हारी मां के रूप में मानो मैंने अपनी मां का स्नेह फिर पा लिया है।"

उसके रंगून लौट जाने पर जब उसकी बीमारी की सूचना मिली तो मां कुशल-समाचार पाने को बड़ी व्यग्र हो उठी। तब फिर शरत् ने फणि को लिखा, "आपकी माता मेरे बारे में पूछताछ करती हैं, मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। उनसे कह दें, मैं बिलकुल ठीक हो गया हूं। मेरे बारे में पूछताछ करनेवाला संसार में एक प्रकार से कोई नहीं है। इसलिये अगर कोई मेरे बारे में भला-बुरा जानना चाहता है तो सुनकर हृदय कृतज्ञता से भर जाता है। मेरे जैसे हतभाग्य संसार में बहुत ही कम हैं....."

इसके कुछ दिन बाद ही, उसने रंगून से अपने मित्र प्रमथनाथ को एक पत्र लिखा। उससे भी स्पष्ट होता हे कि उसने अपनी शक्ति को पहचान लिया था और नियमित रूप से लिखने का मार्ग प्रशस्त हो गया था। उसने लिखा, "प्रमथ, एक अहंकार की बात कहता हूं। माफ करना, यदि करो तो कहूं। मुझसे अच्छे उपन्यास और कहानी रवि बाबू को छोड़कर और कोई नहीं लिख सकेगा। जब यह बात समझ लो, उसी दिन मुझसे लिखने के लिए कहना, उससे पहले नहीं। तुमसे मेरा यही अनुरोध है। इस विषय में मैं किसी की झूठी खातिरदारी नहीं चाहता, सच्ची चाहता हूं।"

मामा उपेन्द्रनाथ को और भी स्पष्ट शब्दों में लिखा, "मुझसे अच्छा मर्मज्ञ आज के युग में एक रवि बाबू को छोड़कर और कोई नहीं है। यह मत सोचना कि मैं गर्व कर रहा हूं। लेकिन चाहे मेरी निर्भरता कहा, चाहे गर्व ही कहो, मेरी धारणा यही है।" [5]

और उसकी यह धारणा अन्त तक बनी रही। बहुत वर्षों बाद कथाशिल्पी शरत्चन्द्र ने कहा था, "मेरी उमर हो गई। रवीन्द्रनाथ की भी उमर हो गई। बीच-बीच में आशंका होती है कि इसके बाद बंगला भाषा के उपन्यास साहित्य का स्थान शायद नीचा हो जाए।"

इसी समय बंगला-साहित्य-जगत् में एक क्रान्तिकारी घटना का सूत्रपात हुआ। सूचना प्रसारित हुई कि शीघ्र ही 'भारतवर्ष नाम का एक पत्र प्रकाशित होने जा रहा हे। सुप्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय उसके संपादक मनोनीत हुए और उसका वार्षिक मूल्य रखा गया 6 रुपये। उस समय तक किसी भी पत्रिका का वार्षिक मूल्य तीन रुपये छ: आने से अधिक नहीं था। अपने मूल्य मात्र से ही 'भारतवर्ष' ने विस्मय और कौतूहल पैदा कर दिया।

कुछ वर्ष पूर्व कलकत्ता में 'इवनिंग क्लब' नाम से एका सांध्य समिति स्थापित हुई थी। इसके सभापति थे द्विजेन्द्रलाल राय और संपादक पद पर प्रतिष्ठित हुए प्रमथनाथ भट्टाचार्य। प्रसिद्ध प्रकाशक गुरुदास चट्टोपाध्याय एण्ड सन्स के मालिक श्री हरिदास चट्टोपाध्याय इसके प्रधान सभ्य और पृष्ठपोषक बने। दूसरे सदस्यों में अनेक गण्यमान्य विद्वान थे। प्रमथ ने प्रस्ताव किया कि समिति की ओर से एक पत्रिका प्रकाशित की जाए।

अध्यक्ष द्विजेन्दलालराय ने कहा, "लेकिन इससे तो क्लब की हानि होगी। जब सदस्य संख्या सौ तक सीमित हो तब पत्र निकालना मूर्खता है।"

दूसरे सदस्यों ने भी उनका समर्थन किया। किन्तु प्रमथ बाबू तो हठी थे। न सही क्लब की ओर से लेकिन पत्र तो निकल सकता है। बस, उन्होंने निश्चय किया कि राय महोदय के संपादकत्व में 'भारतवर्ष' नाम का एक पत्र प्रकाशित किया जाए। उन्होंने अपने सहपाठी और मित्र श्री हरिदास चट्टोपाध्याय को शामिल होने के लिए राज़ी कर लिया। विश्वास दिलाया कि यदि शरत् को लिखने के लिए विवश करने में सफल हो गया तो फिर चिन्ता की कोई बात नहीं। कोई दूसरी पत्रिका इसका मुकाबल नहीं कर सकेगी।

शरत् की लेखनी में जब उसके मित्रों को इतना विश्वास था तब यदि उसके मन में रवीन्द्रनाथ के जैसा लिखने की भावना पैदा हुई तो स्वाभाविक ही है। प्रमथ उसके परम मित्र थे और उनके दल के पास धन भी था। इस बात से फणीन्द्र पाल डर गए। शरत् यदि 'भारतवर्ष' में लिखने लगा तो 'यमुना' का क्या होगा? क्या वह बिना पैसा लिए 'यमुना' में लिख सकेंगे?

शरत् को जब इस बात का पता लगा तो उसने फणि को विश्वास दिलाया कि वह 'यमुना' में लिखेगा। पैसे का गुलाम नहीं होगा। 'भारतवर्ष' का तो प्रकाशन भी अभी नहीं हुआ है।

---

1. अक्टूबर, 1912 ई०

2. इसी तख्तपोश पर बैठकर मैंने मुकर्जी महोदय के मुख से यह सब क्या सुनी थी।

3. सन् 1928 ई०

4. अक्टूबर दिसम्बर, 1912 ई०

5. 22 अगस्त, 1913 ई०

11

रंगून लौटकर शरत् ने एक कहानी लिखनी शुरू की। लेकिन योगेन्द्रनाथ सरकार को छोड़कर और कोई इस रहस्य को नहीं जान सका। जितनी लिख लेता प्रतिदिन दफ्तर जाकर वह उसे उन्हें सुनाता और वह सब काम छोड़कर उसे सुनते। प्रारम्भ से ही वह इस कहानी पर मुग्ध थे, इतने कि शरत् के स्वभाव को जानने के बावजूद उन्होंने इस रहस्य की चर्चा दूसरे साथियों से करनी शुरू कर दी। लेकिन किसी को विश्वास नहीं आया। वे यह कैसे मान सकते थे कि उनका एक साथी क्लर्क इतनी अच्छी कहानी लिख सकता है। केवल पोस्ट आफिस के विभूति बाबू ही उस दिन उनकी बात पर विश्वास कर सके। बोले, "योगेन दा, बात तो तुम ठीक कहते हो। शरत् दा के भीतर कुछ असाधारण है, यह सन्देह मुझे बहुत दिन से हो रहा था। विशेषकर उनके छवि-अंकन को देखकर। अब सोचता हूं, तुम जो कहते हो वह ठीक ही होगा।"

लेकिन धीरे-धीरे दस दिन बीत गए कहानी पूरी न हो सकी। केवल आधी ही लिखी जा सकी। एक अंक के लिए काफी होगी यह सोचकर वह आधी कहानी ही शरत् ने फणीन्द्रनाथ को भेज दी। नाम रखा 'रामेर सुमति'। वह निरन्तर ही कुछ-न-कुछ लिखता आ रहा था। लेकिन उसके नये जीवन की यह पहली रचना थी। इसे पाकर 'यमुना' के सम्पादक गद्‌गद हो उठे थे। इसे पढ़कर पाठक विस्मित-विभोर हो उठे। बंगाल में हचलच मच गई।

कलकत्ता में एक दिन 'जाहवी' के कार्यालय में अनेक साहित्यिक एकत्रित हुए थे। प्रभातकुमार गंगोपाध्याय ने आकर सूचना दी, "'यमुना' [1] में 'रामेर सुमति' नाम की एक अद्‌भुत कहानी प्रकाशित हुई है। ऐसी कहानी मैंने कहीं और नहीं पढ़ी।"

उनकी यह बात सुनकर सभी लोग चकित हो उठे। हेमेन्द्रकुमार राय ने पूछा, "किसकी कहानी है?"

प्रभात ने उत्तर दिया, "कोई शरत्‌चन्द्र चट्टोपाध्याय है।"

हेमेन्द्र को सहसा विश्वास नहीं आया। वह तुरन्त कहानी लेकर पढ़ने बैठ गए। उन्होंने लिखा है, "पढ़ते-पढ़ते मन अद्‌भुत विस्मय से परिपूर्ण हो उठा। बंगला भाषा में सचमुच ही ऐसी कहानी कभी प्रकाशित नहीं हुई। एकदम असाधारण श्रेणी के लेखक का दान जान पड़ा। लेकिन यह शरत्‌चन्द्र चट्टोपाध्याय है कौन? क्या यह किसी लेखक का छद्‌म नाम है? किसी नये लेखक का हाथ एकदम इतना सधा हुआ नहीं हो सकता। जो इतने प्रतिभावान हैं, उन रवीन्द्रनाथ प्रारम्भिक रचनाओं में वयसोचित दुर्बलता का अभाव नहीं है। बत्तख का

बच्चा जन्म लेते ही तैर सकता है, किन्तु एक साहित्यिक कलम पकड़ते ही ऐसी प्रौढ़ रचना का सृजन नहीं कर सकता। कितनी चेष्टा और परिश्रम, कितनी सुदीर्ध साधना के बाद एक श्रेष्ठ साहित्यिक परिपूर्णता प्राप्त करता है।''

उन्होंने तुरन्त लेखक की खोज आरम्भ कर दी। दो दिन के भीतर ही वह जान गए कि शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय निश्चय ही नये लेखक हैं, लेकिन यौवनावस्था से वह चुपचाप नियमित रूप से साहित्य-साधना करते आ रहे है। छः वर्ष पूर्व उनकी लिखी हुई एक कहानी 'बड़ी दीदी' 'भारती' में प्रकाशित हुई थी। उसने भी सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था।

नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने भी 'रामेर सुमति' पढ़ी और आत्मविभोर होकर 'इवनिंग क्लब' में इसकी प्रशंसा की। उन्होंने प्रमथनाथ से कहा, ''तुम इनकी रचनाओं को 'भारतवर्ष' के लिए पाने की चेष्टा करो, ये भविष्य में बंगला साहित्य में नये युग का सूत्रपात करेंगे।''

सचमुच शरत्चन्द्र की कहानी ने उस समय के सुप्रसिद्ध कथाकार प्रभातकुमार मुखोपाध्याय को बहुत पीछे छोड़ दिया। दुर्दान्त राम को घर के भीतर बन्द करके नरायनी को एक पर एक बेंत मारते और राम को भागते-भागते रोते देखकर राय महोदय इतने प्रभावित हुए कि कह उठे ''एकदम फर्स्ट क्लास भाषा हे प्रमथ, इस आदमी से मिलने की इच्छा होती है।''

वह नाटककार थे। इस कारण कहानी के नाटकीय रस ने उनके मन को अभिभूत कर दिया। इतना कि उन्होंने लड़की माया को बुलाकर पूछा, '' 'रामेर सुमति' कैसी लगी?''

माया बेचारी लड़की ही तो थी। बोली, ''बहुत अच्छी है पिताजी।''

राय महोदय हंसकर बोले, ''बहुत अच्छी क्या री? कह, चमत्कार है।''

राय महोदय के पुत्र दिलीपकुमार भी इस कहानी से बहुत प्रभावित हुए। कुछ दिन पूर्व ही वह प्रमथनाथ से प्रभात और शरत् को लेकर वाद-विवाद कर चुके थे। वह प्रभात के प्रशंसक थे और प्रमथ शरत् के। लेकिन दिलीपकुमार ने 'रामेर सुमति' पढ़ी, तो प्रभात बाबू को बिलकुल ही भूल गए। पढ़ते-पढ़ते आंखों के जल में शब्द डूब जाते। ऐसी कहानी तो कभी नहीं पढ़ी। न है तरुण-तरुणी का उच्छ्वास, न पुलिस-कारिन्दे का गर्जन-तर्जन। है बस मातृस्वरूपा भाभी का स्नेह, और दुर्दान्त बच्चे का कुरुक्षेत्र काण्ड।

प्रमथ ने पूछा, ''क्यों, कैसी लगी शरत् की 'रामेर सुमति'? प्रभात बाबू से कुछ कम है?''

दिलीप ने पुलकित होकर पूछा, ''वे बर्मा में कैसे रहते हैं?''

प्रमथ ने उत्तर दिया, ''वह एक ही पागल है, नहीं तो इस तरह दुर्गति होती? बर्मा तो भेड़-बकरियों का बाड़ा है। दुख की बात क्या कहूं, वह रंगून में है।''

दिलीप बोले, "क्या कहते हैं? सुना है रंगून तो प्रकाण्ड नगर है, कलकत्ता से भी बड़ा।"

"बड़ा होने से क्या बाड़ा नहीं होता, सुन्दर वन भी तो कलकत्ता से बड़ा है? उससे क्या वह ईडेन गार्डेन हो जाएगा?"

"वह नहीं हो सकता, किन्तु रंगून पर आप इतने क्रुद्ध क्यों है?"

"मैं क्रुद्ध नहीं हूं, फिर भी रंगून की बात सोचते ही कांप उठता हूं। वहां लोग नाप्पि [2] खाते हैं, उसकी दुर्गन्ध से भूत भी भाग जाएं। फिर, वह तो उस किष्किन्धा में रहकर पड़ता ही रहता है। मैं उसे लिखता हूं, 'ओरे न्याड़ा [3], इतनी किताबें पढ़ने से क्या होगा? तू कलम पकड़, कलाम!' लेकिन क्या वह सुनता है? आजकल उस पर एक और भूत सवार हुआ है। वह चित्र बनाता है।"

"चित्र बनाते है? क्या कहते हो?"

"कहूंगा क्या, मतिभ्रष्ट है। कहता हूं कलकत्ता आ जा, पर वह तो उत्तर ही नहीं देता।"

इन बातों का कोई अन्त नहीं था। उस दिन बंगाल को पता लगा कि शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय नाम के एक असाधारण प्रतिभाशाली कथाशिल्पी का जन्म हो चुका है और अतीत के दिये बुझ गए हैं। [4] यमुना' की ग्राहक-संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ने लगी । अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक आग्रहपूर्वक शरत् बाबू को कहानियां भेजने के लिए पत्र लिखने लगे। 'चरित्रहीन' छापने से जिन्होंने इनकार कर दिया था, उन समाजपति का पत्र भी आया। उस समय साहित्यिक क्षेत्र में उनकी दुन्दुभी बोलती थी। जिस लेखक पर उनकी कृपा हो जाती वह मानो तर जाता। उन जैसे प्रतापी पुरुष ने रचना भेजने का अनुरोध करते हुए जिस प्रकार विनयपूर्वक शरत्चन्द्र को पत्र लिखा, उससे उनके मित्र अवाक् रह गए। लेकिन शरत् नितांत निस्संग बना रहा। कम-से-कम प्रकट में किसी प्रकार की कोई उत्तेजना उसने नहीं दिखाई। एक मित्र को उसने लिखा, "मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, इसके अलावा किस्से-कहानियां लिखने की प्रवृत्ति नहीं होती । मुसीबत में पड़कर मुझे कहानियां लिखनी पड़ती हैं। फिर भी लिखूंगा। इस बीच कहानी भेजने के बहुत-से अनुरोध आए, लेकिन मैं निरुपाय हूं। इतनी कहानियां लिखने बैठूं तो मेरा पढ़ना बन्द हो जाए। मैं प्रतिदिन दो घंटे से अधिक नहीं लिखता। दस-बारह घंटे पढ़तां हूं।"

लेकिन इस अहंकार के बावजूद लिखना आरम्भ हो चुका था। अन्तर में सोई इच्छा फिर जाग उठी थी। इसीलिए स्वास्थ्य खराब हाने पर भी वह बराबर लिखता रहा। 'यमुना' से जैसे उसे मोह हो गया था। उसने फणीन्द्रनाथ को लिखा, "यधपि कहानी लिखने का अभ्यास कम हो गया है, लेकिन आशा है कि दो-एक माह में ठीक हो जाएगा। प्रतिमास एक छोटी कहानी (दस-बारह पन्ने की) और प्रबंध भेजूंगा। कहानी अवश्य भेजूंगा, क्योंकि आजकल इसका विशेष आदर है।"

फिर लिखा, तीन नामों से रचनाएं भेजूंगा :

1. समालोचना-प्रबन्ध आदि	अनिला देवी
2. छोटी कहानियां	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय
3. बड़ी कहानियां	अनुपमा देवी

यह प्रस्ताव उसने इसलिए किया था कि यदि सब रचनाएं एक ही नाम से प्रकाशित होंगी तो पाठक सोचेंगे कि इस व्यक्ति को छोड़ उनके पास कोई और लेखक नहीं है

उसकी इस अप्रत्याशित लोकप्रियता का एक और परिणाम यह हुआ कि बचपन की उसकी रचनाएं, जो उसके मित्रों के पास पड़ी हुई थीं, उन्हें निकाल-निकालकर अब वे लोग इधर-उधर प्रकाशित करने लगे। 'बोझा' के बाद 'बाल स्मृति', 'हरिचरण', 'काशीनाथ', 'अनुपमा का प्रेम', 'चन्द्रनाथ', 'प्रकाश और छाया' एक-सवा वर्ष के भीतर ही भीतर 'साहित्य' और 'यमुना' में प्रकाशित हो गईं। लेकिन उसे यह अच्छा नहीं लगा। वह नहीं चाहता था कि उसकी ये रचनाएं अब प्रकाशित हों। वह मानता था कि वे अपरिपक्व अवस्था की रचनाएं हैं। भावना की अतिशय मुलायमियत और नवयुवकोचित अतिरंजना का उनमें प्राधान्य है। बार-बार पत्रों द्वारा वह अपना क्रोध और व्यथा प्रकट करने लगा।

"तुमने समाजपत को 'काशीनाथ' देकर अच्छा काम नहीं किया। वह 'बोझा' का जोड़ीदार है। बचपन में अभ्यास के लिए लिखी गई कहानी है। छपवाना तो दूर रहा, लोगों को दिखाना भी उचित नहीं है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि वह न छपे और मेरे नाम को मिट्टी में न मिलाया जाए..... ।" [5]

"इस बार 'साहित्य' ने मेरे नाम से न जाने क्या-क्या कूड़ा-करकट छापा है। वह क्या मेरा लिखा हुआ है? मुझे तनिक भी याद नहीं और अगर है भी तो उसे छापा क्यों? आदमी बचपन में बहुत कुछ लिखता है। तो क्या उसे प्रकाशित करना चाहिए? वह छापकर मानो मुझे लज्जित कर दिया है।" [6]

"'देवदास' अच्छा नहीं है, अच्छा नहीं है। सुरेन आदि मेरी सब रचनाओं की बड़ी तारीफ करते हैं। उनके अच्छा कहने का मूल्य मेरे लिए नहीं है! उसे छापा जाए यह भी मेरी इच्छा नहीं है।" [7]

"'देवदास' मत लो। लेने की चेष्टा मत करो। यह निराशा की अवस्था में लिख़ा हुआ ही नही है, मुझे उस पर लज्जा भी आती है। वह अनैतिक है। उसमें वैश्या का चरित्र तो है ही, वह छोड़कर और क्या-क्या है यह बताने को भी जी नहीं करता। मुझे अपनी पुरानी रचनाओं को प्रकाशित कराने के संबंध में विशेष आपत्ति है। आषाढ़ की 'यमुना' में 'आलो को छाया' नामक एक अधूरी अल्प प्रकाशित हुई है। क्या वह मेरी ही लिखी हुई है?.... हो न हो मेरे बचपन की लेखन शैली का अनुकरण करके किसी और ने लिखा है।" [8]

उसमें अब रवीन्द्रनाथ जैसा लिखने का विश्वास पैदा हो गया था। इसलिए वह चाहता था कि उसकी बचपन की रचनाओं को यदि प्रकाशित करना ही है तो एक बार फिर से देख लेना आवश्यक है। इस दृष्टि से 'काशीनाथ' जब पुस्तकाकार छापा तो उसमें उसने काफी संशोधन किए। पत्रिका में छपते समय इस रचना का अन्त काशीनाथ की हत्या और कमला की आत्महत्या से होता है, परन्तु पुस्तक रूप में आने पर वह कथा सुखान्त हो गई।

जब वह 'साहित्य' में प्रकाशित हुआ था तब एक युवक हरिकृष्ण मुखोपाध्याय उससे मिलने आया था। उसे यह रचना बहुत अच्छी लगी थी। परन्तु उसके अन्त पर उसे आपत्ति थी। उसकी यह आपत्ति सुनते ही शरत् बोल उठा, "केवल काशीनाथ' ही नही 'साहित्य' में और भी कई कहानियां छपी है। वे सब मेरी बचपन की रचनाएं हैं। मुझे बिना बताए एकदम छाप दीं। प्रूफ भी पढ़ लेता तो एक बार देख तो लेता।"

हरिकृष्ण ने सुझाव दिया, "क्या जब अंत नहीं बदला जा सकता?"

शरत् ने कहा, "पता नहीं पुस्तक रूप में छपेगी भी या नहीं। छपी तो अवश्य परिवर्तन करूंगा।"

केवल 'काशीनाथ' में ही नहीं, 'चन्द्रनाथ' में भी उसने काफी परिवर्तन किए। इसके प्रकाशन को लेकर काफी हंगामा मचा। उपेन्द्रनाथ उसे 'यमुना' में प्रकाशित करवाना चाहते थे। इस प्रकार का विज्ञापन भी उसमें निकाल चुका था, परन्तु सुरेन्द्र और गिरीन्द्र इस बात से बहुत दुखी हुए। उपेन्द्र से उनका झगड़ा भी हो गया। चन्द्रनाथ' की पाण्डुलिपि उन्हीं से मांगकर तो वह ले गए थे। उन्होंने शरत् को लिखा और अन्तत: वह इस बात पर राज़ी हो गया कि जो अंश छप चुका है उसे छोड़कर शेष पाण्डुलिपि उसे भेज दी जाए। उचित संशोधन करके वह उसे 'यमुना' को भेजता रहेगा।

संशोधित अंश फणीन्द्रनाथ को भेजते हुए उसने लिखा, "कहानी के तौर पर 'चन्द्रनाथ' बहुत मधुर है। लेकिन उसमें अतिरेक है। लड़कपन अथवा जवानी में इस तरह की रचना स्वाभाविक होने के कारण शायद ऐसा हुआ है। अब जब हाथ में आ गया है तो उसे अच्छा उपन्यास बना डालना ही उचित है। कम-से-कम दूना बढ़ जाना सम्भव है..... .इस कहानी की विशेषता यह है कि किसी प्रकार की अनैतिकता से इसका संबंध नहीं है, सभी पढ़ सकेंगे..... ।." [9]

जिस व्यक्ति पर अनैतिकता का दोष लगाया गया और जिसने नैतिकता को नये अर्थ देने की चेष्टा की, उसी के मस्तिष्क को अब स्वयं यह प्रश्न झकझोरने लगा। दिशाहीन प्रारंभिक भावुकता तथा आवेशपूर्ण उग्रता जैसे अब संयत रूप लेने लगी थी । इसलिए नई रचनाएं लिखने में वह बहुत परिश्रम करता था। जब तक सही अर्थ देने वाला मनचाहा शब्द न मिल जाता, उसे काटता ही रहता। मन के सुर के संग शब्द का सुर मिल जाता है कि नही, इसका उसे बहुत ध्यान रहता। मिलने पर ही शान्ति मिलती। इसलिए कभी-कभी पांडुलिपि इतना कट जाती कि कोई दूसरा पढ़ भी नहीं पाता। उस दिन एक पाण्डुलिपि

अपने प्रिय मित्र और सहकर्मी कुमुदिनीकान्त कर को देते हुए उसने कहा था, "यह देख, कितना काटा हे। काटने की और जगह नहीं है। चेष्टा करने पर भी तुम पढ़ नहीं पाओगे।"

---

1. फाल्गुन, 1913 ई० (फरवरी-मार्च)
2. एक प्रकार की सड़ी हुई मछली
3. शरत् का पुकारने का नाम
4. बोवेन लैटिमोर ने लिखा है, "दसवीं शताब्दी में इस्लाम आया और अतीत के दिये बिलकुल बुझ गये।"
5. 10 जनवरी, 1913 ई०
6. माघ (जनवरी), 1913 ई०
7. 8 अप्रैल, 1913 ई०
8. 25 जून, 1913 ई०
9. 3 मई,, 1913 ई०

12

'रामेर सुमति' के बाद उसने 'पथ निर्देश' लिखना शुरू किया। पहले की तरह प्रतिदिन जितना लिखता जाता उतना ही दफ्तर में जाकर योगेन्द्रनाथ को पढ़ने के लिए दे देता। यह काम प्राय: दा ठाकुर की चाय की दुकान पर होता था। टिफिन के समय सभी लोग वहां चाय पीने जाते थे। कभी-कभी बातचीत इतनी लम्बी हो जाती थी कि टिफिन का समय बीत जाता। देर से आने पर सिंहलदेश-वासी वृद्ध सुपरिंटेण्डेण्ट किंचित मुस्कराते और कहते, "अच्छा तो आप दोनों फिर देर से आए !"

दोनों लज्जा से गड़ जाते। दो-तीन दिन तक भले आदमी की तरह समय पर लौटते, उसके बाद फिर देर होने लगती। लेकिन दफ्तर में भले ही देर हो जाती हो, 'राम की सुमति' के साथ-साथ शरत् की सुमति भी अब लौट आई थी। नई कहानी 'पथ निर्देश' उसकी दृष्टि से 'रामेर सुमति' से भी अच्छी थी। लेकिन योगेन्द्रनाथ के विचार में उसका अन्त ठीक नहीं था। राधाकृष्ण के विशुद्ध प्रेम का उल्लेख करते हुए उन्होंने किहा, "शरत् दा, आप कहते हैं कि आप वैष्णव हैं, सोचता हूं वृन्दावन के उन चिर किशोर-किशोरियों की प्रेम-लीला की बात, जहां इन्द्रियों का कोई सम्पर्क ही नहीं। आपमें जैसे लिखने की क्षमता है उससे लगता है कि आप बहुत अच्छी तरह उस भाव का चित्रण कर सकते हैं।

शरत् ने उत्तर दिया, "तुम लोगों की जैसी रुचि है, उससे तो कहानी और उपन्यास नहीं लिखे जा सकते। सब कुछ को तो तुम धर्म, मर्म और कर्म की दृष्टि से देखते हो।"

सरकार बोले, "आप लेखक हैं और मैं पाठक हूं। हमें भी तो अच्छी लगनी चाहिए।"

गम्भीर होकर शरत् ने उत्तर दिया, "हां, लगना तो चाहिए। पर लेखक में भी विचार करने की अपनी क्षमता होती है। अनेक लोग अनेक तरह की उलटी-सीधी बातें कहना चाहते हैं। पांच जनों के मुंह से मतामत लेकर क्या कम हो सकता है? दुनिया ऐसे नहीं चलती।"

बात कुछ अधिक तेज हो गई थी। योगेन्द्र ने तुरन्त जवाब नहीं दिया। कुछ देर बाद कहा, "यह बात ठीक है शरत् दा, लेकिन यह बात और भी ठीक है कि किसी से पूछा जाए तो वह अपनी पसन्द का जवाब देगा ही। बशर्ते कि वह एकदम खुशामदी न हो।"

शरत् मन ही मन तिलमिला आया। फिर भी यथासम्भव गम्भीर रहने की चेष्टा करते हुए उसने कहा, "तो बताओ, तुम क्या करने पर खुश होगे?"

योगेन्द्र ने उत्तर दिया, "वह तो मैं बता चुका हूं, शरत् दा। अब आपकी खुशी है। मुझे और कुछ नहीं कहना।"

"अच्छा देखता हूं, कुछ कर सका तो।"

और शरत् ने उस प्रसंग को वहीं समाप्त कर दिया। योगेन्द्र समझ गए कि वह नाराज़ है। पास आकर बोले, "शरत् दा, आप जिस प्रकार इस कहानी के अन्त को मुझसे कहकर हलके मन के हो गए, उसी प्रकार मैंने भी अपने मन की बात कही थी। इससे यदि सचमुच अन्याय हुआ है तो मैं उस बात को वापस लेता हूं। आप अपने विचार में जो ठीक समझते हैं वही क्यों नहीं करते?"

शरत् ने कहा, "ना रे सरकार, कुछ अन्याय नहीं हुआ। सोचता हूं, तुम्हारी बात खराब नहीं है। अच्छा देखा जाएगा क्या कर सकता हूं।"

"निश्चय ही कर सकोगे, निश्चय ही कर सकोगे।"

"नही कर सका तो इसमें मेरा अपराध नही होगा।"

"अच्छा, यही बात ठीक है। अपराध तो मेरा ही है शरत् दा।"

सरकार ने लिखा है, जिस दिन पूरी कहानी फिर से पढ़ने का अवकाश पाया तो लगा कि किसी ऐन्द्रजालिक स्पर्श से कहानी का अन्त इस प्रकार परिवर्तित हो गया है और सम्पूर्ण कहानी इस प्रकार श्रीसम्पन्न हो गई है कि यही कहा जा सकता है 'अनुपम'।" [1]

'पथ निर्देश' एक प्रेम कहानी है। हेमनलिनी और उसकी माता गुणेन्द्र के आश्रम में आकर रहती हैं। यहीं हेम और गुणेन्द्र में प्रेम होता है। दोनों एक-दूसरे को हृदय से चाहने लगते हैं। परन्तु गुणेन्द्र ब्रह्म समाजी है। इस कारण हेम की मां उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह अन्यत्र कर देती है। दुर्भाग्य से एक ही वर्ष के भीतर वह विधवा होकर फिर वहीं लौट आती है। मां की व्यथा का पार नही। उसी व्यथा में से वह अपनी गलती पहचानती है और मृत्युशय्या पर यह इच्छा प्रकट करती है कि गुणेन्द्र हेम से पुनर्विवाह करके सुखी हो। लेकिन न तो वह लड़की से कुछ कह पाती है और न गुणेन्द्र ही उसकी मृत्यु के बाद ऐसा कहने कि साहस बटोर पाता है। इसी प्रकार उनके प्रेम और संकोच के बीच में एक अन्तर्युद्ध चलता रहता है और अन्त में वे दोनों वास्तविक प्रेम को महामहिमान्वित करने के लिए काशीवास करने चले जाते हैं।

प्रारम्भ में इस कहानी का अन्त हेम और गुणेन्द्र के मिलन में हुआ था। उसी का योगेन्द्रनाथ ने विरोध किया था। काफी अन्तर्मथन के बाद अन्त में शरत् ने योगेन्द्र का सुझाव स्वीकार कर लिया। इसीलिए जब गुणेन्द्र काशी चलने का प्रस्ताव रखता है तो रोती हुई हेम कहती है, "चलो, पर क्या यही तुम्हारी अन्तिम आज्ञा है? इसे मैं सह सकूंगी?"

गुणेन्द्र ने कहा, "जरुर सह सकोगी। जब तुम यह समझोगी कि प्रेम को महा-महिमान्वित करने के लिए विच्छेद ने सिर्फ तुम जैसी अतुल ऐश्वर्यशालिनी के द्वार पर ही आकर हमेशा हाथ पसारे हैं, वह अल्पप्राण क्षुद्र प्रेम की झोंपडी में अवज्ञा से नहीं गया है, तब तुम सह सकोगी। जब समझोगी कि अतृप्त वासना ही महत् प्रेम की प्राण है, इसी के द्वारा ही वह अमरत्व प्राप्त करके युग-युग में कितने काव्य, कितनी मिठास, कितने अमूल्य

आंसू संचित करके रख जाता है। जब तुम इस बात को निःसंशय अनुभव कर सकोगी कि क्यों राधा का शतवर्ष व्यापी विरह वैष्णवों का प्राण है, तब तुम सह सकोगी हेम । उठकर बैठो! चलो, आज ही हम काशी चले। जो थोडे-से दिन बाकी हैं, उन दिनों की अन्तिम सेवा तुम्हारे भगवान के आशीर्वाद से अक्षय होकर तुम्हें जीवन-भर सुमार्ग में शान्ति से रखेगी।"

यह अन्त योगेन्द्र को ही अच्छा लगा हो, यह बात नहीं, सौरीन्द्रमोहन ने भी इसकी प्रशंसा की और जब शरत् ने योगेन्द्र को यह बात बताई तो गद्‌गद् होकर उसने कहा, "देखा न, जो मैंने कहा था ठीक निकल!"

शरत् ने उत्तर दिया, "हां सरकार, तुमने ठीक कहा था। सचमुच, हर समय अपना विचार ही निर्दोष नहीं होता।

एक दिन सौरीन्द्र के कहने पर शरत् ने 'बड़ी दीदी' के अन्त की दो पंक्तियां काट दी थीं, हरिकृष्ण के कहने पर 'काशीनाथ' का अन्त बदल दिया था। अब भी योगेन्द्र के कहने पर 'पथ निर्देश' का अन्त दूसरे रूप में कर दिया। दूसरों के विचार उसे अन्तर्मन्थन की प्रेरणा देते थे और उनके स्वीकार या अस्वीकार को वह झूठी प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाता था। अब्राहम लिंकन ने राष्ट्रपति पद से दिए गए अपने प्रथम भाषण के अन्त में अपने मित्र सेवार्ड के सुझाव पर भावनात्मक अपील के कुछ शब्द जोड़ दिए थे। इन्ही शब्दों को लोगों ने वर्षो तक याद रखा था।

'पथ निर्देश' का यह वर्तमान अन्त ही शरत् साहित्य की मूल भावना के पास है। उसका प्रेम सदा मिलन के अभाव में सम्पूर्ण और व्यथा में मधुर हुआ है। सूरदास की राधिका की तरह.....

मेरे नैना विरह की बेलि बई,

सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई।

स्वयं उसे यह कहानी 'रामेर सुमति' से अच्छी लगी थी। लेकिन ऐसे लोग भी कम नहीं थे (और आज भी नहीं है) जो यह मानते थे कि हिन्दू समाज के विधिनिषेधों द्वारा विपर्यस्त और विफल प्रेम की गहरी वेदना के बावजूद चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह कथा 'रामेर सुमति' के सामने फीकी पड़ जाती है। वे लोग इसके अन्त से भी सहमत नही हैं, लेकिन साहित्य के क्षेत्र से बाहर एक वैज्ञानिक से उस कहानी को जो प्रशंसा मिली वह निस्सन्देह बहुत ही उत्साहवर्द्धक थी। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आचार्य जगदीशचन्द्र बसु ने शरत् को लिखा, "सफलता कितनी क्षुद्र है, विफलता कितनी बड़ी! आपकी कहानी 'पथ निर्देश' पढ़ते-पढ़ते डर रहा था कि इतने कष्टों के बाद आप सफलता का मोह नहीं छोड़ सकेंगे। किन्तु खुशी हुई कि जो मार्ग बड़ा है वही दिखाना आप नहीं भूलें।" [2]

'पथ निर्देश' का आधार उसकी व्यक्तिगत अभिज्ञता है यह बात शायद ही कोई जानता था। प्रमथ को उसने लिखा था, [3] " 'पथ निर्देश' पढ़ी ? कैसी लगी ? क्या बहुत दिन पहले

की एक गुप्त कहानी याद आती है.....?"

इसके बाद उसने एक और कहानी लिखनी शुरू की। वह थी 'बिन्दो का लल्ला'। उसकी पूर्व कल्पना की झांकी उसके एक पत्र से मिलती है, "राम की सुमति' के समान प्रेमरहित बंगाली घर की कथा जिससे मनुष्य को शिक्षा मिले, ऐसी एक माला लिखने का निश्चय किया है। बंगाल का आदर्श अन्त-पुर क्या है, यही उससका प्रतिपाद्य विषय है । 'बिन्दो का लल्ला' एक कहानी लिखकर भेजी है । सोचा था तुम्हें दिखाऊंगा, किन्तु समय नहीं रहा । अवश्य ही तुम्हारे 'भारतवर्ष' के योग्य वह बिलकुल नहीं बनी । बहुत बड़ी हो गई है । इसलिए यमुना' को भेज दी है।"

रामेर सुमति, 'पथ निर्देश' और 'बिन्दो का लल्ला' एक के बाद एक लिखी गई इन तीन कहानियों को लेकर शरत् ने बार-बार अपने मित्रों को पत्र लिखे । उनसे उसकी उस समय की मनःस्थिति का पता लगता है ।

"मैंने सोचा 'बिन्दो का लल्ला' आपको पसन्द नहीं आएगी और छापने में आनाकानी करेंगे । बाद में मेरी खातिर अपनी हानि स्वीकार करके उसे छाप देंगे । इसी आशंका से पहले ही आपको सतर्क कर दिया । यदि सचमुच ही अच्छी लगे तो छापना ।" [4]

"परिश्रम, रुचि और कला, सभी दृष्टियों से 'पथ निर्देश' के सामने 'राम की सुमति' का पद नीचा है, बहुत नीचा । मैंने एक पारिवारिक कहानी लिखने का निश्चय करके नमूने के तौर पर 'राम की सुमति' लिखी । इसी प्रकार हिन्दू परिवार में जितने तरह के संबंध हैं उन सबके संबंध में एक-एक कहानी लिखकर पुस्तक पूरी करूंगा । लेकिन वह केवल स्त्रियों के लिए ही होगी ।" [5]

"'बिन्दो का लल्ला' पढ़कर देखी ? वह प्रेम कहानी नहीं है । एकदम बंगाली घर की कहानी है । इसमें चरित्र है और उसका निर्वाह करने के लिए ही कुछ बढ़ गई है । कहानी समाप्त करके यदि पाठकों के मन में यह नहीं होता कि 'अहा, कितनी, सुन्दर है' तब वह कहानी क्या? 'राम की सुमति', 'पथ निर्देश', 'बिन्दो का लल्ला' सभी इसी सांचे में ढली हैं । अच्छा बिन्दो का लल्ला' पढ़कर यदि तुम मेरे मन में यह साहस पैदा कर सकी कि अगर वह तुम्हारे 'भारतवर्ष' में भेजी जाती तो छप जाती तो कोशिश करूंगा -यह वचन देता हूं ।" [6]

"..... .जो स्वयं कहानियां लिखते हें वे अच्छी तरह जानते हें कि यदि राम की सुमति' आसानी से लिखी जा सकती है, तो 'पंथ निर्देश' लिखने में अधिक साहस की आवश्यकता होती हैं? शायद सब नही लिख सकेंगे । अपनी समालोचना अपने-आप कैसे की जा सकती हैं ? फिर भी कलकत्ता और इस देश के लोगों के मत में दोनों कहानियां सुपरलेटिव डिग्री में 'एक्सीलेंट' हैं । द्विजू बाबू ने कहा हे 'आदर्श रूप हैं ।'" [7]

उसकी रचना-प्रक्रिया, उसकी मान्यताएं, उसका दोहरा व्यक्तित्व, साहित्य-सृजन के पीछे निहित उद्देश्य सभी कुछ इन पत्रों में हैं । इन कहानियों ने तत्कालीन बंगाल के प्रबुद्ध

मानस को आलोडित कर दिया है, इस बात को वह समझ गया था और इसीलिए उसके भीतर सोया हुआ अहम् उसके हीन भाव पर हावी हो गया था । प्रमथ के इस पत्र [8] जैसे न जाने कितने पत्र उसके पास आए थे । 'बिन्दो का लल्ला' पढ़कर उसने लिखा था, "इससे अच्छी कहानी बंगला भाषा में निकली है, इसमें सन्देह है । तुमने लिखा है, यह अच्छी नहीं हुई । क्या खराबी हे, मैं तो नहीं समझ पाता । भारतवर्ष ' को इसके प्रकाशित करने के गौरव से वंचित रखने को ही यह छल तुमने किया है । मेरा विश्वास है, 'भारतवर्ष' तो क्या, कोई भी पत्र इससे कहीं खराब गल्प छापकर धन्य हो सकता है ।.....तुम तो कभी ठीक अर्थो में गृहस्थ नहीं रहे, सदा उदासीन रहे, फिर यह तीक्षा अवलोकन दृष्टि, यह सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण कहां से पाया? अवाक् हूँ । 'जो लिखा है सब जातना हूं । पर कैसा सजीव, जैसे अपने घर कई घटना हो !"

महान् ताल्स्ताय से उसकी साली तान्या ने कुछ इसी प्रकार पूछा था, "मैं जानती हूं तुम जमीदारों, पिताओं, जनरलों और सिपाहियों का चित्रण करने में समर्थ हो, परन्तु एक प्रेम-पीड़ित युवती के दर्द और एक मां की भावनाओं को कैसे शब्द दे सकते हो, मैं नहीं समझ पाती ।"

वह बेचारी नहीं जानती थी कि वह तान्या के प्रेम की व्यथा का हर क्षण साक्षी रहा है और स्वयं अपनी पत्नी में उसने नारी को एक पत्नी और एक मां के रूप में पाया है । शरत् भी न जाने ऐसी कितनी ही व्यथाओं का साक्षी रहा । कितने ही परिवारों के सुख-दुख का भागी बना । प्रथम प्रेम की विफलता की कसक को मन में सहेजे उसने शान्ति को पत्नी के रूप में पाया और खोया और फिर जीवनसंगिनी हिरमण्मयी की प्रेमिल छाया में उस आवारा और ब्रात्य व्यक्ति ने जीवन के नये अर्थ खोजे । परन्तु वह अपने को छिपाने कई कला में इतना कुशल था कि लोग अन्त तक उसे अविवाहित ही मानते रहे । बहुत वर्षो बाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक जैनेन्द्र कुमार ने मानो तान्या के स्वर में लिखा, वह व्यक्ति जिसने पत्नी रूप में नारी को कभी नहीं पाया, प्रतिभा पाई, बासठ वर्ष की वय पाई, स्नेह से लबालब भरी आत्मा पाई, फिर भी नारी को पत्नी नहीं पाया -ठीक उसी व्यक्ति ने हृदय को जितना स्पंदनशील और संपूर्ण भाव से चित्रित किया, वैसा क्या कोई गृहस्थ कर सका? इसी से इस वैरागी, फिर भी संसारी प्राणी के प्रति उत्कण्ठ जिज्ञासा से भर-भर आया ।.

अनुभव सभी को होते हैं पर उन्हें अनुभूति में रूपान्तरित करने की. सूक्ष्म पर्यवेक्षक दृष्टि के बिना कलाकार का जन्म नहीं होता । शरत् के पास वह दृष्टि बचपन से ही थी । इन तीन कहानियों के अतिरिक्त उन्हीं दिनों उसने एक लम्बा निबन्ध 'नारी का मू? भी लिखा । चरित्रहीन की तरह एक लम्बा प्रबन्ध 'नारी का इतिहास' भी आग से जलकर भस्म हो गया था । उसी की स्मृति के आधार पर उसने इस निबन्ध की रचना की थी । धारावाहिक रूप में ये 'यमुना' में छपने लगा । [9] ' लेकिन लेखक के रूप में इस पर उसने अपना नाम नहीं दिया

। इसकी लेखिका हुई, उसकी बड़ी बहन अनिला देवी । इसी नाम से वह कुछ नारी लेखिकाओं की पुस्तकों की समालोचना 'नारी का लेखा' भी लिख चुका था ।

इनकी चर्चा करते हुए उसने योगेन्द्रनाथ से कहा, "अपनी दीदी की कहानी जान पड़ता है मैंने तुम्हें नहीं बताई । यह लेख [10] ' उन्हीं के नाम से प्रकाशित होगा । वह बहुत अच्छी तरह लिखना-पढ़ना जानती हैं, लेकिन घर-गृहस्थी में फंसी हैं । ऐसी चर्चा करने का समय नहीं पातीं ।"

यद्यपि इस निबन्ध पर उसका अपना नाम नहीं गया था, फिर भी अनेक परिचित और अपरिचित लोगों ने उस लेख की भाव-भीनी प्रशंसा करते हुए उसे लिखा । उसकी भाषा और शैली दोनों से ही पाठक अब खूब परिचित हो गए थे । उसका विचार इस प्रकार के बारह मूल्य' लिखने का था । नारी का मूल्य 'धर्म का मूल्य' ईश्वर का मूल्य, 'नशे का मूल्य, 'झूठ का मूल्य', 'आत्मा का मूल्य', पुरुष का मूल्य 'साहित्य का मूल्य'समाज का मूल्य, 'अधर्म का मूल्य' वेश्या का मूल्य' और सत्य का मूल्य' ।

कुछ दिन बाद सांख्य का मूल्य' और वेदान्त का मूल्य' दो और मूल्य इस योजना के साथ जुड़ गए । योजनाएं बनाना वह खूब जानता था, लेकिन विरासत में मिली हुई अजगरी वृत्ति के कारण उन्हें कार्यान्वित करना उसने नहीं सीखा था । नाम प्रकट हो जाने का बहाना मिल जाने पर काम न करना और भी सरल हो गया। हुआ यह कि जब द्विजेन्द्रलाल राय ने 'नारी का मूल्य' को अमूल्य बताते हुए उसकी बड़ी प्रशंसा की तो प्रमथनाथ अपने को न रोक सके। उन्होंने शरत् का नाम प्रकट कर दिया। शायद उसी की ओर इशारा करते हुए शरत् ने लिखा, "सोचता हूं लोगों ने मेरा नाम कैसे जाना? शायद फणि के द्वारा, शायद तुम्हारे द्वारा। यह अनिष्ट हुआ। अब क्या करूं बताओ? इन मूल्यों में 'वेश्या का मूल्य' और 'नशे का मूल्य' सबसे अधिक रोचक होते। उन पर ही बन्धु-बान्धवों की भीषण आपत्ति है। वे किसी भी तरह राज़ी नहीं हैं कि ये दोनों मैं दीदी के नाम से लिखूं। सोचता हूं 'एवोल्यूशन आफ आइडिया आफ सोल' शुरू करूं । ठीक 'नारी का मूल्य' के समान।"

फिर लिखा, "कभी-कभी इच्छा होती है कि हर्बर्ट स्पेंसर के पूरे समन्वयात्मक दर्शन की एक बंगला समालोचना (नहीं आलोचना) और योरोप के अन्यान्य दार्शनिक जो स्पेंसर के शत्रु-मित्र हैं उनकी रचनाओं पर एक बड़ा धारावाहिक निबन्ध लिखूं। हमारे देश की पत्रिकाओं में केवल अपने 'सांख्य' और 'वेदान्त', 'द्वैत' और 'अद्वैत' के अलावा और किसी तरह की आलोचना नहीं रहती।"

इससे यह बात एक बार फिर स्पष्ट हो जाती है कि वह खूब पड़ता और सोचता था। लेकिन किसी भी कारण से ही तीन वर्ष बाद 'समाज धर्मेर मूल्य' को छोड़कर वह और कोई 'मूल्य' नहीं लिख पाया। कहानियां ही लिखता रहा। उनके लिए मित्रों का आग्रह तो था ही, आर्थिक आग्रह भी था। प्रकाशकों की राय थी कि निबन्धों की अपेक्षा किसी तरह जोड़-जाड़ के दो-चार कहानियां लिख दी जाएं तो उनकी हज़ार कापियां बिक जायेंगी।

ये निबन्ध न लिखे जाने का एक और कारण बने विभूतिभूषण भट्ट। जहां अनेक लोगों ने 'नारी का मूल्य' की प्रशंसा की, वहां विभूतिभूषण ने उसकी उतनी ही निन्दा की। उन्होंने सौरीन्द्रमोहन को लिखा, "मिसेज पंकरस्ट के आदर्श सामने रखना दुस्साहसिकता है। मैंने बूड़ी (निरुपमा देवी) से इस स्त्री नामधारी उद्धत महापुरुष की अथवा स्त्रियों के स्वत्व की रक्षा करने वाले 'डानक्विकज़ोट' की बातों का प्रतिवाद करने को कहा है।"

यह समाचार पाकर शरत् बड़ा निरुत्साहित हुआ। उसने निश्चय किया कि वह इस प्रकार के निबन्ध नहीं लिखेगा । सौरीन्द्र को इस बात की सूचना देते हुए उसने लिखा, "पुंटू (विभूतिभूषण भट्ट) को लिख दिया है कि बूड़ी इस संबंध में कुछ न लिखे। प्रतिवाद मैं सहन नहीं कर सकता। वह तो गाली-गलौज करने जैसा है। यदि कुछ कहना है तो बातचीत में कहो। उसमें सुविधा रहती है। दोनों पक्ष एक-दूसरे को गलत नहीं समझते। शंका भी समाप्त हो जाती है।"

यद्यपि उसने अपने एक मित्र से कहा था, "सब मेरे कथाशिल्प की प्रशंसा करते हैं, परन्तु मैने 'नारी का मूल्य' प्रबन्ध अपनी कहानियों से कम दर्द के साथ नहीं लिखा।" फिर भी नाना कारणों से मूल्य' लिखने का निश्चय उसे यहीं समाप्त कर देना पड़ा। इसे साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।

---

1. ब्रह्मप्रवासे शरत्चन्द्र-योगेन्द्रनाथ सरकार
2. 14 सितम्बर, 1913 ई०
3. मई, 1913 ई०
4. 14 सितम्बर, 1913 ई० (फणोन्द्रनाथ)
5. डाक मोहर-12 मई, 1913 ई०
6. 8 अप्रैल, 1913 ई०
7. 10 मई, 1913 ई०
8. 19 जुलाई, 1913 ई०
9. अप्रैल से अक्तूबर, 1913 ई०
10. पुस्तक रूप में यह 18 मार्च, 1924 क्ते प्रकाशित हुआ ।

13

छोटी रचनाओं के साथ-साथ 'चरित्रहीन' का सृजन बराबर चल रहा था और उसके प्रकाशन को 'लेकर काफी हलचल मच गई थी। 'यमुना' के संपादक फणीन्द्रनाथ चिन्तित थे कि 'चरित्रहीन' कहीं 'भारतवर्ष' में प्रकाशित न होने लगे। प्रमथनाथ बराबर आग्रह कर रहे थे, "'यमुना' के सम्पादक फणि बाबू कौन है, मैं नहीं जानता, लेकिन उनका तुम्हारे ऊपर इतना ज़ोर है कि हमारे इतने दिन के प्रणय के बीच में व्यवधान स्वरूप हो उठे हैं, यह देखकर मन ही मन ईर्ष्या होती है..... फिर भी नई यमुना के प्रेम में पुरानों को एकदम भूल जाना उचित नहीं है..... 'चरित्रहीन' निश्चय ही चाहिए....."

इधर प्रमथ का ऐसा आग्रह था तो उधर 'साहित्य' के सम्पादक रजिस्ट्री द्वारा चिट्ठियों पर चिट्ठियां भेज रहे थे। 'यमुना' ने तो 'चरित्रहीन' का विज्ञापन ही शुरू कर दिया था। ऐसी स्थिति में शरत् बड़ी परेशानी में पड़ गया। उसने प्रमथ को लिखा-

"वैशाख की 'यमुना' में यह विज्ञापन गया है कि 'चरित्रहीन' श्रावण से प्रकाशित करेंगे। इस हालत में मेरे कहने के लिए क्या बचा है, नहीं जानता। क्यों तुमने मुझसे बिना पूछे हरिदास बाबू से यह प्रस्ताव कर दिया, यह मैं समझता हूं। तुम जानते हो कि असाध्य न हाने पर मैं तुमको सब कुछ दे सकता हूं। अब यह संकट किस तरह दूर होगा, यह निश्चय करना कठिन हो गया है। तुम मेरे कारण लज्जित होगे और बुरी स्थिति में पड़ोगे इससे मैं द्विविधा में पड़ गया हूं। 'यमुना' में छापना उचित है या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठता, तुम्हारे मान-सम्मान का प्रश्न ही असली बात है। जितना लिखा है उतना 'चरित्रहीन' पढ़ने के लिए भेजने की बात सोचता हूं। तुम यदि सचमुच ही समझते हो कि यह तुम्हारे पत्र में छपने योग्य है, तो मैं तुम्हें छापने के लिए कह सकता हूं। लेकिन यदि ऐसा नहीं है और केवल मेरे भले के लिए ही तुम उसे छापने की चेष्टा करोगे तो यह नहीं होगा। निरपेक्ष सत्य ही मैं साहित्य के क्षेत्र में चाहता हूं। यदि इसमें कहीं भी कोई भी परिवर्तन चाहेगा तो वह नहीं हो सकेगा। केवल नाम देखकर ही तुम उसे 'चरित्रहीन' मत समझ बैठना। मैं नीतिशास्त्र का विद्यार्थी हूं, सच्चा विद्यार्थी हूं। पढ़कर लौटा देना और निस्संकोच राय देना। मेरा जो गम्भीर उद्देश्य है उसको मन में रखना। यह 'बटतले' की किताब नहीं है।" [1]

और उसने पाण्डुलिपि प्रमथनाथ को भेज दी, उन्होंने तुरन्त पहुंच नहीं दी तो वह उतावला हो उठा और पत्र पर पत्र लिखने लगा।

"प्रमथ, 'चरित्रहीन' मिला कि नही, यह खबर भी नहीं दी। उसे पढ़ा कि नहीं, कैसा लगा? यदि तुम्हारा निरपेक्ष मत यही है कि यह अच्छा नहीं होगा तो जिससे अच्छा हो वैसी

कोशिश करूंगा। मैंने तुम्हें पहले ही लिखा था कि यह चरित्रहीन है, षट्चक्र भेद नहीं है। केवल नीतिशास्त्र है और मनोविज्ञान है, धर्म नही....." [2]

आखिर प्रमथनाथ का उत्तर आ गया। उन्हें वह बहुत रुचिकर नहीं लगा कि उपन्यास के आरम्भ में ही मेस की दासी को लाकर खड़ा कर दिया जाए। शरत् ने बड़े विश्वास के साथ इसका उत्तर देते हुए लिखा, "जो आदमी मेस की दासी को आरम्भ में ही ला खड़ा करने का साहस करता है वह जान-बूझ कर ही करता है। तुम उसका अन्त न जानकर उसको अर्थात् सावित्री को मेस की दासी करके देखते हो। प्रमथ, हीरे को कांच कहकर भूल करते हो भाई, काउण्ट ताल्स्ताय का 'रेज़रेक्शन' पढ़ा है? उनकी यह सर्वोत्तम पुस्तक एक साधारण वेश्या को लेकर है। हमारे देश में अभी तक उस कला को समझने का समय नहीं आया है।.....मैं अनावृत कहकर आर्ट को घृणा नहीं कर सकूंगा। लेकिन जिसमें यह ठीक अर्थों में नैतिक हो ऐसा उपसंहार करूंगा।.....इससे पहले यदि कोई इस विषय में ज़रा भी सतर्क कर देता यानी कहता कि दासी को लेकर शुरू करना ठीक नहीं तो हो सकता है मैं दूसरे रास्ते पर जाने की चेष्टा करता। यह बात किसी ने न कहीं। अब बहुत देर हो गई।" [3]

प्रमथ अब भी पाण्डुलिपि लौटाने में देर कर रहे थे और दूसरे पत्रों के आग्रह पर आग्रह आ रहे थे। फणि पाल को डर था कि कहीं शरत् किसी प्रलोभन में न पड़ जाए, लेकिन शरत् ने बार-बार उनको यही विश्वास दिलाया कि 'चरित्रहीन' 'यमुना' में ही छपेगा।

आखिर द्विजेन्द्रलाल राय ने उसे पढ़ा और कहा, "अत्यन्त अश्लील रचना है, किसी अच्छे पत्र में नहीं छप सकती। भद्र समाज में यह उपन्यास प्रकाशित नहीं किया जा सकता।" प्रकाशक हरिदास चट्टोपाध्याय ने भी उसे अनैतिक और प्रकाशन के अयोग्य बताया। इन सब बातों की चर्चा करते हुए प्रमथनाथ ने उसे लिखा, "इसके प्रकाशित होने पर लोग निन्दा करेंगे। तुम्हें इस तरह का अश्लील उपन्यास नहीं लिखना चाहिए था।"

यह पत्र पढ़कर वह उग्र हो उठा और तुरन्त 'चरित्रहीन' लौटा देने का आग्रह करते हुए उसने लिखा, "अंग विशेष लोगों को खोलकर नहीं दिखाते, यह मैं जानता हूं, किन्तु घायल स्थान भी नहीं दिखाते, यह नहीं जानता। समाज में यदि कोई डाक्टर है जिसका काम घावों की चिकित्सा करना है, वह क्या किसी की सुनता है? जो पक गया है उसको बांधे रखना दूसरों के लिए देखने में अच्छा लग सकता है, लेकिन जिस आदमी के शरीर में घाव है उसको तो कोई सुविधा नहीं होती, केवल सौन्दर्य-सृष्टि के अतिरिक्त उपन्यास-लेखक का और एक महत्वपूर्ण काम है। वह काम यदि घाव को देखना है तो वैसा करना ही होगा। ऑस्टिन, मेरी कॉरेली एवं सारा ग्रेंड ने समाज के अनेक घावों पर से पर्दा उठाया है। ठीक करने के लिए, केवल लोगों को दिखाकर भयभीत करने या मनोरंजन करने के लिए नहीं।.....तुमने लिखा है कि 'चरित्रहीन' दूसरे के नाम से प्रकाशित करना, इससे सबसे अधिक दुख हुआ। मैं क्या इतना हीन हूं? अच्छा-बुरा जैसा भी है, इसका परिणाम मैं ही भुगतना चाहता हूं। इतना कुरुचिपूर्ण है तब तो निश्चय ही मेरे नाम से प्रकाशित होगा। नाम

में क्या है? कौन यह लोभ करे? यह लोभ होता तो भाई चुप रहकर इतने दिन कष्ट न सहता।" [4]

वह अद्‌भुत रूप से दृढ़ हो उठा था। लेकिन वह यह भी जानता था कि छपने से पूर्व ही जिस पुस्तक की इतनी छीछालेदार हुई है, छपने के बाद निश्चय ही लोग उसकी तीव्र आलोचना करेंगे। उनका उत्तर देने के लिए उसने, 'रिज़रेक्शन' के अलावा रवीन्द्रनाथ आदि साहित्यकारों की पुस्तकों के हवाले खोज लिए थे। वह मानता था कि क्रमश: प्रकाशित होने वाले उपन्यास को लेकर यदि वितण्डावाद उठ खड़ा होता है तो उससे ग्राहक जुटते ही हैं, टूटते नहीं। निन्दा करने पर भी लोग पढ़ने के लिए उत्सुक रहते हैं। नहीं तो फीके रक्तहीन उपन्यास दिन-रात छपते रहते हैं। उन्हें कौन पढ़ता है?

और वह ठीक था। 'यमुना' [5] में जब 'चरित्रहीन' का पहला अंश प्रकाशित हुआ तो इतना तूफान उठा जितना बहुत कम पुस्तकों को लेकर उठा होगा। फणीन्द्रनाथ पाल ने उसे तार दिया, "'चरित्रहीन क्रिएटिंग एलामिंग सेन्सेशन।"

मन ही मन शरत् इस बात से बहुत प्रसन्न हुआ। बंगाली उपन्यासों के उद्धरण दे-देकर और भी तीव्रता से उसने अपना बचाव करना आरम्भ कर दिया। प्रमथ को लिखा-

".....मैं पूछता हूं, उसमें है क्या? एक शरीफ घर की लड़की किसी भी कारण से हो, मेस की नौकरानी का काम करती है.....और एक शरीफ युवक इसके प्रेम में पड़ता है। फिर भी अन्त तक उसकी कोई खास प्रश्रय नहीं मिलता। और रवीन्द्रनाथ की 'चोखेर वाली' में शरीफ घर की विधवा अपने घर में, यहां तक कि रिश्तेदारों में, ही नष्ट हो रही है। फिर भी किसी ने चूं तक नहीं की। बंकिम-चन्द्र के 'वसियतनामे' की रोहिणी की याद है?.....बस मेरे 'चरित्रहीन' में ही सारा दोष है?..... जो कुछ भी हो, मैं यह स्वीकार नहीं करता और ऐसा इसलिए नहीं करता कि मैं नहीं समझता कि 'चरित्रहीन' में एक शब्द भी अनैतिक है। सम्भव है कुछ लोग इसमें कुरुचि देखें, पर लोग जो कह रहे हैं वह इसमें नहीं है। मैंने इसका नाम 'चरित्रहीन' रखा है, इसलिए इसमें कुल कुण्डलिनी चक्र जाग्रत करने की बात होगी, ऐसी आशा तो नहीं की जा सकती। जिसकी इच्छा हो वे पढ़ेगे। जो नाम से घबराते है वे नहीं पढ़ेंगे।"

शरत् ने अब अपने अन्तर के साहित्यकार को पा लिया था।

---

1. 17 अप्रैल, 1913 ई०

2. 3 मई, 1913 ई०

3. जेष्ठ, 1320, मई-जून 1913 ई०

4. अक्टूबर, 1913 ई०

5. उपर्युक्त

14

द्विजेन्द्रलाल राय शरत् के बड़े प्रशंसक थे। और वह भी अपनी हर रचना के बारे में उनकी राय को अन्तिम मानता था, लेकिन उन दिनों वे काव्य में व्यभिचार के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। इसलिए 'चरित्रहीन' को स्वीकार नहीं कर सके। पीढ़ियों का संघर्ष हर युग में होता आया है। जिस युग के वे थे उनके लिए स्थापित मूल्यों और परम्पराओं के इस अस्वीकार को समझ पाना असम्भव जैसा था। फिर भी हो मकता है वे जीवित रहते और पूरा उपन्यास पढ़ पाते तो अपनी राय बदल देते क्योंकि सावित्री मेस की नौकरानी होकर भी मचमुच सती-सावित्री है। वह उच्च कुल की सुशीला और सुशिक्षिता कन्या है। परिस्थितियां उसे मेस की नौकरी करने के लिए विवश कर देती हैं। लेकिन शरत् उसकी समस्त व्यथा-वेदना के भीतर उसे सत्पथ से नहीं डिगने देता। किरणमयी के शारीरिक प्रेम के विरुद्ध सावित्री का प्रेम वायवी है। वह चिर-आदर्शवादिनी है। इसीलिए उसका पदस्खलन नहीं हो पाता। लेकिन तत्कालीन समाज इस बात को नहीं समझ पाया। उच्च मध्य-वित्त श्रेणी की आचार नीति ही तब सर्वप्रिय थी। संस्कारों से मुक्ति पाकर समाज अपनी झूठी नैतिकता के भीतर नहीं झांक सकता था। शरत् इस नैतिकता के ढोंग को पहचान गया था। केवल इतना ही। अन्यथा वह पूर्ण नैतिक है, यहां तक कि किरणमयी को भी उसने गिरने नहीं दिया। दिवाकर के साथ एक शय्या पर सोकर भी वह चरित्रवान ही बनी रही।

लेकिन 'चरित्रहीन' ही नहीं पहले छ: महीने तक 'भारतवर्ष' में उसकी कोई रचना नहीं छपी। इसका एक कारण था द्विजेन्द्रलाल राय की मुत्यु। चर्चा थी कि नये सम्पादक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश और बंगीय साहित्य परिषद् के सभापति श्री शारदाचरण मित्र होंगे। तब शरत् ने प्रमथ बाबू को लिखा, "द्विजेन्द्र बाबू जो काम कर सकते, वह क्या शारदा बाबू द्वारा होगा? वे स्वयं ही नहीं गए उनके साथ उनका असाधारण प्रभाव भी चला गया। मुझमें अब साहस नहीं कि कुछ लिखकर भेजूं। उनके रहते उनकी प्रशंसा पाने के लोभ से लिखा। शारदा बाबू के अच्छा-बुरा कहने की क्या कीमत है? कौन उसे स्वीकार करेगा?"

लेकिन शारदा बाबू भी उसके सम्पादक नहीं हो सके। अन्तत: यह भार उठाना पड़ा (रायबहादुर) जलधर सेन को और उनके सम्पादकत्व में यथासमय स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के चित्र सहित 'भारतवर्ष' का पहला अंक [1] प्रकाशित हुआ। सौष्ठव और श्री की दृष्टि से उसने सभी को मुग्ध कर दिया, लेकिन ऐसा लगता है कि शरत् को सामग्री की दृष्टि से बहुत

पसन्द नहीं आया। प्रमथ को लिखा "द्विजू दा एक वर्ष जीवित रहते तो 'भारतवर्ष' अक्षय हो उठता। अब तो उसकी स्थिरता के संबंध में सचमुच आशंका होती है।"

बहुत सम्भव है इस कारण भी वह असके लिए तुरन्त नहीं लिख सका। उसकी रचना छापने का अवसर उन्हें दिसम्बर में ही मिल सका। यह रचना थी 'विराजबहू'।

'विराजबहू' उसने 'भारतवर्ष' को भेजी, इस बात से फणीन्द्र का चिन्तित होना स्वाभाविक था। इस चिन्ता को शरत् समझता था। इसलिए बार-बार उसने फणीन्द्र को विश्वास दिलाया, "आपके पत्र को मैं अपना पत्र मानता हूं। उसकी हानि हो ऐसा कोई काम नहीं करूंगा। केवल प्रमथ को लेकर झंझट है। वह परिचित ही नहीं परम बन्धु है। चिर दिन का अति स्नेह का पात्र है, इसलिए सोचना होगा, न सोचने पर कैसे होगा.....?"

यह उपन्यास बर्मा के उसके मित्रों को बहुत अच्छा लगा, पर वे विराज के अधःपतन को स्वीकार न कर सके। योगेन्द्रनाथ सरकार ने कहा, "अच्छा, विराज के आत्मघातिनी हो जाने से यदि वह हाथ-पाव बांधकर जल में डुबा दी जाती और उसी अवस्था में मछलियों का शिकार करनेवाला जमींदार उसको अपने बजरे में खींच लेता, तो विराज के पक्ष में क्या यह कम पाप होता? हिन्दू नारी स्वामी के ऊपर अभिमान करके घर छोड़ दे और फिर आत्महत्या की चेष्टा करे! सर्वनाश! इन दो से अधिक कोई पाप क्या दुनिया के शास्त्रों में है? स्वामी के ऊपर अभिमान करके कुलत्याग करने में, सोचता हूं 'ईस्ट लीन' का कितना असर हुआ है। यद्यपि वह बात और है।"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "संसार में असम्भव कुछ नहीं है। जिन्होंने शेक्सपियर की रचनाएं अच्छी तरह पढ़ी हैं वे इस बात का प्रमाण खूब दे सकते हैं। क्या कह सकते हो कि शेक्सपियर से बढ़कर दूसरा आदमी इस पृथ्वी पर पैदा हुआ है जो नर नारी के चरित्रों को समझता हो?"

योगेन्द्रनाथ सरकार इस बात पर कोई उत्तर न दे सके।

इस प्रकार का आक्षेप कलकत्ता के मित्र ने किया था। तब शरत ने एक और भी बात कहीं थी, "दिन पर दिन अनाहार रहने और मानसिक चिन्ताओं के कारण तन और मन दोनों ही विकल हो उठे हैं वह क्षणिक उत्तेजना के कारण कुछ भी कर सकता है। मैंने अपनी आंखों से यह अवस्था देखी है।"

अपने अनुभव के आधार पर वह मानता था कि चिरकाल की गृहस्थ रमणी एक बार पतिता हो जाने पर थोड़े ही दिनों में लाज-शर्म छोड़कर नये जीवन की जिस प्रकार अभ्यस्त हो जाती है वैसे पुरुष नहीं हो सकता।

'विराजबहू' को लिखने में शरत् को एक महीने से अधिक लगा। असीम धैर्य के साथ काट-पीट करके वह लिखता था और फिर सरकार को सुनाकर विचार-विनिमय भी करता था। अपने लिखने की प्रक्रिया के संबंध में उसने सरकार से कहा था, "देखो, जब तक मेरा

एक्सप्रेशन सहज तथा निर्झर के समान नहीं हो जाता तब तक किसी भी तरह मेरी तृप्ति नहीं होती। रात का लिखा दिन के समय गलत जान पड़ता है।

"यह गलती व्याकरण की गलती नहीं है। यह है भावों के अनुसार चलने वाली भाषा का अभाव। गांव-गोठ की कथा-वार्ता में बोलचाल की बंगला चलती है। उसी बंगला को यदि कोई काव्यतीर्थ या विद्यासागर संस्कृतमयी कर दे तो उससे जो अवस्था हो जाएगी ठीक वैसी ही गलती है यह। बात यह है कि जो जैसा हो वैसा ही होना चाहिए।"

'विराजबहू' की पहली किस्त लिखकर जब वह भेजने लगा तो उसने योगेन्द्रनाथ से पूछा, "बताओ इसका क्या नाम रखा जाए?"

सरकार ने कहा, "विराज मोहिनी' ठीक रहेगा।"

"ना रे, उससे तो अच्छा मुझे 'विराजबहू' नाम पसन्द है। मोहिनी चरित्र उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। वह नाम उसके साथ जोड़ना ठीक नही होगा।"

सरकार ने उत्तर दिया, "अर्थात् पहली बार योगेन्द्र चटर्जी की कनिष्ठा बहू, दूसरी बार शिवनाथ शास्त्री की मंझली बहू, तीसरी बार शरत् बाबू की 'विराजबहू' यही तो!"

"ऐसा है तो हो। तुममें यही तो एक ऐसा रोग है। उनकी कनिष्ठा बहू, मंझली बहू, जिन्हें खुशी हो, मेरा उनसे क्या नुकसान होता है?"

यह कहते हुए नीली पेंसिल से पाण्डुलिपि के पहले पन्ने पर बड़े-बड़े अक्षरों में 'विराजबहू' लिख दिया। नीचे छोटे-छोटे अक्षरों में लिखा था-गल्प। यह देखकर सरकार ने प्रतिवाद किया, "यह नहीं होगा। क्या प्रमथ की चिट्ठी की बात याद नहीं है? लिखो, उपन्यास।"

शरत् ने 'गल्प' शब्द काटकर बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया–'उपन्यास'। [2]

लेखक रूप में प्रसिद्ध होने पर उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ रही थी। उसके साथी अब उपेक्षा से उसे चिढ़ाते नहीं थे। इसके विपरीत जब भारत से स्वदेशी आन्दोलन के नेता श्री सुरेन्द्रनाथ सेन संगून आए तब उनकी अभ्यर्थना के लिए जो सभा आयोजित की गई उसके सभापति के पद पर उसी को बिछाया गया। जीवन में पहली बार वह अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठा था। तब वह कितना नर्वस हो उठा था। सेर-डेढ़ सेर की माला गले में पड़ी थी। उसके भार से सीधा खड़ा नहीं हो पा रहा था। देखकर दया आती थी। भाषण लिखा हुआ था, सुन्दर भी था, पर क्या वह उसे ठीक-ठीक पढ़ पाया?

उसकी इस घबराहट के अनेक कारण थे, शारीरिक और मानसिक। शरीर से अब वह बहुत अशक्त हो गया था। जिस प्रकार का जीवन कुछ दिन पूर्व तक उसे जीना पड़ा था उसमें स्वास्थ्य अच्छा रहता तो आश्चर्य ही होता। बुखार, न्यूरलज़िक दर्द और पेचिश, ये उसके चिरसंगी थे। फिर वह अफीम भी खाता था। रात में वह कुछ अधिक ही चढ़ जाती थी। इसलिए अक्सर ही लिखने-पढ़ने में व्यवधान पड़ता था। इसलिये मित्रों ने उसे लिखा कि अब वह कलकत्ता आकर रहे। लेकिन उसको यह सब बात उस समय बिल्कुल पसन्द

नहीं आई। फणीन्द्रनाथ को उसने उत्तर दिया, "नौकरी छोड़कर और यह अस्वस्थ शरीर लेकर खानाबदोश बनना मुझे अच्छा नहीं लगता। और किसी के पास आकर रहना तो एकदम असम्भव है। अस्पताल में मरूंगा पर किसी भी हालत में पीड़ित शरीर को किसी के घर में अन्तिम बार नहीं रखूंगा। इससे मैं घृणा करता हूं।..... अगर गया तो मैं अपनी बड़ी बहन के यहां ही रहूंगा। एक प्रकार से वही मेरा घरद्वार है। उसकी आदत भी बहुत अच्छी है। आने के लिए बारम्बार तकाज़ा भी कर रही है। लेकिन अस्वस्थ शरीर लेकर मैं कहीं जाना नहीं चाहता। मुझे बारम्बार इस बात का डर रहता है कि कहीं अचानक मरकर परेशान न करूं।"

लेकिन प्रमथनाथ को वह लिख चुका था, ".....एक बार मिलना हो जाए, यही अन्तिम इच्छा है। जाने पर तुम्हारे वहीं ठहरूंगा, मर जाऊंगा तो सद्गति होगी। ब्राह्मण के कन्धे पर चढ़कर परम मित्र का मुंह देखकर अन्तिम सेवा लेकर नीमतल्ला जाना होगा।"

उसके पत्रों में अनेक ऐसी विसंगतियां ढूंढ़ी जा सकती हैं। लेकिन सच यही है कि वह दिन-प्रतिदिन रंगून छोड़ने के लिए आतुर हो रहा था। उसका एक कारण था दफ्तर की नौकरी और साहित्य-सृजन में संघर्ष। एक पत्र में अपने बड़े साहब न्यूमार्श की घोर निन्दा करते हुए उसने लिखा, "हमारे आफिस में यह नियम है कि यदि किसी दिन कहीं से कोई रिमांइडर आ जाता है, तो 6 महीने के लिए 10 रुपये के हिसाब से जुर्माना हो जाता है। यह ऐसी आराम की नौकरी है।.....तीन-चार दिन पहले की एक घटना है, हठात् मेरा एक रिमांइडर आ गया। इतने काम में छोटे-मोटे काम की ओर मैं ध्यान नहीं दे सकता। यह हमारे सब-ऑडीटर भौमिक बाबू और पेरिया स्वामी की गलती थी, लेकिन मैंने सारा दोष अपने ऊपर ले लिया। जवाब दिया कि नज़र से चूक हो गई और इसी बीच में अपना त्यागपत्र लिखकर रख लिया। अच्छी तरह जानता था कि 10 रुपये गए। यह अपमान सहन करके जो नौकरी करना चाहता है, करे। मैं तो किसी तरह से नहीं सहन कर सकता। लेकिन नहीं जानता, क्यों न्यूमार्श ने दया करके कोई बात नहीं कही। नहीं जानता यह दुर्भाग्य है या सौभाग्य? मैं त्यागपत्र नहीं दे सका। लेकिन शरीर भी चल नहीं रहा। लिखना पढ़ना प्राय: असम्भव हो गया है। इतने दिन नौकरी की है, भैया, लेकिन ऐसी भयानक दुर्दशा में कभी नहीं पड़ा। उस दिन झोंक में आकर लज्जा और संकोच त्याग मित्र महाशय को एक चिट्ठी लिखी कि जैसे भी हो, जो भी हो, कलकत्ता में एक नौकरी दिलवा दो। मैं इस्तीफा देकर चला आऊंगा। अभी उनके जवाब आने का समय नहीं हुआ। पर यह भी समझ में आ रहा है कि यदि शीघ्र ही यह साहब नहीं जाता, और जाने की कोई आशा भी नहीं दिखाई देती, तो ऐसा होने पर अन्त में मुझे नौकरी छोड़नी ही होगी। साला दूसरे दफ्तर में अर्ज़ी तक फारवर्ड नहीं करता। बहुत-से पाजी देखें हैं, लेकिन इस प्रकार का तो सुना ही नहीं....."

नौकरी छोड़ देने की बात मन में उठना तो स्वाभाविक नहीं था, लेकिन अधिकारियों के प्रति उसका आक्रोश अतिरंजित था। साहित्य-सृजन में मन देने पर कार्यालय के कार्य की

अवहेलना ही हो सकती थी। कोई भी अधिकारी इस प्रकार की अवहेलना नहीं सह सकता। न्युमार्श इतना बुरा नहीं था, जितना शरत् ने उसे बताया है। वास्तव में अब तक जिस प्रच्छन्नता, तुच्छता और अवहेलना का जीवन उसे बिताना पड़ा था, उससे मुक्ति का आनन्द ही उसे कलकत्ता की ओर खींच रहा था। उसे इस बात की ज़रा भी चिन्ता नहीं थी कि नौकरी सरकारी है या प्राइवेट। हां, किसी साहित्यिक पत्र में काम मिल जाता है तो उससे अच्छा और कुछ नहीं हो सकता। उसने लिखा "इतने बड़े-बड़े पत्र प्रकाशित हो रहे हैं, मुझको कोई सब-एडीटर नहीं लगा सकता? मैं उनके लिए बहुत कुछ काम कर सकता हूं। एक बड़ी कहानी, एक धारावाहिक उपन्यास, एक प्रबन्ध, एक समालोचना, ये सब मैं दे सकता हूं। इसके अतिरिक्त चित्र जांच सकता हूं, गाने की स्वर-लिपि के दोष बता सकता हूं, वैज्ञानिक और साहित्यिक आलोचना भी मैं कर लूंगा। दस से पांच बजे तक खूब मेहनत कर सकता हूं। बर्मा अब मुझे नहीं सुहाता। स्वदेश लौटने को जी करता है।"

रंगून के भद्र बंगाली समाज में उसका अब भी सम्मान नहीं था। उसके कार्य सभ्य और प्रतिष्ठित जनों के दृष्टिकोण से निन्दनीय और असभ्यतासूचक माने जाते थे। इसीलिए वे उसे आवारा और चरित्रहीन समझते थे। उस दिन एक युवक कलकत्ता से आकर उसके पड़ोस में ठहरा। [3] वह जीने के ऊपर चुपचाप खड़े-खड़े रास्ते की ओर देखता रहता था। शरत् आते-जाते उसे देखता। एक दिन उससे नहीं रहा गया। उसने पूछा, "अकेले चुपचाप रास्ते की ओर आप क्या देखते रहते हैं?"

युवक ने उत्तर दिया, "यहां के लिए नया हूं। किसी से परिचय नहीं है।"

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"पवित्र गंगोपाध्याय!"

शरत् बोला, "मेरा नाम शरत् चटर्जी है। मैं एकाउण्टेण्ट जनरल के दफ्तर में क्लर्क हूं। कल तुम मेरे घर आओ।"

युवक इस अनाहूत आमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सका और दूसरे दिन निश्चित समय पर उसने द्वार पर जाकर आहट की। शरत् स्वयं दरवाज़ा खोलने आया। युवक ने अन्दर आकर देखा, दीवार के एक ओर पुस्तकों से भरा रैक है। दूसरी ओर मेज़-कुर्सी है। मेज़ के ऊपर लकड़ी का एक चौकोर कलमदान है। जिसमें 5-6 फाउण्टेनपेन करीने से रखे हैं। फुलस्केप साइज़ की चमड़े की जिल्दवाली एक कापी भी है। पैड के ऊपर गोलाकर रूप में 'शरत्' लिखा हुआ मोनोग्राम है। पैड के कागज़ पर खूब छोटे-छोटे सुन्दर मोती जेसे बंगला अक्षरों में कुछ लिखा हुआ है।

उन अक्षरों में ऐसा कुछ आकर्षण था कि पढ़ने को मन कर आया, लेकिन उसी समय शरत् मुड़ा, बोला, "अरे, यह तो पागलपन है। देखिए नहीं, उधर चलिए, ज़रा अड्डा जमे। और भी कई मित्र आए हैं।"

पास के घर में पहुंचकर पाया कि शतरंजी के ऊपर तीन-चार व्यक्ति बैठे हैं। उनमें एक बर्मी भी है। शरत् ने उससे कहा, "आप यहां बैठिए, मैं अभी आता हूं।"

वह बैठ गया। शरत् कई क्षण बाद लौटा तो उसके हाथ में एक किताब थी। उसे दिखाकर बोला, "साहित्य' मासिक पत्र में यह जो पवित्र गांगुली की कविता निकली है, यह क्या आप ही हैं?"

युवक ने कुछ जवाब न देकर सिर झुका लिया। अब समझने को कुछ शेष नहीं रहा था। शरत् बोला, "अब तो हमारे घर में एक कवि भी आ गया है।"

सहसा इसी समय उस युवक के आतिथेय का नौकर वहां आया और बोला, "आपको बाबू अभी बुलाते हैं।"

हतप्रभ वह वहां से चला गया। उसकी कुछ समझ में नहीं आया। पहुंचने पर मित्र ने अत्यन्त तिरस्कार के स्वर में उससे कहा, "तो यह है तुम्हारा काम! उस अड्डे में जा शामिल हुए। मेरी बात मानकर यदि वहां नहीं जाओगे तो अच्छा होगा। एक तो विदेश और उसमें भी रंगून! यह अच्छी जगह नहीं है।"

'भारतवर्ष' में उसके बाल्यबन्धु प्रमथनाथ भट्टाचार्य थे। वह वहां जा सकता था, परन्तु 'चरित्रहीन' के कारण अभी उसका मन उधर उतना नहीं था। 'यमुना' ही उसके मस्तिष्क पर छायी हुई थी। कभी-कभी तो कविता को छोड़कर और सब कुछ लिखकर वह 'यमुना' के पन्ने भर देता था। बीच-बीच में, प्रमथ को पत्र लिखकर अपनी व्यथा भी प्रकट करता था लेकिन उस व्यथा में भी 'यमुना' का प्रेम प्रमुख था।

"तुमसे मेरा निवेदन है कि तुम मेरी 'यमुना' को प्यार करो। 'भारतवर्ष' जिस प्रकार तुम्हारा है, 'यमुना' उसी प्रकार मेरी है। जिससे उसकी हानि न हो, उन्नति हो, उस पर ऐसी नज़र रखो। तुम फणि के ऊपर क्रोध मत करना, भला आदमी है। वह कैसे जान सकता है कि तुम और मैं क्या हैं और 20 वर्ष से कैसे एक घनिष्ठ सूत्र में बंधे हैं। दुनिया सोचती है कि हम मित्र हैं लेकिन मित्रता किसके बीच मे है, किस प्रकार की है यह वह बेचारा कैसे जान सकता है! तुम्हारी-मेरी बातें तुम्हें-मुझे छोड़कर और कोई नहीं जानता, प्रमथ।"

"मैं अकेले तो 'यमुना' को चला नहीं सकता। इसलिए जितने शिष्य लोग थे, सबको इसमें लगा दिया है। निरुपमा, विभूति, सुरेन, गिरीन और भागलपुर के जो दो-एक साहित्यकार थे सबने लिखना शरू कर दिया है। देखना चाहिए कि 'यमुना' के भाग्य में क्या होता है? वे तो कहते हैं कि तुम गुरुदेव हो। तुम जो कहोगे वह हमें करना ही है। यही एक आशा है।"

'यमुना' के लिए उसकी चिन्ता का कोई पार नहीं था। पुराने शिष्य और मित्रों को ही नहीं, नये मित्रों को भी वह बार-बार 'यमुना' के लिए लिखने और कुछ भी करने के लिए कह रहा था। इस सन्दर्भ में उन दिनों जैसी कहानियां छप रहीं थीं, उनकी उसने आलोचना की। सौरीन्द्रमोहन को लिखा:

“आजकल मासिक पत्रों में जो ये छोटी कहानियां छपती हैं, उनमें से पन्द्रह आना के संबंध में तो कोई समालोचना ही नहीं हो सकती। कार्तिक के महीने में इतनी कहानियां छपी है, उनमें एक भी सुन्दर नहीं है। अधिकांश तो पढ़ने योग्य भी नहीं हैं। किसी में भी न तो वस्तु है, न भाव है, केवल सारहीन आडम्बर है। घटनाओं की सृष्टि है और ज़बरदस्ती से करुणा पैदा करने की चेष्टा है। बूढ़ी वेश्या को सजाकर युवती कहकर दुनिया को भुलाने की चेष्टा करते हैं। यह देखकर मन में वितृष्णा, लज्जा और करुणा पैदा होती है। उन सब लेखकों को छोटी गल्प लिखने की चेष्टा करते देखने पर सचमुच ही मेरे मन में इस प्रकार का एक भाव पैदा होता है कि वह चाहे और जो कुछ हों, स्वस्थ बिलकुल नहीं है। आजकल छोटी कहानियों की क्या दुर्दशा हो रही है!”

साहित्य इस दुर्दशा से मुक्त हो और ‘यमुना’ सभी दृष्टियों से सम्पन्न हो यही तब उसकी एकमात्र आन्तरिक कामना थी।

1. जून, 1913 ई०। कुछ दिन सेन महोदय के साथ भी अमूल्यचरण विद्याभूषण भी इस पद पर रहे ।

2. ब्रह्मप्रवासे शरत्चन्द्र-योगेन्द्रनाथ सरकार

3. सन् 1913 ई०

15

अगले वर्ष [1] जब वह छ: महीने की छुट्टी लेकर कलकत्ता आया तो वह आना ऐसा ही था जैसे किसी विजयी राजकुमार का लौटना। उसके प्रशंसक और निन्दक दोनों की कोई सीमा नहीं थी। लेकिन इस बार भी वह किसी मित्र के पास नहीं ठहरा। किसी को अपना परिचय देने में सदा की तरह उदासीन ही बना रहा। चालढाल और वेशभूषा से भी वह एकदम देहाती मालूम होता था। फिर भी मित्रों से मिलना और अड्डा जमाना उसे बहुत अच्छा लगता था। प्रतिदिन संध्या को 'यमुना' के कार्यालय में अनेक साहित्यकार इकट्ठे होते। उनमें एक थे कथाशिल्पी और कवि सुधीन्द्रनाथ ठाकुर। शरत् के प्रति उनकी श्रद्धा का पार नहीं था। उसका चलना-फिरना, बोलना-बैठना, खड़ा होना, हंसी-मज़ाक करना सभी में उन्हें बड़ा आनन्द आता था।

इस बैठक में साहित्यिक आलोचनाएं ही नहीं होती थीं, हास-परिहास भी अबाध गति से बहता था। शरत् तुरन्त कहानियां गढ़कर सुनाने में उस्ताद था ही। प्रत्येक कहानी के अन्त में कहता, "यह मेरी जीवन की सच्ची घटना है।"

सुधीन्द्र हंस पड़ते, "ना-ना, शरत्, यह तो तुम गढ़कर सुना रहे हो।"

शरत् उत्तर देता, "देखिए तो, जब कहानी लिखता हूं तो कहते हैं, आप चिन्तन करके लिखते है और जब ज़बानी कहता हूं तो गढ़ना बताते हैं। नहीं, महाशय, यह सच्ची घटना है। अगर आपको अविश्वास है तो प्रमाण और साक्षी दे सकता हूं।"

प्रमाण और साक्षी की आवश्यकता शायद ही पड़ी हो। लेकिन इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन कहानियों के पीछे किसी न किसी रूप में उसकी अनुभूति होती थी। और अनुभूति के ये स्रोत उसे सहज भाव से मिल भी जाते थे। वही दृष्टि तो उसका मूलधन थी।

उस दिन संध्या के समय सौरीन्द्र की राह देखता वह कचहरी के बाहर घूम रहा था। सब लोग जा चुके थे, लेकिन कम्पाउंड में जेल की गाड़ी कैदियों को ले जाने के लिए अभी भी खड़ी थी। उस दिन किसी दागी चोर का मामला था। उसे दो साल की सज़ा हुई थी। सौरीन्द्रमोहन ही उसके वकील थे। जैसे ही वे बाहर आए उनके मुवक्किल की रक्षिता स्त्री उसके पैरों पर गिर पड़ी। बोली, "आज रात को ही रुपये लेकर आपके पास आऊंगी। आप तुरन्त नकल लेकर हाईकोर्ट में अपील करने की व्यवस्था कर दें। सबसे बड़ा वकील पैरवी के लिए नियुक्त करें।"

सौरीन्द्रमोहन ने उसे समझाते हुए कहा, "अपील का कोई फल नहीं होगा। व्यर्थ ही पैसे नष्ट होंगे।"

वह बोली, "फल हो या न हो, मैं प्राणपन से चेष्टा करूंगी। रुपयों की चिन्ता मत करो। जो भी गहने हैं बेच दूंगी।"

सौरीन्द्र की कोई युक्ति उसके गले से नहीं उतरी। तभी पुलिस आसामी को गाड़ी के पास ले आई। वह स्त्री तुरन्त वहां पहुंची और रोने लगी। रोते-रोते उसने दो-चार रुपये पुलिसवालों के हाथ में थमा दिए। उसके प्रणयी ने कहा, "देख हाईकोर्ट मत जाना। बाबूजी की बात सुनना। रुपया व्यर्थ खर्च हो जाने पर तेरे दो साल कैसे कटेंगे?"

वह सुनती रही, लेकिन गाड़ी के चले जाने पर, वह फिर सौरीन्द्रमोहन की ओर मुड़ी बोली, "रात को रुपये लेकर आपके घर आऊंगी। मना करना आसामी का कर्तव्य था, उसने पूरा किया। मेरा कर्तव्य मैं पूरा करूंगी।"

शरत् सब कुछ देख-सुन रहा था। सौरीन्द्र से उसने कहा, "स्त्री दमदार है। इस घटना से मैं उसके मन का परिचय पा सका। समाज की दृष्टि में ये लोग घृणित-बहिष्कृत हैं, लेकिन इनके मन के भीतर जो मनुष्य विराजमान है वह कितना महान है! अनेक साध्वी स्त्रियां अपने स्वामी के इस प्रकार विपत्ति में पड़ जाने पर विचलित होकर सर्वस्व त्याग नहीं करतीं, फिर यह तो पतिता नारी है। इन पतिताओं की कहानी हमारे साहित्य में कब स्थान पायेगी?"

इसी 'पतिता नारी' को वह जीवन-भर अपने साहित्य में मर्यादा देने का प्रयत्न करता रहा। बर्मा में रहते हुए ऐसे अनेक चरित्र उसके जीवन में आए, जिन्हें 'छोटे लोग' कहा जाता हैं उनके बीच में नाना रूपों में उसकी शोहरत थी। उनमें एक रूप था होम्योपैथ डाक्टर का। इसी रूप में उसकी भेंट कामिनी नाम की एक स्त्री से हुई। वह बंगाल में एक अच्छे घर की बहू थी। लेकिन एक दिन वह सब कुछ को छोड़कर अपने पति को भी छोड़कर, एक लुहार के साथ चली गई। लुहार का नाम शीतलचन्द्र था और वह कांचरापाड़ा के रेल-कारखाने में काम करता था। अचानक रंगून में अच्छा-सा काम पाकर वह बंगाल से चला आया। कामिनी साथ थी। उम्र तो उसकी चौबीस वर्ष की हो चुकी लेकिन स्वास्थ्य उसका इतना अच्छा था कि ऐसा लगता था मानो प्रथम यौवन के सारे ज्वार को उसने अपने शरीर में बांध रखा है।

वे लोग शरत् बाबू के घर के पास ही रहते थे। दफ्तर जाते हुए वह रोज़ उन्हें देखते। पाते कि ये बहुत प्रसन्न हैं। कामिनी का शीतलचन्द्र पर इतना प्रभाव है कि उसने शराब पीनी तक छोड़ दी है।

शरत् के मन में कामिनी के प्रति इसीलिए और भी श्रद्धा जाग आई। तभी एक दिन क्या हुआ कि वह दफ्तर से लौट रहा था तो देखा कि उसकी राह निहारती कामिनी किवाड़ का पल्ला पकड़े खड़ी है। जब वह पास पहुंचा तो उसने रोते हुए कहा, "दादाजी, मेरी तकदीर फूट गई। उन पर आज चार दिन से शीतला माई की कृपा हुई है। सोचा था कि यूं ही ठीक हो जाएंगे। आपको उस छुतहे रोग में नहीं खींचूंगी। लेकिन कल रात से ज़ोरों का

बुखार है, सारे बदन में इतनी माता निकली है कि पहचाना तक नहीं जाता। दर्द से तड़प रहे हैं। मुझसे तो अब देखा नहीं जाता। आप कृपा करके कुछ दवा दे दीजिए।''

यह कहकर वह उनके पैर छूने के लिए आगे बढ़ी। ज़रा दूर हटकर शरत् ने कहा, ''मैं अभी आता हूं। तुम चिन्ता मत करो।''

घर जाकर अपना होम्योपैथी का बाक्स उसने उठाया और शीतलचन्द्र के पास पहुंचा। जो हालत देखी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कुछ ही दिन की बीमारी में आदमी का चेहरा इतना वीभत्स हो सकता है! आखों से दीखना तक बन्द हो गया था। उसे पहचानना सचमुच बड़ा कठिन था। कामिनी ने किसी तरह अपना मुंह उसके विकृत मुंह के पास ले जाकर कहा, ''अजी सुनते हो, दादाजी आए हैं। अब किसी बात का डर नहीं। उनकी एक बूंद दवा खाते ही सारा दर्द दूर हो जाएगा।''

रोगी का उत्साह बढ़ाने के लिए वह शरत् बाबू की दवा की बहुत तारीफ करने लगी। किसी तरह रोगी से हाल मालूम करके और अपनी जानकारी के हिसाब से शरत् ने उसे दवा दी। फिर कई दिन तक शाम-सवेरे देखने जाता रहा। लेकिन रोग कम नहीं हुआ। दर्द बढ़ता ही गया। फिर दूसरे डाक्टर आए। लेकिन शीतलचन्द्र को कोई नहीं बचा सका। तब कामिनी ने कैसा विलाप किया! शोक से मानो वह पागल हो गई। बीमारी के वक्त आहार-निद्रा छोड़कर दिन रात उसने अपने इस प्रेमी की कैसी सेवा की थी! कोई सती-साध्वी भी अपने पति की ऐसी सेवा नहीं कर सकती।

शरत् द्रवित हो उठा। किसी तरह अन्तिम संस्कार किया गया। लेकिन दूसरे दिन जब वह दफ्तर जा रहा था तो देखा, कामिनी के घर पर ताला लटक रहा है। आश्चर्य हुआ। आसपास पूछने पर पता लगा कि वह कल ही घर छोड़कर कहीं चली गई है। कहां गई, कोई नहीं जानता।

लेकिन उस बस्ती में ऐसा कुछ होता ही रहता था। धीरे- धीरे शरत् उस बात को भूल गया। और फिर दो वर्ष न जाने कैसे बीत गए। इसी बीच में उसे अपना ठिकाना बदलना पड़ा। नये मेस में डेरा डालकर वह अपने स्वभाव के अनुसार घूमने के लिए निकल पड़ा। चलते-चलते पाया कि जेब में सिगार तो है लेकिन दियासलाई नहीं है। सड़क पर एक परचून की दुकान थी। वहीं पहुंचा। आश्चर्य! जो नारी ग्राहकों को तोलकर सौदा दे रही है वह कामिनी है।

कामिनी इस रूप में! शरीर पर गहने लदे हैं। स्वास्थ्य वैसा ही गदरा रहा है। मुख पर वही मादक हास्य है। क्या यह शीतलचन्द्र की कामिनी है! वही कामिनी जो शोक से पागल हो गई थी!

वह सोच ही रहा था कि कामिनी ने उसे देख लिया। उसने सिर पर कपड़ा खींच और धीमे से उसके पास आकर चरणों में प्रणाम किया। फिर मुस्कराते हुए पूछा, ''दादाजी, मज़े में हैं न?''

शरत् ने कहा, "हां मैं ठीक हूं। तुम बताओ कैसी हो? क्या समाचार हैं? देखकर तो लगता हे कि मजे में हो। हो न?"

कामिनी बोली, "आपके आशीर्वाद से अच्छी हूं, दादाजी।"

फिर जैसे पुरानी बातें याद हो आई हों। आंखें सजल हो उठीं। रुंधे कंठ से कहा, "यम के बुलावे को कौन टाल सकता है दादाजी, आपने उनको बचाने के लिए क्या नहीं किया।"

जैसे आगे उससे बोला नहीं गया। कई क्षण संभलने में लग गए। फिर शांत स्वर में बोली, "यह उन्हीं के ममेरे भाई हैं। बहुत दिनों से रंगून में ही हैं। मुसीबत में यही खोज -खबर लिया करते थे। आपने तो देखा होगा इन्हें, दादाजी? उनकी बीमारी के वक्त अक्सर आते थे। इन्हीं की कृपा से अब दो मुट्ठी खाने को मिल जाता है। इनके दो छोटे-छोटे बच्चे हैं। बेचारों की मां मर गई है। ओह! बच्चों का मुंह देखकर ही तो मुझे गृहस्थी बसानी पड़ी। नहीं तो अकेले पेट को तो कोई काम-धाम करके भर ही लेती। लेकिन आदमी बड़ा भला है, दादाजी। बिलकुल उन्हीं की तरह है। बहुत आदर करता है। बड़ा प्यार करता है।"

बहुत देर तक कामिनी न जाने क्या-क्या कहती रही। शरत् समझ गया कि इस गृहस्थी में कामिनी बहुत मज़े में है। और अपने नये प्रेमी को सचमुच ही प्यार करती है। उसे याद आया, शीतलचन्द्र की बीमारी के वक्त एक आदमी सचमुच वहां आता-जाता था। पूछा, "तो क्या यह वही निवारण है? उसका नाम निवारण ही तो था?"

कामिनी हंस पड़ी। सिर के कपड़े को ज़रा और खींचकर बोली, "दादाजी, आपको तो सब कुछ मालूम है।"

शरत् एक क्षण के लिए न जाने कहां खो गया। शीतलचन्द्र की गृहस्थी में कामिनी को देखा। वहां कितने सुख से रह रही थी! फिर जब शीतलचन्द्र को चेचक निकली, उसकी बगल में कामिनी को देखा। बिना खाये सोये, चिन्ता के मारे वह सूखकर जली लकड़ी जैसी काली हो गई थी। उसी कामिनी को वह निवारण के घर में देख रहा था। उसके सारे अंगों में बसन्त की हवा लगी हुई थी। उसका रूप-लावण्य निखरकर असाधारण हो उठा था। उसने शीतलचन्द्र को प्यार किया था, वह निवारण को भी प्यार करती है और कांचरापाड़ा में वह जिस पति को छोड़ आई थी उसको भी निश्चय ही प्यार करती होगी।

उसका मन फिर भटक गया। एक और कहानी उसे याद आने लगी। नयी हाटी का रहनेवाला एक तरुण बंगाली युवक था। नाम उसका कुछ भी हो सकता है। सुविधा के लिए उसे दुलालचांद कहा जा सकता है। कलकत्ता के किसी दफ्तर में काम करता था। रेस में दांव लगाने का उसे नशा था। शराब का नशा तो था ही। परिणाम यह हुआ कि काफी उधार हो गया। देनेवालों के तकाज़ों और काबुली पठान की लाठी मे परेशान होकर वह एक दिन बर्मा भाग गया। इसी तरह से उधार चढ़ाकर, दफ्तरों का रुपया चुराकर अनेक खुराफातों में फंसे हुए बहुत-से बंगाली बैरागी होकर सीधे बर्मा पहुंच जाते थे। क्योंकि वहां पर उन पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था। दुलालचांद भागकर सीधे मांडले पहुंचे और वहां

लकड़ी के एक कारखाने में क्लर्की का काम करने लगे। कारखाना एक बर्मी का था। वह अंग्रेज़ी में हिसाब नहीं रखना जानता था। दुलालचांद को खूब अंग्रेज़ी आती थी और काम भी उसने मन लगाकर किया। बस, वह मालिक के मन चढ़ गया। मालिक की दुनिया बहुत सीमित थी। वह स्वयं, उसकी कन्या और दामाद। दामाद बेकार किस्म का आदमी था। बस, शौकीनी ही उसका शगल थी। इसलिए मालिक दुलालचांद से और भी प्रसन्न रहने लगा। वही उसका सलाहकार बन गया। वहीं रहने भी लगा।

मालिक का घर भी बहुत दूर नहीं था। छुट्टी के दिनों में दुलालचांद मालिक के घर में अतिथि बनता। वहां बहुत-सी काम की बातें होती। साथ ही साथ मालिक की लड़की के साथ हंसी. मज़ाक भी चलता। बर्मी लडकियां भारतीय कन्या की तरह लजीली नहीं होतीं।

और कई वर्ष बीत गए। सहसा एक दिन दामाद की मृत्यु हो गई। उससे वे लोग पहले ही बहुत प्रसन्न नहीं थे। मरने पर मानो उन्होंने मुक्ति की साँस ली। लेकिन एक वर्ष भी नहीं बीता था कि मालिक की भी मृत्यु हो गई। कन्या सब कुछ की मालिक थी, लेकिन वास्तविक मालिक दुलालचांद था। अब तक वही सब कुछ करता आया था। अब भी वही करता रहा। दो-तीन महीने भी नहीं बीते होंगे कि लड़की ने दुलालचांद से प्रस्ताव किया कि वह उससे विवाह कर ले।

दुलालचांद को मानों स्वर्ग मिल गया। वह तुरन्त राज़ी हो गया। और फिर उस बर्मी नारी के प्रेम में दुलालचांद जैसे डूब गया हो। वह अब राजा था। सचमुच का राजा। कन्या उसकी एकान्त उपासिका बन गइ। इस सुख-सागर में बहते हुए फिर कई वर्ष बीत गए। तब अचानक दुलालचांद ने अपनी स्त्री से कहा, "अब जब यहीं पर रहना है तो बंगाल में जो पूंजी है उस सबको बेचकर रुपये ले आता हूं। वहां पर बूढ़ी मां और विधवा बहन भी हैं। उनके लिए भी व्यवस्था करनी है।"

स्त्री ने खुशी-खुशी उसे जाने की आज्ञा दे दी। वह यह नहीं जानती थी कि दुलालचांद विवाहित है, उसकी स्त्री 'जीवित है और उसके पुत्र भी हैं। दुलालचांद ने यह बात बड़े यत्न से छिपा रखी थी। स्वामी को विदा करते समय स्त्री ने उसको दो-तीन हज़ार रुपये और दिये। इसके अतिरिक्त कारखाने का सारा रुपया उसी के पास रहता था। दस हज़ार रुपये उसने उस हिसाब में से निकाल लिये। इस प्रकार 12-13 हज़ार रुपये लेकर यह कलकत्ता के लिए चल पड़ा। स्टीमर घाट पर पत्नी उसे छोड़ने आई। जैसे-जैसे जाने का क्षण आ रहा था, वह विह्वल हो रही थी। यहां तक कि वह रो पड़ी और देखते-देखते हिचकियां लेने लगी। दुलालचांद ने उसे समझाने का बहुत प्रयत्न किया। कहा, "मैं सच कहता हूं, एक महीने के भीतर ही वापस आ जाऊंगा। मेरा मन भी तो वहां नहीं लगेगा।"

स्त्री बोली, "मेरा मन तुम्हें जाने देने के लिए नहीं करता। लेकिन क्या करूं? तुम्हें अपना काम निबटाना है। जल्दी से जल्दी निबटाकर आना। मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकूंगी।"

आखिर जहाज़ के चलने का समय आ पहुंचा और फिर किसी तरह अपने को छुड़ाकर दुलालचांद जहाज़ पर जा चढ़ा। फिर धीरे- धीरे आखों से ओझल हो गया। हमेशा के लिए ओझल हो गया। वह फिर लौटकर बर्मा नहीं आया। दुलालचांद उसका असली नाम नहीं था। उसने जो पता स्त्री को दिया था वह भी गलत था। महीना बीता, फिर वर्ष भी बीत गया। तीन-चार वर्ष तक वह स्त्री उसके लौटने की आशा हृदय में संजोये आकुल नयन और व्याकुल चित्त, समुद्र की ओर ताकती रही। फर्जी पते पर खोज-खबर भी बहुत ली। लेकिन कोई अर्थ नहीं निकला। वह इतनी व्यथित हुई कि अन्त में मर गई।

इन घटनाओं का कोई अन्त नहीं है। इनके पात्रों को उसने बहुत पास से देखा और वे ही उसकी कहानियों का आधार बने। दुलालचांद की यही कथा कलाकार की लेखनी का स्पर्श पाकर 'श्रीकान्त (द्वीतीय पर्व) में कैसी मार्मिक हो उठी है। बर्मी नारी उसके साहित्य में कम हैं पर उनके प्रति उसकी श्रद्धा की थाह नहीं। वह उनके सौन्दर्य पर ही मुग्ध नहीं है, उनकी स्वाधीनता से भी उसे ईर्ष्या है। "घूंघट की झंझट नहीं, पुरुषों को देखकर तेज़ी से भाग जाने की व्यग्रता से ठोकर खाकर गिरने का अन्देशा नहीं, दुविधा और लाज का लेश नहीं, मानो झरने के मुक्त प्रवाह के समान स्वच्छन्द बेरोक गति से बही जा रही है। रमणियों को इतनी स्वाधीनता देकर इस देश के पुरुष क्या ठगे गए हैं? और हमलोग क्या उनको नीचे से ऊपर तक जकड़े रखकर और उनके जीवन को लंगड़ा बनाकर लाभ में रहे हैं? हमारी स्त्रियां भी यदि किसी ऐसे ही दिन....."

सन् 1903 से सन् 1912 के प्रारम्भ तक वह प्राय: अन्धकार में छिपा रहा, पर इसी अवधि में उसने अपने-आपको उस जीवन के लिए तैयार कर लिया जो उसे प्रसिद्धि के शिखर पर ले जाने वाला था। एक कृतिकार के लिए मानव का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है और सर्वहाराओं के बीच में रहते हुए वह यही करता रहा था। अपने को उनके साथ पूर्ण रूप से एकाकार करके उसने उनकी भावनाओं का अध्ययन किया था और अपने जीवन के उद्देश्य की दिशा को खोज लिया था।

1. जून, 1914 ई०

16

यमुना' कार्यालय में जो साहित्यिक बैठकें हुआ करती थीं, उन्हीं में उसका उस युग के अनेक साहित्यिकों से परिचय हुआ। उनमें एक थे हेमेन्द्रकुमार राय। वे यमुना' के सम्पादक फणीन्द्रनाथ पाल की सहायता करते थे। एक दिन संध्याके समय जब वह रचनाओं का निर्वाचन कर रहे थे, तो शरत्चन्द्र ने वहां प्रवेश किया। पहले कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। हेमेन्द्र ने दृष्टि उठाकर देखा। नितान्त साधारण चेहरे, साधारण दुबली-पतली रुग्ण देह और काले रंग का एक व्यक्ति चट्टी पहने और एक बदसूरत देसी कुत्ते के बच्चे को साथ लिए उसके सामने खड़ा है। सिर पर बड़े हुए सूखे बाल हैं। दाढ़ी छोटी और पतली है। कपड़े अधमैले हैं। उपेक्षा से उसने पूछा, "किसे चाहते हो?"

"फणि बाबू को।"

"वह अभी नहीं आए।"

"तब मैं कुछ देर बैठ सकता हूं?"

हेमेन्द्र ने सोचा कोई दफ्तरी है, कुर्सी तो साहित्यकार के लिए है। इसलिए बिना कुछ कहे उन्होंने एक बेंच की ओर इशारा कर दिया। फिर अपना काम करने लगे। काफी देर हो गई! शरत् कुत्ते के बच्चे के साथ खेलता रहा। एक बार वह कुत्ता हेमेन्द्र बाबू के पास जा पहुंचा और उनकी धोती पकड़ने लगा। वह विरक्त हो उठे। बोले, : "छी-छी:, कार्यालय में यह देसी कुत्ता..."

तभी सहसा फणि बाबू ने वहां प्रवेश किया और शरत् को देखकर व्यस्त हो उठे। बोले, यह क्या शरत् बाबू? वहां बेंच पर क्यों बैठे हैं?"

शरत् ने उंगली से हेमेन्द्र की ओर इशार किया और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए कहा, "उन्होंने मुझे यहीं बैठने का हुक्म दिया है।"

फणि बाबू बोले, "ना-ना, यहां कुर्सी पर बैठिए। यह क्या हेमेन्द्र बाबू, आप शरत् बाबू को पहचान नहीं सके?"

हेमेन्द्र ने अप्रतिभ होकर कहा, "क्षमा कीजिए, कैसे पहचानूंगा? मैंने तो इन्हें कभी देखा ही नहीं। सोचा था कोई दफ्तरी होगा।"

यह सुनकर शरत् खिलखिलाकर हंस पड़ा। लेकिन इसके बाद उन दोनों में गहरी मैत्री हो गई। साहित्यिक बैठकों में दोनों साथ-साथ आते-जाते थे। शरत् कहानियां कहते-कहते एक दो-बार अफीम की बड़ी-सी गोली मुंह में डाल लेता था। भयातुर होकर एक दिन हेमेन्द्र ने कहा, "यह क्या करते हैं आप?"

शरत् ने उत्तर दिया, "अफीम खाता हूं। यदि तुम भी सुन्दर लिखना चाहते हो तो मेरी तरह अफीम खाओ।"

हेमेन्द्र ने कहा, "माफ कीजिए महाशय। इस तरह की यदि एक भी गोली खा लूंगा तो फिर सुन्दर लिखने का समय ही नहीं मिलेगा। खबर पाकर यमदूत दौड़े आयेंगे।"

लेकिन शरत् को इस बात की चिन्ता नहीं थी। कभी-कभी वह दस-बारह घण्टे तक बिना थके कहानी कहता रहता था। रात को दो-तीन बजे घर लौटता था। वह एक बदनाम गली में रहता था। अक्सर हेमेन्द्र उसके साथ आते। उस समय रास्ता चलते-चलते शरत् अपने जीवन की विचित्र कहानी सुनाता रहता। हेमेन्द अचरज से उसकी ओर देखते और सोचते कि कितना सरलप्राण है यह व्यक्ति, कुछ भी तो नहीं छिपाता। शरत् ने कहा, "हेमेन्द्र, ऐसा कोई नशा नहीं जो मैंने नहीं किया हो। ऐसी कोई बुरी जगह नहीं जहां मैं न गया हूं। आज यही सब सोचकर कभी-कभी अवाक् हो जाता हूं कि इतना करने पर भी मैंने अपने से हार नहीं मानी। मेरे मन के भीतर का मनुष्य हमेशा ही निर्मुक्त रहा।"

लेकिन साधारण मनुष्य क्या इतने गहरे पैठकर किसी के अन्तर में झांक पाता है? रंगून की तरह कलकत्ता में भी उसके चारों ओर अपवादों का जाल उठता चला गया। लोगों ने उसे चरित्रहीन, वेश्यागामी और शराबी सभी कुछ कहा। एक रात को क्या हुआ, वर्षा के कारण कलकत्ता के सारे रास्ते नदी की तरह जल से भर गए। उस दिन बैठक न हो सकी। नौ बजते-बजते सारे रास्ते जनहीन हो गए। शरत् और हेमेन्द्र जब घर लौटे तो सड़क पर धुटने-धुटने तक जल था। संयोग की बात कि एक स्त्री उनके आगे-आगे जा रही थी। शरत् धीरे-धीरे चल रहा था। जल में ज़ोर से चला ही नहीं जा सकता। इन लोगों ने उस स्त्री की ओर देखा तक नही, फिर भी दूसरे दिन दफ्तर में पहुंचते ही पता लगा कि सब जगह यह अफवाह फैली हुई है कि कल रात शरत् और हेमेन्द्र एक वेश्या के पीछे धूम रहे थे।

हेमेन्द्र ने सुना तो बात को हंसी में उड़ा दिया, लेकिन शरत् अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। बोला, "छि:-छि:, ऐसे हतभागे व्यक्ति भी हैं। हमारे नाम के साथ बेकार इतना बड़ा अपवाद लगा दिया। मैं बूढ़ा मनुष्य और हेमेन्द्र अभी बच्चा, कुछ तो सोचना था।"

उस समय उसके मुख की भावभंगी देखकर ऐसा लगता था कि अगर अपवाद फैलानेवाला व्यक्ति सामने होता तो उसका अंग-भंग हो जाने की काफी संभावना थी। जो व्यक्ति वेश्यालयों में जाकर रहता हो वह इस अपवाद से इतना परेशान हो, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? इस घटना के वर्णन में अतिरंजना हो सकती है पर यह भी सच है कि अनजाने ही सदाचारी बनने की कामना धीरे-धीरे उसके वैरागी मन को घेरती आ रही थी। वह दुस्साहसी था, विद्रोही नहीं। इसीलिए यह विरोधाभास है।

दूसरे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जिनसे उसका परिचय हुआ वह थे 'भारतवर्ष' के सम्पादक स्वनामधन्य रायबहादुर जलधर सेन। वह सवयं ही एक मित्र के साथ उससे मिलने 'यमुना'

के कार्यालय में आए। फणीन्द्र ने शरत् से उनका परिचय कराने की दृष्टि से कुछ कहना चाहा ही था कि वह बोल उठा, "दादा के साथ मेरा परिचय बहुत पुराना है।"

जलधर सेन चकित होकर बोले, "मुझे तो कुछ याद नहीं आता।"

शरत् ने कहा, "आपको यह तो याद होगा कि कई वर्ष पहले आप 'कुन्तलीन पुरस्कार प्रतियोगिता' के निर्णायक थे और उसमें 'मन्दिर नाम की एक गल्प ने प्रथम पारितोषिक पाया था।"

जलधर सेन बोले, "हां-हां, था। उसमें लगभग 150 कहानियां आई थीं। 'मन्दिर' उसमें मुझे सबसे अच्छी लगी थी। मैंने उस पर लिखा था, यदि यह लेखक लिखता रहे तो भविष्य में यशस्वी होगा, लेकिन उस गल्प के लेखक तो भागलपुर के श्रीमान सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय थे।"

हंसकर शरत् ने कहा, "वह कहानी मैंने ही लिखी थी। लेकिन अपना नाम देने में संकोच हुआ। इसलिए मामा सुरेन्द्रनाथ का नाम दिया था। इसलिए आपके साथ मेरा परिचय पुराना हुआ न?"

जलधर सेन बोले, "यह मेरे लिए कम गौरव की बात नहीं है। मैंने तभी रत्न को पहचान लिया था।"

और यह भेंट शीघ्र ही प्रगाढ़ स्नेह में बदल गई। शरत् के साहित्य-सृजन का सबसे अधिक श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को मिल सकता है तो वह यही जलधर सेन थे। बहुत दिन बाद स्वयं शरत् ने स्वीकार किया [1] "दादा, यदि मेरी रचनाओं के लिए इतनी मारामारी न करते, गुरु की भांति तकाज़े पर तकाज़े न करते तो मेरे जैसे आलसी की आधी तो क्या चौथाई रचनाएं भी प्रकाशित न हो पातीं।"

इसी समय वह रवीन्द्रनाथ से भी मिला। वह उनका परम भक्त था और रवीन्द्रनाथ भी शरत् की प्रतिभा से परिचित हो चुके थे। अभी-अभी उन्होंने उसकी नयी कृति 'पण्डित मोशाय' पढ़ी थी। [2] असित कुमार हाल्दार ने लिखा है, "मुझे याद हैं, 'पण्डित मोशाय' पढ़ने के बाद उन्होंने मुझसे कहा था, मैंने काफी दिनों से इधर-उधर की चीज़ें पढ़ना छोड़ दिया है, किन्तु इस पुस्तक की लेखनी मुझे मरुभूमि में शाद्वल के समान नज़र आती है।"

बाद में उन्होंने स्वयं ही शरत् से मिलने की इच्छा प्रकट की और कलकत्ता वापस लौटने पर एक दिन जब हम लोगों ने उनके सामने सलज्ज शरत्चन्द्र को उपस्थित किया तो एक अजीब ही दृश्य उपस्थित हो गया था।"

कोई नहीं जानता कि उस प्रथम भेंट में गुरु-शिष्य में क्या बातचीत हुई। कविगुरु के गरिमामय रूप, गौर वर्ण, लम्बी दाढ़ी, ढीले-ढाले वस्त्र और रुपहली वाणी के कारण उसने उन्हें निश्चय ही किसी और लोक का प्राणी समझा होगा। उनके इस रूप को लेकर वह जीवन-भर विस्मित रहा।

उसकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। इसलिए उसने अपनी तीन कहानियां 'रामेर सुमति', 'पथ निर्देश' और सिन्दूर छेले' तथा उपन्यास 'विराजबहू' के प्रकाशन का सर्वाधिकार हरिदास चट्टोपाध्याय को बेच दिया था। इन दोनों पुस्तकों के लिए उसे कुल 300 रुपये मिले। लेकिन तत्कालीन दृष्टि से यह सौदा कोई बहुत बुरा नहीं था।

इसी समय फणीन्द्रनाथ के माध्यम से उसने अपनी 'परिणीता', पण्डितजी', चन्द्रनाथ', 'काशीनाथ', 'नारी का मूल्य' और 'चरित्रहीन' के प्रकाशन का अधिकार एम०सी० सरकार एण्ड संस को दे दिया। यह अधिकार केवल एक ही संस्करण के लिए था।

फणीन्द्रनाथ शरत् की रचनाएं स्वयं प्रकाशित करना चाहते थे, पर वे इस स्थिति में नहीं थे और शरत् को रुपयों की आवश्यकता थी, इसलिए उन्होंने सुधीरचन्द्र सरकार से आग्रह किया। सरकार ने शरत् की 200 रुपये अग्रिम दिए। इस आग्रह के पीछे फणीन्द्रनाथ का उद्देश्य यही था कि शरत् किसी भी प्रकार 'यमुना' से अलग न हो जाए।

इन रचनाओं में से 'बिन्दो का लल्ला' और अन्य कहानियां 'परिणीता' और 'पण्डितजी' [3] का प्रकाशन शरत् के कलकत्ता-प्रवास के दौरान हुआ। 'विराजबहू' [4] का प्रकाशन यहां आने से पूर्व हो चुका था। 'निष्कृति' [5] 'अन्धेरा और प्रकाश', 'मंझली दीदी', 'दर्पचूर्ण' आदि इन नई-पुरानी रचनाओं का प्रकाशन-काल भी यही है।

'यमुना' शरत् को पैसे नहीं दे सकती थी, वे मिल सकते थे 'भारतवर्ष' से। इसके अतिरिक्त वहां उसके परम मित्र प्रमथनाथ भट्ट थे। नये संपादक जलधर सेन भी उसे बहुत प्यार करते थे। 'भारतवर्ष' का पूरा दल ही उसका प्रशंसक था। फणीन्द्रनाथ सब कुछ समझते थे और डरते भी थे इसीलिए तो उन्होंने शरत् को यमुना' के संपादक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था। उसमें बाकायदा यह विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी:

'यमुना' [6] के पाठक यह सुनकर खुश होंगे कि सुप्रसिद्ध औपन्यासिक और गल्प लेखक श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय महोदय वर्तमान मास से 'यमुना' के सम्पादन में योग देंगे। 'यमुना' के पाठक शरत् बाबू से यथेष्ट परिचित हैं। इसलिए परिचित का फिर से परिचय देना अनावश्यक है।"

लेकिन इसका कोई लाभ नहीं हुआ। उन और प्रयत्नों का भी कोई लाभ नहीं हुआ जो फणीन्द्र ने उसे रोक रखने के लिए किए। बड़े चाव से शरत् के मना करने पर भी उन्होंने 'बड़ी दीदी' पुस्तक के रूप में प्रकाशित की थी। [7] तब शरत् ने लिखा था, [8] "तुम्हारी भेजी 'बड़ी दीदी' मिली। बुरी नहीं है। फिर भी यह बचपन की रचना है, न छापते तो अच्छा होता।

इस रूप में आने वाली यह उसकी पथम रचना थी, लेकिन जैसा चाहते थे, वैसी बिक्री उसकी नहीं हो सकी। आठ आने मूल्य रखकर वर्ष में चार सौ प्रतियां भी नहीं बेच पाए। घर-घर जाते थे, परन्तु शायद उस समय के पाठकों की दृष्टि में वह पुस्तक 'चरित्रहीन' के समान अश्लील मान ली गई थी।

इधर यह स्थिति थी, उधर शरत् के उन मित्रों ने, जो सदा इस बात का प्रयत्न करते रहते थे कि 'यमुना' से उसके संबंध टूट जाएं, उसको बताया कि फणीन्द्र उस पुस्तक से काफी पैसा कमा रहे हैं। शरत् ने इस बात पर विश्वास कर लिया। इस विश्वास का एक कारण था। गुरुदास की दुकान से उसकी दूसरी पुस्तकों की अच्छी बिक्री हो रही थी। एक दिन वह 'यमुना' के कार्यालय में पहुंचा तो फणीन्द्रनाथ वहां पर नहीं थे। उनके एक संबंधी बैठे हुए थे। शरत् ने उनसे कहा, "'बड़ी दीदी' की सब प्रतियां मुझे दे दो। वे मेरी हैं।"

संबंधी ने उत्तर दिया, "पुस्तकें अलमारी में बन्द हैं। चाबी मेरे पास नहीं है। वे आयेंगे तब उनसे कहकर आप पुस्तकें ले जा सकते हैं।"

शरत् बहुत उद्विग्न था। कहा, "मैं और राह नहीं देख सकता। चाबी नहीं है तो मैं कील से ताला खोलकर ले जाऊंगा।"

और उसने कील से अलमारी का ताला खोल डाला। फिर सब प्रतियां कुली के सिर पर रखवाकर ले गया। फणीन्द्रनाथ ने लौटकर जब यह समाचार सुना तो वह बहुत दुखी हुए। उन्होंने उसी संध्या को सौरीन्द्रमोहन से इस घटना की चर्चा की। वे भी बहुत परेशान हुए। उन्होंने शरत् को बुलाकर कहा, "जानते हो, जो कुछ तुमने किया है वह अपराध है, चोरी है। पुस्तक फणीन्द्रनाथ ने अपने खर्चे से छापी है। वह उसकी सम्पत्ति है। अगर वह कचहरी में जाए तो तुम्हें हवालात में बन्द कर दिया जाएगा। तुमने फणि से कहा क्यों नहीं? चाहने पर वह तुम्हें रुपया दे सकता था। इस बात के लिए वह हमेशा तैयार था। तुम तो उसके घर के व्यक्ति की तरह थे। तुम्हारे लिए उसने क्या नहीं किया?"

इस प्रकार समझाने पर शरत् ने अनुभव किया कि वह सचमुच गलती कर बैठा है। वह बहुत लज्जित हुआ, लेकिन इसके बाद भी 'यमुना' से उसके संबंध नहीं बन सके। वह अब केवल 'भारतवर्ष' के लिए ही लिखने लगा।

क्या सचमुच ऐसा हुआ था? क्या उसके जीवन के साथ जुड़े अनेक प्रवादों की तरह यह घटना भी एक प्रवाद ही नहीं है? फणीन्द्रनाथ से उसने एक पैसा नहीं लिया और उसकी रचनाओं के कारण 'यमुना' की ग्राहक संख्या 200 से 2000 तक चली गई। जो गरीबों को देखकर पिघल उठता था, पैसे से जिसे कभी मोह नहीं रहा, वह इस प्रकार चोरी से पुस्तक उठा लायेगा, सदसा विश्वास नहीं होता। पैसे से उसे खरीदना सम्भव नहीं था। एक दिन उसने प्रमथ से स्पष्ट कहा था कि पूरा कलकत्ता भी उसे नहीं खरीद सकता, तुम्हारा परिवार तो छोटा-सा ही है।

शरत् को प्रकाश में लाने का सबसे अधिक श्रेय फणीन्द्रनाथ को है, यह बात निसन्देह सत्य है। बडे गर्व के साथ एक दिन फणीन्द्रनाथ ने कहा था, "शरत् को पहचाना बहुतेरों ने पर स्वीकृति देने का साहस कोई नहीं कर सका। 'साहित्य' के सम्पादक समाजपति ने 'चरित्रहीन' की प्रशंसा की, पर उसे अपने पत्र में छापने का साहस नहीं कर सके। 'नारी का

मूल्य' कोई भी नारी के नाम से छापने के लिए तैयार नहीं था। मैंने छापा। मुझे कितनी गालियां मिलीं, पर मैं डरा नहीं।"

तब क्या 'यमुना' से संबंध विच्छेद को लेकर केवल शरत् ही दोषी था? क्या केवल मित्र के प्रेम और पैसे से सुविधा के कारण ही वह 'भारतवर्ष' की ओर खिंचा? निःसन्देह ये प्रबल कारण थे। बर्मा से उसका मन ऊब गया था। बंगाल लौटने पर पैसे की आवश्यकता तो होनी ही थी उसके लिए शरत् को दोष नहीं दिया जा सकता, परंतु इन सब कारणों के अतिरिक्त एक और भी कारण था, और वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। फणीन्द्रनाथ का स्वभाव बहुत शंकाशील था। बार-बार विश्वास दिलाने पर भी उन्हें चिन्ता लगी रहती थी कि 'भारतवर्ष' के रहते वह उनके छोटे पत्र में नहीं लिख सकेगा। चिन्ता का होना स्वाभाविक था, पर वह सीमा का.....अतिक्रमण कर गई थी। अगले वर्ष रंगून से लिखे एक पत्र [9] में एक विच्छेद के बारे में शरत् ने जो कुछ कहा वह भी फणीन्द्रनाथ के पक्ष में नहीं है।

"अच्छा 'यमुना' आजकल कैसी चलती है? फणि ने पुस्तक छापी है। वह कहता है, "मैंने आपकी एक कहानी तीस-चालीस बार पढ़कर जबानी याद कर ली हैं। आपकी रचनाएं मेरा आदर्श हैं। इतनी गुरुभक्ति, पर एक प्रति पुस्तक नहीं भेजी! मैंने उसकी सभी रचनाएं पढ़ी हैं और वे कैसी हैं, यह मुझसे अधिक कौन जानता है? नाना कारणों से मैंने उससे और कोई संबंध नहीं रखा।"

बहुत दिन बाद फणीन्द्रनाथ ने कहा था, "प्रत्येक मिलन का एक उद्देश्य होता है। शरत्-यमुना मिलन का उद्देश्य सिद्ध हो गया। अब यदि मथुरा के राज सिंहासन का आह्वान पाकर उसने ब्रजधाम को छोड़ दिया तो मर्मान्तक वेदना पाकर भी ब्रजवासी अभियोग नही करेंगे।"

रूपक सही न हो, उद्देश्य की बात निश्चित रूप से सही है।

1. सन् 1933 ई०

2. अक्तूबर, 1914 ई० में प्रयाग जाते हुए उन्होंने यह पुस्तक पढ़ी थी। यह 15 सितम्बर, 1914 ई० को प्रकाशित हुई थी।

3. बिन्दो का लल्ला, जुलाई 1914 ई० परिणीता, 10 अगस्त, 1914 ई०, पंडितजी, 15 सितम्बर, 1914 ई०

4. विराजबहू मई, 1914 ई०

5. ये तीनों कहानियां 'यमुना' में सन् 1914 में छपीं।

6. जून, 1914 ई०

7. 30 सितम्बर, 1913 ई०

8. 10 अक्टूबर, 1913 ई०

9. 15 नवम्बर, 1915 ई०

17

अचानक तार आ जाने के कारण शरत् को छुट्टी समाप्त होने से पहले ही और अकेले ही रंगून लौट जाना पड़ा। ऐसा लगता है कि आते ही उसने अपनी प्रसिद्ध रचना पल्ली समाज' पर काम करना शरू कर दिया था, लेकिन गृहिणी के न रहने के कारण उसे बहुत असुविधा होती थी। इसलिए कुछ ही दिन बाद उसने प्रमथ को लिखा, "चाहता हूं इनको भेज ही दो। मेरा काम नहीं चल रहा है। इनकी तो भूख-प्यास और नींद सब बन्द हो गई.....। इनके न आने से लिखना नहीं हो सकता। मेस में नहीं होता। सब देखना चाहते हैं, इसलिए यह सब उत्पात होता है। मैंने जिस हालत में बहुत लिखा है, ठीक वैसी हालत न होने पर कुछ नहीं होता। [1] है

वह अपने पात्र और घटनाएं किस प्रकार वास्तविक जीवन से लेता था, "पल्ली समाज इसका एक और उदाहरण है। इसमें शवदाह और प्रायश्चित्त की घटनाएं आती हैं। उन दिनों बंगाल में दमे आदि कई रोगों के रोगियों को प्रायश्चित कराने की प्रथा थी। उसी की चर्चा करते हुए उपन्यास का एक पात्र गोपाल सरकार रमेश से कहता हे, इस लड़के के बाप द्वारका चक्रवर्ती छ: महीने से दमे की बीमारी के कारण खाट पर पड़े थे। आज सेवेरे वे मर गए। उनका प्रायश्चित नहीं हुआ था, इसलिए कोई उनकी लाश नहीं छूना चाहता। .इस समय वह करना बहुत आवश्यक है। कामिनी की मां छ: महीने से बराबर इस गरीब ब्राह्मण परिवार की सहायता करती आ रही है और इसी में वह अपना सर्वस्व लगा चुकी है। अब उसके पास कुछ भी नहीं बचा है, इसलिए वह इस लड़के को लेकर आपके पास आई है। '

रमेश ने कुछ देर तक चुप रहकर पूछा, अब तो दो बज रहे है। अगर प्रायश्चित न हो तो क्या मुर्दा पड़ा ही रहेगा?.

सरकार ने हंसकर कहा, बाबूजी, और उपाय ही क्या है? शास्त्र के विरुद्ध तो काम हो ही नहीं सकता। और फिर इसमें गांव के लोगों को ही क्या दोष दिया जा सकता है? जो हो, मुर्दा पड़ा नहीं रहेगा। जिस तरह से हो, इन लोगों को काम करना ही पड़ेगा। इसीलिए तो भीख..... मुड़कर) कामिनी की मां और कहीं भी गई थी?.

लड़के ने मुट्ठी खोलकर एक चवन्नी और चार पैसे दिखा दिए। कामिनी की मां ने कहा, रवन्नी तो मुकर्जी के. यहां से मिली है और चार पैसे हाल्दार ने दिए हैं, लेकिन नौ चवन्नियों से कम में तो काम चल ही नहीं सकता, इसलिए बाबूजी अगर. ..।.

रमेश ने जल्दी से कहा, .अच्छा तुम लोग घर जाओ। अब और कहीं जाने की जरूरत नहीं। मैं अभी इंतजाम करके आदमी भेजता हूं। '

इस घटना का चित्रण करते समय शरत् को अपने एक नाना महेन्द्रनाथ की मृत्यु की निश्चय ही याद आई होगी। बहुत वर्ष पहले जगद्धात्री पूजा के अवसर पर जब ब्राह्मणों को परोसने के लिए नाना के घर गया था तब मुखिया के आपत्ति करने पर इन्हीं नाना ने उसे रोक दिया था। इन्हीं की मृत्यु पर ब्राह्मणों ने हंगामा खड़ा कर दिया। वे बीमार थे। ज्वर के साथ रक्त उभरता था। कविराज ने बताया 'रक्त पित्त' है। पुरातनपंथियों के मुखिया लोग खूब आने-जाने लगे। हालत निरन्तर खराब होती जा रही थी। तभी एक दिन मुखियाओं में से कोई नहीं आया। आया उनका सन्देश - "जल्दी से प्रायश्चित्त कर डालो, नहीं तो शवदाह के समय मुसीबत होगी।.

कैसी मुसीबत?.

रोगी के रक्त उभरता है। उसे कोई छुएगा नहीं। '

घर में चारों ओर मौत की छाया मंडरा रही थी। सभी दुखी थे। इस बात पर किसी बड़े ने कान नहीं दिया, फिर भी कानाफूंसी चलती रही। महेन्द्रनाथ ठीक नहीं हो सके। अष्टमी को उनकी मृत्यु हो गई। विपक्षी दल शायद यही चाहता था। उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। अष्टमी के दिन प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं है, इसलिए शव पड़ा रहेगा - मुखियाओं ने अपने-अपने घर जाकर एक फतवा जारी कर दिया। फलस्वरूप शवदाह के लिए लोगों को ढूंढना एक समस्या हो गई। श्मशान भूमि वहां से तीन-साढ़े तीन मील दूर थी। रास्ता भी सुगम नहीं था। गांगुली-परिवार मुसीबत में पड़ गया। लेकिन शरत् के छोटे नाना अघोरनाथ साहसी व्यक्ति थे। उन्होंने कहा, -हिन्दू शास्त्र तो कामधेनु है, जो चाहोगे वही मिलेगा। नाना मुनियों के नाना मत हैं। डरी नही, व्यवस्था निश्चित ही होगी।.

और अन्त में व्यवस्था हुई। तर्करत्न महोदय ने कहा, 'वह साला काव्यतीर्थ, वह न्याय क्या जाने? उसको हस्व-दीर्घ का ज्ञान तो है ही नहीं। अष्टमी, चतुर्दशी, शनिवार और मंगलवार को जीवित देह का प्रायश्चित्त नहीं होता। मुर्दे को सड़ने देना हिन्दू शास्त्र और न्याय के विरुद्ध है। यह नहीं हो सकता, युक्ति सबसे बड़ी है।

"युक्तिहीने विचारेतु धर्महानि प्रजायते। '

तर्करत्न ने व्यवस्था लिख दी और उनके शिष्य ने आकर प्रायश्चित्त करा दिया। तब घर से शव उठाया गया। [2]

इस उपन्यास की रचना-प्रक्रिया और कथानक के विकास की चर्चा करते हुए शरत् ने अपने एक मित्र से कहा था [3] "पल्ली समाज' को मैंने दूसरे ढंग से खत्म कर दिया। उस दिन जिस तरह से समाप्त करके भेज रहा था, वह अच्छा न लगने के कारण उपसंहार दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मैं यह अवश्य बता दूं कि 'सरस' शब्द से मैं जो अर्थ समझता हूं, यह कहानी उसके पास भी नहीं फटकती। बहुत ही किरकिरापन लिए हुए पदार्थ से इसका ताना-बाना बुना गया है। चलो, दो-एक इंट्रेस्टिंग कहानियां भी होनी चाहिए। निबन्ध तो बहुतेरे पढ़ते है।"

एक और पत्र में उसने लिखा, "मेरी तो इतनी इच्छा है कि लोग गांव की बातों में दिलचस्पी लें। इस पुस्तक में एक मूल बात यानी विवाह के बारे में कुछ नहीं कहा गया। इच्छा है कि इस प्रसंग को मैं किसी दूसरी पुस्तक में उठाऊं। वहां पल्ली समाज' को लोगों ने किस रूप में लिया, मैं नहीं जानता।..... ..जानना चाहता हूं।"

'पल्ली समाज' में केवल दुख-दैन्य से पीड़ित, संकीर्ण सांस्कृतिक घेरे के भीतर बंधे हुए, परम्परा-प्रचलित कुसंस्कारों से घिरे हुए बंगाल के निम्न मध्यवर्गीय देहाती समाज का सीधा-सादा यथार्थ चित्रण है। शरत् का बचपन और यौवन का भी कुछ समय गांव में ही कटा था। गांव को वह प्यार करता था। उसी के आधार पर उसने इस पुस्तक की रचना की।

लेकिन उसने इस बात को स्वीकार किया है कि गांव के बारे में गांवों के लोगों को ही लिखना चाहिए। कलकत्ता नगर के बड़े लोगों के कल्पना करके लिखने से वह कहीं अधिक सत्य होगा। गांवों में फैले अज्ञान का प्रतिकार ज्ञान के विस्तार से ही हो सकता है। जो यह काम करना चाहते हैं उन्हें गांव से दूर विदेशों में जाकर मनुष्य होना होगा। लेकिन काम करना होगा गांवों में बैठकर ही और गांवों के अच्छे-बुरे लोगों से भली भांति मेल करके। [4]

बर्मा में पल्लीसमाज का स्वागत हुआ पर कलकत्ता में तीव्र आलोचना हुई। विधवा रमा रमेश से क्यों प्रेम करने लगी-इस पर नाना प्रकार के लोगों ने नाना प्रकार के आक्षेप किए। साहित्य के एक प्रवीण समालोचक ने 'साहित्य की स्वास्थ्यरक्षा' नामक ग्रन्य में रमा का इस तरह तिरस्कार किया है – "ठकुरानी, तुम बुद्धिमती हो न? अपनी बुद्धि के जोर से पिता की जमींदारी का शासन-प्रबन्ध कर सकीं और तुम्हीं अपने बाल्य सखा, पर पुरुष रमेश को प्यार कर बैठी। यही तुम्हारी बुद्धि है, छि: ....।"

आक्रमण का एक और भी पक्ष है - रमा और रमेश में जब इतना प्रेम हो गया था, तो लेखक उनका विवाह क्यों नही करा सका। शरत् ने इन सब अभियोगों का उत्तर देते हुए लिखा है – "पल्ली समाज' नाम की मेरी छोटी-सी पुस्तक है। उसकी विधवा रमा ने अपने बाल्य बन्धु रमेश को प्यार किया था। इसके लिए मुझे बहुत झिड़कियां और तिरस्कार सहना पड़ा है। एक विशिष्ट समालोचक ने ऐसा अभियोग भी लगाया था कि इतनी दुर्नीति को प्रश्रय देने से गांव में कोई विधवा नहीं रहेगी। मरने-जीने की बात कही नहीं जा सकती। प्रत्येक पति के लिए यह गहरी दुश्चिन्ता का विषय है। इसका एक और पहलू भी तो है। इसको प्रश्रय देने से भला होगा या बुरा? हिन्दू समाज स्वर्ग में जाएगा या नरक में, इस मीमांसा का भार मेरे ऊपर नहीं है। रमा जैसी नारी और रमेश जैसे पुरुष किसी भी समाज में दल के दल नहीं जनमते। दोनों के सम्मिलित पवित्र जीवन की कल्पना करना कठिन नही है। किन्तु हिन्दू समाज में इस समाधान के लिए जगह न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इतने बड़े महाप्राण नरनारी इस जीवन में विफल, व्यर्थ और पंगु हो गए। मनुष्य के बन्द हृदय-द्वार तक वेदना की यह खबर अगर मैं पहुंचा सका हूं तो इससे अधिक और कुछ मुझे नहीं करना है। इस लाभ-हानि को खतियाकर देखने का भार समाज का है, साहित्यिक का

नहीं। रमा के व्यर्थ जीवन की तरह यह रचना वर्तमान में व्यर्थ हो सकती है, किन्तु भविष्य की विचारशाला में निर्दोष के लिए इतनी बड़ी सजा का भोग एक दिन किसी तरह मंजूर न होगा। यह बात मैं निश्चय के साथ जानता हूं। यह विश्वास यदि न होता तो साहित्यसेवी की कलम उसी दिन वहीं संन्यास ले लेती।" [5]

'पल्ली समाज' के अतिरिक्त वह अपने दो और उपन्यासों पर काम कर रहा था, 'गृहदाह' और 'श्रीकान्त'। 'गृहदाह' के संबंध में बहुत-से प्रवाद प्रचलित हो गए थे और इसका कारण वह स्वयं ही था। कब क्या बात कह देता था और कब उसका खण्डन करके दूसरी बात कह देता था, यह शायद वह जानबूझ कर ही करता था। ऐसा करने में उसे आनन्द आता था। एक पत्र में उसने लिखा – "इस कहानी का भाव 'गोरा' के परेश बाबू से लिया गया है-अर्थात् अपने कहने के लिए यह अनुकरण है, पर पकड़ा नहीं जा सकता। सामाजिक-पारिवारिक कहानी है। मेरे मन में बड़ा उत्साह है कि सुन्दर होगी, पर क्या से क्या हो जाएगा, कहा नहीं जा सकता।

इस प्रकार के पत्रों से एक बात को निश्चय ही बल मिलता है कि वह रवीन्द्रनाथ से अत्यन्त प्रभावित था। किसी सीमा तक आक्रान्त था। कोई भी रचना करते समय उसकी उपचेतना में निश्चय ही यह बात 'घुमड़ती' रहती थी कि यह रचना रवीन्द्रनाथ की अमुक रचना से अच्छी होनी चाहिए या कम से कम उनके जैसी तो होनी ही चाहिए। बार-बार उसने अपने मित्रों को लिखा, "मुझसे तभी रचना मांगी जाए जब यह विश्वास हो जाए कि रवीन्द्रनाथ को छोड़कर ऐसी रचना और कोई नहीं कर सकता

उसके अन्तर की यह विचित्र मनोग्रन्थि उससे इस प्रकार के अनेक काम करवाती रहती थी।

कलकत्ता लौटने से पूर्व 'श्रीकान्त' का सृजन भी आरम्भ हो चुका था। और वह 'भारतवर्ष ' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो रहा था। उसकी दूसरी रचनाओं की तरह इनका आरम्भ भी दफ्तर में ही हुआ था। उसकी प्रारम्भिक कहानियों के साथ जिस प्रकार योगेन्द्रनाथ सरकार का नाम जुड़ा हुआ है उसी प्रकार 'श्रीकान्त' के साथ कुमदिनीकान्त कर का नाम जुड़ा है। बहुत-से लोगों का विश्वास है कि इस उपन्यास में श्रीकान्त वह स्वयं है और राजलक्ष्मी उसकी प्रेयसी है। इस राजलक्ष्मी की खोज में न जाने कितने लोग पागल हो गए। लेकिन उसकी खोज-खबर कोई नहीं पा सका। पाता कैसे? वह तो लेखक की कल्पना-मात्र थी, अतृप्त कामनाओं की कल्पना। उसने अपने बचपन की साथिन धीरू को आधार मानकर पहले 'देवदास' की पारो और फिर 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी का चित्रण किया। सुना यह भी गया कि धीरू का वास्तविक नाम राजलक्ष्मी ही था। यौवन के प्रथम चरण में उसका जो एक प्रेम असफल हो गया था उसकी नायिका भी तो राजलक्ष्मी हो सकती है। और मुजफ्फरपुर की राजबाला क्यों नहीं हो सकती?

इस प्रकार अनेक व्यक्तियों ने स्वयं ही अनेक प्रकार की बातें नहीं कही हैं, उसके मुख से भी न जाने क्या-क्या कहलवाया है। कुछ व्यक्ति हिरण्मयी देवी को ही राजलक्ष्मी मानते हैं। प्यार से उसने कभी उन्हें 'लक्ष्मी' कहकर पुकारा होगा, बस उसी के आधार पर उन्हें राजलक्ष्मी मान लिया गया। एक मित्र ने उससे यहां तक कहा, "विवाह करके इस महान् प्रेम की आपने अमर्यादा की है। जो कभी पुण्य भागीरथी का निबन्ध स्वच्छ जल था, उस पर बांध बांधकर आपने उसे तालाब और गड्ढे का रूप दे दिया है।"

कई क्षण मौन रहकर शरत् ने इतना ही कहा, "और कोई रास्ता भी तो नहीं था, लेकिन मैंने उसे छोड़ा तो नहीं।"

क्या इसे सत्य माना जा सकता है? नहीं माना जा सकता। अगर यह बात सत्य होती तो शरत् अपने एक पत्र में यह क्यों लिखता [6] – "राजलक्ष्मी कहां मिलेगी? वह तो सब मनगढ़न्त झूठी कहानी हैं। 'श्रीकान्त' केवल एक उपन्यास मात्र ही तो हैं। झूठी अफवाहें न सुनना ही बेहतर है।"

लेकिन जो खोज करनेवाले थे, वे इस निषेध से कैसे चुप रह सकते थे। वे हिरण्मयी देवी के पास जाते और पूछते, "आप ही राजलक्ष्मी हैं?"

ऐसे प्रश्न सुन-सुनकर वह इतनी दुखी हुई कि लोगों से मिलना-जुलना ही छोड़ दिया। बेचारी न तो 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी की तरह रूपसी ही थीं और न ऐस्वर्यमयी। नृत्य-गान तो क्या, बातचीत करने में भी इतनी चतुर नहीं थीं। वह अत्यन्त साधारण, सरल और अशिक्षित पर धर्मशीला, पतिव्रता और सेवापरायण महिला थीं। शरत् बाबू के प्रति उनमें अगाध प्रेम और श्रद्धा थी। उस दिशाहारा निराश्रित व्यक्ति का जीवन सुखी बनाने में अपनी दृष्टि और अपनी समझ में उन्होंने कुछ भी उठा न रखा था। वह सही अर्थो में अर्पिता थीं। भावुक अर्पिता, जो प्राय: अति का शिकार हो जाती है, लेकिन यह उन्हीं की तपस्यामयी श्रद्धा का परिणाम था कि जो शरत् अपने यौवन में उपेक्षा और अपमान के कारण दिशाहारा होकर जीवन को व्यर्थ कर रहा था, वही पहले शान्ति देवी और फिर हिरण्मयी देवी का सम्पर्क पाकर प्राणवान साहित्य का प्रणेता बना। वह तेजपुंज था और तेजपुंज को नारी का स्पर्श चाहिए ही। नहीं तो वह तेज न केवल उसी को भस्म कर देता हे बल्कि उसके आसपास भी जो कुछ होता है, उसको भी दिशाभ्रष्ट और नष्ट करता रहता है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'श्रीकान्त उन्हीं के समान आवारा है। और इस उपन्यास में वर्णित अनेक घटनाएं सत्य के आधार पर लिखी गई हैं। अपने एक मित्र से इसकी चर्चा करते हुए उसने एक बार कहा था, आप मेरा उपन्यास पढ़ते समय कृपया घटना और परिस्थिति पर जोर न दें। मैं घटना को उपन्यास की असली वस्तु नहीं मानता। मेरा एकमात्र उद्देश्य चरित्र-सृष्टि है। उसके साथ-साथ घटना स्वयं ही आ जाती है। चेष्टा नहीं करनी होती। मेरे चरित्रों के अन्तराल में कौन-कौन-से स्थल यथार्थ हो सकते है, वे चित्र की पृष्ठभूमि के रूप में ही हैं, इससे अधिक नहीं।.

इन घटनाओं को लेकर उसने अपने एक और मित्र से इस बात को स्वीकार किया कि 'श्रीकांत' में उसकी अपनी कथा कुछ तो है ही। जीवन की किसी घटना को साहित्य के स्तर पर लाते समय कभी-कभी खण्ड-खण्ड घटनाओं को सम्बद्ध करने अथवा पूर्ण रूप से कहानी का रूप देने के लिए कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है। उसने कहा, तुम शिक्षक हो। मान लो तुम एक विद्यार्थी को 'अपना गांव विषय पर एक निबन्ध लिखने को कहते हो। उस गांव में न कोई नदी है, न कोई मन्दिर, पर वह अच्छे नम्बर पाना चाहता है। अब सोचो, वह क्या करेगा? आसपास के गांवों में जो नदियां जो मन्दिर उसने देखे हैं, उन्हीं को अपने गांव से सम्बद्ध करता हुआ वह निबन्ध लिखेगा। साहित्य के संबंध में ही वही बात लागू होती है।.

यहां 'श्रीकान्त में वर्णित कुछ घटनाओं पर भी विचार किया जा सकता है। इसमें एक पात्र है इन्द्रनाथ। वह श्रीकांत का बचपन का साथी हे। एक दल कहता है, शरत् ने भागलपुर के अपने बचपन के साथी राजेन्द्रनाथ मजूमदार उर्फ राजू की ही इन्द्रनाथ के रूप में चित्रित किया है। राजू और इन्द्रनाथ दोनों की प्रकृति एक-सी ही है। स्वयं शरत् ने भी इस बात को स्वीकर किया है।

दूसरा दल मानता है कि इन्द्रनाथ शरत् की जन्मभूमि देवानन्दपुर के सतीशचन्द्र भट्टाचार्य के अतिरिक्त और कोई नहीं है। गांव में रहते हुए शरत् सतीश के सम्पर्क में आया था.। यद्यपि बहुमत राजेन्द्रनाथ के पक्ष में ही है, लेकिन फिर भी यह मानने में क्या हानि है कि शरत् ने इन्द्रनाथ का चरित्रचित्रण वास्तविक जगत् के दो व्यक्तियों के आधार पर किया था।

इसी प्रकार अन्नदा दीदी के वास्तविक अस्तित्व से भी शरत् ने इन्कार नहीं किया। वह देवानंदपुर की रहनेवाली उसकी नाते की एक बहन थी या भागलपुर की कोई लड़की, यह प्रश्न असंगत है। नाम बदलकर बहुत-से वास्तविक स्थान भी 'श्रीकांत' में वैसे के वैसे ही आए है। अनेक घटनाओ को उसने अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तित भी कर दिया है। उसकी लेखनी के चमत्कार ने उन्हें इतना मनोरम बना दिया है कि सत्य क्या है यह पता लगा लेना असम्भव हो गया है। अपनी प्रकृति का स्वयं चित्रण करना दुस्तर कार्य है। किसी भी वस्तु को अच्छी तरह देखने के लिए, अच्छी तरह जानने के लिए कुछ दूरी और अलगाव अत्यन्त आवश्यक है। आख के सबसे पास रहने पर क्या उसको सबसे अच्छी तरह देखा जा सकता है? एक चित्रकार के लिए अपनी आकृति आकना जितना कठिन है, लेखक के लिए भी अपना चित्रण करना उतना ही कठिन है।'

श्रीकान्त के चरित्र में शरत् ने अपने को चित्रित किया है या नहीं, इसका यदि सीधा उत्तर देना हो तो यही होगा कि यदि चीनी को सन्देश [7] कहा जा सकता है तो अवश्य किया है। अन्यथा सत्य इतना ही है कि बीच-बीच में झलकमात्र मिल जाती है। वह चरित्र-सृष्टि को ही उपन्यास में महत्वपूर्ण मानते थे। घटनाएं तो अनायास ही आ जाती थीं। कहीं-कहीं

वास्तविकता दिखाई दे सकती है लेकिन वह मात्र चित्रसृष्टि की पृष्ठभूमि के रूप में होती है। सभी लेखक अपनी अभिज्ञता के सहारे लिखते हैं। इस प्रकार उनकी हर रचना ही उनकी अपनी जीवनी है। लेकिन शरत् उपन्यास के माध्यम से छद्म रूप में आत्मचरित्र लिखना कायरता मानता था। बहुत दिन बाद हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार श्री इलाचन्द्र जोशी से उसने कहा, जिन लोगों में जीवन को व्यापक और गहरे रूप में देखने की शक्ति नहीं हे, जो अपने अहं की चारदीवारी के बाहर झांककर जीवन के सिंहावलोकन का दम नहीं रखते, वे अपनी कला में निरपेक्षता लाने में असमर्थ हैं। वे ही जीवन की गुप्त कथा को उपन्यास का रूप देते हैं।.

उसने स्पष्ट कहा "श्रीकान्त में जीवन के उन्हीं रूपों का वर्णन मैंने किया है, जिनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय है, और उन्हीं चरित्रों को मैंने लिया है जिनका अध्ययन निकट से करने का अवसर मुझे मिला है, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह मेरा आत्मचरित .है। फिर भी मुझे लोगों की यह धारणा जानकर प्रसन्नता ही होती है, क्योकि उससे प्रमाणित होता है कि मेरे पात्र पाठकों को सजीव लगते है और मेरा जीवन-वर्णन और चरित्रांकन यथार्थ जीवन के बहुत निकट है।.

मामा सुरेन्द्रनाथ ने लिखा है, पहुत-से लोग कहते है कि शरत्चन्द्र ने साहित्य में अपने को जितना प्रकाशित किया है जीवनी के. रूप में उतना ही यथेष्ट है। स्वतन्त्र जीवनचरित्र की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन शरतचन्द्र ने तो साहित्य में अपने को अद्भुत रूप से छिपाया है, जो यह बात नहीं जानते उनसे भूल होना स्वाभाविक है।'

जैसा कि प्रत्येक रचना के साथ होता था, 'श्रीकान्त के संबंध में भी वह आश्वस्त नहीं था। अपने प्रकाशक को उसने लिखा था, "श्रीकान्त की भ्रमण क्कानी' सचमुच छापने के योग्य है, ऐसा मैंने नहीं समझा था। अब भी' नहीं समझता। पर सोचा था कि शायद कोई छाप दे, इसी आशा से लिखा था.....। उसके प्रारम्भ में ही जो श्लेष थे, वे सब किसी भी दशा में आपकी पत्रिका के स्थान नहीं पा सकेंगे, यह तो जानी हुई बात है, पर दूसरी किसी पत्रिका मे शायद वह आपत्ति न उठे, इसी का भरोसा था। इसीलिए आपकी मार्फत भेजा। अगर कहें तो और लिखूं। बहुत-सी बातें कहने को हैं। पर व्यक्तिगत [8] श्लेष-विद्रुप यहीं तक। आखिर तक सारी बातें सच कही जाएंगी। मेरा नाम किसी भी हालत में प्रकट न होने पाए।. ....हां 'श्रीकांत' की आत्मकथा से इसका कोई संबंध तो रहेगा ही, परन्तु यह मूलत: भ्रमण कहानी है।' [9]

कुछ दिन बाद फिर लिखा, "अगर अभय दें तो इस संबंध में एक बात कहूं। सम्पादक गण इस कहानी की नितान्त अवज्ञा .न करें। मुझे आशा है जो रचनाएं प्रकाक्षित होती हैं और हुई है, उनसे यह बहुत नीचे आसन पाने योग्य नहीं है। अनेक सामाजिक इतिहास इसके भविष्य के गर्भ में प्रच्छन्न है। मेरी बहुत चेष्टा और यत्न की यह वस्तु कम से कम मित्रों से कद्र पाने योग्य होगी ही। हां, प्रारम्भ खराब है, हर यथार्थ में अच्छी चीज का प्रारम्भ

खराब होता है। यही मेरी कैफियत है। क्या अबकी बार छपेगी? हाथ की लिखावट को छपे अक्षरों में देखने की आशा से ही उसे भेजा है।.' [10]

इन पत्रों में उसने इस बात का संकेत किया है कि इस कहानी का श्रीकान्त की आत्मकथा से संबंध हे। लेकिन यह संबंध इतना ही है, जितना एक उपन्यास क्त वास्तविक जीवन से होता है। उसका जीवन इतना रोमांचक, इतना वैविध्यपूर्ण रहा है कि श्रीकान्त को पढ़कर इस भ्रम में पड़ जाना अस्वाभाविक नहीं। श्रीकान्त शरत् नहीं है लेकिन दोनों की प्रकृति में अद्‌भुत समानता है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसे सहज भाव से आत्म-जीवनीमूलक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है।

एक दिन उसने कहा था, "मुझे लोग मेरी रचनाओं में खोजते हैं। कोई कहता है, मैं कट्‌टर हिन्दू हूं कोई कहता है, नास्तिक हूं। कोई कहता है, चरित्रहीन मेरी ही कहानी है, कोई मानता है कि 'श्रीकान्त' मेरी आत्मकथा है। मुझे लेकर यह सब वितण्डावाद चलता है और मैं दूर खड़ा हंसता हूं।.

हर प्राणवान व्यक्ति की यही नियति होती है। जिस गांधी को लोगों ने सन्त कहा उसी गांधी को ढोंगी, दम्भी, धोखेबाज़ तक कहा। गांधी ही ऐसा व्यक्ति था जो सब-कुछ हो सकता था। सब कुछ होने के लिये हिया चाहिए। वह हिया शरत् के पास भी था। उसने जीवन में बहुत दुख भोगा था, बहुत-सा पाप भी किया था, पर उससे ऊपर उठकर उसे अभिज्ञता में रूपान्तरित करने की प्राणशक्ति भी उसमें थी। क्योकि वह मात्र भोक्ता ही नही, द्रष्टा भी था, इसीलिए अन्तत: साहित्य की मंजिल ने उसे खोज लिया। जो परम्पराओं का किसी न किसी रूप में विरोध करते हैं वे अन्तर की अज्ञात शक्तियों को मुक्त कर देते है। कोई नही जानता, उनका क्या परिणाम होगा। स्वतन्त्रता शक्तिशाली के लिए, योग्य के लिए ही अच्छी है। शरत् में वह असीम शक्ति थी, इसीलिए वह सष्टा बन सका।

---

1. 25 फरवरी, 1915 ई०

2. शरतचन्द्रेर जीवनेर एक दिक-प्रथम खण्ड-सुरेन्द्रनाथ गांगुली, पृष्ठ 17

3. 22 सितम्बर, 1915 ई०

4. 10 मार्च, 1919 ई० का एक पत्र

5. 'साहित्य में आर्ट और दुर्नीति' प्रबंध से

6. 14 अगस्त, 1919 ई० (लीलारानी गंगोपाध्याय)

7. छेने और चीनी द्वारा तैयार की जाने वाली एक लोकप्रीय बंगाली मिठाई। यही बात मामा उपेन्द्रनाथ गांगुली ने लेखक से कही थी।

8. पुस्तक रूप में ये अंश नहीं आए हैं।

9. 15 नवम्बर, 1915 ई० का पत्र
10. 7 सितम्बर, 1915 का पत्र

18

वह अब भी रंगून में नौकरी कर रहा था, लेकिन उसका मन वहां नहीं था। दफ्तर के बंधे-बंधाए नियमो के साथ स्वाधीन मनोवृत्ति का कोई मेल नही बैठता था। कलकत्ता से हरिदास चट्टोपाध्याय उसे बराबर नौकरी छोड़ देने के लिए लिख रहे थे। उन्होंने उसे विश्वास दिलाया कि यह उसके लिए सौ रुपये मासिक का प्रबन्ध कर देंगे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि उसका हमेशा का खराब स्वास्थ्य और भी खराब होता चला गया। शारीरिक असमर्थता को जन मन का सहारा मिल जाता है तो उसके सुधरने की सभी सम्भावनाएं नष्ट हो जाती हैं। वह बार-बार अपने मित्रों को लिखने लगा, "इस बार हालत और भी खराब है। डर लगता है कि जिन्दगी-भर के लिए पंगु हो ही जाऊंगा। मानसिक चंचलता के कारण कुछ भी लिखने को इच्छा नहीं होती। मेरे इस लकड़ी जैसे शरीर में इस तरह की कठिन बीमारी सम्भव होगी, यह कभी नहीं सोचा .था।"

फिर लिखा, यहां अच्छा होने की आशा नहीं है। शरीर के और अंगों को ठीक करके जगदीश्वर यदि मुझे पंगु होने की सजा देते है तो यही अच्छा है। बीच-बीच में दोनों पैरों को बंद करके केवल हाथों से ही काम करने को कहते हैं।.

उसके पैर सूज जाते थे। किसी तरह ठीक नहीं हो रहे थे। डाक्टर ने उसे बताया कि बर्मा छोड़ देने पर ही यह रोग दूर हो सकता है। वह अफीम बहुत खाता था। इस कारण भी उसका स्वास्थ्य बिगड़ चुका था। शायद किसी के कहने पर उसने एक बार अफीम छोड़ने की चेष्टा की थी। तब स्थिति और भी खराब हो गई थी। दुबारा खाना शुरू करने पर ही प्राण बच सके थे। जो अफीम के आदी हो जाते हैं, वे सहसा उसको छोड़ नहीं सकते। इस बात की चर्चा उसने अपने एक पत्र' [1] में की है, मुझे इतना दुख शायद इसलिए मिला है कि मैंने अफीम छोड़ने की चेष्टा की है। अब मैं कभी अफीम छोड़ने का नाम नहीं लूंगा। जब अच्छी तरह अफीम फिर से शुरू की तभी पैर अच्छा हुआ। अब थोड़ी मात्रा और बढ़ा दूं तो शायद हाथ भी ठीक हो जाए। अफीम कम करने के कारण दिमाग खाली-सा हो गया था। फिर धीरे-धीरे भरता जा रहा है। यह भी क्या चीज है! आप लोगों को भी शुरू करना चाहिए। मैं तो समझता हूं कि हर शरीफ़ आदमी को अफीम का सेवन करना चाहिए।'

अफीम की चर्चा अभी रहने दें। मज़ाक करने का उसका स्वभाव था। लेकिन बर्मा छोड़ देने का अब उसने निश्चय कर लिया था। उसने श्री हरिदास चट्टोपाध्याय को लिखा, 'आपने मुझे जो कुछ देना चाहा हे, वही मेरे लिए यथेष्ट है। इस वर्ष के अन्दर मर नहीं

जाता तो हो सकता है रुपये-पैसे का कर्ज अदा हो जाए। पर कृतज्ञता का ऋण तो अदा नहीं हो सकता।.....मैं एक वर्ष की छुट्टी लेने का कार्यक्रम बना रहा हूं। यदि आप २०० रुपये भेज दें तो आने में सुविधा होगी। इस हतभाग्य स्थान को छोड़ने में आप मेरे लिए जो अतिरिक्त आर्थिक क्षति उठायेंगे उसको पूरा करने की मैं इसी वर्ष चेष्टा करूंगा। [2]

कभी-कभी तो वह अहंकारी अत्यन्त करुण हो उठता था। पंगु होने और रुपया भेजने की बात उसने बार-बार लिखी है। अंत में श्री हरिदास ने रुपया भेज दिया और तब उसने सूचना दी कि वह 11 अप्रैल को रवाना हो रहा है। मन में इतना विमर्ष है कि किसी काम में हाथ लगाने की इच्छा नहीं होती। लगाने पर भी अच्छा नहीं होता। अब कलकत्ता जाकर ही वह लिखेगा।

इसी समय रंगून में एक ऐसा काण्ड हो गया जिसने उसे वहां से चले जाने के लिए अन्तिम रूप से विवश कर दिया। उसका मन दफ़्तर के काम में नहीं लगता था। वह पड़ा रह जाता था और उसकी रिपोर्ट ऊपर के अधिकारियों तक पहुंचती थी। कई बार उसे चेतावनी दी गई, लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं निकला। आखिर इसी बात को लेकर एक दिन आफिस सुपरिन्टेण्डेण्ट मेजर बनाई से उसका भयंकर झगड़ा हो गया।

उसने कोई फ़ाइल मांगी थी। शरत् ने उत्तर दिया, मैं उसके बारे में कुछ नहीं जानता। वह मेरे पास नहीं है। लेकिन खोज करने पर वह उसी की दराज में मिली। यह देखकर सुपरिण्टेण्डेण्ट क्रोध से भर उठा। ऐसा होना स्वाभाविक था, लेकिन शायद कुछ अति हो गई। इतनी कि द्वन्द्वयुद्ध की नौबत आ पहुंची। लेकिन शरत् था दुबला-पतला और बर्नार्ड जितना स्वस्थ उतनी ही सुगठित थी उसकी देहयष्टि। काफी चोट आई शरत् को। कपड़े खून से तर हो गए। रिपोर्ट बड़े साहब तक पहुंची। जांच करने पर उसने पाया कि ज्यादती बर्नार्ड की ओर से हुई है। उसने उसे तुरन्त निलम्बित कर दिया। बाद में सुना, उस पर 90 रुपये जुर्माना हुआ और आदेश हुआ कि वसूल हो जाने पर वे रुपये शरत् बाबू को दे दिए जाएं।

यह भी सुना गया कि रिपोर्ट जब अकाउण्टेण्ट जनरल के पास पहुंची तो उन्होंने शरत् से कहा, शुम बर्नार्ड के बर्ताव का विरोध करने आए हो, मैं उसके विरुद्ध कार्रवाई करूंगा। लेकिन तुम मानवता के स्तर से गिर गए हो। अगर तुम आघात के बदले आघात करते और फिर मेरे पास आते तो मैं समझ सकता।.

"यह विवरण राई-रत्ती सही नही हो सकता। लेकिन घटना सही अवश्य है और यह भी सही हे कि वह ऊंट की पीठ पर अन्तिम तिनका प्रमाणित हुई। शरत् ने रंगून छोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मित्रों ने उससे कहा, कहानियां लिखते हो, तुम्हारा इतना नाम हो गया है, फिर क्यों दफ्तर में पड़े सड़ रहे हो? इससे तो अच्छा यही है कि नौकरी छोड दो और लिखने में मन लगाओ।"

साहित्य में यश था, अर्थ था, लेकिन दफ्तर के कार्य की उपेक्षा अनिवार्य थी। वह अधिक परिश्रम करने का आदी नहीं था। स्वास्थ्य एकदम खराब था। उसने त्यागपत्र दे दिया। सम्भवत: उसकी एक वर्ष की छुट्टी शेष थी, वह उसने ली और कलकत्ता के लिए रवाना हो गया। उसके बाद वह फिर कभी बर्मा नहीं गया। लेकिन इतिहासकार इस बात को कैसे भूल सकेंगे कि कथाशिल्पी शरत्चन्द्र का पुनर्जन्म बर्मा में ही हुआ था। 'श्रीकान्त' चरित्रहीन' छवि और अधिकार' सभी पर इस जीवन की अमिट छाप है। बर्मा-प्रवास में वह ऐसे भी व्यक्तियों के सम्पर्क में आया जिनका बौद्धिक स्तर ऊंचा था, परन्तु उसके अधिकतर साथी महत्त्वहीन और अजाने ही थे। उन्हीं के द्वारा प्रोत्साहन पाकर यह निर्धन, अर्द्ध-शिक्षित और आवारा युवक साहित्य के उस क्षेत्र में प्रवेश पा सका जहां महानता उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

बर्मा छोड़ने से पूर्व चार महीने के भीतर ही भीतर उसकी तीन और पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। मंझली दीदी" [3] और दूसरी कहानियां पल्ली समाज' [4] और चन्द्रनाथ"।' [5]

दिशा की खोज जैसे समाप्त हो गई थी।

---

1. 5 अक्टूबर, 1915 ई०
2. 15 जनवरी, 1916 ई०
3. दिसम्बर, 1915 ई०
4. 15 जनवरी, 1916 ई०
5. 12 मार्च, 1916 ई०

तृतीय पर्व

... दिशान्त ...

जिस समय शरत् ने कलकत्ता छोडकर रंगून की राह ली थी, उस समय वह तिरस्कृत, उपेक्षित और असहाय था। लेकिन अब जब वह तेरह वर्ष बाद कलकत्ता लौटा तो ख्यातनामा कथाशिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। वह अब 'वह' नहीं रह गया था, 'वे' के पद पर प्रतिष्ठित हो चुका था।

उनके प्रति बंगाल के लोग कितने उत्सुक थे और किस प्रकार उनका स्वागत हुआ, यह तथ्य किसी भी साहित्यिक के लिए ईर्ष्या का कारण हो सकता है। नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय शरत के प्रशंसक थे, लेकिन उनके पुत्र दिलीपकुमार राय (जो बाद में संगीतज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हुए) उनसे भी अधिक उनके भक्त हो चुके थे। 'चरित्रहीन' के कारण शरच्चन्द्र को जो बदनामी मिली, उससे वे और भी उनके 'हीरो' बन गए। वे मन ही मन सोचते, वे कलकत्ता क्यों नही आते? ऐसे विदेश में क्यों पड़े हैं जहां लोग नाप्पि खाते हैं।

जब उन्होंने सुना कि शरत् बाबू कलकत्ता आ रहे हैं तो उनकी प्रसन्नता का पार नहीं था। रात को नींद भी नहीं आती थी। सोचते थे, कब आयेंगे सात समुद्र और तेरह नदी पार से वे अपरूप गल्प-गंधर्व।

आखिर शरत् आए और दिलीपकुमार उनसे मिलने के लिए पहुंचे। गुरुदास लाइब्रेरी में ऊपर के तल्ले पर एक छोटे-से कमरे में उन्होंने पहली बार शरत् बाबू को देखा। उनके चारों ओर पुस्तकें बिखरी हुई थीं। बीच में वे बैठे थे। श्याम वर्ण बकरे जैसी दाढ़ी क्षीणकाय, केवल दो आखें कैसी तीक्ष्ण हैं कैसी तीक्ष्ण है नाक, लेकिन चेहरे पर तेज तो जरा भी नहीं है। अत्यन्त गद्यमय वेश..।

दिलीपकुमार का उत्फुल्ल हृदय एक क्षण को जैसे बुझ गया हो। फिर भी प्रणाम करने के लिए पैरों की धूलि ली और कुछ घबराकर कहा, 'आप.....!

शरत् बाबू हंसे "हां, मैं शरच्चन्द्र ही हूं। मुझे देखकर तुम्हें दु:ख हुआ। सोचा होगा कि मेरा चेहरा राजपुत्र के समान होगा। है न ? यही सोचा था?"

दिलीप ने लजाकर उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, यह बात नहीं है। फिर भी.....।"

लेकिन स्नेह की प्रगाढ़ता केवल रूप की अपेक्षा नहीं रखती। उनमें ऐसी कुछ विलक्षणता थी जो शीघ्र ही दर्शक का ध्यान आकर्षित कर लेती थी, फिर दिलीप तो उनकी रचनाओं के उपासक थे। शीघ्र ही उनकी हार्दिक सरलता, निश्छल स्नेह और सन्तों जैसी सादगी ने दिलीप के मन को जीत लिया। इस श्रद्धा का एक और कारण था उनका मधुर कण्ठ। दिलीण्कुमार स्वयं भी तो सुन्दर गायक थे। अपने पिता के कीर्तन-गान और हिन्दुस्तानी संगीत में उनकी अच्छी गति थी। जब वे अपने पिता का यह गीत गाते-'ओ जे गान गेए-गेए चोले जाए।' तो शरत् बाबू बार-बार सुनकर भी तृप्त नहीं होते थे। कहते, "गाओ तो मन्टू, एक बार फिर वहीं पंक्ति..... 'से जे देवता भिखारी, मानव दुयारे, देखे जारे तोरा देख जा।' आहा तुम्हारे पिता केवल कवि ही नहीं थी, भक्त भी थे। नहीं तो ऐसे गीत नहीं लिख पाते।'

उनका एक और प्रिय कीर्तन था, 'चन्द्रद्रगुप्त' नाटक का यह गीत.....

आर केन मीछे आशा, मीछे भालबासा, मीछे केन तार भावना।
से जे सागरेर मणि आकाशेर चांद आमी तो ताहारे पाबना।।

कलकत्ता आने के बाद शरत् बाबू सबसे पहले छ: नम्बर शिवपुर फर्स्ट बाई लेन (नील कमल कुण्डू लेन) में रहे और उसके बाद चार नम्बर फर्स्ट बाई लेन शिवपुर में स्थायी रूप में रहने लगे। घर छोटा था और पैसा भी नहीं था। परन्तु फिर भी उनका सौदर्य-प्रेम वैसा ही था। बैठक में एक मंझोले कद की मेज़, उसके तीन ओर तीन कुर्सियां एक बेंच। मेज पर सुन्दर जिल्द की दो कापियां, एक सुन्दर-सा कलमदान, काली और लाल स्याही की दवातें, चार कलम, दो कीमती फाउंटेनपेन और विज्ञान व अर्थशास्त्र की कई पुस्तकें जो करीने से सजी हुई थीं।

पास ही एक बड़ा-सा हुक्का रखा रहता था। बीच-बीच में आवाज देकर नौकर को बुलाना वे नहीं भूलते थे।

कलकत्ता से जाने से पहले अपने जिन भाई-बहनों को अनाथ की तरह इधर-उधर अपने दूर के नातेदारों और दोस्तों के पास छोडू गए थे सबसे पहले उन्होंने उन्हें अपने पास बुलाया। छोटे भाई प्रकाशचन्द्र इस समय अग्रद्वीप में थे। वे अब बड़े भाई के पास आकर रहने लगे। मंझले भाई प्रभासचन्द्र नौकरी छोड्कर संन्यासी हो गए थे। इस समय वे रामकृष्ण मिशन सेवा आश्रम, वृन्दावन, का संचालन कर रहे थे। जब कभी वे कलकत्ता आते तो पूर्वाश्रम के अपने बड़े भाई के पास ही ठहरते थे। बड़ी बहन अनिला देवी पास ही

के गांव 'सामता बेड' में रहती थीं। पति-परिवार के साथ वे बार-बार अपने भाई से मिलने आतीं। उन्हीं के परिवार के कारण उनके रहने की व्यवस्था हो सकी थी।

सबसे छोटी बहन सुशीला को वे मकान-मालकिन के पास छोड़ गए थे। छोटे मामा विप्रदास को शायद यह अच्छा नहीं लगा। वे उसे अपने पास ले आए। उन्होंने ही उसका विवाह किया। वह विवाह आसनसोल के एक कोयला व्यापारी के घराने में हुआ था। शरत् बाबू के कलकत्ता आने पर प्रकाशचन्द्र उससे मिलने के लिए गए। लेकिन सुना जाता है, किसी बात को लेकर सुशीला ने उन्हें कुछ सख्त-सुस्त कह दिया। वह लौट आए। कारण कुछ भी हो सुशीला कभी उनके पास नहीं आई।

इस एक अपवाद को छोड्कर शरत्चन्द्र ने अपने विशृंखल परिवार को फिर से संगठित करने में कुछ न उठा रखा। कुछ समय बाद ही उनकी भानजी का विवाह हुआ और हिन्दू प्रथा के अनुसार उन्हें भात देना था। लेकिन उनके पास पैसे नहीं थे। उन्होने अपने प्रकाशक को लिखा. "मेरी भानजी का विवाह इस शुक्रवार के बाद अगले शुक्रवार को होगा। मेरे ऊपर बड़ी जिम्मेदारी है। इतने दिनों तक एक बात आपको रही बताई कि देश में मै समाज-बहिष्कृत हूं। कामकाज के घर में जाना ठीक नहीं है। जो हो उसकी चिन्ता नहीं है. लेकिन रुपये देना चाहता हू। मैं न आऊं, यह उनकी गुप्त इच्छा है। मेरे पास चार सौ रुपये की कमी है वह मुझे चाहिए।" [1]

वे अपनी दीदी को कितना प्यार करते थे यह पत्र से स्पष्ट हो जाता हे। जाति-बहिष्कृत होने के कारण (वे जीवन-भर जाति बहिष्कृत रहे) वे उस उत्सव में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। इसीलिए वे चाहते तो आसानी से भात देने से बच सकते थे. लेकिन अब उनके अन्तर का 'आवारा व्यक्ति' जैसे थक चला था या जैसे वह स्वयं उससे मुक्ति पाना चाहते हों, शायद इसीलिए परिवार का व्यक्ति होने की लालसा उनके मन में जाग आई थी। तभी तो उन्होंने यह अपमान सहकर भी रुपये भेजने से इनकार नहीं किया। लेकिन इसके साथ ही उन्हें जाति के भीतर लिया जाए, इसकी भी चेष्टा नहीं की। लाने की चेष्टा करनेवालों को भी प्रोत्साहित नही किया। नाना लोग नाना प्रकार के प्रस्ताव लेकर आते थे और सदा आते रह। किसी ने अंग्रेज़ी स्कूल को पांच सौ रुपया चन्दा देने की मांग की। किसी ने कहा कि यदि वे पोखर के चारों ओर पक्का घाट बनवा दें तो उन्हें फिर से जाति में लिया जा सकता है, लेकिन उन्होंने कोई भी शर्त मानने से इनकार कर दिया। यह घूस देना उनका अभिमानी मन बर्दाश्त नहीं कर सकता था।

परिवार के अतिरिक्त उन्होंने आसपास के लोगों से भी परिचय बढ़ाना शुरू किया। सौदा खरीदते-खरीदते उनका परिचय मोदी शरत् सेठ से हो गया। उसके साथ वे अक्सर ताश खेला करते थे। तमाखू पीते रहते और तीसरे पहर से रात गए तक खेलते रहते। सेठ को उठने न देते। कहते 'नया आया हूं किसी से परिचय नहीं कहां बैठूं सो तुम्हारी दुकान ही सही।"

धीरे-धीरे परिचर का यह क्षेत्र बढने लगा। लोग उनके घर भी आने लगे। कई लोग तो उनमें ऐसे भी थे कि अधिकतर उनके पास ही जमे रहते। बेंच पर लेटे हुक्का पीते हुए वे उन्हें कहानियां सुनाया करते। इकतारा बजाकर गानेवाले वैष्णव भिखारियों का वे बड़ा आदर करते थें। उनका संगीत सुनते-सुनते वे तन्मय हो उठते। लेकिन दूसरे भिखारियों को एक आंख भी नहीं देख पाते थे। गोलियां खेलने की आयु तो कभी की बीत चुकी थी. पर सक्रिय दर्शक होने का चाव उन्हें अब भी था।

इसी समय उनका परिचय सर्वश्री सरोजरंजन बंदोपाध्याय और अक्षय कुमार सरकार से हुआ, जो शीघ्र ही घनिष्ठता में बदल गया। सरोजरंजन किसी ऊंचे पद पर थे। उन्होंने 'अरक्षणीया' की भूमिका लिखी है। इतिहास के अध्यापक अक्षय सरकार नियमित रूप से डायरी लिखते थे। उस डायरी मे शरत् बाबू के संबंध में बहुत कुछ लिखा हुआ है। शरत् ने 'शेष प्रश्त' में अध्यापक अक्षय का चित्रण करते समय अपने इस आदर्शवादी बन्धु को निश्चय ही याद रखा है।

जैसा कि उनका स्वभाव था, वे बहुत अधिक नहीं लिख पाते थे। आग्रह करने वाले बहुत थे और सबकी रक्षा करना उनके लिए असम्भव था। जो उनको जानते थे और उनके परम भक्त थे, वे ही उनसे लिखवा सकते थे। उनमें अग्रणी थे - 'भारतवर्ष' के ख्यातनामा सम्पादक रायबहादुर जलधर सेन। 'बैकुण्ठ का वसीयतनामा" [2] अरक्षणीया ' [3] 'श्रीकान्त', 'निष्कृति' तथा 'समाज धर्मेर मूल्य' आदि उनकी रचनाएं 'भारतवर्ष' में ही प्रकाशित हुई। 'निष्कृति' का एक अंश 'घर भांगा' के नाम से 'यमुना' में भी छपा था।

'अरक्षणीया' एक मार्मिक कथा है। पहले उसका अन्त उन्होंने नायिका की आत्महत्या से किया था। वह अत्यन्त कुरूपा थी। उसकी मर्मान्तक व्यथा से मुक्ति उसे जल में डुबा देने में ही लेखक ने समझी परन्तु ऐसा लगता है कि यह अन्त न तो पाठकों को ग्राह्य हुआ और न लेखक को ही अच्छा लगा। विशेषकर प्रकाशक हरिदास चट्टोपाध्याय को बिलकुल अच्छा नहीं लगा। इसलिए पुस्तक रूप में आते-आते 'अरक्षणीया' को उसका रक्षक मिल गया। यह वही अतुल था जिसे उस रूपहीना कल्याणी ने मन से वरा था। इस परिवर्तन की कैफियत देते हुए उन्होंने कहा, "स्त्रियों में यह रोग (आत्महत्या) और न बढ़ाना ही अच्छा है।'

लेकिन लेखक ने अब भी स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि अतुल ने ज्ञानदा से विवाह कर लिया। इसी बात को लेकर पाठकं बार-बार पूछते, "आखिर उन दोनों का हुआ क्या? क्या उन्होंने शादी कर ली?.

एक दिन तो दो दलों में शर्त हो गई। बात शरत् बाबू तक पहुंची वे परेशानी में पड़ गए। हरिदास से बोले "तुम्हारे कारण ही यह सब हुआ। नहीं तो ज्ञानदा जल में डूब मरी थी, मर जाती तो बेचारा अतुल भी काली लड़की से बच जाता, लेखक-प्रकाशक भी बच जाते। अब

क्या जवाब दूं? रोज ऐसे पत्र आते हैं। अच्छा, लिख दो कि उसके बाद शरत् बाबू की उन दानों से भेंट नहीं हुई। इसलिए फिर क्या हुआ पता नहीं।'

लेकिन अरक्षणीया की रक्षा करके शरत् बाबू ने सिद्धान्त तो बचा लिया परन्तु कला की निःसन्देह क्षति हुई। ट्रेज़ेडी में ही वह उपन्यास सार्थक था। फिर भी तत्कालीन समाज और समाज में परिवार के अन्दर जो अत्याचार और उत्पीड़न चलता था, उसका मर्मान्तक चित्र शरत्चन्द्र ने खींचा है। उच्चवर्ग के हिन्दू समाज के विवाह-संबंधी विधि-विधान आज के लिए कितने घातक हैं ज़िन्दगी को वे किस प्रकार अशान्त कर निष्ठुर और नैतिकताविहीन बना देते हैं, यही कुछ बड़ी सहृदयता और संयम के साथ शरत् बाबू ने चित्रित किया है। रूपहीना पितृहीना और धनहीना ज्ञानदा अपने चरित्र और सहनशीलता से प्रत्येक सहृदय पाठक को हिला देती हे।

एक और उपन्यास वह लिख रहे थे, लेकिन पूरा हो पाता इससे पूर्व ही उनके प्यारे कुत्ते भेलू ने उसे नष्ट कर दिया। एक दिन लिखते-लिखते किसी अति आवश्यक कार्य से उन्हें कही जाना पड़ा। जल्दी के कारण शायद कमरे में कुण्डी लगाना भूल गए। लौटकर देखा, उपन्यास की पांडुलिपि टुकड़े-टुकड़े होकर कमरे में बिखरी पड़ी है। आखों में आसू छलछला आए। उनके विचार में वह उनकी सर्वोत्तम कृति होती। पूरे छः महीने पूरी निष्ठा के साथ परिश्रम करके उन्होंने उसे लिखा था। नाम था उसका 'मालिनी'। उसको वे फिर नहीं लिख सके।

इसी समय जोडासांकी में रवीन्द्रनाथ के पैतृक भवन में 'विचित्रा' की बैठकें हुआ करती थीं। रवीन्द्रनाथ और अवनीन्द्रनाथ के अतिरिक्त और भी अनेक सुपरिचित साहित्यिक तथा कलाकार उसमें आते थे। शरत् भी बीच-बीच में जाते थे। उसी को लेकर एक विचित्र प्रवाद उन दिनों प्रचलित हो गया था। सुना गया कि वहां हर बार किसी न किसी का जूता खो जाता है। इसीलिए सभी व्यस्त हो उठे थे। शरत् बाबू ने भी सुना। उस दिन वे अपना नया जूता पहने थे। उन्होंने चुपचाप उसे निकालकर अखबार में लपेट लिया। कवि सत्येन्द्रनाथ दत्त यह सब देख रहे थे। चुपके से रवीन्द्रनाथ के कान में उन्होंने यह बात डाल दी। कुछ देर बाद रवीन्द्रनाथ ने शरत् से पूछा, शरत्, तुम्हारे हाथ में यह पैकेट कैसा है?.

जी, ऐसे ही एक चीज है?.

"क्या चीज़ है? कोई पुस्तक है?'

जी हां।'

कौन-सी पुस्तक है। शायद पादुका पुराण है?"

शरत् तो हतप्रभ-अवाक्, लेकिन सभा अट्टहास से गूंज-गूंज उठी।

---

1. 29 जून, 1916 ई०

2. पुस्तक रूप में प्रकाशित, 5 जून, 1916 ई०
3. 20 नवम्बर, 1916 ई०

2

शरतचन्द्र के जीवन का स्वर्णयुग जैसे अब आ गया था। देखते-देखते उनकी रचनाएं बंगाल पर छा गई। एक के बाद एक श्रीकान्त" [1] (प्रथम पर्व), 'देवदास' [2] ', 'निष्कृति" [3], चरित्रहीन' [4] और 'काशीनाथ' [5] पुस्तक रूप में प्रकाशित होते चले गए। 'एकादश वैरागी', 'श्रीकान्त' (द्वितीय पर्व), 'गृहदाह', स्वामी', 'दत्ता', 'आमार आशय' का लिखना और पत्रों में प्रकाशित होना भी चलता रहा। अपनी-अपनी रुचि और दृष्टि से पाठकों और आलोचकों ने प्रत्येक रचना की सराहना की है।

लिखते समय वे बहुत चिन्तन करते थे। उनकी पाण्डुलिपियां इस बात का प्रमाण हैं। बीच-बीच में उन्हें शुद्ध ही नहीं करते थे, इधर-उधर दूसरी भाषाओं में लिखते भी जाते थे। 'श्रीकान्त' की पाण्डुलिपियां में एक स्थान पर उन्होंने हिन्दी और फ्रेंच में कुछ लिखा हुआ है। 'देवदास' के संबंध में चर्चा चलने पर एक बार उन्होंने कहा भी था, " 'देवदास' के सृजन में मेरे हृदय का योग है और 'श्रीकान्त' में मस्तिष्क का।"

शरत् यौवन कल में जितने स्वतन्त्र मन के थे प्रौढ़ होते-होते उतने ही आचारवादी हो गए। शायद उन्हें लगा कि देवदास की आत्मघाती भावुकता को इतना निष्छल और महान् बनाकर आदर्श रूप में प्रतिष्ठित नहीं करना चाहिए। इसीलिए तब उन्हें वह इतना प्रिय नहीं रहा, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय वे 'देवदास' लिख रहे थे, उस समय में सचमुच प्रेम स्रई वेदना से व्याकुल थे। निस्सन्देह वह वेदना अपरिपक्व किशोर हृदय की है और उनकी प्रेमिका भी शायद कोई हाड़-मांस की नारी नहीं है या अगर वह है तो फिर उस तक पहुंचने का उनके पास कोई मार्ग नहीं है। यौवन में प्रवेश करते समय जैसा होता है वैसा ही उनके साथ हुआ। परन्तु प्रेम के क्षेत्र मे वे सफल नहीं हो सके और वही असफल प्रेम नाना सामाजिक आघातों के बीच 'देवदास' में प्रस्तुत हुआ। इसीलिए उसका उच्छ्वास और उसका तीव्र दर्द मन को आलोड़ित कर देता है। वियोग की सार्थकता की दृष्टि से भी मनीषियों ने उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिन्तक जैनेन्द्र कुमार ने देवदास को अमित संयमी सिद्ध करते हुए लिखा..... "मन का वह अडिग ब्रह्मचर्य जो तन के विद्रूप विद्रोह पर भी विशुद्ध बना रहा सो क्या स्वीकृत वियोग की शक्ति के बल पर ही नहीं? मैं तो कहता हूं कि वियोग को देवदास और भी पूरी तरह स्वीकार कर सकता तो उसके जैसा योगी पुरुष उपन्यास साहित्य में दूसरा पाना कदाचित् ही सम्भव रह जाता। उस कोटि तक नहीं पहुंचा इसलिए क्या हम आसानी से अपनी आंखों को धोखा दे लेंगे? जिस अंश तक वियोग उसे प्रसाद ही बना और उसमें देवदास ऊंचा उठा। देवदास पार्वती

की अलख जगाए रहा, लेकिन जब विवाहित पार्वती रात्रि के एकान्त में सम्पूर्ण भाव से उसके प्रति अपना आत्मार्पण निवेदन कर उठी तब निविड़ अधमाचार से घिरे देवदास ने क्या किया? क्या पार्वती को लिया? नहीं, लिया नहीं। मूर्ति की भांति उसे अपने से दूर ही रखा। मूर्ति की भक्ति उसने अपने लिए चाही। मूर्ति पाने की स्पर्धा नहीं की।"

प्रेम की यह प्रगाढता ही मन को छूती है, असफलता-सफलता नहीं। और यह भी कि सच्चा प्रेम मिलाता ही नहीं दूर भी करता है।

'निष्कृति' की प्रशंसा स्वयं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने की है, लेकिन जो तूफान चरित्रहीन' को लेकर उठा वह सचमुच अद्‌भुत था। वह यमुना' में पूरा नहीं छप सका था। पुस्तक रूप में छपने में भी बड़ी देर लगी। वे बहुत धीरे-धीरे सामग्री भेजते थे। सुधीरचन्द्र सरकार ने पूरी पाण्डुलिपि पाए बिना ही मुद्रण प्रारम्भ कर दिया था। उन्हें विश्वास था कि 'चरित्रहीन' के कारण जो हलचल मच चुकी है, वह उसकी बिक्री में बहुत सहायक होगी, लेकिन महीनों पर महीने बीतने लगे, शरत् सामग्री नहीं भेज सके। सरकार उन्हें बार-बार पत्र लिखते और उत्तर में शरत् कहते "देरी के कारण जो क्षति होती है, उसे क्या मैं नहीं जानता? पर प्राय: सारा ही लिखना फिर से होता है। ऐसा करने से यदि दो-एक महीने की देर हो जाती है तो अच्छा है। फिर भी छपना बन्द न हो, इसलिए अगली डाक से कुछ भेजूंगा। हो सकता है कुछ अधिक हो। और एक बात है, फिर से लिखने के कारण अक्सर डर लगा रहता है कि पीछे जो एक बार कह आया है हो सकता हे फिर वही कह दूं। जितना छप गया है वह सभी मुझे नहीं मिला। यह सब यदि रजिस्ट्री करके भेज दो तो मेरा चौथाई परिश्रम कम हो जाएगा। जल्दी करने पर तो सब कुछ पन्द्रह दिन में हो सकता है, पर वह क्या ठीक होगा? फिर भी चाहे जितनी भी देर हो, माघ के अन्त तक आई समाप्त हो जाएगी।' [6]

तीन महीने बाद फिर लिखा "मन इतना विमर्ष है कि किसी काम में हाथ लगाने की इच्छा नहीं होती। लगाने पर वह अच्छा नहीं होता। केवल जो पहले की लिखी हुई है, अर्थात् आधी, तिहाई, चौथाई, इस तरह की मेरी बहुत-सी रचनाएं है, उन्हीं को किसी तरह जोड़-तोड़ कर पूरा कर देता हूं। 'चरित्रहीन' के लिए ऐसा करना नहीं चाहा। इसीलिए इतने दिनों तक दो-दो अध्याय करके भेज रहा था। न हो तो इस बार मेरे पास बैठकर सब ठीक कर लेना। मैं आयुर्वेद चिकित्सा के लिए कलकत्ता आ रहा हूं। एक साल रहूंगा। 11 अप्रैल को रवाना हो रहा हूं।' [7]

इसके बाद भी 'चरित्रहीन' का प्रकाशन होने में एक वर्ष लग गया। बर्मा जाने से बहुत पहले ही उसका लिखा जाना आरम्भ हो चुका था। लगभग पन्द्रह वर्ष तक वे उसे निरन्तर लिखते रहे। लेकिन एक दिन घर में आग लग जाने पर वह पाण्डुलिपि भस्म हो गई। उसके बाद पति से उसे उन्होंने फिर लिखना शुरू किया। उसमें भी पांच-छ: वर्ष लगे।

उसके प्रकाशित होते ही बंगाल में जैसे हाहाकार मच उठा। 'उपासना' पत्रिका ने उसकी तीव्र आलोचना करते हुए उन पर ऐसा आक्रमण किया मानो धर्म और समाज सम्पूर्ण-रुप से नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की जा रही हो। 'चरित्रहीन' में जिस नारी-चरित्र की सृष्टि हुई हे, उसकी समाज में कभी कमी नहीं रही और फिर शरत्चन्द्र ने तो सभी चरित्रहीनों के चरित्र की धर्मप्राण हिन्दू की तरह रक्षा की है, लेकिन समाज में वे ही धर्मप्राण व्यक्ति उनके विरुद्ध हो उठे। एक दिन घर के बरामदे में बैठे वे घुम्रपान कर रहे थे कि तीन-चार युवक 'चरित्रहीन की एक प्रति लेकर वहां आए। शरत् बाबू ने गुड़गुड़ी मुंह से हटाकर पूछा, "कहिए, कैसे आना हुआ?"

अतिशय क्रुद्ध एक युवक बोला, "यह 'चरित्रहीन' आपकी ही रचना है?"

हां।"

इस प्रकार की पुस्तकें लिखने पर आप इस मोहल्ले में नहीं रह सकते। यह भले लोगो के रहने का मोहल्ला है।.

दूसरे युवक ने और नी तीव्रता से कहा, "सावित्री ओर किरणमयी को छोड्कर क्या समाज में और अच्छे चरित्र नहीं देखे थे?.

शरत्चन्द्र मन ही मन मुस्कराए। कहा, "पहले आप बैठिए तो।"

अब तीसरा युवक बोला, "आपकी इस पुस्तक का क्या परिणाम होना चाहिए यही दिखाने हम आए है।.

और उन युवकों ने शरत् बाबू के सामने ही 'चरित्रहीन' की प्रति को फाड़ा और जला दिया। दुखी मन वे बैठे देखते रहे। उन्होंने क्रुद्ध युवकों को समझाने की चेष्टा की। बताया, "सावित्री मेस की दासी नहीं है। मेस की सब कुछ है। सबको उसने स्नेह देकर अपनाया है। सतीश भी उसका हो गया है। कितनी बार उसने कितने प्रकार से उसे अपनी बनाना चाहा है, परन्तु सावित्री ने उसे दूर ही रखा। वह उससे कितना प्रेम करती थी, फिर भी उसने उसको पाने की चेष्टा नहीं की। सरोजिनी के साथ विवाह कराके उसे सांसारिक बना दिया।

सहसा एक युवक बोल उठा, "अच्छा, किरणमयी के बारे में क्या कहते हो?.

शरत् ने उत्तर दिया, "देखो, किरणमयी के चरित्र द्वारा मैंने नारी-जीवन की व्यर्थता को दिखाना चाहा है। किरणमयी और हारान बार का बाबू गृहस्थ जीवन बड़ा ही करुण है। स्वामी का प्यार उसने नही पाया। घर में स्वामी है, सास है। एक दार्शनिक है जो पत्नी को पढ़ाकर सुखी है। दूसरी घोर स्वार्थी है। पुत्र-वधू से खूब काम लेती है। किरणमयी दोनों विरुद्ध-प्रकृति के स्त्री-पुरुष के प्रेमहीन मेल को हिन्दु समाज-विधि का नियम मानकर स्वीकार नहीं करती। वहीं से किरणमयी के जीवन की ट्रेज़ेडी आरम्भ होती है।.

लेकिन वे युवक तो समझने के लिए नहीं आए थे। उन्होंने मान लिया था कि यह पुस्तक समाज के लिए वर्जनीय है। वे साहित्यिक शरत्चन्द्र से घृणा ही कर सकते थे। उनके चले जाने के बाद वे देर तक राख ढेरी की और देखते रहे। मन ही मन उन्होंने कहा,

'बेचारे युवक! नहीं जानते कि वे क्या कर गए। 'चरित्रहीन' की यह भस्म उसे उन स्थानों तक भी पहुंचा देगी, जहां वह शायद पहले नहीं पहुंच पाया था।'

इस घटना की सत्यता के बारे में सन्देह प्रकट किया गया है। न हो सत्य, परन्तु उस व्यक्ति की शक्ति के बारे में तो सन्देह नही हो सकता, जिसके बारे में यह कथा गढ़ी गई है। और न ही सन्देह हो सकता है, उस वातावरण के बारे में जिसकी इसमें सृष्टि हुई है। हर किंवदन्ती एक से दूसरे मुंह जाते-जाते कल्पना की न जाने कितनी रंगीनियां अपने में समेटती रहती है पर इतना तो स्पष्ट है कि घर-गोष्ठी में, सभा-समाज में 'चरित्रहीन' को लेकर जो वाद-विवाद शुरू हुआ, जो गण्डगोल मचा उसकी तुलना नहीं थी। किसी व्यक्ति ने व्यंग्य करते हुए हुए लिखा, "सावित्री के समान नारी मिलती तो हम भी मेस में रहते।" शरत् ने उसे उत्तर दिया, "सतीश होने की जरूरत है। उसके बिना सावित्री का हृदय नहीं जीता जा सकता।.... बच्चू यह न समझ सके कि सावित्री दासी श्रेणी की स्त्री नहीं है। पुराणों में आता है कि विपद पड़ने पर लक्ष्मी को भी एक ब्राह्मण के घर दासी बनना पड़ था। अर्जुन जिस समय उत्तरा को नृत्य-गान सिखाते थे उस समय की उनकी कथा सुनकर यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा शिखण्डी मिलने पर सब नारियां नाच-गान सीखने के लिए उन्मत्त हो उठेंगी। जैसा सभी सम्प्रदायों में होता है, वेश्या जाति में भी ऊंची-नीची श्रेणियां होती हैं.....।"

जो उनके परम मित्र थे, उनमें से भी कई 'चरित्ररानि' को लेकर प्रसन्न नहीं थे। कुमदिनीकान्त कर ने विक्षुब्ध होकर कहा, "आप ये दृश्य साहित्य में क्यों ले आए?"

शरत् ने उत्तर दिया, "मैंने नया तो कुछ लिखा नही। दुनिया में यह सब पहले से ही है।"

"दुनिया में तो और भी बहुत कुछ है, किन्तु उस सबकी क्या चर्चा की जाती है? क्या उसको इस प्रकार चित्रित किया जाता है? मनुष्य को उपहार दिया जाता है। क्यों आपने यह सर्वनाश किया? भविष्य में आने वाले इससे क्या सीखेंगे?"

इस आरोप-प्रत्यारोप का कोई अन्त नहीं था, लेकिन उन सबके लिए शरत् का उत्तर बहुत संक्षिप्त था, "मैंने "चरित्रहीन' लिखा है, चरित्रवान की कहानी नहीं।"

व्यक्तिगत आक्रमण भी कम नहीं किए गए। यहां तक कि एक बार किसी शरत् चटर्जी के रुपये चुरा लेने की खबर अखबार में छपी तो उनके विरोधियों ने प्रचारित कर दिया कि रुपये चुरानेवाला शरत् और उपन्यास लिखनेवाला शरत् दोनों एक ही हैं।

जहां एक ओर उसके विरुद्ध इतना तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, वहीं दूसरी ओर बहुत-से व्यक्तियों ने उसकी आत्मा तक पहुंचने का प्रयत्न भी किया। बहुत दिन बाद एक धर्मप्राण व्यक्ति ने एक [8] गोष्ठी में उनसे कहा. "आप मुंह से चाहे जो कहें, आपकी रचनाओं को पढ़कर मुझे लगता है कि सनातन धन्य की मर्यादा को आप ठेस पहुंचाना नहीं चाहते। जब देखता हूं कि 'चरित्रहीन' उपन्यास की उस लड़की ने स्टीमर पर एक बालक के साथ

एक बिछौने पर रहते हुए भी अपने शील को नष्ट नहीं होने दिया तो तब क्या हम लोग कहेंगे कि आप सनातन धर्म को नहीं मानते?

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "आप मेरे उद्देश्य को ठीक नहीं समझ सके। आपने जो कहा है, उस तरह मैं कुछ नहीं करता। यदि किरणमयी अपना शील नष्ट कर भी डालती तो इसमें भी मेरी कोई हानि नहीं थी। किन्तु यह पात्र एकदम असत्य हो जाता। इस प्रकार की पढ़ी-लिखी सुशिक्षिता स्त्री और जिस लड़के के साथ वह सिर्फ रख जिद्द की वजह से भाग गई है उसे एक नाबालिग शिशु ही कहा जा सकता है, जिसे वह किसी प्रकार भी अपने बराबर नहीं मानती, उस लड़के द्वारा भी यदि वह अपने शील को नष्ट होने देती तो वह चरित्र ही नष्ट हो जाता।"

किरणमयी के चरित्र की व्याख्या मानव-मन के रहस्य के ज्ञाता एक कलाकार की व्याख्या है, समाज-सुधारक या धर्मभीरु व्यक्ति की नहीं। किरणमयी के इसी चरित्र-अंकन पर मुग्ध हो उठे थे प्रमथ चौधरी। लिखा था, "इस प्रकार की छवि कोई साधारण लेखक अंकित नहीं कर सकता।"

इस पुस्तक को लेकर लोग कितने व्यस्त रहते थे। अभिभावक लोग अपने पुत्र और पुत्रियों को बार-बार मना करते थे कि उस 'चरित्रहीन' की रचनाओं को मत पढ़ो, लेकिन जिसका जितना निषेध होता है उसी को पढ़ने के लिए सब लालायित रहते हैं। एक दिन अपनी कक्षा के एक विद्यार्थी के हाथ में 'चरित्रहीन' देखकर रक प्राध्यापक अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। कहा, "अहा यह चरित्रहीन है! तुम्हें इसे नही पढ़ना चाहिए।"

विद्यार्थी ने उत्तर दिया, "सर, इसके लेखक तो बहुत प्रसिद्ध हैं।"

प्राध्यापक ने कहा, "होंगे, लेकिन यह पुस्तक भ्रष्ट है।"

विद्यार्थी फिर बोला, "सर, आप कैसे कह सकते हैं यह पुस्तक भ्रष्ट है? क्या आपने इसे पढ़ा है?"

प्राध्यापक ने कहा, "हां, हां, पढ़ा है, तभी तो कहता हूं। मेरा लड़का तकिये के नीचे रखकर इसे पढ़ता था। कल मैंने इसे देखा तो फिर सारी पढ़कर ही उठा। मैं जानना चाहता था कि इसमें हे क्या?"

विद्यार्थी बोला, "तब तो सर, मैं भी पढ़कर देख लूं। भ्रष्ट होगी तो फिर नहीं पढूंगा।

लेकिन एक दिन अचानक एक ऐसी नारी से शरत् बाबू की भेंट हो गई, जिसने 'चरित्रहीन' पढकर उन्हें अपना गुरु और त्राता स्वीकार किया था। वह सब काशी आए हुए थे। एक दिन वहां के प्रवासी बंगालियों ने उनके सम्मान में सभा का आयोजन किया। माला-चन्दन, धूप-धूनी, किसी भी वस्तु की कमी नहीं रही। सच्चा आन्तरिक स्वागत था। लौटते समय बहुत-से लोगों ने उन्हें घेर लिया। उनमें दो नारियां भी थीं। दोनों विधवाएं थीं। एक प्रौढ़ा थी, दूसरी युवती। अवसर पाकर वह युवती उनके पास आई। उन्हें प्रणाम किया

और ऐसे देखने लगी जैसे बहुत दिनों से परिचित हो। मधुर स्वर में बोली, "आपने मुझे बचाया है, आप गुरु हैं। मैं आपकी विशेष रूप से कृतज्ञ हूं।"

अवाक् शरत् बोले, "मैंने तुम्हें बचाया है? कब, कहां? मैंने तो कभी तुम्हें पहले देखा भी नहीं।"

युवती का रंग जैसा गोरा था वैसी ही उसकी मुखश्री थी। उसने शरत् बाबू को अपनी कहानी कह सुनाई। बोली, "मेरे पिता बंगाल के बाहर किसी कालेज में अध्यापक हैं। सदा पिता के पास ही रहती आई हूं। जब मेरी उम्र दो साल की थी तभी मेरी मां मर गई थी। तब से पिता ने ही मुझे पाल-पोस कर बड़ा किया है। विवाह १७ वर्ष की आयु में हुआ लेकिन इसी काशी में केवल तीन दिन के बुखार में मेरे पति की मृत्यु हो गई। मैं पिता के पास लौट गई। भुला रखने के लिए उन्होंने मुझे फिर से पढ़ाना आरम्भ कर दिया।

"उनका एक छात्र था। हमारे ही घर में रहता था। पिता उससे बहुत स्नेह करते थे। क्लास में किस दिन कौन-सा लेक्चर होगा, इसका हिसाब-किताब उसी के पास था। सारी जरूरत की किताबें और नोट्स की कापियां भी वही ठीक रखता था। मैं उससे गणित और साहित्य पढ़ती थी।

"और इसी तरह डेढ़ वर्ष बीत गया। इस मिलने-जुलने के कारण हम दोनों में काफी परिवर्तन हो गया था। वह लड़का इस बात को समझता था। उसने एक दिन पिताजी से कहा, 'मैं अब नहीं पढ़ा सकूंगा।'

"पिताजी सब कुछ समझ गए। मुझपर उन्हें क्रोध भी आया। और इसीलिए मुझे उन्होंने बराह नगर, कलकत्ता भेज दिया। मगर मेरा दिल वहीं अटका रहा। कुछ ही दिन बीतें होंगे कि न जाने कैसे हम दोनों में चिट्ठी-पत्री आरम्भ हो गई। और फिर वह लड़का भी एक दिन कलकत्ता आ पहुंचा। अब हम दोनों नियमित रूप से मिलने लगे। अन्त में एक दिन वह भी आया जब हमने निश्चय किया कि कुछ भी क्यों ने हो, हम लोग कहीं भाग चलें और सदा के लिए एक हो जाएं।

"वह दिन भी निश्चित हो गया। यह तय हो गया कि उस रात मैं जागती रहूंगी। दो बजे वह गाड़ी लेकर आएगा। नीचे जिस कमरे में मैं सोती हूं उसकी खिड़की पर एक दस्तक देगा और मैं सदा के लिए घर से निकल जाऊंगी।....."

एक क्षण के लिए वह लड़की रुकी। फिर बोली, "उस दिन की बात मैं आसानी से नहीं भूलूंगी। वह सारा समय एक विचित्र बेचैनी, चिन्ता और उत्तेजना के बीच कट गया। अभी तो रात-भर जागना था। शाम को मैंने अपने ममेरे भाई से कहा, 'मुझे लाइब्रेरी से एक अच्छा-सा उपन्यास ला दो।'

"सोचा था, पढ़कर जागती रहूंगी। इसीलिए मोटा-सा उपन्यास लाने को कहा और वह एक उपन्यास ले आया। अच्छा-खासा मोटा उपन्यास था। नाम था 'चरित्रहीन'। पढ़ते ही

मेरा कलेजा धड़कने लगा। सोचा, यह प्रकृति का कैसा परिहास है? क्या मैं 'चरित्रहीन' होने तो नहीं जा रही?

"खाना-पीना होने के बाद सभी सोने चले गए। मैंने किताब हाथ में लेकर कमरे की अर्गला बंद कर ली। पढ़ने लगी। जब किताब खत्म हुई तब रात के दो बज रहे थे। तब तक मैंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया था। 'चरित्रहीन' की किरणमयी ने मुझे उबार लिया। ठीक समय पर खिड़की पर दस्तक पड़ी। समझ गई कि वह आ गया है। खिड़की पर आकर मैंने उससे विनती की, 'मुझे क्षमा करो, मैं नहीं जा सकी।'

'उस समय के उसके निराश मुख की वह छवि मैं कभी नहीं भूल सकूंगी। लगा जैसे मैंने उसक पैरों के तले से धरती हटा ली है। किसी तरह उसने कहा, 'सारा इंतजाम हो गया' है। रत्न का टिकट भी खरीद लिया है।'

"मैंने हाथ जोड़कर कहा, मुझसे अन्याय हुआ। मुझे क्षमा कर दो। मैं नहीं जा सकुगी।'

"विकल-विवश वह थोडी देर तक वहां खड़ा रहा। फिर दीर्घ नि:श्वास खीचकर वहां से चला गया। उसके बाद उसका क्या हुआ, मैं नहीं जानती। मैं भी अपनी इस नानी के साथ काशी चली आई। यहां आए आज साल-भर हो गया है। आज भी सोचती हूं, आपकी उस किरणमयी ने मूझे बचा लिया। आपका 'चरित्रहीन' पढ़कर आपको देखने की बडी इच्छा थी, लेकिन बाबा विश्वनाथ इतनी जल्दी यह इच्छा पूरी कर देंगे, यह नहीं सोचा था। उस दिन आपका 'चरित्रहीन' न पड़ती तो आज कहां जाती? क्या दशा होती मेरी? सोच भी नहीं सकती। आपने मेरी रक्षा की। चिरकृतडा हूं।"

शरतचन्द्र का मन उस दिन सचमुच ही गदर? हो उठा। कितनी गाली-गलौज सुननी पडी थी, उन्हे उसके लिए! उनके ऊपर से निन्दा, विद्रोह और आक्रमण का एक तूफान-सा बह चला था। लेकिन उस लड़की की कहानी सुनकर उन्हें कितनी सांत्वना मिली! कम से कम एक लड़की की रक्षा तो वह कर ही सके।

इस प्रकार नाना खातों से होकर नाना प्रकार की कहानियां उस उपन्यास के संबंध में प्रचलित हो गई थीं। हो सकता हे, उनमें से कुछ बिलकुल सही न हो, परन्तु इतना अवश्य सही है कि तूफान आया था और वह कम शक्तिशाली नहीं था।

जिस समय 'चरित्रहीन' की कल्पना उसके मस्तिष्क में आई तब वे देवानन्दपुर में रहते थे। उस समय सुरबाला के समान एक नारी से उनका सम्पर्क हुआ था। उसे गलत समझने के कारण ही वे पुरी भाग गए थे। फिर मार्ग में जिस नारी से उनकी भेंट हुई, उसके आधार पर उन्होंने सावित्री के चरित्र का निर्माण किया। वह चरित्र वास्तविक हे। कल्पना ने केवल इतना ही किया है कि उसे मेस की दासी बना दिया और सतीश के साथ जोड़ दिया।

सुरबाला के संबंध में उनके मामा सुरेन्द्रनाथ ने उनके मुंह से कहलवाया हे, "यह सुरदाला ही मेरी प्रवृत्ति को दिशा देनेवाली गुरु थी। इस चरित्र के बाहरी रूप का अंकन करने में मुझे जरा भी परिश्रम नहीं करना पड़ा। सती-साध्वी, स्वामी के प्रति जैसी भक्ति,

जैसा प्यार, जैसा आकर्षण, वैमा ही उसका अन्त हुआ। चारों ओर धन्य-धन्य गज उठा.....। स्वामी के चरणों में सिर रखकर सुरबाला चली गई, किन्तु किरणमयी का चरित्र मैंने सुरबाला से जो शिक्षा प्राप्त की उसी के अनुसार गढ़ा है। उसमें यदि कोई भूल रह गई है तो वह मेरी ही है। सुरबाला से पूर्ण वैषम्य दिखाने के लिए मुझे ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा। मूल बात यह है कि मुझमें नारी जाति के संबंध में जो सजगता देख पाते हो वह सुरबाला के कारण ही है। उनके प्रति मैं सदा श्रद्धानत रहा हूं। यह चरित्र-चित्रण ही मेरी गुरु दक्षिणा है।" [9]

इस सुरबाला के कारण ही वह देवानन्दपुर को इतना प्यार करते थे। 'चरित्रहीन' में उसे अमर करके मानो उन्होंने मातृभूमि का ही ऋण चुकाया।

सुरबाला उनके नाना के परिवार में भी किसी का नाम था। उसी को स्मरण करने लिए उन्होंने इस चरित्र को यह नाम दिया। इसी परिवार में कोई एक किरणशशि भी थी। सम्भवत: वह भी इस उपन्यास के पीछे किसी सीमा तक प्रेरणा रही हो, परन्तु इस बात का कोई प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है कि उनका चरित्र भी वैसा ही था। परिचित नामों का प्रयोग करना शरत् बाबू का स्वभाव था।

लेकिन सतीश अवश्य ही बचपन के साथी राजू की प्रतिमूर्ति दिखाई देता है। यहां गाना-बजाना होता था, जहां थियेटर और कन्सर्ट की रिहर्सल होती थी, जहां क्रिकेट-फुटबाल होती थी वहीं सतीश ने इतने दिन बिताए थे। कहां मारपीट करनी होगी, कहां नाटक खेलने के लिए स्टेज खड़ा करना होगा, किसके घर में गमी हुई हे और किसका मुर्दा मसान में जलाने के लिए ले जाना होगा, किसपर मुसीबत आ पडी है और किसके लिए रुपये का प्रबन्ध करना होगा, यही सब खोजते रहना और इस कामों में सबसे आगे रहना सतीश का काम था.....। सतीश जब बांसुरी बजाता था तो पृथ्वी पर सोई चांदनी की नींद उचट जाती थी।"

इन प्रमाणित और अप्रमाणित किंवदन्तियों का अर्थ केवल इतना ही ? कि उनकी रचनाओं का मूल आधार सदा अभिज्ञता रही है। किशोरवस्था में जब ये कलम उठाना सीख रहे थे तब उनके गुरु श्री पांचकौड़ी बन्दोपाध्याय ने उनसे कहा था, कुछ भी लिखों मुझे खुशी है, लेकिन मैं तुम्हें तीन बातें बताता हूं-जो कुछ भी लिखना अनुभव से लिखना, दूसरे किसी को दिखाना-विखाना मत, तीसरे, अपनी कलम से किसी की व्यक्तिगत निन्दा मत करना।"

वे सब बातें उनमें पहले से ही थीं। गुरु का आदेश पाकर उनके विचार और भी दृढ़ हो गए, लेकिन उनकी इस अभिज्ञता को लेकर ही कुछ लोग उन पर आक्रमण करने से नहीं चूके। एक आलोचक ने लिखा, "हमारे देश में एक प्रसिद्ध औपन्यासिक के हाथ से इन समाज-बहिर्गता नारियों के चित्र बहुत सुन्दर उभरे है। कहा जाता है कि ये इनकी व्यक्तिगत अभिज्ञता के परिचायक है ।

इस आक्रमण का दंश कितना ही तीव्र क्यों न हो मानवीय अध्ययन की दिशा में वह एक अच्छा प्रमाणपत्र है। 'काशीनाथ' के प्रकाशन के साथ शरत् बाबू के एक और उदान रूप की कहानी जुड़ी हुई है। इस पुस्तक का स्वत्वाधिकार उन्होंने अपने प्रिय बंधु प्रमथनाथ भट्टाचार्य को दे दिया था। बीमार होने के बाद प्रमथनाथ स्वास्थ्य-लाभ के लिए छत्रपुर चले गए थे। शुरू-शुरू में उनका स्वास्थ्य कुछ सुधरा, लेकिन बाद में वे और भी अस्वस्थ हो उठे। उन्हें भुवाली सेनीटोरियम जाना पड़ा। यहां उनका स्वास्थ्य जरा भी नहीं सुधरा। दिन पर दिन खराब होता चला गया। उस समय वह आर्थिक दृष्टि से भी बहुत विपन्न थे। यही समाचार पाकर शरत् ने 'काशीनाथ' का स्वत्वाधिकार उन्हें दे दिया था। जब इस दान का समाचार प्रमथनाथ को मिला तो उन्होंने हरिदास को लिखा, "कल तुम्हारा पत्र पाकर मैं कैसा हतप्रभ हो उठा, उसे बताना सम्भव नहीं है। जीवन में इस प्रकार सहानुभूति और सहायता पाने का मैं अभ्यस्त नहीं हूं। कोई क्यों और किस योग्यता के लिए मेरी सहायता करेगा? अब देखता हूं अयोग्यता भी एक विशेष गुण है। शरत् के सब काम विचित्र होते हैं। जब से उससे परिचय हुआ है, तभी से यह सब देख रहा हूं। उसका काम उसी के योग्य है। उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। मैं यह अप्रत्याशित-अननुभूत सहानुभूति पाने का किसी भी तरह अधिकारी नहीं हूं। ओह, शरत् का यह काण्ड! आज संसार मेरे सामने नये रूप में प्रकट हुआ है। शरत् को मैं क्या कहूं? वह देवता है। जन्म-भर परिश्रम करके मैं अपने परिवार के लिए जो न कर पाता, वह तुम लोगों ने कर दिया। तुम सबको कोटि-कोटि नमस्कार। तुम इस समय मुझसे बहुत-बहुत बड़े हो। तुम दाता हो और मैं भिखारी हूं .....।"

प्रेम करने की क्षमता शरत् बाबू में अद्‌भुत और असाधारण थी। मित्रों के लिए वह सदा ही कुछ न कुछ करने को आतुर रहते थे। कुछ वर्ष पहले [10] बचपन के साथी विभूतिभूषण के लिए उन्होंने सोने का कलम भेज दिया था। निरुपमा के लिए भी वाटरमेन भेजा था। विभूति ने उतर दिया था, सोने के कलम से कैसे लिखूंगा?"

शरत् ने कहा था, "तुझे इससे ही लिखना है।"

विभूति ने फिर लिखा था, "यह तो गहना है। इससे नहीं लिख सकूंगा। जैसे कलम से तुम लिखते हो वैसा ही एक भेज दो।"

तुरन्त वैसा ही एक और कलम आ गया।

और केवल विभूतिभूषण के लिए ही नहीं सुरेन्द्र मामा, गिरीन्द्र मामा, योगेश मजूमदार, सौरीन्द्रनाथ मुकर्जी आदि सभी बचपन के मित्रों के लिए कलम तैयार थे। मानते थे कि देने के लिए इससे अच्छी वस्तु उनके पास और कुछ नहीं है।

---

1. 12 फरवरी, 1917 ई०

2. 30 जून, 1917 ई०

3. 1 जुलाई, 1917 ई०

4. 11 नवम्बर, 1917 ई०

5. क्यशीनाथ (1 सितम्बर, 1917 ई०) में ये छ: स्थानिय और भी है-प्रकाश और छाया, मंदिर, बोझा, अनुपमा का प्रेम, बचपन की याद और हरिचरण।

6. दिसम्बर, 1915 ई०

7. 14 मार्च, 1916

8. नवम्बर, 1930, चन्दनगर

9. शरत्-परिचय-सुरेन्द्रनाथ, पृष्ठ 95

10. सन् 1913 ई०

3

'चरित्रहीन' के प्रकाशन के अगले वर्ष उनकी तीन और श्रेष्ठ रचनाएं पाठकों के हाथों में थीं-स्वामी(गल्पसंग्रह-एकादश वैरागी सहित) [1] दत्ता [2] और श्रीकान्त (द्वितीय पर्वों [3]। उनकी रचनाओं ने जनता को ही इस प्रकार आलोड़ित कर दिया हो यह बात नहीं थी, उस समय के सभी ख्यातनामा मनीषियों के सम्पर्क में भी वह आने लगे थे। यद्यपि किसी बड़े व्यक्ति के पास जाते उन्हें बड़ी परेशानी होती थी, "न जाने कैसा मेरा स्वभाव है! बड़े लोगों के घर जाने की बात उठते ही द्विधा-संकोच पै कारण मन अप्रसन्न हो जाता है। इसलिए जाऊं-जाऊं करने पर भी जाना नहीं होता।' [4] फिर भी सम्पर्क बढ ही रहा था। एक ओर थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रमथ चौधरी, अमृतलाल बसु, क्षीरीदप्रसाद विद्याविनोद और सत्येन्द्रनाथ दत्त जैसे साहित्य-मनीषी, तो दूसरी ओर सौरीन्द्रमोहन मुकर्जी, हेमेन्द्रकुमार राय, मणिलाल गांगुली, पवित्र गांगुली, अमल होम और दिलीपकुमार राय जैसे मित्र। आधुनिक दल के सर्वश्री शैलजानन्द मुखोपाध्याय, काजी नजरुल द्दस्नःम, अचिन्यकुमार सेनगुप्त, प्रेमेन्द्र मित्र और नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय आदि भी समय-समय पर मिलने आते थे और साहित्य-चर्चा करते थे। साहित्य-क्षेत्र से बाहर भी परिचय का दायरा विस्तृत होता जा रहा था। बर्मा के उनके स्नेही बत्यु अदिनीकान्त कर किसी मुसीबत में फंस गए थे, तब उन्होंने उन्हें लिखा था, "मैं पत्र तो अनेक व्यक्तियों को लिख सकता हूं, जैसे बलराम अम्पर, मोनि मित्तर, उपेन मजूमदार। और भी अनेक अफसर है, परन्तु क्या लिखूं किसको सिद्ध, जरा शान्ति से सोचकर बताओ। [5]

अपने मोहल्ले में साहित्य सभा का निर्माण उन्होंने यहां भी किया था। उसका सभापतित्व करने को वे तत्कालीन सुप्रसिद्ध साहित्यकारों को बुलाते रहते थे। कविगुरु को पहला पत्र सम्भवत. इसी निमन्त्रण को लेकर लिखा था, "कई दिन से बराबर तर्क करने पर भी यह मीमांसा नहीं कर पाए कि इस सभा में आपकी चरणधूलि पडने की किंचित् सम्भावना है या नहीं। इस बार आप जब घर आए तो अनुमति मिलने पर हम आपके पास आकर निवेदन करें।" [6]

अड़डा जमाने में तो वे सदा सिद्धहस्त रहे थे। इस अड्डे में उनके बाल्यजीवन के मित्र भी आते थे। उन`के लिए वे वही प्यार करने वाले बीरबली स्वभाव के अनगढ़ देहाती मनुष्य थे। वही हंसी, वही चंचलता, वही महान्यस्तता। आयु भी वहां कोई अर्थ नहीं रखती थी। उस दिन विभूतिभूषण अपने मित्र श्री अतुलचन्द्र दत्त के साथ उनसे मिलने आए। द्वारा खोलते ही बदसूरत भेलू ने इनका स्वागत किया। उस क्षण विभूति बाबू को लगा, जैसे

शरच्चन्द्र ने अपने एकान्त की रक्षा करने के लिए इस यमदूत को रख छोड़ा है। तभी उसकी आवाज सुनकर जोर ओर से पुकारते हुए शरत् बाबू बाहर अघर। लेकिन जैसे ही उनकी दृष्टि विभूति पर पड़ी तो सब कुछ बदल गया। वे लोग कछ देर के लिए आए थे, लेकिन जब लौटे तो तीन दिन और तीन रातें बीत चुकी थीं। बाते करते-करतै न जाने इतना लम्बा समय कहां से आकर कहा चला गया। किस्से पर किस्से, हर श्टे तम्बाकू, बीच-बीच में खाने-पीने का प्रचुर प्रबन्ध-इस अत्याचार से मित्र परेशान हो उठे। लेकिन शरत् का प्रेम तो विश्रांति जानता ही नही था। घड़ी या तो बन्द हो जाती या उल्टी रख दी जाती थी। विभूतिभूषण ने कहा, "शरत् दा! आपके इस अश्लील कुने के प्रथम स्वागत से तो में समझा था कि आप कालभैरव की साधना में लगे हुए है, पर अब देखता हूं तो वही पहले की नटराज की मूर्ति है।"

शरत् बाबू कुछ नहीं बोले। बस कुत्ते के मुंह से मुंह लगा कर उसे चूमने लगे। कैसा अद्भुत उनर था यह! न जाने कितने परिचित और अपरिचित बत्युओं ने इन बैठकों में उनके मुंह से कितनी कहानियां सुनी थीं। उनकी झूठी-सच्ची वे बैठकी कहानियां. उनके साहित्य से कम रोचक नहीं हें।

उस समय बंगाल में अनेक मासिक पत्र प्रकाशित हो रहे थे । उनमें आधुनिक दल के नवीन स्वर की प्रतिनिधि थी 'भारती' । सबुज पत्र' कथ्य भाषा का प्रसार पत्र था (यद्यपि शरत्चन्द्र की लोकप्रियता का एक बड़ा आधार उनका कथ्य भाषा का प्रयोग था, पर सबुज पत्र ' ने उनका विरोध किया) । 'प्रवासी' में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का योग सर्वोपरि था । 'भारतवर्ष ' के प्रमुख लेखक थे शरत्चन्द्र और 'नारायण' में विपिन पाल आदि मुख्य रूप से लिखते थे । नारायण ' के सम्पादक थे बैरिस्टर चितरंजन द। स । अलीपुर बम षड्यन्त्र केस के अभियुक्त अरविन्द घोष के बचाव के वकील के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी । वे कवि भी थे । यदि वे राजनीति में न डूब जाते तो निश्चय ही भक्त 'और रहस्यवादी कवि के श्प में उनकी प्रसिद्धि होती । 'नारायण' का प्रकाशन उन्होंने ही आरम्भ किया था । वह सबुज पत्र' का प्रतिद्वन्द्वी माना जाता था । इसका कारण यह था कि बैरिस्टर दास रवीन्द्रनाथ के पाश्चात्य प्रभाव को अच्छा नहीं मानते थे । उनका मत था, 'रवीन्द्रनाथ ने पश्चिम से बहुत सारी चीजें ग्रहण की हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी वजह से बंगला साहित्य ३ विविधता आई और उसकी समृद्धि भी हुई । परन्तु इसी कारण बंगाल की अपनी संस्कृति और राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं हो सका । किसी १री स्थिति में हमारे लिए यह शोभनीय नहीं है कि हम पश्चिम की चकाचौंध से प्रभावित हो जाएं ।'

इससे स्पष्ट है कि उनके साहित्य की प्रेरणा का स्रोत विशुद्ध देशप्रेम था । प्राचीन परम्पराओं के प्रति उनकी लेखनी में असीम सम्मान था । इसी कारण वे भरतचन्द की ओर झुके । एक दिन पत्र लिखकर उन्होंने शरतचन्द्र से प्रार्थना की कि वे 'नारायण' के लिए अपनी कोई रचना भेजें ।

शरतचन्द्र ने विशेष रूप से उनके लिए एक गाल लिखी । उसे .भेजते हुए उन्होंने अपने पत्र में लिखा था कि इस गल्प के नामकरण का भार वह दास महोदय के ऊपर ही छोड़ते हैं ।

दास महोदय ने उस गल्प का नाम रखा 'स्वामी' [7]। उसका नायक वैष्णव आदर्श का जीवन्त रूप है । प्रकाशित होने के बाद पारिश्रमिक के रूप में बैरिस्टर दास ने लेखक को एक कोरा चेक भेजते हुए लिखा, 'अर्थ को लेकर आप जैसे शिल्पी की रचना का मूल्य निर्धारत नहीं किया जा सकता । आपके पारिश्रमिक के रूप में यह चेक भेजता हूं । कृपा करके इसे स्वीकार कीजिए और इच्छानुसार रुपये इसमें लिख लीजिए । कोई संकोच न कीजिए ।'

शरत् बाबू का मन भीग आया । इतना अमित विश्वास प्रकट किया था उन्होंने एक लेखक के प्रति! वे चाहते तो कुछ भी लिख सकते थे । रवीन्द्रनाथ के बाद वही तो सर्वश्रेष्ठ लेखक थे । उनकी लोकप्रियता उस समय चरम सीमा पर थी । लोग उनका नाम नहीं जानते थे, लेकिन उनकी रचनाओं से परिचित थे ।

उस दिन उत्तर प्रदेश के एक प्रवासी बंगाली ठेकेदार कार्यवश क्लकना आए और अपने एक रिश्तेदार के पास ठहरे । वह परिवार बहुत सुशिक्षित था । उस घर की एक लड़की ने एष्क दिन उनसे कहा, 'मामा, एक काम करोगे? हमारे घर आते समय मोड़ के पास जो लाल घर है, वहां बीच-बीच में शरत् बाबू आते रहते हें आप एक बार उनसे मिल लें ।'

चकित होकर मामा ने पूछा, 'कौन शरत्?'

'शरत् बाबू वही हमारे शरतचन्द्र ।'

ठेकेदार महोदय अब भी कुछ नहीं समझे कि यह 'अपने शरतचन्द्र. कौन है? लड़की के पिता ने कई तरह से शरत् बाबू का परिचय दिया परन्तु व्यर्थ । अन्त में वे बोले, अजी वही शरत्, जिनका 'श्रीकान्त' है ।'

यह सुनते ही ठेकेदार बोल उठे, .अरे वह आवारा लड़का जान पड़ता है, उसने अपना 'श्रीकान्त' नाम बदल लिया हे?.

नाम बदला हो या न बदला हो पर उनकी रचनाओं की लोकप्रियता की थाह नहीं थी लेखक को बहुतों ने नहीं देखा था, पर रचनाएं पढ़ने में छात्र, किरानी, गृहनारी, व्यापारी सब एक-दूसरे से बाजीमार ले जाने को उत्सुक थे । छात्रों की परीक्षा की पुस्तकों के नीचे 'श्रीकान्त' 'चरित्रहीन' और देवदास' आदि छिपे रहते । लक्ष्मी बहू के तकिये के नीचे काजल और सिन्दूर से अंकित पल्ली समाज' बिराजबहू, और बिन्दूर छेले' का मिल जाना बहुत स्वाभाविक था । यहां तक कि बनिये की दुकान पर जहां प्रतिदिन रामायण का पाठ होता था वहां भी ज़ड़ी दीदी' 'पण्डित मोशाय' या 'श्रीकान्त' दिखाई दे जाते । इस लोकप्रियता का कारण यही तो था कि उनके पात्र जीवन में से उभरे थे किसी नियम-विधान से निर्मित नहीं

हुए । उनसे शरत् बाबू का प्रेम का नाता था, अर्थात् हार्दिक था बौद्धिक नहीं, इसीलिए वे हर किसी के अपने हो रहते थे । चिन्तन का दुख बीच में नहीं 'आने देते थे । प्रेम की यह अनन्यता ही तो कलाकार की कसौटी है ।

इसीलिए पाठक उनके पात्रों में इतने रम जाते कि भूल जाते उनका कोई खष्टा भी हे । विद्यार्थी दल बनाकर उनकी रचनाओं का पाठ करते, फिर भी वे कहां रहते हैं, क्या करते हैं यह बहुत कम लोग जानते थे । बहुत-से समझते थे, वे आवारा हैं । कभी बिहार, कभी काशी तो कभी बर्मा घूमते रहते है ।

इतने लोकप्रिय थे शरत् बाबू! लेकिन दास बाबू के कोरे चेक में उन्होंने केवल 1 ०() रुपये ही लिखे । रुपये का मूल्य नितान्त सामयिक है । असली मूल्य उस परिचय का था जो उनका देशबखु के साथ हुआ । एक प्रतिभा ने बाहें फैलाकर मुक्त मन से दूसरी प्रतिभा का वरण किया ।

केवल देश ही नहीं, विदेशों में भी उनकी प्रतिभा की कहानी धीरे- धीरे पहुंच रही थी । लन्दन के सुप्रसिद्ध समाचारपत्र दि टाइप्स' के लिटरेरी सप्लीमेंट ने इसी समय [8] उनके दो कहानी-संग्रहों, विदूर छेले' और 'मेज दीदी' की प्रशंसात्मक समीक्षा प्रकाशित की । समीक्षक महोदय ने उन्हें मोपांसा के समकक्ष माना । नारी-चरित्र और शिशु-मन के ज्ञाता के रूप में विशेष रूप से उनकी ख्याति उसने की । यद्यपि इस समीक्षा-विशेष में कोई बहुत गहराई नहीं थी, परन्तु फिर भी उनकी प्रतिभा का वरण करके आलोचक ने अच्छा ही किया था ।

अनेक कहानियों के अतिरिक्त दत्ता' और 'श्रीकान्त' का दूसरा पर्व उसी समय पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए । 'दत्ता' के कारण उन्हें क्य लांछना नहीं सहनी पड़ी । इस रचना में उन्होंने ब्रह्म समाज की कुछ आलोचना की हे । इसीको लेकर ब्रह्मसमाजी खड्गहस्त हो उठे थे । इसी समय एक शिक्षित ब्रह्म परिवार ने उन्हें अपने घर निमन्त्रित किया । वे संकट में पड़ गए । जाने पर कोई अप्रीतिकर घटना घट सकती है । न जाने पर उन्हें डरपोक समझा जाएगा ।

लेकिन अन्त में वे गए । उनका खूब भाव-भीना स्वागत किया गया । साज-सज्जा भी कम नहीं थी । महिलाओं ने बड़े स्नेह और आदर से उन्हें बहुमूल्य कुर्सी पर बैठाया, फिर सुन्दर-सुन्दर विशेषण लगाकर उनकी अभ्यर्थना की । उसके बाद बारी आई भोजन की, उस समय अब तक जो नहीं देखा था वहीं उन्होंने देखा । उन्होंने बायी और चांदी के थाल में अपने उपन्यास 'दत्ता' को देखा । उसका वह पृष्ठ खुला हुआ था, जहां रासबिहारी अपनी योजना फेल हो जाने पर बेटे की ताड़ना करता है । उन पंक्तियों को विशेष रूप से लाल पेसिल से अंकित किया गया था ।

वह मब कुछ समझ गए । पर उन्होंने दिखाया यही कि कुछ नहीं समझे हें । खूब खाया, खूब मुक्त मन से बातें की और चले आए ।

वे ब्राह्म महिलाएं सोचती होगी कि इस तरह उन्होंने शरत् की अच्छी ताड़ना की है, पर जो वाद-विवाद से परे है, जिसकी दृष्टि तात्त्विक उतनी नहीं जितनी प्रसादमयी है, वह सष्टा क्या ऐसी ताड़नाओं की चिन्ता करता है?

उनकी सभी रचनाओं के साथ कोई-न-कोई इतिहास जुड़ा हुआ है । और वह इतिहास प्राय: रोचक नहीं है । साहित्य' के सम्पादक समाजपति महोदय से उनका पुराना परिचय था । बड़े कुर आलोचक के रूप में उनकी ख्याति थी । शरत् बाबू पर भी यदा-कदा कृपा करने से वे नहीं चूकते थे । साहित्य' के एक अंक में उन्होंने शरत् बाबू पर बड़ा करारा व्यंग्य किया । वह व्यंग्य उनके कुत्ते को लेकर था । उन्होंने लिखा, - शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय नाम के एक नये लेखक का आविर्भाव हुआ है । उनके मन में माया-ममता बहुत है । उस दिन कार्नवालिस स्ट्रीट में वह एक नैड्री कुत्ते को कटलेट खरीदकर खिला रहे थे । पास ही एक भिखारी एक पैसे के लिए गिड़गिड़ा रहा था, परन्तु उसकी ओर इन दयालु शरतचन्द्र की नजर नहीं पड़ी ।'

वे समझ गए कि उन्होंने बहुत दिनों से 'साहित्य' के लिए कुछ नहीं लिखा है, इसीलिए यह अप्रिय रआन्दोलन चल रहाहै । उस समय वसुमति साहित्य मन्दिर से प्रकाशित पूजा वार्षिकी 'आगमनी' के सम्पादन का भार उन्हीं पर था और उनका आग्रह था कि शरत् बाबू उसके लिए अवश्य ही कहानी लिखें । यह अच्छा अवसर था । समाजपति महोदय को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने 'छवि' [9] ' कहानी लिखी । इसमें एक बर्मी चित्रकार और उसकी धनी प्रेमिका की कहानी है । रंगून में उनका एक बर्मी चित्रकार से बहुत घनिष्ठ परिचय था । निश्चय ही इस कहानी को लिखते समय उनके मन में वह बर्मी चित्रकार रहा होगा, लेकिन वास्तव में इसका आधार है, उनकी बचपन की एक कहानी कोरेल ग्राम' [10] ' । वे अपनी बचपन को रचनाओं को अच्छा नहीं समझते थे । इसलिए जहां तक हो सका, सभी को उन्होंने फिर से लिखने की चेष्टा की । यही कोरेल ग्राम' नये रूप में छवि' के नाम से प्रकट हुई । कोरेल ग्राम' की पृष्ठभूमि भी विदेशी थी । वह लन्दन के पास एक छोटे- रो ग्राम के वातावरण पर लिखी गई थी । पात्र अंग्रेज थे । इसके विपरीत छवि' का वातावरण बर्मा का है और पात्र भी बर्मी है । शरत् लन्दन नहीं गए थे लेकिन बर्मा में उन्होंने तेरह वष बिताए थे. इसीलिए नयी कहानी को उन्होंने बर्मी जीवन पर .आधारित किया ।

सौरीन्द्रमोहन मुकर्जी ने भी उनसे रचना चाही थी, लेकिन समाजपति की तरह नहीं । उन्होंने शरत् बाबू से कहा, नुम्हारी सबसे पहली रचना बड़ी दीदी' 'भारती ' में प्रकाशित हुई । उसी के द्वारा बंगाल के लोगों को तुम्हारा परिचय मिला । इसलिए 'भारती' का तुम्हारे ऊपर दावा है । इसी दावे के आधार पर मैं तुमसे एफ कहानी चाहता हू । जितना पैसा चाहोगे, दूंगा ।

शरत् हंसकर बोले 'तुमसे पैसा लूंगा! नहीं, मैं तुम्हें कहानी दूंगा । '

और उन्होंने 'भारती' के लिए 'विलासी' [11] कहानी लिरवी । इस कहानी में उन्होंने अपने ही जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न किया है । पूर्णत. सत्य न होकर भी उसकी आधारभूत घटनाएं सत्य हैं । यह कहानी डायरी के रूप में लिखी गई है और वह डायरी एक गाव के बालक की है । बालक का नाम है नेडा' यह नेडा' नाम उनका अयना पुकारने का नाम द्य । ऐसा लगता है, अपना नाम देकर लेखक कहानी की प्रामाणिकता और उसका अपने से सम्बन्ध स्पष्ट करना चाहता है । वह यह है- भूल सके कि मृत्युंजय सचमुच ही एक व्यक्ति था, जिसे वे बचपन में अच्छी तरह जानते थे और उन दिनों के समाज की ममताहीन निष्ठुर सत्ता की भी उन्हें याद थी । इस कहानी में कायस्थ सन्तान मृत्युंजय के साथ अमूश्य मुसलमान कन्या विलासी का विवाह कराके शरत्चन्द्र ने जिस शक्तिशाली मन का परिचय दिया है, वह कभी सम्भव नहीं होता, यदि साहित्य के रूप में उनका जीवन-बोध स्पष्ट न होता । उनकी मान्यता थी कि दत्तचित्त होकर जब आदमी साहित्य-रचना में मग्न होता है, तब वह ठीक हिन्दू होता है न मुसलमान । तब वह सबके परिचित अपने अहम् से बहुत दूर चला जाता है । नहीं तो उसकी साहित्य-साधना व्यथ हो जाती है ।

सम्पादक-प्रकाशक ही उनसे रचनाएं नहीं चाहते थे, बाजार में भी उनकी पुस्तकों र्का मांग निरन्तर बढ़ती जा रही थी । वसुमति साहित्य मन्दिर के व्यवस्थापक श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय ने उनके सामने एक योजना रखी कि उनकी सब रचनाओं को ग्रन्यावली के रूप में अल्प मूल्य पर प्रकाशित किया जाए। गरीब देश में इच्छा होने पर भी अधिक मूल्य की पुस्तकें हरेक के लिए खरीदना सम्भव नहीं है, लेकिन शरत्चन्द्र इस योजना को सहसा स्वीकार नहीं कर सके। उनको डर था कि ग्रन्थावली छपने पर अलग-अलग छपनेवाली उनकी पुस्तकों की बिक्री कम हो जाएगी, लेकिन प्रकाशक महोदय यह तर्क स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बताया कि ग्रन्थावली से तीन साल में पच्चीस-तीस हज़ार रुपये मिल सकते हैं। शरत् बाबू को रुपये की आवश्यकता थी। रोटी के लिए निरन्तर लिखते रहना उन्हें अख्स नही लगता था। इतना रुपया मिलने पर इस लिखने से मुक्ति मिलने की सम्भावना थी। वे पछांह भी जाना चाहते थे, लेकिन साथ ही वे यह भी नहीं चाहते थे कि उनके स्थायी प्रकाशक हरिदास चट्टोपाध्याय को किसी तरह की हानि पहुंचे।

अनिश्चय की इसी स्थिति में कई महीने बीत गए। शायद उनकी इच्छा थी कि वह स्वयं ग्रन्थावली प्रकाशित करें या कहीं और से कराएं, लेकिन अन्तत: उन्होंने वसुमति साहित्य मन्दिर को ही अनुमति देने का निश्चय किया। उन्हें ऐसा लगा कि सतीश बाबू को निराश करके अब कहीं और से ग्रन्थावली प्रकाशित करवाना अशोभनीय होगा। शरत्-ग्रन्थावली का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ।' [12] इसमें 'दत्ता' 'परिणीता' 'श्रीकान्त (प्रथम पर्व), 'अरक्षणीया' 'एकादश वैरागी' मंझली दीदी' और 'मुकदमे का परिणाम', ये रचनाएं संगृहीत थी। इस ग्रन्थावली से उन्हें बहुत धन प्राप्त हुआ। पाठकों की संख्या में भी वृद्धि हुई और

पुरानी पुस्तकों की बिक्री पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर तो और भी खण्ड [13] प्रकाशित होते चले गए। एक वर्ष के भीतर ही भीतर चार खण्ड बाज़ार में आ गए। एक-एक खण्ड की पांच-पांच हज़ार प्रतियां छपती थीं और कुछ ही महीनों में बिक जाती थी। उन दिनों देश में काफी धन था। क्योंकि प्रथम महायुद्ध के बाद पटसन का दाम बढ़ गया था। बंगाल पटसन के लिए प्रसिद्ध है। अधिक धन के कारण लोगों का जीवन-स्तर ऊपर उठ रहा था। कांच की कुप्पी की जगह हरिकेन लालटेन आ गई थी और सिर के ऊपर फूस के छप्पर का स्थान टीन की चादरों ने ने लिया था, इसलिए लोग पुस्तक भी खरीदने लगे थे। पढ़ने का चाव बंगाल में सदा ही अपेक्षाकृत अधिक रहा है।

इस अभूतपूर्व सफलता से प्रभावित होकर वसुमति साहित्य मन्दिर के मालिक ने अलग-अलग पुस्तकें छापनें का आग्रह भी किया। लेकिन शरत् बाबू इसके लिए किसी भी तरह तैयार नही हुए। बोले, "प्रारम्भिक जीवन में हरिदास ने मेरी सहायता की थी। अब उनसें मैं वे पुस्तकें वापस नहीं ले सकता। वसुमति वाले केवल ग्रन्थावली छाप सकते है। अलग-अलग पुस्तकें तो हरिदास ही छापेंगे।"

नये प्रकाशक से उन्हें आठ हज़ार रुपया प्रतिवर्ष मिलने लगा। पुराने प्रकाशक जो छ: हज़ार रुपया प्रति वर्ष देते थे, उनमें भी कोई कमी नहीं हुई। जो शरत् बाबू किशोरावस्था में परीक्षा के लिए फीस का जुगाड़ नहीं कर सके थे, जिन्होंने अपना यौवन जीविका की तलाश में व्यर्थ कर दिया था, वही अब अमीर हो गए। तीन-चार वर्ष पूर्व वे सौ रुपये मासिक पाने के लिए तरस रहे थे। अब उनको एक हज़ार रुपये मासिक से भी अधिक मिलने लगा था, लेकिन इतना धन पाकर भी उनका मन गरीबी को नहीं भूल सका। गरीबों की वेदना को उन्होंने प्रत्यक्ष झेला था, इसलिए जब हाथ में इतना रुपया आया तो उन्होंने उसको जमा करने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं किया। मित्रों की सहायता करने के लिए तो वे सदा ही तत्पर रहते थे। अब आसपास के गरीबों की ओर भी उनकी दृष्टि गई। उस दिन सदा की तरह 'भारतवर्ष' के सम्पादक जलधर सेन रचना के लिए तकाज़ा करने आए। देखते क्या हैं, घर में चारों ओर अनेक धोतियां और साड़ियां बिखरी पड़ी है। नौकर उनको बंधने की चेष्टा कर रहा है। और उनके बीच में कुर्सी पर बैठे हुए शरत्चन्द्र इकन्नी, दुअन्नी और चवन्नी गिन-गिनकर मेज़ पर ढेरियां लगा रहे हैं। चक्ति होकर सेन बाबू ने पूछा, "यह क्या हो रहा है शरत्?."

शरत् ने उत्तर दिया दादा, दस बजे की गाड़ी से दीदी के घर जा रहा हूं।"

सेन महोदय ने कहा, "जान पड़ता है वहां कोई व्रत-प्रतिष्ठा है। इसीलिए इतने कपड़े और इतनी खरीज लिए जा रहे हो।"

शरत् बाबू ने उतर दिया, "नही दादा, दीदी के घर व्रत-प्रतिष्ठा नहीं।"

सेन महोदय ने पूछा, "व्रत-प्रतिष्ठा नहीं है तो यह सब सामान किसलिए ले जा रहे हो?"

शरत् बाबू ने उदास मन से कहा, "दादा, दीदी के गांव में और उसके चारों ओर गरीब लोगों की क्या दशा है! उनके पेट के लिए भात नहीं, शरीर ढकने के लिए कपड़े नहीं यह जो....." इतना कहकर वे चुप हो गए। कण्ठावरोध हो आया और आखों से जल गिरने लगा।

यही पर दु:ख कातरता उनके साहित्य में मुखर हुई और इसी कारण वे इतने लोकप्रिय हुए। उनके पाठक जान गए थे कि 'श्रीकान्त' की आवारगी के बावजूद उन्हें भारी दुखों के बीच में से अपना रास्ता ढूंढ़ना पड़ा है और यह भी कि अन्याय को देखकर उनका क्रोध उफन उठता है। जैसे उनके विचारों के अन्तराल में वैसे ही जीवन में भी पीड़ा की धारा प्रवाहित होती रही है।

यह बात नहीं कि वे अपने लिए पैसा खर्च नहीं करते थे। उनका अपना जीवन-स्तर भी अब ऊंचा उठ गया था। समृद्धि के साथ सौंदर्य-पिपासा और तीव्र हो उठी थी। मकान बनाने के लिए दीदी के गांव के पास ही 'पाणित्रास' में उन्होंने ग्यारह सौ रुपये में ज़मीन खरीदी तो उस समय का बढ़िया रैक भू भी पहनने के लिए खरीदा [14]। उस दिन मामा उपेन्द्रनाथ गांगुली मिलने के लिए आए। चाय, गप्प-शप, खाना-पीना, आराम सब कुछ सदा की तरह हुआ, लेकिन उसके बाद सहसा शरतचन्द्र ने कहा, "चलो उपीन, आज एक सौदा करना है।"

उपेन्द्रनाथ ने पूछा, "कैसा सौदा ?"

शरत् बोले, "व्हाइट वे की दुकान से एक जोड़ा रैक शू खरीदूंगा। सुनता हूं वह जितना आरामदेह है, उतना ही मजबूत है।"

उस जूते का मूल्य साढ़े बत्तीस रुपये था। इसी से उसके रूप और उसकी उपयोगिता की कल्पना की जा सकती है। उसी को खरीदने के लिये वे मामा के साथ स्टीमर के द्वारा कलकत्ता की ओर चले। उस समय उनके पैरों में फटी चट्टियां थी। जब वे नई होंगी तब उनका रंग कैसा रहा होगा, कुछ नही कहा जा सकता था। अब तो कहीं काला और कहीं बादामी हो गया था। बड़े घरों में ऐसे जूते शौचालय में ही जाने के काम आते हैं। चलने से न केवल चट्टिया पर ही धूल जम गई थी, बल्कि पैरों पर भी मानो किसी ने धूल की जुबान पहना दी हो। गंगा पार करके बातें करते हुए वे जिस समय दुकान के सामने पहुंचे तो मामा ने कहा, "शरत्, तुम्हारे इन पैरों को देखकर दुकानदार तुम्हें कीमती रैक शू नहीं दिखाएगा।"

शरत् बाबू उद्विग्न हो उठे। बार-बार पैर पटकते और उन्हें साफ करते, लेकिन कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। अन्त में बोले, "चलो, अन्दर चलते हैं। पास मैं पैसा तो है। चार नोट मुंह पर मारेंगे-कहेंगे,, यह लो पैसा, पैर क्यों देखते हो?"

लेकिन दुकान के अन्दर जाकर उन्हें ज़रा भी परेशानी नहीं हुई। विदेशी दुकान थी। देशी होती तो निश्चय ही दुकानदार कहता, "आज नहीं, फिर किसी दिन आना।" चीनी दुकानदारों की दुकानों पर भी ऐसी ही दुर्दशा उन दिनों होती थी। बंगाली लोग अपनी

मातृभाषा में गालियां देकर संतोष कर लेते थे, लेकिन इन लोगों ने शरत् बाबू का वैसा ही स्वागत किया जैसा रैक शू पहने हुए किसी व्यक्ति का हो सकता था। अंग्रेज़ व्यापारी ही तो हैं। पैर की धूल और टूटी चट्टियां गोरे कर्मचारी को विवृत न कर सकीं। आठ-दस जोड़े जूतों के बक्स बगल में दबाकर वह तुरन्त हाज़िर हो गया। फिर घुटने टेककर उनके सामने बैठ गया और एक-एक जोड़ा जूता पहनाकर परीक्षा करने लगा। शरत् बाबू किसी भी तरह सन्तुष्ट नहीं हो रहे थे। वह फिर चार-पांच जोड़े ले आया। अन्त में एक जोड़ा पहनकर शरत् सन्तुष्ट हो गए। कर्मचारी ने अच्छी तरह फीता बांध दिया। कहा, "ज़रा चल-फिरकर देखो तो, मुझे तो लगता है यह जोड़ा ठीक है।"

शरत् बापू ने वैसा ही किया। फिर बोले, "चमत्कार, जूता पहन रखा है, ऐसा लगता ही नहीं।"

और यह कहते हुए उन्होंने बटुए से दस-दस के चार नोट निकाले। उन्हें लेकर कर्मचारी कुछ क्षण बाद कैश मेमो और बाकी साढ़े सात रुपये ले आया। शरत् बाबू उठे। बोले, "चलो मामा।" कर्मचारी ने पूछा, "आपके स्लीपर बक्स में रख दूं?"

"नही, इसकी कोई ज़रूरत नही।"

और यह कहकर वह दुकान से बाहर निकल आए। पुराने स्लीपर और नया बक्स दोनों स्वामी-विहीन होकर एक-दूसरे का मुंह देखते हुए दुकन में पड़े रह गए। जूतों का बक्स उठाने की जहमत से बचने के लिए ही वे पुराने स्लीपर छोड़कर और नये जूते पहनकर चल पड़े थे।

यह परिवर्तन केवल जूतों की खरीद तक ही सीमित नहीं था। उनके सारे रूपरंग और पहनावे में अन्तर आ चुका था। अब वे साज-सज्जा में पहले के देहाती शरत् नहीं रह गए थे, जब कपड़ों के प्रति वे अत्यन्त लापरवाह थे। बाल रूखे, कुर्ते में बटन नहीं, कंधे की चादर भी मैली, बांस की डंडीवाला छाता और पैरों में फटे जूते। अब तो चेहरे पर स्निग्धता आ गई थी। पहनते थे डबल ब्रेस्ट की चमकदार कमीज़, दामी सर्ज का कोट, धुली हुई शान्तिपुरी धोती, पैरों में लाल मोजे, फीते वाले जूते, हाथ में चांदी की मूठ की छड़ी, आखों पर सुनहरी फ्रेम का चश्मा और चेहरे पर दाढ़ी।

लेकिन यह रूप भी क्या उनके स्वभाव के उजहुपन और शरीर के स्वास्थ्य को ठीक कर सका? अब भी साधारण-सी बदपरहेजी करने पर बुखार हो जाता था। दूसरे रोग भी जब-तब आक्रमण करते रहते थे। एक दिन दाहिने पैर के घुटने के नीचे इतिनी जलन और खुजली हुई कि बेचैन हो उठे। ऐसा लगा जैसे एग्ज़ीमा हो गया हो। बेरी-बेरी की आशंका भी हुई। वे जानते तो थे नहीं कि यह रोग क्या है, टिंचर-आयोडिन लगाना शुरू कर दिया। कई बार लगाने से रोग ने उग्र रूप धारण कर लिया। डाक्टर ने आकर उन्हें बहुत फटकारा। कहा, "आपको तनिक भी सब्र नहीं होता? कास्टिक या एसिड-वेसिड जो कुछ लगाना हो लगाएं, मैं तो चला।"

लेकिन बाद में शान्त होकर दवा और मालिश की व्यवस्था की और शरत् बाबू दोनों पैरों को तकिये पर रखकर चुपचाप लेट गए। इस घटना की चर्चा करते हुए उन्होंने अपनी एक शिष्या को एक लम्बा पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने न केवल स्वास्थ्य की चर्चा की, बल्कि अनेक सामाजिक विषयों के साथ-साथ अपने दाम्पत्य जीवन पर भी प्रकाश डाला..... "मै कभी अम्ल का रोगी नहीं रहा। इतना कम खाता हूं कि वह पास नहीं फटकता कि कहीं उसे भी भूखों न मरना पड़े। उस दिन घर पर बनाए गए कुछ संदेश जबर्दस्ती खिला दिए। आज भी उनकी डकार आ रही है। मैं मशहूर आलसी हूं। चबाने के डर से किसी चीज़ को आसानी से मुंह में नहीं डालता। मुझसे यह अत्याचार कैसे सहा जाए? लेकिन घर के लोग नहीं समझते। वे सोचते हैं, न खाने के कारण ही मैं दुबला हुआ हूं। अतएव खाने से ही उनकी तरह मोटा हाथी हो जाऊंगा।

"स्वर्गीय गिरीश बाबू ने अपने 'बाबू हसन' में लाख बात की एक बात कही है - अबलाएं बड़ी लालची होती हैं। मर जाने पर भी खाती हैं। औरत की जाति को उन्होंने पहचान लिया था। आज से बीस वर्ष पहले से हम केवल खाने को लेकर ही लाठी चलाते आ रहे हैं। उन्होंने नहीं खाया और न खाकर दुबले हो गए। गृहस्थी और रसोई किसके लिए है? जहां दोनों आंखें ले जाएंगी वहीं जाकर बैरागन हो जाऊंगी। इत्यादि, इत्यादि।
"मैं कहता हूं, 'अरे भई, बैरागन होना हे तो जल्दी हो जाओ। तुम तो मुझे डर दिखाकर कांटे-सा सुखा रही हो।'

"यथार्थ में मेरे दुख को किसी ने नहीं देखा। मैं अक्सर सोचता हूं कि अगर सचमुच ही कहीं सुख है तो वहां एक आदमी दूसरे के साथ खाने के लिए इतनी ज़ोर-जबर्दस्ती नहीं करता होगा और अगर करता है तो मैं नरक में जाना ही पसन्द करूंगा।

"कोई बीस दिन पहले कुत्ते का झगड़ा मिटने गया तो कहीं से एक खौरहे कुत्ते ने आकर मेरी हथेली में दांत गड़ा दिए। अभागा कुत्तां कितना अकृतज्ञ है! उसे अपने भेलू के चंगुल से छुड़ाने के लिए गया था। डर के मारे किसी से कहा नहीं। सूख गया था, लेकिन कल से फिर दर्द हो रहा है। सुख की बात यह है कि वृद्ध हो गया हूं। न जाने कितनी प्रकार के दुख-दैन्य और आपद-विपद के बीच 40 वर्ष काटे हैं। सुना है, मेरे वंश में आज तक 40 तक कोई नहीं पहुंचा। कम से कम इस बात में तो मैंने अपने बाप-दादों को हराया है। और चाहिए भी क्या.....? " [15]

शरत् ग्रंथावली के चार खण्डों के अतिरिक्त इस समय एक गल्प-संग्रह छवि' [16] के नाम से प्रकाशित हुआ। 'गृहदाह" [17] और 'बामन की बेटी' [18] ये दोनों उपन्यास भी पुस्तक के रूप में आ गए। 'देना-पावना' और 'श्रीकान्त' धारावाहिक रूप में छप रहे थे। 'छवि' कहानी-संग्रह में 'छवि और विलासी' गल्पों के अतिरिक्त 'मुकदमें का परिणाम' कहानी भी संकलित है। निम्न वर्ग के कैवर्त समाज के परिवार का चित्रण इस कहानी में हुआ है। इस तरह की कम ही कहानियां उन्होंने लिखी हैं।

'बामन की बेटी' का प्रकाशन शिशिर पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित उपन्यास-माला में हुआ। यह किसी पत्रिका में नहीं छपा। लिखने से पूर्व इसके सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ से उनकी बातें हुई थीं। एक भेंट में उन्होंने गुरुदेव से कहा, "मैं बामन की बेटी' एक उपन्यास लिख रहा हूं।' इस सम्बन्ध में मेरे बहुत-से व्यक्तिगत अनुभव है। कुलीनता ने समाज में क्या अनर्थ किया वही मैं लिखना चाहता हूं।"

रवीन्द्रनाथ बोले, "अब तो कुलीनता रही नहीं है। एक व्यक्ति के सौ विवाह भी नहीं होते। फिर इसकी पुनरावृति करने से क्या लाभ है? फिर भी साहस हे तो लिखो, लेकिन कोई मिथ्या कल्पना मत करना।"

शरत्चन्द्र मिथ्या कल्पना करने में कभी विश्वास नहीं करते थे। गड़े मुर्दे उखाड़ना भी उनका उद्देश्य नहीं था। लेकिन कुलीन प्रथा सचमुच उन्हें बहुत चुभती थी। किसी न किसी रूप में आज भी उसका अस्तित्व है। जो लोग अपने को ब्राह्मण होने के कारण गौरवान्वित समझते हैं और सोचते हैं कि ब्राह्मणों में विशुद्ध रक्त प्रवाहित होता आया है, उनकी यह धारणा बिलकुल गलत है। उन्होंने स्वयं जो देखा और भोगा वही लिखा है। कुलीनता अच्छी चीज़ है या बुरी, इस बारे में उन्होंने कोई निर्णय नहीं लिया। वे यह नहीं कहते थे कि वैद्य के साथ कायस्थ का विवाह कर दो। फिर भी यदि कोई कर दे तो उसमें बाधा मत डालो। उसने अच्छा किया या बुरा लेकिन इतना अवश्य सत्य है कि वह कपटी नहीं है। बहुत-से लोग मुंह से कहते रहते हैं, कि विधवा लड़कियों का विवाह करो, किन्तु जैसे ही अपनी लड़की विधवा हुई वैसे ही वे कहना शुरू कर देते हैं, "देखिये, ऐसा हम नहीं करेंगे। हमें और भी तो चार लड़कियों के विवाह करने हैं, आदि-आदि।"

इस प्रकर के मिथ्याचार को वे अच्छा नहीं मानते थे। इसीलिए मिथ्या के आधार पर उन्होंने कभी अपने पात्र नही खड़े किए।

इस उपन्यास की प्रेरणा उन्हें कहां से मिली, कई मित्रों से उन्होंने इसकी अलग-अलग चर्चा की है। एक स्थान पर उन्होंने कहा, एक दिन हठात् गांव घूमने की इच्छा होने पर स्टीमर की सहायता ली। जब वहां जाकर उतरे तब समय अधिक हो गया था। भूख-प्यास के कारण थकान हो आई थी। गांव में प्रवेश करके एक बनिये की दुकान पर कुछ विश्राम किया और फिर जलपान। उसके बाद कुछ दूर गांव में जाकर एक ब्राह्मण के घर पहुंचा। घर की स्वामिनी एक वयस्क विधवा थी। दोपहर को एक अभुक्त अतिथि को पाकर उसने स्नान-भोजन के लिए आग्रह किया। शरत्चन्द्र ने तालाब में स्नान करने के बाद आकर देखा कि रसोई का सब प्रबन्ध हो गया है। बस चूल्हा जलाने की राह देख रही है। पूछा, "क्या आप खाना बनायेंगे?"

कुलीन ब्राह्मण के घर में अपने हाथ से पकाने की बात क्या हो सकती है, यह समझ में नही आया। फिर भी किंचित् विस्मय और संशय के साथ उन्होंने भोजन समाप्त किया और विदा ली। लौटते समय पहले की दुकान के बनिये ने कहा, "ठाकुर, जात दे आए?"

उससे पूछने पर पता लगा कि कुलीन ब्राह्मण घर की उस नारी ने एक नीच जाति के शूद्र से विवाह किया था। इस घटना से ही पुस्तक लिखने का विचार पैदा हुआ।

दूसरे स्थान पर उन्होंने अविनाशचन्द्र घोपाल को बताया, "जिस एक घटना को लेकर मैंने बामन की बेटी' की रचना की है, उसके बारे में बताने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मुझे लगता है कि बहुतों का नाम लेकर जो प्रश्त तुमने किया है उसका उत्तर तुम्हें मिलेगा। कोलाघाट स्टेशन पर एक स्त्री पान बेचती है। बहुत-सी स्त्रियां जिस तरह पान बेचती हैं, वह उस तरह की नहीं लगती। इसलिए मेरे मन में उत्सुकता जागी। उससे बातचीत की। वह मेरा विश्वास करती है। "बामन की बेटी' में प्रिय मुकर्जी की मां का चित्र है, उसके साथ कलंक जुड़ा हुआ है। उसके पीछे वही नारी है। उसका लड़का उच्च पदाधिकारी है और उसके आत्मीय स्वजन यह जानते है कि वह पागल होकर चली गई है या मर गई है। अब बताओ कि क्या समस्या समाप्त हो गई? यह जो उच्च पदाधिकरी है, वह वंश-मर्यादा के गौरव से क्या 'भद्र लोक' नहीं है? क्यों नहीं है? यह तो इस बात को नहीं जानता कि किस दुख के कारण उसकी मां घर छोड़ गई है और घर नहीं लौटेगी।"

हो सकता है उन्होंने और भी ऐसा बहुत कुछ देखा हो, और उसी बहुत कुछ 'अनुभव' का परिणाम हुआ यह उपन्यास। वे किसी एक घटना के आधार पर तुरन्त ही कुछ नहीं लिख डालते थे। वर्षो वे घटनाएं उनके मस्तिष्क में धुमड़्ती रहती थी। 'गृहदाह' लिखने में उन्हें कई वर्ष लगे थे। छ: वर्ष पूर्व [19] रंगून से उन्होंने अपने बाल सखा प्रमथ बाबू को लिखा था, "एक उपन्यास 'गृहदाह' नाम देकर है"

एक बार उन्होंने यह भी कहा था, "यह उपन्यास रवि बाबू के 'घरे-बहिरे' से रत्ती-भर भी कम नही होगा।"

उस समय हेमेन्द्रकुमार राय ने उनसे पूछा था, "क्या आप अपना उपन्यास लिख चुके हैं?" नहीं, अभी तो लिखना भी आरम्भ नहीं हुआ।

जो अभी तक लिखा नहीं गया उसकी तुलना 'घरे-बाहिरे' के साथ कैसे की जा सकती है?

इसकी चर्चा करते हुए हेमेन्द्रकुमार ने लिखा है - 'उपन्यास लिखना आरम्भ करने पर वे स्वयं ही पहचान गए थे कि उन्होंने 'घरे-बाहिरे' के बराबर रचना नहीं की, और सच बात कहने में क्या है, 'गृहदाह न केवल 'घरे-बाहिरे' की तुलना में कुछ नही है, बल्कि शरतचन्द्र के कथा साहित्य में भी इसका कोई ऊंचा स्थान नही है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शरत्चन्द्र अपने दोनों पूर्ववर्ती उपन्यासकरों बंकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ के ऋणी हैं । पति यदि पत्नी के प्रति किसी कारणवश उदासीन रहता है तो उसका पथप्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है - यही विषय है बंकिमचन्द्र के उपन्यास 'चन्द्रशेखर' का और रवीन्द्रनाथ के 'घरे-बाहिरे' का। 'गृहदाह' में महिम और अचला के माध्यम से शरत्चन्द्र ने भी यही प्रतिपादन करना चाहा है। पर उनकी अभिज्ञता और उनका रचना-

कौशल सब नितान्त मौलिक है। 'गृहदाह' की श्रेष्ठता के सबंध में बहुत मतभेद है। इतिहासकार सुकुमार सेन हेमेन्द्रकुमार राय से सहमत हैं, लेकिन सुरेन्द्रनाथ आदि दूसरे अनेक व्यक्तियों की दृष्टि में 'गृहदाह' में न केवल उनकी चिन्तनशीलता का गम्भीर परिचय मिलता है बल्कि उनके साहित्य में भी उसे ऊंचा स्थान प्राप्त है। निस्सन्देह वह एक श्रेष्ठ कृति है। बहुत दिन बाद [20] डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने उनसे पूछा था, "आप अपने उपन्यासों में किसे अच्छा समझते हो?"

शरत् बाबू ने तुरन्त कहा, "कला की दृष्टि से गृहदाह दोषहीन है।"

डा० मजूमदार उनसे सहमत नहीं हो सके। परन्तु वह उनकी श्रेष्ठ रचना हो या न हो, उसका आधार 'घरे-बाहिरे' हो या 'गोरा' के परेश बाबू हों, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि उसने तत्कालीन समाज को, विशेषकर ब्रह्म समाज को, आलोड़ित कर दिया था। ब्रह्मसमाजी इस पुस्तक को अपनी लाइब्रेरी में भी नहीं आने देते थे। एक बार एक बन्धु ने ब्रह्मसमाज के पुस्तकालय के एक पुस्तकाध्यक्ष से पूछा, "अच्छा दादा, आपने क्या शरत्चन्द्र की 'गृहदाह' पुस्तक पढ़ी है?"

यह सुनकर वृद्ध ने दोनों कानों में उंगली दे लीं। बोले, "छिछिः वह क्या कोई पुस्तक है? उसे क्या भद्र लोग पढ़ते हैं?'

बन्धु ने फिर पूछा, " 'गृहदाह' की बात रहने दीजिए। आपके पुस्तकालय में शरतचन्द्र की और कौन-कौन-सी पुस्तकें हैं?"

वृद्ध बोले, "शरत्चन्द्र की कोई भी पुस्तक लाइब्रेरी में नहीं है। उनको पढ़कर लड़के-लड़कियों की मानसिक अधोगति ही हो सकती है। इसलिए हम कोई पुस्तक नहीं रख सकते।"

एक दिन कई ब्राह्म महिलाएं उनसे मिलने आई। वे उनकी परम भक्त थीं। लेकिन अचला के चरित्र से उनके हृदय को बहुत ठेस पहुंची थी। वे मानती थीं कि शरत् बाबू ने साम्प्रदायिक भावना से अचला का चरित्र गढ़ा है। इससे ब्रह्म समाज का अपमान हुआ है, लेकिन शरत् तो कभी साम्प्रदायिक रहे नहीं। उनकी बातें सुनकर बोले, "अगले संस्करण में मैं सब ठीक कर दूंगा ।"

संतुष्ट होकर वे महिलाएं चली गईं। तब एक मित्र ने पूछा, "क्या संशोधन करेंगे आप!"

शरत् ने उत्तर दिया, "अचला के संबंध में जहां 'आजीवन तृष्णा' लिखा है, वहां 'आजीवन पिपासा' कर दूंगा।"

समाज में शरतचन्द्र अभी भी एक विद्रोही, आचारहीन और अनीश्वरवादी के रूप में प्रसिद्ध थे। लेकिन वास्तव में वह थे एकदम धर्मभीरु मानव। उन्होंने यह बात स्वयं स्वीकार की है - "किसी-किसी ने ऐसा भी कटाक्ष नहीं किया। केवल उसकी अनुदारता पर ही आक्रमण किया है। कितने ही लोगों ने आलोचना करने का डर दिखाया, पर आज तक किसी ने कुछ भी नहीं किया। उस ससमय एक बन्धु ने लिखा था कि मैं दिल से तो ब्राह्म हूं

बाहर से हिन्दू हूं। यद्यपि मेरे गले में यह कण्ठी की माला है। संध्या किए बगैर मैं जल ग्रहण नहीं करता। जिस किसी के हाथ का पानी नहीं पीता। इन सब बातों के होते हुए भी उन्होंने मुझे कितनी गालियां दीं। मैं बाहर से ढोंग रचता हूं यह कहा।"

संध्या करने और जिस किसी के हाथ का पानी न पीने के बारे मेंकुछ अतिरंजना हो सकती है, परन्तु गले में माला वे अवश्य पहनते थे। ऐसा लगता हे कि उनके रहने-सहने के ढंग केकारण और समय-समय पर अपनी रचनाओं में समाज की कटु ओलाचना करने के कारण इस प्रकार के नाना प्रवाद प्रचलित हो गए थे। शुरू में लोग उन्हें ब्रह्मसमाजी मानने लगे थे। लेकिन जब 'गृहदाह' में उन्होंने ब्रह्म समाज के पाखण्ड पर भी आक्रमण किया तो वे लोग भी उनसे रुष्ट हो गए।

अत्यन्त लोकप्रियता के कारण जनसाधारण, विशेषकर विद्यार्थी लोग उनकी प्रत्येक गतिविधि पर ध्यान रखते थे और उसका अर्थ निकालने की चेष्टा करते थे। जब वे बनारस गए१ तो अनेक विद्यार्थी उनसे मिलने के लिए आए और अनेक विषयों पर उनके साथ विचार-विनिमय किया। एक दिन उन सबको साथ लेकर वे विश्वनाथ के मन्दिर में भी गए। उस समय वहां आरती हो रही थी। एक कोने में जाकर वे खड़े हो गए और आरती के पश्चात् बिना दर्शन किए चुपचाप चले आए। एकविद्यार्थी ने पूछा, "आपके उपन्यास से पता लगता है कि आप कंजर्वेटिव या आर्थोडाक्स नहीं हैं। तब आप मन्दिर में क्यों गए?"

शरतचन्द ने उत्तर दिया, "भगवान के प्रति मेरे मन में वैसी श्रद्धा नहीं है, लेकिन मैं भक्त को प्यार करता हूं। एक अनपढ़ ग्रामीण की सच्ची भक्ति मै देवत्व रहता है। मैं वही देखने गया था। वह देखकर मैं कृतकृत्य अनुभव करता हूं ।'

उनकी पत्नी परम धर्मिक और निष्ठावान नारी थी। व्रत-उद्यापन में उनका बहुत-सा समय बीतता था। शरत् बाबू ने उनके कार्य में कभी बाधा नहीं डाली। तीव्र गर्मी में भी उनके इस विश्वास की रक्षा करने के लिए वे बनारस में रुके रहे।

यही स्थिति ज्योतिष के संबंध में थी। विश्वास न होने पर वे उसमें रुचि लेते थे। बनारस में एक पण्डित उनकी कुण्डली देखकर उनके अतीत जीवन की सारी घटनाएं विस्तार से बता दी थीं। कहा था, "यह किसी महायोगी नहीं तो किसी राजातुल्य व्यक्ति की कुण्डली है। धर्मस्थान में बृहस्पति का इतना पूर्ण संस्थान मैंने पहले कभी नहीं देखा। आयु अड़तालिस वर्ष या अधिक से अधिक पचपन वर्ष की होगी। यदि अड़तालिसवें वर्ष में मोक्ष नहीं होता तो उसके बाद संसार छोड़कर छप्पनवें वर्ष में शरीर का त्याग करेंगे।"

एक-दूसरे ज्योतिषी ने उन्हें जबर्दस्त धार्मिक व्यक्ति बताया, वह थे भी। उन्होंने कहीं भी, एक क्षण के लिए भी, अपने साहित्य में सनातन धर्म की मर्यादाओं की अवहेलना नहीं की। जनेऊ तक का समर्थन किया है। वे रूढ़ियों और कुरीतियों, अन्ध परम्पराओं और मूढ़ विश्वासों के विरोधी थे, धर्म की मूल स्थापनाओं के नहीं। समाज के ही निषेधों के कारण सती न रहने पर भी वे यह नहीं मानते थे कि यह असती नारी नारी भी नहीं रही। यह

संकीर्ण भेद-बुद्धि ही उन्होंने त्यागी थी क्योंकि इसमें मनुष्य धर्म का अपमान होता है। वह मानते थे, जब परिस्थितियों से विवश होकर मनुष्य ऐसा कुछ कर बैठता है जो तत्कालीन धर्म और समाज की दृष्टि से बुरा हो तो मनुष्य सचमुच बुरा नहीं हो जाता। उसका जो मनुष्य धर्म है, जो उज्जवल पक्ष है, वह मर नहीं जाता। मरता तब है जब किसी परिस्थितिवश या क्षणिक प्रमादवश की गई भूल के कारण उसे अपमानित और दण्डित किया जाता है। मनुष्य के बाह्य रूप का अतिक्रमण कर अन्तर में प्रवेश करके देखा जाता है कि वहां उसका रूप स्वतन्त्र है। बाह्य रूप में जो पतिता है, पतन उसके लिए सत्य ही है, किन्तु बाहर के इस पतन के भीतर उसका परिपूर्ण नारीत्व अक्षुण्ण रह सकता है, यह भी सत्य है। दोनों ही मनुष्य के रूप हैं और इन दोनों को समान रूप से जो स्पष्ट करता है वह है यथार्थवाद।

---

1. 28 फरवरी, 1918 ई०
2. 2 सितम्बर, 1918 ई०
3. 28 सितम्बर, 1918 ई०
4. 21-9-1916 ई० (प्रमथ चौधरी के नाम)
5. 25-10-1917 ई०
6. 6 दिसम्बर, 1917 इ० (29 पौष, 1324
7. अगस्त, 1917 ई०
8. जुलाई, 1918 ई०
9. पूजा वार्षिकी अगमनी' 1366 (अक्टूबर, 1919 ई०
10. 29 बुनाई, 1893 से 3 अगस्त, 1900 ई०
11. भारती, वैझाख, 1325 (अप्रैल, 1918 ई०)
12. 20 अक्टूबर, 1919 ई०
13. दूसरा खण्ड 20 जनवरी, 1920 तीसरा खण्ड 18 जून, 1920 चौथा खण्ड 25 सितम्बर, 1920 ई०
14. सन् 1920 ई० का प्रारम्भ
15. 18 अगस्त, 1919 ई०
16. 16 जनवरी, 1920 ई०
17. 20 मार्च, 1920 ई०

18. सितम्बर, 1920 ई०
19. 13 मार्च, 1914 ई०
20. सन, 1925 ई०

4

जिस समय शरत्चन्द्र लोकप्रियता की चरम सीमा पर थे, उसी समय उनके जीवन में एक और क्रांति का उदय हुआ। समूचा देश एक नयी करवट ले रहा था । राजनीतिक क्षितिज पर तेजी के साथ नयी परिस्थितियां पैदा हो रही थीं। ब्रिटिश क्राउन के प्रति वफादारी की प्रतिज्ञा लेनेवाली कांग्रेस ने केंचुल उतार फेंकी थी क्योंकि प्रथम महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर भारत के हार्दिक सहयोग के बदले में उसी क्राउन ने उसे रौलेट एक्ट प्रदान किया था। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले महात्मा गांधी ने घोषणा की, चीद रौलेट कमीशन की सिफारिश को बिल का रूप दिया गया तो मैं सत्याग्रह आरम्भ कर दूंगा । '

उन्होंने देश का दौरा क्मिा । उस समय उनके कार्यक्रग का जैसा अभूतपूर्व स्वागत हुआ वैसा शायद फिर कभी नहीं हो सका। सभी ने बड़े उत्साह के साथ उस आन्दोलन में भाग लिया। अप्रैल, 1919 में पंजाब में ऐसी अमानुषिक घटनाएं घटीं कि सारा देश कांप उठा। 13 अप्रैल को बैसाखी के दिन अमृतसर के जलियांवाला बाग में एक सभा आयोजित की गई थी। बीस हजार स्त्री-पुरुष अपने नेता का भाषण सुन रहे थे कि एक बड़ी सेना लेकर जनरल डायर ने उन्हें घेर लिया। गोली चलाने से पूर्व उसने लोगों को तितर-बितर होने के लिए केवल दो मिनट का समय दिया। जाने के लिए मार्ग था केवल एक संकरा-सा दरवाजा। भागना चाहने पर भी वे भाग नहीं सकते थे। सैकड़ों व्यक्ति उसी क्षण मारे गए। हजारों घायल हुए। उनकी सहायता करने के सारे प्रयत्न विफल कर दिए गए।

इस घटना ने देश के आत्माभिमान पर चोट की। विषधर भुजंग की भांति वह तड़पकर पागल हो उठा। बड़े-बड़े सरकारपरस्त भी उस दिन विद्रोही हो गए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर इतने विचलित हुए कि उन्होंने सर' की उपाधि लौटा दी। शरत्चन्द्र इस बात से बहुत प्रसन्न हुए। पंजाव के इंगलिश दैनिक ट्रिमन' के सम्पादक श्री अमल होम को एक पत्र में उन्होंने लिखा -. 'भारती' के अड्डे पर उस दिन सुना कि तुम भी खूग् विपत्ति में पड़े। अंग्रेजों की हिंसक मूर्ति बहुत पास से अच्छी तरह देखी। यह कम लाभ नहीं है। हमारा मोह काटने के लिए यह आवश्यक था। हमें यह समझ लेना है कि वे कितने निछर और पशु हो सकते हैं। यह बात इतिहास के पन्नों से एक दिन हमने समझी थी। इस बार प्रत्यक्ष अनुभव किया। एक और लाभ हुआ कि देश की वेदना के बीच में हमने रवीन्द्रनाथ को नये रूप में पाया। इस बार अकेले उन्होंने ही हमारे आत्माभिमान की रक्षा। सी०आर० दास ने एक दिन मुझसे कहा था

कि रवि बाबू ने जब नाइटहुड स्वीकार किया था तब वे गेय है । अब उनसे मिलने पर पूछूंगा कि क्या आज हमारी झती दस हाथ फूल गई है या नहीं?"

देशबन्यू चितरंजनदास स्वयं मन-प्राण से इस आन्दोलन में कूद पड़े थे। राष्ट्रीय कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया। शरत् बाबू क्त देशबत्यु के साथ अत्यन्त स्नेह था, इसलिए वे भी बड़ी तेजी के साथ उस ओर खिंच आये। जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड के प्रतिरोध में हावड़ा में जो विशाल सभा हुई, उसमें उन्होंने प्रत्यक्ष भाग लिया और इस प्रकार देशबन्यू दास के साथ उनका जो सम्पर्क था उसे निरा साहित्यिक ही नहीं रहने दिया।

शरत्चन्द्र का राजनीतिक झुकाव सदा गरम दल की ओर रहा। लोकमान्य के प्रति उनकी सच्ची श्रद्धा थी। हरिलह्मी' में मंझली बहू शरमाते हुए, हंसते हुए कहती है, गतइलक महाराज की तस्वीर देख-देखकर बनने की कोशिश की थी जीजी, पर कुछ बनी नहीं ।. यह कहते हुए उसने उंगली उठाकर सामने की दीवार पर टंगे हुए भारत के कौस्तुभ लोकमान्य तिलक का चित्र दिखा दिया। उन्हीं तिलक का जब 31 जुलाई की आधी रात के बाद देहावसान हो गया तब व्याकुलमन शरतचन्द्र ने लिखा, तिलक केवल हमोर भाई ही नहीं थे, बन्यू ही नहीं थे, नेता ही नही थे, वे हम बाईस करोड़ के मलिन ललाट के, शुम्र गौरवमय तिलक थे। वही तिलक आज मिट गया है। हम अनाथ हो गए हैं ।"

बंगाल प्रारम्भ में गांधीजी के साथ पूरी तरह सहमत नहीं था। देशबन्ध असहयोग कार्यक्रम के विरुद्ध थे, लेकिन फिर भी कलकत्ता में होने वाले कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में, जिसके सभापति पंजाब केसरी लाला लाजपतराय थे, गांधीजी का प्रस्ताव पास हो गया । [1] उस समय वातावरण ही ऐसा था। भारत सरकार ने हण्टर कमेटी की रिपोर्ट के बहुसंख्यक पक्ष की बात ग्रहण कर ली थी। वह अधिकारियों की काली करतूतों पर अंधकार का पर्दा डालना चाहती थी।

इस प्रस्ताव में सरकार पर प्रतिज्ञा-भंग का आरोप लगाते हुए कहा गया था, ३स कांग्रेस क्ई राय है कि जब तक भूलों का सुधार न हो जाए और स्वराज्य की स्थापना न हो जाए, भारतवासियों के लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है कि वे गांधीजी द्वारा संचालित क्रमिक अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार करें और अपनाएं। और क्योंकि शुरुआत उन लोगों को ही करनी चाहिए, जिन्होंने अब तक लोकमत को बनाया है और उसका प्रतिनिधित्व किया है, और चूंकि सरकार अपनी शक्ति का संगठन लोगों को दी गई उपाधियों व सम्मान से, अपने द्वारा नियंत्रित स्कूलों से, अदालतों और कौंसिलों से करती है और चूंकि आन्दोलन को चलाने में यह वांछनीय है कि कम से कम खतरा रहे और वांध्वि उद्देश्य की सिद्धि के लिए आवत्यक कम से कम त्याग का आहान किया जाए, यह कांग्रेस सरगर्मी के साथ सलाह देती है..... ।'

इस सलाह के अनुसार सरकारी उपाधियों, अदालतों, स्कूल-कालेजों, कौंसिलों, सरकारी दरबारों का त्याग तथा विदेशी माल का बहिष्कार आवशक था और आवश्यक था स्वदेशी वस्त्रों तथा चर्खे को स्वीकार करना।

इस प्रस्ताव पर बंगाल के श्री विपिनचन्द्र पाल ने एक संशोधन पेश किया, जिसका समर्थन किया देशबत्यु चितरंजनदास ने। इसके अनुसार ब्रिटेन के प्रधानमंत्री को भारत के एक शिष्टमण्डल से मिलने के लिए कहा गया था। लेकिन यह स्वीकृत नहीं हो सका। असहयोग के प्रस्ताव का परिणाम यह हुआ कि आनेवाले चुनाव में वोटरों ने वोट देने से ही इनकार कर दिया। सरकार को यह स्वीकार करना पड़ा कि कौंसिल का यह बहिष्कार निश्चय ही आनेवाले अनेक वर्षो कै इतिहास पर जर्बदस्त प्रभाव डालेगा। लेकिन अभी भी असहयोग के इस कार्यक्रम पर अन्तिम रूप से विचार होना शेष था।

तीन महीने बाद दिसम्बर में नागपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। देशबत्यु नहीं चाहते थे कि असहयोग का प्रस्ताव पास हो। इस अधिवेशन में ये अपने खर्चे पर दो सौ पचास प्रतिनिधियों का दल लेकर आए लेकिन यहां भी गांधीजी के व्यक्तित्व की ही विजय हुई। यहां तक कि जो अब तक विरुद्ध थे, उन्हीं देशबत्यु ने स्वयं इस प्रस्ताव को पेश किया और लाला लाजपतराय ने इसका समर्थन किया। इस प्रस्ताव में देश से अनुरोध क्यिा गया कि राष्ट्रीय आन्दोलन में अधिक से अधिक त्याग करे। इस बात पर विशेष जोर दिया गया कि सब सार्वजनिक संस्थाएं सरकार से असहयोग करने मे अपना सारा ध्यान लगा दें और जनता में परस्पर पूर्ण सहयोग स्थापित करें।

देशबत्थू दास ने घोषणा की कि वे अपनी वक्तलत छोड़ देंगे। वे चोटी के वकील थे। उनकी आय और उनके ऐश्वर्य की कोई सीमा न थी। उनकी इस घोषणा ने देश को आलोड़ित कर दिया। देखते-देखते उनका घर एक राजनीतिक संस्थान, परामर्श, संगठन और प्रचार का केन्द्र बन गया। शरत् बाबू उन दिनों बाजे शिवपुर में रहते थे। उन्होंने सखूर्ण हृदय से असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया। वे न केवल हावड़ा जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गए बल्कि बंगाल प्रादेशिक और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी निर्वाचित हुए। इस प्रकार इस आन्दोलन के परिचालन का उत्तरदायित्व उन पर भी आ गया। इस उत्तरदायित्व को उन्होंने मुक्त मन से स्वीकार किया। प्राय: प्रतिदिन सवेरे वे शिवपुर से कलकत्ता आते और देशबन्यू तथा दूसरे कार्यक्तीओं के साथ आन्दोलन के संचालन के संबंध में परामर्श करते। इन कार्यकर्ताओं में प्रमुख थे डा० यतीन्द्र मोहन दासगुप्त, सुभाषचन्द्र बोस, हेमन्तकुमार सरकार और निर्मलचन्द्र चन्द्र'। चन्द्र महोदय से उनकी विशेष घनिष्ठता थी। दोनों वाक्पटु, सरलप्राण तथा तम्बाकू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के परम भक्त थे।

शरच्चन्द्र परामर्श देने में विशेष पटु थे। किसी जटिल समस्या को लेकर जब सब उलझे रहते तब वे चाय और चुरुट सेवन में मन देते। और जब दूसरे लोग परेशान हो उस्तें

तो वे सहज भाव से समस्या का समाधान प्रस्तुत करके सबको चकित कर देते। घर लौटते-लौटते बहुत रात बीत जाती थी। थके शरीर टैक्सी में बैठकर जब वे लौटते, तब उनके विरोधी कहते, .अरे देखो, शरत् बाबू कैसे शराब में धुत होकर लौटे हैं ।.

इन चार-पांच वर्षो मे जहां उन्हें असंख्य भक्त मिले थे यहां विरोधियों की संख्या भी काफी बढ़ गई थी। समय-समय छींटा कसने से वे नहीं चूकते थे। उनका सबसे बड़ा अस्त्र था उनके चरित्र पर आक्रमण करना, विशेषकर उन्हें शराबी प्रमाणित करना। बहुत दिनों बाद' [2] देशदन्यू दास ने घर में स्थापित करने के लिए उन्हें राधाकृष्ण की एक मूर्ति दी। यह भी सुना गया कि शरत् बाबू ने उनके घर में श्वेत प्रस्तर की राधाकृष्ण की एक मूर्ति देखकर उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। तब देशबत्यु ने वही मूर्ति उन्हें दे दी थी ।' [3] मूर्ति काफी भारी थी। उसे लेकर वे आधी रात को लौटे। लौटने में सदा ही देर हो जाती थी। उस दिन साथ में शैलेश विशी थे। उन्हीं की सहायता से उन्होंने उस मूर्ति को टैक्सी में रखा। उन्हीं की सहायता से उतारा। बोझ के कारण उनके पैर लड़खड़ा रहे थे। राह चलते किन्हीं सज्जन ने उन्हें इसी अवस्था में देखा। मूर्ति को वे नहीं देख सके। उन्होंने सवेरे सहज भाव से प्रचार कर दिया, रात शरत् बाबू शराब में धुत होकर लौटे थे। उन्हें पकड़कर टैक्सी से उतारा गया। उनसे चला भी नहीं जाता था ।'

कृतिकार का जीवन उसका अपना होता है। उस पर आक्षेप करने से क्या लाभ? उसका मूल्य तो उसकी कृति से झकना चाहिए। परन्तु मनुष्य तो स्वभाव से छिद्रान्वेषी है। ढूंढ़ने पर दोष न भी मिले तो वह कल्पना कर सक्ता है, परन्तु जैसा कि उनका स्वभाव था, इस प्रकार के लांछनों क्त वे कभी प्रतिवाद नहीं करते थे। मौन रहकर उस ख्याति को फैलने देते थे। न जाने कैसी-कैसी गप्पें उनके बोरे में प्रचलित थीं। जो उनके निकट थे वे मित्र तक यह मानने लगे थे कि असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के पहले तक वे खूब शराब पीते थे। गिलास में डालकर पीते थे, बोतल से मुंह लगाकर पीते थे, दूध-भात खाने की तरह शेम्पेन में भात मिलाकर खाते थे, मार्बल की गोली जितनी अफीम डालकर पीते थे, कांच या पत्थर के बड़े बर्तन में डालकर नली से पी जाते थे.....।

जिस व्यक्ति के बारे में ऐसी कल्पनाएं की जा सकती हैं वह कैसा विलक्षण रहा होगा! लेकिन आश्चर्य यह है कि कभी किसी ने उन्हें ऐसा करते देखा नहीं था, केवल सुना ही था। इस बात के प्रमाण हैं कि वे शराब पीते थे, किशोरावस्था से पीते थे, लेकिन जैसा कि उनके बारे में प्रचलित हो गया था वैसे पियक्कड़ वे कभी नहीं थे। कलकत्ता लौटने से पहले उन्होंने शराब पीना बिलकुल छोड़ दिया था। हिन्दी के ख्यातनामा साहित्यकार श्री इलाचन्द्र जोशी एक बार उनसे मिलने के लिए गए थे। [4] बातों ही बातों में उन्होंने पूछा था, "क्या आपने जीवन में कभी शराब का अनुभव किया है?."

"कई बार।"

"क्या कभी आप उस हद तक शराब में डूबे है, जिस हद तक आपका देवदास डूबा रहता था?"

वे मुसकराए और बोले, "जीवन में मैंने छोटी-मोटी भूलें बहुत-सी की हैं, परंतु अपनी मूर्खता को मैं उस सीमा तक कभी नहीं खींच ले गया। शराब को मैंने कभी नशे के रूप में ग्रहण नही किया। बराबर दवा के रूप में ही ग्रहण किया है। किसी शारीरिक रोग की दवा के रूप में नहीं, बल्कि अपने स्वभाव की एक कमी की पूर्ति के लिए। मैं स्वभाव से अन्तर्मुखी हूं और बुद्धि से सामाजिक जीवन को पूर्णतया अपनाने पर भी व्यावहारिक रूप से समाज और समूह से भागना चाहता हूं। समाज के बीच में बड़े असन्तोष का अनुभव करने लगता हूं। इसलिए कभी-कभी दवा की मात्रा में थोड़ी-सी मदिरा पी लेता हूं और तब मैं समाज में सामाजिक प्राणियों की तरह ही रहने लगता हूं और उसके साथ सहज भाव से हेलमेल बढ़ा सकने में समर्थ होता हूं। [5] इधर तो मैंने दो-तीन महीने से एक बूंद भी नहीं पी है।"

"क्या कभी ऐसा भी अवसर आया है कि आप अपनी किसी रचना, कहानी या उपन्यास को जल्दी पूरा करना चाहते हों, पर लिखने की प्रेरणा न मिल रही हो और उस हालत में आप शराब पीकर कृत्रिम उपाय से प्रेरणा प्राप्त करके लिखने बैठे हों?"

"कभी नहीं। पी लेने के बाद मुझे लिखने की प्रेरणा कभी नहीं मिलती। उस हालत में केवल मैं अनुभव करता हूं और जब कोई महत्त्वपूर्ण भाव या विचार उस हालत में मेरे मन में उठने लगता है तब पास में कागज-कलम होने पर उसे नोट अवश्य कर लेता हूं।."

फिर भी अफवाहों का कोई अन्त नहीं था। यहां तक प्रचलित हो गया था कि वे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सामने भी पीते हैं और वेश्या के साथ गाते-बजाते हैं। एक अनोखी अफवाह यह थी कि उनके पास पंचरली' है, अर्थात्, चांदी की एक गुड़गुड़ी, उस पर चांदी की एक चिलम, चिलम में चार खाने। एक में गांजा, दूसरे में भांग, तीसरे में अफीम, चौथे में तम्बाकू और स्वयं गुड़गुड़ी में शराब भरी रहती है।

ऐसी सब अफवाहों का स्रोत स्वयं उनके अपने पास ही था। खूब शराब पीने की बात भी स्वयं उन्होंने ही अनेक बार अनेक व्यक्तियों से बड़ी गम्भीरता (?) के साथ कही है या उनके मित्रों ने उनके मुंह से कहलवाई है। उनकी मौज की कल्पनाओं का कोई अन्त नहीं था। बहुत पहले रंगून से अपने एक मित्र को लिखा था, ग्रैंने 'देवदास' माताल होकर बोतल पर बोतल पीकर लिखा है ।. [6]

लेकिन इससे भी बहुत पहले एक और पत्र में [7] उन्होंने लिखा था, "छ: महीने से शराब नहीं पी है। शरीर कुछ स्वस्थ लगता है। जान पड़ता है, यदि नहीं पीऊंगा तो जल्दी ही ठीक हो जाऊंगा।"

रंगून में उन्होंने किस प्रकार शराब छोड़ी, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने अपनै मित्र हरिदास शास्त्री से एक दिन कहा था, "श्रीरामपुर से जो लड़की मुझसे मिलने आई थी, वह कैसी अद्‌भुत थी, जानते हो?"

हरिदास बोले, "नहीं तो।"

शरत् ने कहा, "वह लड़की मेरे पास आई और बोली, चहुत दिनों से आपसे मिलने की इच्छा थी, लेकिन मेरे आत्मीयजनों ने मुझसे कहा कि तुम भले घर की लड़की हो, भला तुम शरत् से मिलोगी! कैसा साहस है तुम्हारा?' यह सब बताकर उसने पूछा, आ आप सचमुच ऐसे हैं कि आपसे कोई युवती मिल भी नहीं सकती?' मैं हंस पड़ा, उत्तर दिया, 'अगर दस वर्ष पहले के शरत् के संबंध में ऐसा कहा जाता तो मैं कुछ न कहता, क्योंकि तब मैं खूब नशा करता था। दिन-रात नशे में चूर रस्सा था, लेकिन तब भी मैं कह सकता हूं कि मैंने कभी किसी नारी का अपमान नहीं किया। और प्रद तो मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूं। निडर होकर तुम मेरे पास आ सकती हो।"

शास्त्रीजी ने पूछा, शराब पीते थे?"

शरत् बोले, फा भाई, पीता था किन्तु एक दिन षेड् दी।"

फैसे छोड़ दी?"

"अच्छा बताता हूं। एक और चटर्जी थे, एक बर्मी बत्यु थे। हम तीनों एक साथ शराब पीते थे। अचानक वे बर्मी बत्यु बीमार हो गए। डाक्टर ने उन्हें शराब पीने से मना कर दिया। छुट्टी लेकर वे अपना इलाज भी कराने लगे। एक दिन क्या हुआ कि लगभग रात के ग्यारह बजे दूसरे चटर्जी मेरे घर आकर मुझे पुकारने लगे। पूछने पर उन्होंने बताया कि दुकानें बन्द हो गई हैं और उन्हें प्यास लगी है, कुछ शराव चाहिए। लेकिन मेरे पास जितनी थी उससे उनकी प्यास नहीं बुझी। बोले, 'चलो उन बर्मी यन्यू के घर चले।'

मे राजी नहीं हुआ। लेकिन वह क्यों मानने लगे थे? मुझे उनके साथ जाना ही पड़ा। रात का एक बज चुका था। बहुत आवाज देने पर बन्यू की पत्नी खिड़की से झांकी। बोलीं, भेरे स्वामी बीमार हैं, कृपा करके आप लोग चले जाएं।'

"लेकिन तब तक हमारी पुकार सुनकर वह बत्यु भी जाग पड़े थे। उन्होंने अपनी पत्नी से अनुरोध किया, दरवाजा खोल दो। हमारे घर में एक बोतल है। उसकी हमें क्या जरूरत है? मैं तो अब शराब पीता ही नहीं हूं।'

भैं होश में था। उस समय भी मैंने वापस लौट चलने का अनुरोध किया, लेकिन चटर्जी नहीं माने। अन्दर जाकर हम लोग एक छोटी-सी मेज के पास बैठ गए। बर्मी बन्तु की पत्नी भी पहरा देने के लिए वहीं बैठी हुई थीं। परन्तु दिन-भर के परिश्रम से थकी होने के कारण वे शीघ्र ही ऊंघने लगीं। यह देखकर चटर्जी ने बर्मी बत्थू से भी शराब पीने का इशारा किया, लेकिन पत्नी की ओर देखकर उन्होंने इनकार कर दिया। फिर धीरे- धीरे पत्नी को सचमुच नींद आ गई। चटर्जी ने फिर अनुरोध किया। बर्मी बन्यू इस बार मना नहीं कर सके। एक बार, दो बार, और तीसरी बार पीते समय पात्र उनके हाथ से गिर पड़ा। 'आ-आ' ऐसा भयानक शब्द करते हुए वे खुद भी गिर पड़े। यह शब्द सुनकर उनके स्त्री-पुत्र सब जाग पड़े। और तब उन बत्यु की छाती पर लोट-लोटकर उन्होंने जो चीत्कार किया, उसे सुनकर

हमारा नशा न जाने कहा चला गया। रात-भर थाना-पुलिस हुआ और फिर अगले दिन बत्यु का अन्तिम संस्कार किया। वहां से लौटकर प्रतिज्ञा की कि अब शरार नहीं पियूंगा। चटर्जी ने भी प्रतिज्ञा की, लेकिन वे उसकी रक्षा न कर सके। तो हरिदास, एक भला आदमी स्त्री-पुत्र को लेकर सुख से सो रहा था। रात के एक बजे दो आदमी उसके घर में घुसे और उसे मार डाला। ऐसा भयानक कर्म होने पर भी शराबी को ज्ञान नहीं होगा तो कब होगा?"

उन्होंने श्री इलाचन्द्र जोशी से जो कुछ क्का वह इस वर्णन से राई-रत्ती मैल नहीं खाता, लेकिन फिर भी अपने-अपने स्थान पर दोनों वक्तव्यों में काफी सत्य है। उनका सारा जीवन विरोधाभासों से पूर्ण रहा है और उसके बीच में से उस सत्य को खोज निकालना भी उतना ही कठिन रहा है। लेकिन उनके ये तथाकथित वक्तव्य सही हों या न हों यह निश्चय ही सही है कि उन्होंने शराब पीना छोड़ने का कई बार प्रयत्न किया और भारत लौटने पर उन्होंने पीने के लिए शराब कभी नहीं पी। केवल कभी-कभी स्नायु-तंतुओं को उत्तेजित करने के लिए दवा के रूप में वे एकाध पेग ले लेते थे ताकि अन्तर के हीन भाव को पराजित करके समाज में एक स्वस्थ सामाजिक प्राणी की तरह रह सकें।

कृतिकार अपनी कृतियों में किसी न किसी रूप में अपने को और अपनी भावनाओं को चित्रित करता ही है। उनकी रचनाओं के अनेक पात्र शराबी हैं, लेकिन उनमें केवल देवदास ही ऐसा व्यक्ति है जिसे पीने से सचमुच प्रेम है। वह प्रेम के क्षेत्र में निराश हो चुका है। उस निराशा को भूलने के प्रयत्न में ही वह पीता है। शायद इसी तरह एक दिन शरत् बाबू ने भी पीना शुरू कर दिया था। 'देवदास' लिखते समय उनकी आयु सत्रह वर्ष की थी। प्रेम में पड़ने की इससे अच्छी आयु और नहीं हो सकती। चारों ओर से उपेक्षित, अपमानित होकर शराब की शरण लेना बहुत अच्छा लगता है। देवदास यही करता है, लेकिन बाद की रचनाओं में ऐसा नहीं है। 'चरित्रहीन' का सतीश पीता अवश्य है, पर प्रयत्न उसका बराबर छोड़ने की दिशा में ही चलता है। एक दिन सावित्री के सामने शराब न पीने की कसम खाकर वह मुक्त हो जाता है। 'देना-पावना' का शराबी जमींदार जीवानन्द भी एक दिन भरा हुआ शराब का प्याला लौटा देता है और अपनी इच्छा से मदिरा के स्थान पुर चाय पीकर घर से निकलता है। 'पथेर दाबी' का कवि शशि भी नवतारा ओर डाक्टर के कहने पर शराब न पीने की प्रतिज्ञा करता है।

लेकिन शराब को बुरा मानकर भी कवि और गुणी व्यक्तियों को शराब पीने की छूट देने के लिए वह सहमत थे। 'पथेर दाबी' का डाक्टर मानो शरत् के स्वर में कहता हे, "इसके सिवा वे ठहरे कवि और गुणी आदमी। उन लोगों की जाति ही अलग है। उनकी भलाई-बुराई ठीक हम लोगों से नहीं मिलती। मगर इसके मायने यह नहीं हैं कि दुनिया की भलाई-बुराई के बने हुए कामों में उन्हें माफी दे देते है। उनके गुणों का फल तो हम सब मिलकर भोगते हैं, पर दोषों को वे सदा अकेले ही भोगते हैं।"

शरत् बाबू इसी अलग जाति के थे। वे मन-प्राण से इस आन्दोलन में आए थे। उनका यह आना कई कारणों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वे साहित्यकार थे और साहित्यकार प्राय: राजनीति के दलदल से दूर रहता है। परन्तु वे मानते थे कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए जो आन्दोलन गांधीजी ने चलाया है वह केवल शुष्क राजनीति ही नहीं है। देश की मुक्ति का व्रत है । जो देश की दासता को सह सकता है वह साहित्यिक नहीं है। उनके साहित्य में देश और मनुष्य का यही प्रेम परिष्कृत हुआ है। उसी देश और मनुष्य के प्रेम के कारण वह असहयोग आन्दोलन से अलग नहीं रह सके। साहित्यिक मित्रों ने उनसे कहा, "आप तो साहित्यिक हैं। आपका काम साहित्य-चर्चा हे, राजनीति नहीं।"

शरत् ने उत्तर दिया, "यह आपकी भूल है। राजनीति में योग देना देशवासियों का कर्त्तव्य हे। विशेषकर हमारे देश में यह राजनीतिक आन्दोलन देश की मुक्ति का आन्दोलन है। इस आन्दोलन में साहित्यिकों को सबसे आगे बढ़कर योग देना चाहिए। लोकमत जाग्रत् करने का गुरुभार संसार के सभी देशों में साहित्यिकों के ऊपर रहा है। युग-युग में उन्होंने ही तो मनुष्य के मन में मुक्ति की आकांक्षा जगाई है। यदि आपकी बात मान भी लें, तो वकील, बैरिस्टर, डाक्टर और विद्यार्थी सभी यही तर्क उपस्थित करेंगे। तब राजनीति को कौन संभालेगा?"

शरत्चन्द्र देश की मुक्ति के आन्दोलन में पूर्ण विश्वास रखते थे, परन्तु उसके सारे कार्यक्रम में न तो उनकी पूरी श्रद्धा थी और न वैसी आस्था ही। विशेषकर चर्खे में उनका रंचमात्र भी विश्वास नहीं था। फिर भी निरन्तर कातते रहे और खद्दर पहनते रहे। स्थान-स्थान पर चर्खा स्थापित करने में उन्होंने अपनी जेब से बहुत-सा पैसा खर्च किया था। उनकी मान्यता थी कि उनका विश्वास हो या न हो, परन्तु जब कांग्रेस ने खद्दर पहनने का नियम बनाया है तो पहनना ही चाहिए। नहीं तो अनुशासन कैसे रहेगा? इसलिए वे कातते थे, सुन्दर कातते थे। इतना सुन्दर कि एक बार वैज्ञानिक आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय उनके काते हुए सूत का बुना हुआ कपड़ा सिर पर रखकर नाच उठे।

वैज्ञानिक प्रफुल्लचन्द्र साहित्यिक शरतचन्द्र के बड़े प्रशंसक थे। शरत् बाबू भी उनके प्रति कम श्रद्धा नहीं रखते थे। उन दोनों महाप्राण व्यक्तियों का प्रथम मिलन एक असाधारण घटना के रूप में प्रचारित हो गया था। एक दिन किसी सन्दर्भ में राय महोदय ने अपने विद्यार्थियों के सामने शरत् बाबू से मिलने की इच्छा प्रकट की। तुरन्त एक विद्यार्थी शरत् बाबू के पास पहुंचा और निवेदन किया कि क्या वे किसी दिन राय महोदय से मिलने के लिए चल सकेंगे?

'शरत् बाबू स्वयं बड़े उत्सुक थे, इसलिए वे उसी क्षण उस विद्यार्थी के साथ चल पड़े।

साइंस कालेज के ऊपर के तल्ले के एक कमरे में राय महोदय रहते थे। दोनों सीधे वहां पहुंचे। उस समय राय महोदय अपनी छोटी खाट पर बैठे काम करने में व्यस्त थे। शरत् बाबू ने देखा, खाट के पास दो कुर्सियां हैं, परन्तु दोनों कागज-पत्रों से भरी हैं। बैठने के लिए

कहीं भी रंच-मात्र स्थान नही है। तब वे खाट पर बैठने के लिए आगे बढ़े कि सहसा राय महोदय उत्तेजित होकर बोल उठे, क्या करते हो, क्या करते हो, खाट पर मत बैठो।.

शरत् खड़े के खड़े रह गए। विद्यार्थी की लज्जा का पार नहीं, शीघ्रता से एक कुर्सी उठा लाया। शरत् बैठ गए। अब राय महोदय ने उनकी ओर देखकर सहज भाव से पूछा, क्या कर रहे हो आजकल

शरत् ने उत्तर दिया, "थोड़ा-बहुत लिखने की चेष्टा करता हूं।"

उत्साहित करते हुए प्रफुल्ल बाबू बोले, सुन्दर करे जाओ। खूब लिखो, लेकिन हां, छपाने की जल्दी मत करना।"

बातचीत से स्पष्ट था कि राय महोदय उन्हें अपना कोई पुराना छात्र समझ रहे हैं। विनीत भाव से उन्होंने कहा, "छापने लायक कुछ नहीं है। बस चेष्टा करता हूं।"

जिस छात्र के साथ शरत् बाबू आए थे वह अब अपने को न रोक सका। प्रफुल्ल बाबू के पास आकर उसने कहा, "जी, ये शरत् बाबू हैं।"

सुनते ही प्रफुल्लचन्द्र राय ने चश्मे के ऊपर से शरत्चन्द्र को एक बार अच्छी तरह देखा। फिर उठकर तुरन्त द्वार पर आए और अपने प्रिय शिष्यों के नाम ले-लेकर पुकारने लगे। क्षण-भर में वहां एक छोटी-सी भीड़ जमा हो गई। उनको लेकर सेनापति की तरह वे आगे-आगे घर में धुसे। शरत् बाबू की ओर उंगली से दिखाकर बोले, "देखते हो उधर कौन बैठा है? ये हैं श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय। उधर देखो उनकी सब पुस्तकें हैं और आज स्वयं भी आए हैं। अच्छी तरह देखो। पैरों की धूल लो।

उसके बाद शरत्चन्द्र के पास आकर बैठ गए और एक अन्तरंग मित्र की तरह बातें करने लगे। बोले, "आपकी पुस्तकें पढकर कितनी बार बातचीत करने की इच्छा हुई है। आज इतने दिन बाद वह पूरी हुई।"

इस बातचीत में अपरिचय के कारण प्रारम्भ में जो भूल हो गई थी, उसके लिए क्षमा-प्रार्थना करने की सुधि भी उन्हें नहीं रही। जहां स्नेह हो वहां क्षमा कोई अर्थ नहीं रखती।

उनके सारे जीवन की तरह यह मिलन भी रोमांचकारी है। महात्मा गांधी से उनकी प्रथम भेंट भी सम्भवत: इतनी ही रोमांचकारी रही होगी। परन्तु उसका कोई विवरण किसी ने नहीं लिखा। बहुत पहले रंगून में उन्होंने महात्माजी को देखा था। उनके स्वागत समारोह की रिपोर्ट भी उन्होंने लिखी थीं। वह रिपोर्ट रंगून गजट में छपी थी, लेकिन भारत में उनकी महात्माजी से जिस भेंट का विवरण उपलब्ध है, वह चर्खे को लेकर ही है। राय महोदय की तरह महात्माजी ने भी उनके कते सूत की प्रशंसा की थी। असहयोग आन्दोलन के समय जब वे कलकत्ता आए थे तो एक दिन 'सर्वेण्ट' का कार्यालय देखने के लिए गए। देशबन्धु दास के घर से और भी कई व्यक्ति उनके साथ थे। श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती उस समय बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। वह भी थे, शरत्चन्द्र भी थे। कार्यालय में पहुंचकर महात्माजी ने सबके साथ चर्खा कातने की इच्छा प्रकट की।

चर्खे आए और सब लोग कातने लगे। महात्माजी की दृष्टि, बड़ी तीक्ष्ण थी। तुरन्त ही उन्होंने देख लिया कि शरत् बाबू का सूत बहुत सुन्दर है। इसके विपरीत श्याम बाबू बहुत मोटा कात रहे हैं। परिहास के स्वर में वे बोले, "अरे, देखो तो, बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस के प्रधान रस्से जैसा मोटा सूत कात रहे हैं।

सुनकर सब हंस पड़े। शरत्चन्द्र बोले, "मन्दिर के जो जितना पास होता है भगवान से उतना ही दूर होता है।"

महात्माजी ने कहा, "शरत् बाबू आपकी चर्खे में श्रद्धा नही है?"

नहीं, रत्ती-भर नहीं।"

महात्माजी ने कहा, "लेकिन कातते तो आप चर्खे के अनेक प्रेमियों से अच्छा हैं।

शरत् बोले, मैं चर्खे को नहीं, आपको प्यार करता हूं। मैंने चर्खा कातना इसलिए सीखा है।"

महात्माजी हंस पड़े। बोले, "लेकिन आप इस बात में विश्वास नहीं करते कि कातने से स्वराज्य-प्राप्ति में सहायता मिलेगी।"

"शरत्चन्द्र ने हंसते हुए कहा," जी नहीं, मैं विश्वास नहीं करता। मेरे विचार से स्वराज्य-प्राप्ति में सिपाही ही सहायक हो सकते हैं, चर्खे नहीं।

यह बात सुनकर महात्मा जी बड़े जोर से हंस पड़े।

एक बार देशबन्धु चितरंजनदास ने भी यही प्रश्न उनसे पूछा, "क्या आप चर्खे में विश्वास करते हैं?

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, आप जिस विश्वास की बात करते हैं, वह विश्वास मैं नहीं करता।

देशबन्धु ने कहा, क्यों नही करते?"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "जान पड़ता है बहुत दिनों तक बहुत चर्खा कातने के कारण।"

देशबन्धु क्षण-भर चुप रहकर बोले, इस देश के तीस करोड़ लोगों में अगर पांच करोड़ आदमी सूत कातने लगें तो सात करोड़ रुपये का सूत तैयार हो सकता है।"

शरत् बाबू ने कहा, "हो सकता है। दस लाख आदमी एक घर बनाने में हाथ लगाएं तो डेढ़ सेकेण्ड में घर बनकर तैयार हो सकता है। हो सकता है? आप विश्वास करते हैं?"

देशबन्धु बोले, ये दोनों एक चीज नहीं है, लेकिन मैं आपका मतलब समझ गया। न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी। फिर भी मैं विश्वास करता हूं। मेरी बड़ी इच्छा होती है कि चर्खा कातना सीख लूं। किन्तु मुश्किल यह है कि हाथ के किसी भी काम में मेरी गति नहीं है।"

शरत् बाबू ने कहा, "भगवान आपकी रक्षा करें।"

लेकिन विश्वास हो या न हो, चर्खे के लिए कुछ करने में उन्होंने कोई कसर उठा न रखी। छूट गया ऐश्वर्य, छूट गई सिल्क की पोशाक, रह गया बस खद्दर, तेल की बनी पकौड़ी-कचौड़ी, यहां तक कि भुने हुए चने खा-खाकर, गांव-गांव चर्खे का प्रचार करते वे घूमे। वे स्वयं कातते थे, घर के दूसरे लोग कातते थे, नौकर तक कातते थे और चकमा देते थे। शरत् पूछते, क्यों रे अमुक, काम क्यों नहीं किया?"

जवाब मिलता, "चर्खा कात रहा था।"

शरत् अब क्या कहते। देशोद्धार के काम में जो लगा था, लेकिन इसका यहीं अन्त नहीं था। मामा सुरेन्द्रनाथ भी इस आन्दोलन में कूद पड़े थे। एक दिन अध्यापक का पद छोड़कर वे शरत्चन्द्र के पास आकर रहने लगे। काम करने के साथ-साथ चर्खे को लेकर मामा-भानजे में काफी तर्क-वितर्क चलता रहता था। एक दिन शरत्बाबू ने कहा, मामा, तुम समाज का जो काम कर रहे थे, वह चर्खा आन्दोलन से बहुत बड़ा है। मैं साहित्य-रचना करता हूं वह चर्खे से निश्चय ही बड़ा काम है। यदि मैं सब काम छोड़कर चर्खा चलाता रहूं तो क्या देश का लाभ होगा?"

सुरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, बहुत हानि होगी।"

तब?"

सुरेन्द्रनाथ ने कहा, लेकिन मैं यदि छुट्टी के दिन चर्खा चलाता हूं तो इसमें क्या अन्याय की बात है? यदि सरकार कहती है कि चर्खा चलाना अन्याय है और जो चर्खा चलाएगा उसे जेल भेज दिया जाएगा तब मैं अवश्य चर्खा चलाऊंगा और जेल जाऊंगा। मेरे देश की दादी-नानी हमेशा से चर्खा चलाती आई हैं। इसमें क्या दोष है?"

शरत् बाबू बोले, 'यदि भारत अपने पहनने के वस्त्र स्वयं तैयार कर लेता है तो इसमें हमारा लाभ है और उनकी हानि। इसलिए वे चर्खा चलाने को अन्याय मानते हैं।'

मामा ने कहा, .और मैं उनकी इस मान्यता को घोर अन्याय मानता हूं। यदि स्कूल में चर्खा नहीं कात सकता तो में अध्यापकी करने को तैयार नहीं हूं। इसीलिए काम छोड्कर चला आया हूं।.

शरत्चन्द्र बोले, चुमने कोई अन्याय नहीं किया।.

लेकिन शायद चर्खे से सुरेन्द्र मामा का काम नहीं चला। एक दिन बोले, 'शरत्, केवल चर्खे से काम नहीं चलेगा। करघा भी बैठाना होगा।.

शरत् तुरन्त तैयार हो गए। भागलपुर में पांच-सात करधे बैठाए गए। पेशगी देकर बंगाल के अच्छे-अच्छे बुनकर आए। लेकिन कुछ दिन बीतते न बीतते, यहां तक कि पेशगी के रुपये कटते न कटते उनके घरों से चिदिठयां आने लगीं। किसी का लड़का बीमार है, किसी की बीबी बीमार है। किसी के यहां रुपये की कमी से इलाज नहीं हो पा रहा है। इसलिए और रुपये चाहिए।

रुपये दिए गए, लेकिन चिट्ठी का आना बन्द नहीं हुआ। इस बार चिट्ठी आई कि आदमी की कमी के कारण पका धान खेत में झड़ रहा है, तुरन्त चले आओ।

किसी की चिट्ठी आती कि अमुक ने मुकदमा दायर कर दिया है, पैरवी के लिए आना ही होगा, नहीं तो सब मटियामेट हो जाएगा। ये चिदठियां लेकर बुनकर उनके सामने हाजिर होते। वे मजबूर होकर राह-खर्च और छुट्टी देकर उन्हें घर भेज देते, लेकिन लौटकर कोई नहीं आता। इधर करघाघर में दीमकों का उत्पात बढ़ता ही जाता था। निराश होकर सुरेन्द्र मामा ने कहा, छोड़ो, दूसरों के भरोसे यह काम नहीं चलने का। इससे तो अच्छा है कि दियासलाई का कारखाना खोल दिया जाए। देश का काम भी होगा और आमदनी भी। लेकिन अब बाहर से आदमी नहीं बुलाएंगे। सीखकर स्वयं सब कुछ करेंगे। वफादार लडुकों को काम सिखाएंगे।'

भरतचन्द ने उत्तर दिया, चर्चा तो झगडू मिस्त्री ही तैयार कर सकता है, लेकिन दियासलाई की मशीन कितने की आएगी?.

सुरेन्द्र मामा बोले, त्रात सौ रुपये की।.

शरत् ने पूछा, .और कुमिल्ला से स्टीमर पर लाने में कितना खर्च होगा?.

सुरेन्द्र मामा बोले, त्रह नहीं मालूम। फिर भी वह बहुत ज्यादा नहीं होगा। ब्ध रुपये में केमिकल खरीदा जा सकेगा।.

भरतचन्द ने कहा, .अच्छा, मैं तुम्हें एक हजार रुपये दूंगा। वही काम करो।'

और दियासलाई का कारखाना चालू क्मिा गया, लेकिन हिन्दुओं के लड़कों में से कोई भी काम सीखने नहीं आया। बस थोडे-से मुसलमान लड़के मिले। उन्होंने कहा, न्हम काम सीखेंगे, लेकिन मजूरी देनी होगी।.

काफी पका-सुनी के बाद चार आना प्रतिदिन मजूरी तय हुई। काम जोरों से चल निकला, लेकिन अचानक एक दिन बारूद में आग लग गई। किसी का हाथ जला, किसी का पैर जला और किसी का मुंह जला। दियासलाई का कारखाना भी समाप्त हो गया। शरत् बाबू वापस लौट गए।

---

1. 4 सितम्बर से 9 सितम्बर, 1920 ई०

2. 22 अगस्त, 1924 ई० (रात्रि बारह बजे)

3. विप्लवी शरत्रचन्द्रेर जीवन प्रश्न-शैलेश बिशी, पू० 129

4. सन् 1922 ई०

5. यही बात श्री अमल होम ने लेखक से कहीं थी।

6. सन् 1913 ई०

7. 22 फरवरी, 1908 ई०

5

चर्खे में उनका विश्वास हो या न हो, प्रारम्भ में असहयोग में उनका पूर्ण विश्वास था। देशबन्धू के निवासस्थान पर एक दिन उन्होंने गांधीजी से कहा था, "महात्माजी, आपने असहयोग रूपी एक अभेद्य अस्त्र का आविष्कार किया है। अगर जनता सरकार से सहयोग न करे तो वह एक दिन में ही समाप्त हो जाए। तब हम एक वर्ष में नही चौबीस घण्टे में स्वराज्य ले सकते हैं।"

इस कार्यक्रम में सचमुच उनका बड़ा उत्साह था। विलायती कपड़ों, वस्तुओं और किताबों के बहिष्कार के वे पूर्ण पक्षपाती थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब 'सर' की उपाधि लौटा दी थी, तो वे बहुत प्रसन्न हुए थे। लेकिन जब कांग्रेस के आहान पर सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने ऐसा नहीं किया तो वे बहुत दुखी हुए। बोले, "चांद में भी कलंक है। उन्हें 'सर' का खिताब लौटा देना चाहिए। उनके समान इतने बड़े देशभक्त ने उपाधि का त्याग नहीं किया, यह व्यथा मेरे मन से किसी भी तरह दूर नहीं होती।"

उनकी व्यथा इसलिए और भी अधिक थी कि वे आचार्य राय को बहुत प्यार करते थे। विलायती वस्त्रों के साथ विलायती खिताबों के बहिष्कार से स्वाधीनता निकट आएगी यह उनक दृढ़ विश्वास था। जो विदेशी खिताब पाकर धन्य होते है, वे बहुत छोटे हैं। और जो उनका सम्मान करते है, वे भी देश के शत्रु हैं।

असहयोग के दिनों में देशबन्धु के सामने एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई थी। पुरुष जैसे इस संग्राम में कूद पड़े थे, वैस ही नारियां भी उसमें भाग लेने को आतुर थीं। उन्हीं को लेकर देशबन्धु चिन्तित थे। विशेषकर उनकी व्यवस्था के प्रश्न को लेकर। अन्त में उन्होंने शरत्चन्द्र से कहा, "यह भार आपको सौंपता हूं। इनके लिए आपको स्वतन्त्र व्यवस्था करनी होगी।"

स्त्रियां बहुत नहीं थीं। शरत्चन्द्र ने उनके लिए भवानीपुर में 'नारी कर्म मंदिर' की स्थापना की और उसकी परिचालना का भार सौंपा देशबन्धु की बहन उर्मिला देवी को। बाद में यह संख्या कुछ और बढ़ी, लेकिन शरत्चन्द्र संख्या में विश्वास नहीं करते थे। वे कहा करते थे, "चुग-युग से जो घर से बाहर नहीं निकलीं, रसोई और प्रसूतिघर के अतिरिक्त जिनका और कोई कर्मक्षेत्र नहीं रहा, उनमें से स्वाधीनता के सहस्रों सैनिक कहां से आएंगे? लेकिन कमल कीचड़ से ही फूटता है। एक दिन देश के अन्तःपुर से ही वह फूटेगा।"

यह पहला अवसर था जब गांधीजी के आहान पर भारत की नारी सामूहिक रूप में पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर रणभूमि में उतरी थी। दोनों साथ-साथ रहेंगे तो क्या

अप्रीतिकर घटनाएं न घटेंगी? यह आशंका अनेक व्यक्तियों को परेशान कर रही थी। शरत् बाबू ने इस अवसर पर स्पष्ट शब्दों में कहा, "मशाल के दीप्त प्रकाश से अंधकार नष्ट होता है, यही बात सब लोग जानते है। लेकिन उससे उठने वाली किंचित् बदबू की ओर क्या किसी का ध्यान जाता है? जल-प्लावन से धरती उर्वर हो उठती है। यदि उस जल के साथ कुछ मैला भी आ जाए तो परेशान होने की क्या बात है?"

शिवपुर इंस्टीट्यूट में भाषण देते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा, "जिस चेष्टा में, जिस आयोजन में देश की नारियां सम्मिलित नहीं हैं, उनकी सहानुभूति नही है, उस सत्य की उपलब्धि करने का कोई ज्ञान, कोई शिक्षा, कोई साहस आज तक जिनको हमने नहीं दिया, उनको केवल घर के घेरे के भीतर बिठाकर, केवल चरखा कातने के लिए बाध्य करके ही कोई बड़ी वस्तु नहीं प्राप्त की जा सकेगी। औरतों को हमने जो केवल औरत बनाकर ही रखा है मनुष्य नहीं बनने दिया उसका प्रायश्चित्त स्वराज्य के पहले देश को करना ही चाहिए। अत्यन्त स्वार्थ की खातिर जिस देश ने अब तक केवल उसके सतीत्व को ही बड़ा करके देखा है, उसके मनुष्यत्व का कोई खयाल नही किया, उसे उसका देना पहले चुका देना ही होगा।" [1]

जिस समय ये मुटठी-भर नारियां पिकेटिंग करती हुई गिरफ्तार हुई थीं, तो जैसे दावानल भड़क उठा था। सहस्रों व्यक्ति वालंटियर बनने और गिरफ्तार होने के लिए दौड़े पड़े थे।

आन्दोलन का एक प्रमुख अंग था सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार। कांग्रेस ने छात्रों के अभिभावकों से अनुरोध किया कि वे अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों और कालेजों से निकाल लें। इस प्रार्थना का अच्छा प्रभाव हुआ। देखते-देखते असंख्य छात्र स्कूलों और कालेजों से बाहर आ गये। देशबन्धु दास ने वेलिंग्टन स्क्वायर की 'फरवीज़ मेंशन' की विशाल अट्टालिका में 'गौड़ीय सर्व विद्या आयतन' के नाम से राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की और इसके परिचालन के लिए यहीं पर एक राष्ट्रीय विद्यालय 'कलकत्ता विद्या मन्दिर' भी स्थापित किया गया। [2] महात्मा गांधी ने इसका उद्घाटन किया। उसके प्रिंसिपल बने सुभाषचन्द्र बोस, और शरतचन्द्र हुए बंगला भाषा के मुख्य प्राध्यापक। पहले के परिचित सभी कामों से अपने को अलग कर वे अब नयी पाठशाला के काम में व्यस्त हो गये। इस समय उनके सामने देश की मुक्ति का आन्दोलन ही सबसे ऊपर था। लेकिन वे जितना उत्साह स्कूल और कालेज के इस बहिष्कार आन्दोलन में ले रहे थे, सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री सर आशुतोष मुखोपाध्याय और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर उसका उतना ही विरोध कर रहे थे। देशबन्धू दास ने सर आशुतोष का विरोध करते हुए कहा, "शिक्षा इंतज़ार कर सकती है, लेकिन स्वराज्य नहीं कर सकता।"

शरतचन्द्र की भी यही धारणा थी इसलिये कविगुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा और भक्ति रहते हुए भी वे चुप न रह सके। योरोप से लौटने पर जब कविगुरु ने 'शिक्षा क मिलन' नाम

का अपना निबन्ध [3] पहले आश्रम-वासियों के सामने फिर जातीय शिक्षा परिषद, यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट में पढ़ा तो दुखी मन से शरत् बाबू ने अपने मन के विश्वास को ही सही माना। जीवन में पहली बार कविगुरु से उनका संघर्ष हुआ। यद्यपि इस निबन्ध में कविगुरु ने स्पष्ट शब्दों में महात्माजी का विरोध नहीं किया था, पर उनका आशय यही था कि गांधीजी जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की निन्दा करते है, आधुनिक भारत के पक्ष में वह सदुपदेश नहीं कहा जा सकता। इस मान्यता का खण्डन करते हुए उन्होंने 'शिक्षा का विरोध' [4] नाम से अपना लम्बा निबन्ध गौड़ीय सर्व विद्या आयतन' में पढ़ा। उसके अन्त में उन्होंने जो कुछ कहा, वही उनकी विचारधारा का मूलमंत्र हे-

'....पश्चिम की सभ्यता का मूलमंत्र है 'स्टैण्डर्ड आफ लिविंग को (जीवनस्तर) बड़ा बनाना।. .....उनकी समाजनीति की चाहे जैसे व्याख्या क्यों न की जाए, उसका लक्ष्य है धनी होना। उनकी सामाजिक व्यवस्था, उनकी सभ्यता और धनविज्ञान के साथ जिनका साधारण परिचय भी है, वे इस बात को अस्वीकार नहीं करेंगे। इस धनी होने का अर्थ केवल संग्रह करना ही नहीं हे, साथ ही साथ पड़ोसी को भी धनहीन कर देना इसका दूसरा उद्देश्य है। नही तो केवल धनी होने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। अतएव कोई एक महादेश यदि केवल धनी होना चाहे, तो अन्यान्य देशों त्नो ठीक इसी परिणाम में गरीब बनाए बिना नहीं रह सकता।.....यही उसकी सारी सभ्यता की नींव है। इसी नींव के ऊपर उसका विराट राजमहल आकाश को छू रहा है। इसी के लिए उसकी सारी शिक्षा, सारी साधना लगी हुई है। आज क्या हमारे कहने से हमारे ऋषियों के वचनों से, वह अपनी सारी सभ्यता के केन्द्र को हिला देगा? हमारे संसर्ग में उसके बहुत-से युग बीत गए, किन्तु हमारी सभ्यता की आंच तक उसने कभी अपने शरीर पर नहीं लगने दी।.....किन्तु आज खामखां अगर वह भारत की आधिभौतिक सत्य वस्तुओं के बदले भारत के आध्यात्मिक तत्त्व पदार्थ की खोज कर रहा हो तो हम खुशी मनाएं या होशियार हों, यह सोचने की बात है।

"योरोप और भारत की शिक्षा में असल में विरोध इसी जगह पर है। हमारा ऋषि वाक्य चाहे कितना अच्छा हो, उसे वे ग्रहण नहीं करेंगे। वह उनकी सभ्यता का विरोधी है। और अपनी शिक्षा भी वे हमें नहीं देंगे।.....और दें भी तो उसमें जितनी भिक्षा है, वह न लेना ही अच्छा। बाकी अंश यदि हमारी सभ्यता के अनुकूल न हों तो वह केवल व्यर्थ ही नहीं, कूड़ा है। उनकी तरह अगर हम पराये मुंह का अन्न छीनकर खाने को ही चूड़ान्त सभ्यता न मानें, तो उनका वह मारण मंत्र चाहे जितना सत्य हो उसके प्रति निर्लोभ रहना ही भला।

"और एक बात कहकर इस प्रबंध को समाप्त करूंगा कि विद्या और विद्यालय एक ही चीज़ नहीं है। शिक्षा और शिक्षा-प्रणाली ये दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं। किसी एक का त्याग ही दूसरे का वर्जन नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि विद्यालय छोड़ना ही विद्या-लाभ का बड़ा मार्ग हो। आपात दृष्टि से बात उलटी मालूम पड़ने पर भी उसका सत्य होना असम्भव

नहीं है। तेल जल मैं नहीं मिलता, ये दोनों पदार्थ एकदम उलटी प्रकृति के है। तो भी तेल का दीपक जलाते समय जो आदमी उसमें पानी डालता है सो केवल तेल को पूरा-पूरा जला देने के लिए। जो लोग इस तत्व को नहीं जानते, उनमें थोड़ा-सा धैर्य रहना अच्छा है।"

इस निबन्ध में शरत् बाबू ने कविगुरु पर एक रोचक चोट भी की, लिखा, "बंगला साहित्य में गोरा' नाम का एक अत्यन्त प्रसिद्ध उपन्यास है, कवि यदि उसे एक बार पढ़कर देखें तो देखेंगे उसके अत्यन्त स्वदेशभक्त ग्रन्थकार ने गोरा के मुंह से कहलवाया है, 'निन्दा पाप है, मिथ्या निन्दा और भी पाप है और अपने देश की मिथ्या निन्दा के बराबर पाप तो संसार में थोड़े ही हैं।" [5]

स्वयं महात्माजी भी कविगुरु को कुछ ऐसा ही उत्तर दे चुके थे-

"आज अगर लोग अंग्रेज़ी पढ़ते है तो व्यापारी बुद्धि से और कहे जाने वाले राजनीतिक फायदे के लिए ही पढ़ते है। हमारे विद्यार्थी ऐसा मानने लगे है कि अंग्रेज़ी के बिना उन्हें सरकारी नौकरी हर्गिज़ नहीं मिल सकती। लड़कियों को तो इसीलिए अंग्रेज़ी पढ़ाई जाती है कि उनको अच्छा वर मिल जाएगा। मैं इसकी कई मिसालें जानता हूं जिनमें स्त्रियां इसलिए अंग्रेज़ी पढ़ना चाहती हैं कि अंग्रेज़ों के साथ अंग्रेज़ी बोलना आ जाए। मैंने ऐसे कितने ही पति देखे हैं कि जिनकी स्त्री उनके साथ या उनके दोस्तों के साथ अंग्रेज़ी में न बोल सके तो उन्हें दुख होता है। मैं ऐसे कुटुम्बों को भी जानता हूं जिनमें अंग्रेजी भाषा को अपनी ज़बान बना लिया जाता है। सैकड़ों नौजवान ऐसा समझसे है कि अंग्रेज़ी जाने बिना हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिलना नामुमकिन-सा है। इसी बुराई ने समाज में इतना घर कर लिया है, मानो शिक्षा का अर्थ अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान के सिवाय और कुछ है ही नहीं। मेरे विचार में तो यह सब हमारी गुलामी और गिरावट की साफ निशानी है। आज जिस तरह देसी भाषाओं की उपेक्षा की जाती है, और जिस तरह उनके विद्वानों और लेखकों को रोटी के भी लाले पड़े हुए हैं, वह मुझसे देखा नहीं जाता। मां-बाप अपने बच्चों को और पति अपनी स्त्री को अपनी भाषा छोड्कर अंग्रेज़ी में पत्र लिखे तो वह मुझसे कैसे बर्दाश्त हो सकता है?

"कवि सम्राट के बराबर ही मैं भी बदल की स्वतन्त्रता पर मुग्ध हूं। मुझे भी खुली हवा पर श्रद्धा है। मैं नहीं चाहता कि मेरा घर सब तरह खड़ी हुई दिवारों से घिरा रहे और उसके दरवाज़े और खिड़कियां बन्द कर दी जाएं। मैं भी यही चाहता हूं कि मेरे घर के आसपास देश-विदेश की संस्कृति की हवा बहती रहे, पर मैं यह नहीं चाहता कि उस हवा से ज़मीन पर से मेरे पैर उखड़ जाएं और मैं औंधे मुंह गिर पड़ूं। मैं दूसरे के घर में अतिथि, भिखारी या गुलाम की हैसियत से रहने के लिए तैयार नहीं हूं। झूठे घमण्ड के वश होकर या कही जाने वाली सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए मैं अपने देश की बहनों पर अंग्रेज़ी का नाहक बोझ डालने से इनकार करता हूं। मैं चाहता हूं कि हमारे देश के जवान लड़के-लड़कियों को साहित्य में रस हो तो वे भले ही दुनिया की दूसरी भाषा की तरह अंग्रेज़ी भी जी भरकर पढ़ें। फिर मैं उनसे आशा रखूंगा कि वे अपने अंग्रेज़ी पढ़ने के लाभ डाक्टर बोस, राय और

कविसम्राट की तरह हिन्दुस्तान को और दुनिया को दें। लेकिन मुझसे यह नहीं बर्दाश्त होगा कि हिन्दुस्तान का एक भी आदमी मातृभाषा को भूल जाए, उसकी हंसी उड़ाए या उससे शर्माए या उसे यह भी लगे कि वह अपने अच्छे से अच्छे विचार अपनी भाषा में नहीं रख सकता। "कविसम्राट धीरज रखेंगे तो वे देखेंगे कि हिन्दुस्तान आज ऐसी कोई बात नहीं कर रहा है, जिससे उसे विदेशों में अपने देश-भाइयों के लिए अफसोस करना पड़े या नीचा देखना पड़े। उन्हें मैं नम्रता के साथ चेतावनी देता हूं कि वे ऐसा न मानें कि इस आन्दोलन के सिलसिले में जो थोड़ी-सी अफसोस करने लायक घटनाएं हो गई हैं वे ही इस आन्दोलन का सच्चा स्वरूप हैं। डायर और ओडायर पर से अंग्रेजों की कीमत आंकना जितना गलत है, उतना ही गलत लन्दन में बताई गई विद्यार्थियों की कुछ नासमझा या मालेगांव की ज़्यादतियों से असहयोग की कीमत लगाना भी है।" [6]

कवि अब भी चुप नहीं रहे। 'सत्य का आहान' नामक एक और निबन्ध उन्होंने यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट [7] में पढ़ा, जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से और पूरी तरह असहयोग और चर्खे को अस्वीकार कर दिया। इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि शरत् और कवि के चिन्तन में वास्तविक विरोध कहां था। शरत् मानते थे कि स्वाधीनता मिलने पर सब कुछ मिल सकता है। 'पथेर दाबी' का सव्यसाची यही तो कहता है, "भारती, मैं नहीं चाहता देश का कल्याण, देश की समृद्धि। मैं चाहता हूं देश की स्वाधीनता।" इसके विपरीत कवि का मत था कि मनुष्य के मन में मुक्ति होने पर स्वाधीनता आप ही प्राप्त हो जाएगी।

लेकिन केवल स्कूल और कालेजों के बहिष्कार ही की बात नहीं थी, असहयोग आन्दोलन के दूसरे कार्यक्रम भी बड़े उत्साह के साथ नगर-नगर और गांव-गांव में मनाए जा रहे थे। विदेशी वस्त्रों की होली में मानो दासता का परिधान भस्म हो रहा था। वकील दबादब वकालत छोड़ रहे थे। राष्ट्रीय पंचायतें स्थापित हो रही थी। शरत् बाबू भी अपनी साहित्य-साधना को छोड्कर देशबन्धु के पास चले जाते थे। उनके पत्र में प्रकाशित होने वाली सामग्री के चयन और सम्पादन में ही योग नहीं देते थे, उसका निर्माण तक करते थे। लेकिन सुभाषचन्द्र बोस के एक पत्र से [8] जो उन्होंने शरत् बाबू के पड़ोसी श्री भोलानाथ राय को लिखा था, यह स्पष्ट है कि भाषण देना उनके लिए सरल काम न था, "मैंने बहुतों को आशा दिलाई है कि शरत् बाबू फिर भाषण देंगे। यदि एक दिन फिर सभा नहीं होती तो मेरी बात नहीं रहेगी, मान भी नहीं रहेगा।"

इस तरह दिन, सप्ताह और मास बीतते जा रहे थे। समूचा देश एक नई चेतना से मुखर हो उठा था। हिन्दु-मुसलमान सब जैसे एक प्राण दो देह हो रहे थे। 'वन्दें मातरम्' और 'अल्ला हो अकबर' का सम्मिलित स्वरघोष भारत के भाग्याकाश में गूंज रहा था। मानव का वह उच्छवास-रखते, वह उद्दाम कर्म-शक्ति, वह मृत्युंजय आशावाद, वह स्नेह-दीप्ति फिर कभी नहीं देखी गई। महात्माजी का एक वर्ष में स्वराज्य का नारा जैसे जीवन का संजीवन-मंत्र बन गया। 'तिलक स्वराज्य फण्ड' के लिए 9 करोड़ रुपये की अपील पर जनता ने उन

पर धन की सचमुच वर्षा की। बंगाल कैसे पीछे रहता। स्त्रियों ने अपने आभूषण तक उतारकर उनकी झोली में डाल दिए।

उधर सरकार की चिन्ता की कोई सीमा न थी। दमनचक्र की गति तीव्र से तीव्रतर होने लगी। वैसी ही तीव्रता आने लगी जनता के उत्साह में। युवराज वर्ष के अन्त में भारत आनेवाले थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कार्य समिति ने निश्चय किया कि उनके आने पर किसी प्रकार का स्वागत न किया जाए। देश ने उसकी आज्ञा का पालन किया, किन्तु ईसाई और पारसी विरोध कर रहे थे। इसलिए बम्बई में भयंकर दंगा हो गया। महात्माजी बहुत दुखी हुए। कार्य समिति ने बंगाल को इस शर्त पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन की अनुमति दी कि कथन और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से अहिंसा का पालन किया जाएगा।

बंगाल में आन्दोलन के संचालक देशबन्धु दास थे। बाज़ारों में खादी बेचने के लिए जो स्वयंसेवक गए, उनमें उनके पुत्र भी थे। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उसके बाद उनकी पत्नी वासन्ती देवी और बहन उर्मिला देवी ने नेतृत्व संभाला। युवराज उसी समय कलकत्ता पधारे। उस दिन हड़ताल का अनुरोध करने के कारण वासन्ती देवी को भी गिरफ्तार कर लिया गया। बंगाल में जैसे उत्साह का तूफान जाग उठा। शरत्चन्द्र की उत्तेजना का कोई पार नहीं था। 'भारतवर्ष' के सम्पादक जलधर सेन उन्हें प्यार करते थे। बार-बार निराश होकर भी उनके पास लेख मांगने के लिए आना उन्होंने नहीं छोड़ा था। उस दिन भी आए। बोले, 'शरत्, बहुत दिनों से तुमने कुछ नहीं लिखा। अब फिर शुरू करो। '

शरत् तब हुक्का पी रहे थे। नली कं। परे हटाकर कहा, "लिखूं? किसके लिए लिखूं? क्या लिखूं? क्यों लिखूं क्या होगा लिखकर? वासन्ती देवी अपने एकमात्र बेटे के साथ कलकत्ता के राजपथ पर सबके सामने सार्जेण्ट द्वारा गिरफ्तार कर ली गईं। फिर भी बंगाली उस दिन लाट साहब के घर जाकर खाना खा आए। अब भी लोग विलायती कपड़े पहनते हैं, अब भी उसी सरकार की नौकरी करते है, अब भी कोर्ट-कचहरी में वकील-बैरिस्टर घिस-घिस करते हैं। हम लोग दास हैं, भाड़े के टट्टू है और ज़रखरीद गुलाम हैं। हमारे लिए लज्जा की बात है।"

घटनाएं बड़ी तेज़ी से घट रही थीं। बंगाल के गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे ने देशबन्धु दास को समझौते की बातचीत के लिए आमन्त्रित किया, किन्तु उसका कुछ परिणाम नहीं निकला। देशबन्धू को गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे और बहुत-से नेता भी गिरफ्तार हो गए। शरत् अभी बाहर ही थे। शचिनन्दन चट्टोपाध्याय ने लिखा है "जब गिरफ्तारियों का प्रकोप तीव्र हो रहा था तो एक दिन उन्होंने हेमन्तकुमार सरकार से पूछा था, 'हेमन्त, क्या जेलखाने में अफीम खाने देते हैं?'

" 'जी नहीं।'

" 'तम्बाकू खाने देते हैं?'

" 'जी, वह भी नहीं।'

" 'तब तो मेरा जेल जाना नहीं होगा।'

देशबन्धु उस दिन तक गिरफ्तार नहीं हुए थे। यह वार्तालाप सुनकर हंस पड़े। पूछा, 'क्यों नहीं होगा।'

'शरत बाबू बोले, 'जाम पड़ता है जेलखाना भद्र लोगों के रहने के लिए नही है। वहां मेरे लिए ठीक नहीं होगा। गवर्नमेण्ट यदि गोली चलाए तो उसके सामने खड़ा रह सकता हूं, लेकिन भेड़ों के गिरोह में बैठे-बैठे दिन-रात कड़ियां गिनते-गिनते महीनों पर महीने काट देना मुझसे नहीं होगा।' [9]

वास्तव में प्रचलित अर्थों में शरत् बाबू जननेता नहीं थे। वे मित्र और परामर्शदाता थे। उस समय तक केवल कांग्रेस वालंटियर बोर्ड ही गैरकानूनी घोषित की गई थी, कांग्रेस नहीं। शरत् वालटियर कोर के सदस्य नहीं थे, इसलिए उनके गिरफ्तार होने का प्रश्न ही नहीं था। वे बराबर कांग्रेस का कार्य करते रहे।

अब तक शरत् बाबू दाढ़ी रखते थे, लेकिन एक दिन अचानक जब वे सर्वेट के कार्यालय में पहुंचे तो उनके दाढ़ी-विहीन मुख को देखकर सम्पादक श्रीश्यामसुन्दर चक्रवर्ती चकित हो उठे। बोले, "आइए, आइए, यह आपकी दाढ़ी क्या हुई?"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, .आजकल इस आन्दोलन में जिस अपराध के लिए एक हिन्दू को छ: महीने की सज़ा दी जाती है, उसी अपराध के लिए एक मुसलमान को दुगनी सज़ा दी जाती है। इसलिए मैं हिन्दू बन गया हूं।"

सुनकर सब अट्टहास कर उठे, पर उनकी इस विनोदप्रियता से यह स्पष्ट हो जाता है कि जेल-यात्रा उनके उपचेतन में जमकर बैठ गई थी।

युवराज के आने से पूर्व एक बार फिर समझौते की बात चली। देशबन्धु दास तब अलीपुर जेल में थे। पण्डित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल वायसराय से मिला। उसके बाद अलीपुर जेल में देशबन्धू से टेलीफोन पर बातें हुईं। अहमदाबाद में गांधीजी से राय ली गई, लेकिन कैदियों के छुटकारे और पिकेटिंग के अधिकार पर समझौता नहीं हो सका।

युवराज कलकत्ता' आये, परन्तु यह महानगरी श्मशान की तरह नीरवता का आवरण डाले बैठी रही। कसाइयों तक की दुकानें बन्द थी। देशबन्धू स्वयं हड़ताल का संचालन कर रहे थे और मामा उपेन्द्रनाथ को साथ लिए शरत्चन्द्र नंगे पैर हावड़ा पुल के पास अपार जनता के बीच नियन्त्रण करते धूम रहै थं। इतनी परिपूर्ण हड़ताल फिर किसी दिन नहीं हुई। इस सफलता सं योरोपियन क्षुब्ध हो उठे। सरकार का दमन भी तीव्र हो उठा और उसी के साथ तीव्र हो उठा असहयोग आन्दोलन।

ऐस वातावरण में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। देशबन्धु दास उसके सभापति चुने गये थे, परन्तु वे तो जेल में थे। इसलिए हकीम अजमल खां स्थानापन्न सभापति निर्वाचित हुए। देशबन्धू का भाषण पढ़ा भारतकोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू

ने। उसमें देशबन्धु ने भारतीय राष्ट्र संघ का व्यापक रूप से सिंहावलोकन करते हुए कहा, "पेश्तर इसके कि हमारी संस्कृति पश्चिमी सभ्यता को आत्मसात करने को तैयार हो, उसे पहले अपने-आप को पहचान लेना होगा।.

गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट पर विचार करते हुए उन्होंने घोषणा की, "इस कानून को सरकर के साथ सहयोग करने की बुनियाद पर स्वीकार करने की सिफारिश मैं आपसे नहीं कर सकता। मैं इज़्ज़त खोकर शान्ति खरीदना नहीं चाहता। जब तक इस कानून का यह प्राक्कथन कायम है और जब तक हमारे इस अधिकार को, कि अपने घर का इंतजाम, अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकस और अपने भाग्य का निर्णय आप करें, तस्लीम नहीं कर लिया जाता, मैं सुलह की किसी शर्त पर विचार करने के लिए तैयार नहीं हूं।"

आन्दोलन के समाप्त होने का कोई प्रश्न नहीं था। देश के कोने-कोने में अहिंसक विप्लव की आग सुलग रही थी, परन्तु ठीक इसी समय एक दुर्घटना घटी.। तीव्र गति से घूमता हुआ कालचक्र जैसे सहसा रुक गया।

गोरखपुर ज़िले के चौरीचौरा ग्राम [10] में कांग्रेस का एक जुलूस निकाला गया था। इस अवसर पर अचानक दंगा हो गया। उसके बाद भीड़ ने इक्कीस सिपाहियों और एक थानेदार को थाने में बन्द करके आग लगा दी। किसी को बाहर नहीं निकलने दिया। वे सबके सब जलकर मर गए।

इससे पहले बम्बई और मद्रास में भी इसी प्रकार के दंगे हो चुके थे। उनमें लगभग 53 व्यक्ति मरे थे और 400 घायल हुए थे। इन दंगों के कारण गांधी जी बहुत विचलित टुए। बारदोली में कार्य समिति [11] की एक बैठक हुई और उसमें यह निश्चय किया गया कि सामूहिक सत्याग्रह आरम्भ करने का विचार छोड़ू दिया जाए। कांग्रेस जनों से अनुरोध किया गया कि वे गिरफ्तार होने और सजा पाने के लिए ही कोई काम न करे। एक रचनात्मक कर्यक्रम तैयार किया गया। उसके अनुसार कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भर्ती करना, चर्खे का प्रचार करना, राष्ट्रीय विद्यालय खोलना, मादक द्रव्य-निषेध का प्रचार करना, और पंचायत संगठित करना और कराना ही मुख्य कार्य रह गया था।

गांधीजी रचनात्मक कार्य के द्वारा फिर से अहिंसक वातावरण पैदा करना चाहते थे, लेकिन जो बड़े-बड़े नेता जेल के भीतर बन्द थे, उन्होंने अनुभव किया कि गांधीजी ने आन्दोलन को बिलकुल ठंडा कर दिया है। पं० मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय ने जेल के भीतर से लम्बे-लम्बे पत्र लिखे। उन्होंने कहा कि एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दण्डदेने का गांधीजी को कोई अधिकार नहीं है। देशबन्धु दास भी यही मानते थे और यही विचार था शरत्चन्द्र का। शचिनन्दन ने लिखा है, उन्हें महात्माजी के इस निर्णय से बहुत वेदना हुई। उन्होंने कहा, 'महात्माजी ने भयानक भूल की है। इस अवस्था में आन्दोलन को स्थगित करने का अर्थ है आन्दोलन कई अपमृत्यु। जन-आन्दोलन एकदम ही नष्ट हो गया। यह फिर पुनर्जीवित नही होगा। सोचा था, इस आन्दोलन से स्वराज्य निश्चय

ही मिलेगा, पर महात्माजी ने उसे आरम्भ ही नहीं किया।.....कुछ कांस्टेबिल उत्तेजित जनता के हाथ जल मरे। उससे क्या हुआ? इससे ही क्या भारतवर्ष का आन्दोलन बन्द कर देना होगा? इतनें विराट देश की मुक्ति के संग्राम में क्या रक्तपात नहीं होगा? होगा ही तो। चारों ओर रक्त की गंगा बहेगी। उसी रक्त-प्रवाह के बीच में स्वाधीनता का रक्तकमल प्रस्फुटित होगा। इससे कैसा क्षोभ, कैसा दुख, कैसा अनुताप?.....नान वायलेंस अत्यन्त पवित्र विचार हैं, लेकिन स्वतन्त्रता की प्राप्ति उसमें कहीं अधिक, उससे शतगुना पवित्र है।'"

सत्याग्रह बन्द हो जाने के बाद सचमुच जैसे उमड़ते-उमंगते उत्साह पर छींटा पड़ गया। सरकार इसी क्षण की राह देख रही थी। उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया [12] और राजद्रोह के अपराध में छ: वर्ष के लिए कारागार में बन्द कर दिया। चालीस करोड़ नर-नारियों का वह नेता, जिसने भारतवर्ष के कोने-कोने में अग्नि प्रज्वलित कर दी थी, अपने ही हाथों से उसे शान्त करके यरवदा जेल के द्वार पर जा खड़ा हुआ। फाटक खुले और दृढ़ कदम रखता हुआ वह क्षीणकाय महामानव, उसके भीतर चला गया। द्वार बन्द हो गया और सविनय आन्दोलन के प्रथम अंक पर यवनिका गिर गई। शरत्चन्द्र सत्याग्रह के स्थगित हो जाने के कारण बहुत दुखी थे, परन्तु जब सरकार ने महात्माजी को जेल में बन्द कर दिया तो उन्होंने एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था 'महात्माजी'। इस लेख से स्पष्ट है कि जो व्यक्ति कुछ दिन पूर्व गांधीजी से असंतुष्ट था वही अब उनके अन्तरतम तक पहुंचकर सत्य को खोज लेता है और पूरी श्रद्धा के साथ प्रकट कर देता है। इन शब्दों में जैसे उनकी सारी वेदना पूंजीभूत हो गयी है।

जो अनन्य भाव से सत्यनिष्ठ है, जो मन-वाणी-काया से हिंसा को छोड़े हुए है, स्वार्थ के नाम से जिसका कहीं भी कुछ भी नहीं हे, आर्तों के लिए, पीड़ितों के लिए जो संन्यासी है इस अभागे देश में ऐसा कानून भी है, जिसके अपराध में इस आदमी को भी आज जेल जाना पड़ा।" [13]

---

1. पौष, 1328 (दिसम्बर, 1921 ई-जनवरी, 1922 ई०)

2. 4 फरवरी, 1921 ई०

3. 10 अगस्त, 1921 ई०

4. यह निबन्ध सुदेश और साहित्य से संगृहीत है। पहले यह बंग्लार कथा (3. सितम्बर, 1921) में छपा।

5. सन् 1921 ई०

6. 'अग्रेजी विद्या और रवि बाबू' -हिन्दी नवजीवन, 13 जून, 1921 ई०

7. 29 अगस्त, 1921 ई०

8. डाक मोहर 24 सितम्बर, 1922 ई०
9. 24 दिसम्बर, 1921 ई०
10. 5 फरवरी, 1922 ई०
11. 11 फरवरी, 1922 ई०
12. 13 मार्च, 1922 ई०
13 देखिए परिशिष्ट 3

6

उस दिन जलधर दादा मिलने आए थे। देखा शरत्चन्द्र मनोयोगपूर्वक कुछ लिख रहे हैं। मुख पर प्रसन्नता है, आखें दीप्त हैं, कलम तीव्र गति से चल रही है। पास ही रखी हुई गुड़गुड़ी की ओर उनका ध्यान नहीं है। चिलम की आग ठंडी पड़ गई है। यह देखकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। आह्याद से भरकर, हाथ की लाठी से, उन्होंने मेज़ पर चोट की और शरत्चन्द्र को चक्ति करते हुए बोल उठे, "खूब, खूब, इतने दिन बाद तुमने कलम पकड़ी है शरत्! तुम लिख रहे हो!"

मुख उठाकर शरत्चन्द्र बोले, "हां दादा, लिख रहा हूं।"

दादा खुश होकर पास की कुर्सी पर बैठ गए। पूछा, "यह तुमने क्या आरम्भ किया है?"

शरत्चन्द्र के मन में बड़े भाई के समान इस मित्र के लिए बड़ा कष्ट हुआ। म्लान हंसी हंसकर बोले, "कहानी, उपन्यास नहीं लिख रहा हूं दादा, देशबन्धु जेल से छूट आए हैं। [1] उसका सार्वजनिक अभिनन्दन हो रहा है। उसी के लिए अभिनन्दन-पत्र लिख रहा हूं।

देशबन्धु जेल से सविनय अवज्ञा आन्दोलन को नया रूप देने की परिकल्पना लेकर आए थे। उन्होंने कौंसिलों में प्रवेश करने का प्रस्ताव पेश किया। असहयोग के युग में यह प्रस्ताव सबको चकित कर देने वाला था, लेकिन शरत्चन्द्र ने देशबन्धु का साथ नहीं छोड़ा। वे परिषदों को खत्म कर देना चाहते थे, लेकिन अन्दर जाकर। उन्होंने कहा, "ये सुधरी हुई परिषदें नौकरशाही के चेहरे पर एक नकाब हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम इसे उतार फेंकें। इन परिषदों को खत्म कर देना ही हमारा सबसे प्रभावशाली बहिष्कार होगा। यह तभी सम्भव हो सकता है जब परिषदों में हमारा बहुमत हो। यदि हम चुनाव लड़ें तो उनके परिणामों से पता चल जाएगा कि हम तथ्यों के आधार पर आगे बढ़े हैं, कल्पनाओं के सहारे नहीं। मुझे पूर्ण विश्वास हे कि बहुमत हमारे पक्ष में रहेगा।"

बंगाल में इन प्रस्तावों का तीव्र विरोध हुआ। इतना कि शरत् बाबू को कांग्रेस कमेटी के सभापति पद से इस्तीफा देना पड़ा [2] कांग्रेस दो दलों में बंट गई-परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी। गया अधिवेशन में [3] जिसके सभापति स्वयं देशबन्धु थे, यह प्रश्न बड़े उग्र रूप से सामने आया। शरत्चन्द्र उस समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। अस्वस्थ हो जाने के कारण वे बीच में ही क्लकत्ता लौट आए थे लेकिन उन्होंने कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम का पूर्ण समर्थन किया। कहा, "असहयोग आन्दोलन को सहसा स्थगित कर देने से जो घोर निराशा छा गई हे, उससे मुक्त होने का एकमात्र उपाय यही है।"

चारों ओर के विरोध और अप्रिय आलोचना तथा अशिष्ट आक्रमण के बीच वे निरन्तर देशबन्धु को उत्साहित करते रहे कि जिस सत्य की उपलब्धि उन्होंने की है, उसका वे निरन्तर प्रचार करते रहें।

अपने अध्यक्षीय भाषण में देशबन्धु ने स्पष्ट और निस्संकोच भाव से परिषदों में प्रवेश का प्रस्ताव उपस्थित किया, लेकिन वह पारित न हो सका। तब उन्होंने तुरन्त अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दे दिया और पंडित मोतीलाल नेहरू के सहयोग से स्वराज्य पार्टी की नींव डाली। [4] उन्होंने घोषणा की कि एक दिन देश मेरा कार्यक्रम स्वीकार करेगा।.....

उन्होंने सारे देश का तूफानी दौरा किया। इस दौरे में प्रचार का जो स्तर था उसके संबंध में मतभेद की गुंजायश है और यह भी निश्चित है कि राजनीतिक उत्तेजना में मानवता की क्षति होती है, लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि शीघ्र ही किसी न किसी रूप में देश ने उनके कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। कुछ दिन बाद बम्बई में कार्यसमिति और महासमिति की बैठकें हुई। [5] सर्वसम्मति से देशबन्धु महासमिति के अध्यक्ष चुने गए। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन द्वारा प्रस्तावित तथा श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा अनुमोदित यह प्रस्ताव उस समिति में पास हुआ कि सब कांग्रेसियों को अपने मतभेद भुलाकर संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए। कांग्रेस यह निर्देश देती है कि गया में स्वीकार किए गए प्रस्ताव के सिलसिले में अब और किसी तरह का प्रचार न किया जाए।

यह उस अप्रिय संघर्ष के अन्त का आरम्भ था जो कांग्रेस के भीतर विषाक्त वातावरण पैदा कर रहा था। देशबन्धु का सबसे भयंकर विरोध स्वयं उनके प्रान्त में था। बम्बई में महासमिति की बैठक से दो सप्ताह पूर्व ही बारीसाल नगर में बंगीय प्रादेशिक कमेटी की बैठकें [6] हुई थीं। शचिनन्दन ने लिखा है - "देशबन्धु सदल-बल वहां पहुंचे थे। शरत् बायू भी साथ थे। वे सब लोग साधारण सदस्यों के साथ बैठे। किसी ने देशबन्धु से मंच पर बैठने तक का अनुरोध नहीं किया। श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती सभापति थे। देशबन्धु सभापति के एक रूलिंग के संबंध में बोलने के लिए उठे। श्याम बाबू ने दूसरी ओर मुंह फिराकर कहा, मैं 'उस आदमी' की बात नहीं सुनूंगा?"

देशबन्धु की आखें अभिमान से जल उठीं। वे बोले, "श्याम बाबू, मैंने बहुत दिन तक बैरिस्टरी की है। हाईकोर्ट के किसी जज ने मुझसे यह कहने का साहस नहीं किया कि वह मेरी बात नहीं सुनेगा और आज आप ये शब्द कहते हैं?"

शरत्चन्द्र भी उठकर खड़े हो गए। वे कहने लगे, "श्याम बाबू आपने देशबन्धु को 'उस आदमी' कहकर पुकारा? 'महानुभाव शब्द का प्रयोग तक न कर सके?"

श्याम बाबू उत्तेजित होकर बोले, "मैं तुम्हारा मुंह नहीं देखना चाहता।"

शरत्चन्द्र यह अपमान नहीं सह सकते थे। राजनीति में आदमी को जैसी मोटी खाल वाला होना चाहिए, वैसे वे नहीं थे। क्रोध से उबलते हुए उन्होंने सभा का त्याग कर दिया। जब सब लोग निवास-स्थान पर लौटे तो पाया कि वे उत्तेजित होकर बरामदे में इधर से उधर

घूम रहे हैं। उन्होंने अलीपुर बम केस के सुप्रसिद्ध अभियुक्त उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय के पास आकर कहा, "उपीन, तुम तो भाइ बम पार्टी के नेता थे, क्या मुझे एक बम तैयार करके दे सकते हो?"

उपेन्द्र दा ने पूछा, पम, बम क्या करेंगे आप?"

"श्यामू चकोती के सिर पर फेंक मारूंगा। उसने मुझसे कहा कि मैं तुम्हारा मुंह नहीं देख सकता। ओरे बाबा, बारेन्दी ब्राह्मण। ब्राह्मणों में बारेन्दों और रोगों में ...।"

और भी बहुत अ न कहने योग्य उन्होंने कहा। ऐसा कि दूसरे लोग हंस ही सकते थे इसलिए सबके सम्मिलित अट्टहास से वह कमरा गूंज-गूंज उठा। शरत्चन्द्र और भी कुद्ध होकर बोले, हंसते हैं, मेरा इस तरह अपमान किया गया फिर भी आपको हंसी आती है! राजनीति में किसी भले आदमी का इस तरह अपमान किया जाता है! मैं अब और इसमें नहीं ठहर सकता। काफी देख किया अब और नहीं।"

देशबन्धु स्नेह के साथ एक हाथ अपने हाथ में लेकर बोले, "ऐसा ही कीजिए। आप इसे छोड़ दीजिए। आप साहित्यिक हैं, शिल्पी हैं। आपकी अनुभूति अत्यन्त नाजुक है। इतनी व्यथा और इतना अपमान आप नहीं सह सकेंगे। आप कांग्रेस और राजनीति को एकदम छोड़ दीजिए।"

शरत् एक कुर्सी पर जा बैठे। हुक्का तैयार था। दो-तीन कश खीचकर बोले, "किन्तु कैसे छोड़ूं?" सहसा उनका कण्ठ वेदना से अभिभूत हो उठा। आंखें भर आईं। अन्तस्तल से एक दीर्घ निःश्वास निकला, "आपकी इस असहाय अवस्था में जब चारों ओर से बाधाएं घिरती आ रहीं हैं, तब उनके बीच में आपका विसर्जन करके भागकर अपनी आत्मरक्षा कैसे करूं? मेरी व्यथा अत्यन्त साधारण है, लेकिन आप तो दुखों के दावानल में फंसे हुए हैं। नहीं, आपको छोड़कर नहीं भाग सकता।"

और वे बड़ी तेजी से हुक्के के कस खींचने लगे।

इस अवसर पर बंगीय साहित्य परिषद् की स्थानीय शाखा ने उनका सम्मान किया। उस सभा में देशबन्धु दास, सुभाषचन्द्र बोस व किरणशंकर राय आदि भी उपस्थित थे। अभिनन्दन का उत्तर देते हुए भी वे देश को नहीं भूले। उन्होंने कहा, "आज इस देश में जिसे महान् साहित्य कहते हैं, उसका सृजन नहीं हो सकता क्योंकि हम राजनैतिक, सामाजिक किसी भी दृष्टि से मुक्त नहीं है। जिस दिन वह मुक्ति मिलेगी उसी दिन आनन्द के भीतर से उस साहित्य की सृष्टि होगी।"

देश की स्वतंत्रता के प्रति उनकी अनुरक्ति वास्तविक थी। तभी तो वे मन-वचन-कर्म से इस संग्राम में योग देने के लिए देशबन्धु के पीछे खड़े थे।

इतने विषाक्त वातावरण और इतने संधर्ष के बावजूद देशबन्धु ने बम्बई में समिति के सदस्यों को अपने दृष्टिकोण से सहमत कर लिया। इसके पश्चात् मौलाना आज़ाद के सभापतित्व में कांग्रेस का एक विशेष और कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिवेशन

दिल्ली में हुआ। [7] दिलीपकुमार राय और सुभाषचन्द्र बोस के साथ शरत्चन्द्र भी इसमें भाग लेने के लिए पहुंचे। इस अधिवेशन में कांग्रेस के दोनों दलों में अन्तिम रूप से समझौता हो गया और अगले निर्वाचनों में खड़े होने तथा अपनी राय देने के अधिकार का उपयोग करने की स्वतन्त्रता सबको दे दी गई। कौंसिल प्रवेश के विरुद्ध सब प्रचार बन्द कर दिया गया। देशबन्धु विधान मण्डलों में आकर नये सुधारों को निरर्थक सिद्ध करना चाहते थे। उन्होंने कहा, "मेरा कहना तो यह है कि या तो मैं वहां उन सुधारों को नष्ट करने के लिए जाऊं, जो हमारा खून चूस रहे हैं, या फिर बिलकुल भी न जाऊं। मुझे इस बात से अत्यन्त प्रसन्नता है कि इस समझौते के प्रस्ताव में अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्तों पर जोर दिया गया है। अगर परिषद् में हमारा अल्पमत होगा तो मैं उन सीटों को रिक्त रखूंगा। वे असहयोग के प्रकाशित दीपों का काम करेगी।"

इसके तुरन्त बाद ही बंगाल कौंसिल के चुनाव आ पहुंचे। देशबन्धु ने शरत्चन्द्र से कहा, "आप हावड़ा से खड़े होइए।"

शरत्चन्द्र हंस पड़े। बोले, "आप मजाक करते है। मैं कौंसिल के चुनाव में खड़ा होऊं?"

"क्यों न खड़े हो?"

"ना, ना, उससे क्या? मैं साधारण लेखक हूं। मैं क्या चुनाव में खड़े होने योग्य हूं? लोग क्या कहेंगे?"

देशबन्धु विस्मित होकर बोले, "आप क्या कहते हैं शरत् बाबू?"

शरत्चन्द्र ने उत्तर दिया, "ठीक कहता हूं। देश के लिए मैंने क्या किया है? जेल नहीं गया, वकालत-बैरिस्टरी नहीं छोड़ी। किसी प्रकार का देश-निकाला या त्याग स्वीकार नहीं किया। आप मुझको प्यार करते हैं, यह मेरा और आपका व्यक्तिगत मामला है। आप स्वयं कवि और साहित्यिक हैं। साहित्यिक के रूप में ही आप मुझे प्यार करते है। मित्रता के नाते मैं आपका प्रियजन हो सकता हूं, किन्तु देश की जनता कैसे मुझे प्रियजन माने। मैं अपनी साधारण साहित्य-साधना को राजनीति का मूलधन बनाना नही चाहता। विशेषकर कौंसिल का काम, अंग्रेजी भाषण सुनना और देना, इन दोनों से ही मुझे अरुचि है। आप मुझे मुक्ति दीजिए। ऐसे किसी को खड़ा कीजिए, जिसे जनता मुक्त मन से स्वीकार करे। यूं ही आपकी विपत्तियों का कोई अन्त नही है। राय देने वालों के ऊपर अपनी रुचि लादकर अपनी बाधाओं को और अधिक न बढ़ाइए।"

शिल्पी शरत्चन्द्र ही ऐसा कह सकते थे। उस समय वे अपनी ख्याति के शिखर पर थे। जन-जन की जिहा पर उनका नाम था। शायद वे आसानी से कौंसिल के सदस्य और हावड़ा म्युनिसिपल कमेटी के चेयरमैन हो सकते थे, लेकिन उनका चिरसंगी आलस्य और शिल्पी का बैरागी मन क्या उन्हें कुछ करने देता, इसलिए उन्होंने ठीक ही अपनी साहित्य-साधना को राजनीति का मूलधन नहीं होने दिया।

जब कलकत्ता नगर निगम का पुनर्गठन हुआ तो देशबन्धु ने अधिकांश सीटें निर्विरोध ही प्राप्त कर लीं। वे कलकत्ता के प्रथम मेयर बने, लेकिन शरत्चन्द्र उसी तरह पीछे खड़े रहे। हां, जब दास बाबू ने 'फारवर्ड' दैनिक पत्र का प्रारम्भ [8] किया तब उन्होंने शेयर बेचने में उनकी यथोचित सहायता की। चन्दा इकट्ठा करने में तनिक भी रुचि नहीं थी, परन्तु जब देशबन्धु ने ग्राम संगठन के लिए तीन लाख रुपये की अपील निकाली तब वे उनके साथ दर-दर भीख मांगते फिरे।

उस दिन रात हो आई थी। पानी बरस रहा था। उस समय देशबन्धु दास, सुभाषचन्द्र बोस और शरत्चन्द्र सियालदह के पास एक बड़े आदमी की बैठक में कुछ रुपये पाने की आशा में बैठे हुए थे। सहसा शरत् झुंझलाकर बोले, "गरज़ क्या एक आपकी ही है? देश के आदमी सहायता करने में अगर इतने विमुख हो उठे हैं, तो रहने दीजिए।"

देशबन्धु के मन पर चोट लगी। कहा, "यह ठीक नहीं है शरत् बाबू दोष हम लोगों का ही है। हम लोग काम करना नहीं जानते। अपनी बात समझाकर नहीं कह सकते। बंगाली भावुक हैं, कृपण नहीं। एक दिन जब वे समझेंगे तब अपना सर्वस्व लाकर हमारे हाथ में सौंप देंगे।"

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय भी ऐसे ही आशावादी थे। उन्हीं के शब्दों में, "नारी कर्म मन्दिर की दो महिलाओं और श्रीयुत डा० प्रफुल्लचन्द्र राय महाशय को लेकर घोर आंधी-पानी के बीच आमता ज़िले की ओर हम गये..... .हमारे आने-जाने का खर्च हुआ पचास रुपया.... .पुलिस का भी इतना ही खर्च हुआ होगा। उन्नतिशील स्थान है। बहुत-से धनी लोग रहते हैं। फिर भी स्थानीय करघे और चरखे की उन्नति के लिए चन्दा किया गया तो वायदा हुआ तीन रुपये पांच आने का। इसके बाद आचार्य राय ने बड़े परिश्रम से यह आविष्कार किया कि वहां के दो वकील विलायती कपड़ा नहीं खरीदते। और एक आदमी ने उनकी वक्तृता पर मुग्ध होकर उसी दिन प्रतिज्ञा की कि भविष्य में अब वह भी विलायती कपड़ा नहीं खरीदेगा।..... प्रफुल्लचन्द्र ने प्रफुल्ल होकर मेरे कान में चुपके से कहा, हां, यह जिला उन्नतिशील है और ज़रा लगे रहिये.....।'"

उस दिन भी वे निरुत्तर हो गये थे आज भी बंगाल के प्रति देशबन्धु का यह प्रेम देखकर वे निरुत्तर हो गये। उन दोनों के संबंधों में एक विशेषता थी। देशबन्धु के साथ अनेक व्यक्ति थे, परन्तु वे सब उनके शिष्य थे। श्रद्धा-भक्ति रखते थे। मित्र और सखा का सौहार्द मिलता था उन्हें केवल शरत्चन्द्र से। जब वे आघात पर आधात पाकर व्याकुल हो उठते, तब मन-प्राण को उत्फुल्ल करने वाले शरत्चन्द्र ही थे। आर्थिक सहायता करने में भी वे कभी पीछे नहीं रहे। मोटी रकम का चेक चुपचाप देशबन्धु के हाथ में थमा आते।

तारकेश्वर के तत्कलीन महन्त सतीश गिरि के विरुद्ध महावीर दल के स्वामी सच्चिदानन्द और स्वामी विश्वानन्द ने सत्याग्रह आन्दोलन किया था। [9] वे दोनों सुधारवादी थे। परन्तु महन्त की शक्ति भी कम नहीं थी। इसीलिए वे दोनों स्वामी देशबन्धु की शरणं में

आए। एक दिन क्या हुआ कि स्वयं इन दोनों स्वामियों में किसी बात को लेकर काफी विरोध पैदा हो गया। देशबन्धु ने बड़े-बड़े समझौते कराए थे, परन्तु उन दोनों स्वामियों में समझौता करा सकने में वे सफल नहीं हो सके। उस दिन वे दोनों स्वामी चीख-चीखकर अपनी बात कह रहे थे। संयोग से शरत्चन्द्र भी वहां उपस्थित थे। देशबन्धु की व्यथा का कोई अन्त नहीं था। बोले, "शरत् बाबू, अब निश्चय ही प्राण गए।"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "वह तो जायेंगे ही।"

सुनकर देशबन्धु चकित हो उठे। शरत् बाबू बोले, "मोशाय, दो स्त्रियों को लेकर गृहस्थी चलाने में मनुष्य के प्राण संकट में पड़ जाते हैं। आप तो दो स्वामियों को लेकर घर-गृहस्थी करने चले है। आपके प्राण नहीं जाएंगे तो किसके जाएंगे?"

यह गम्भीर तर्क सुनकर सभी उपस्थित व्यक्ति अट्टहास कर उठे। दोनों स्वामियों ने भी मुक्त काट से उसमें अपना योग दिया। सम्भवत: इसी करण बाद में दोनों में समझौता भी हो गया।

शरत् बाबू की परिहास वृत्ति सचमुच बड़ी मुखर थी। बहुधा कठिन समय में वही वृत्ति वातावरण को बदल देती थी। उन दिनों अधिकांश व्यक्ति मोटा खद्दर पहनते थे। अनिलवरण राय तो मोटे खद्दर का केवल एक गमछा ही धारण करते थे, लेकिन इसके विपरीत सुभाषचन्द्र के बड़े भाई शरत्चन्द्र बोस अत्यन्त महीन खद्दर की धोती, कुर्ता और चादर का प्रयोग करते थे। वैसे भी वे विशालकाय व्यक्ति थे। धोती टखने तक आती। पंजाबी कुरता भी खूब लम्बा और ऊपर से चादर। एक दिन किसी ने विनोद में पूछ लिया, "शरत् बाबू, आपका यह महीन खद्दर कहां तैयार होता है।"

शरत् बाबू ने समझा कि वे बन्धु उनके बारीक खद्दर पहनने पर आक्षेप कर रहे हैं। उग्र होकर बोले, "भागलपुर में।.

लगा, जैसे कोई अप्रिय घटना होने वाली है कि तभी साहित्यिक शरत्चन्द्र बोले उठे, "अजी, हमारे यहां सब प्रकार के नमूने हैं। वैचित्र्य होना ही अच्छा है। अनिलवरण राय खद्दर की मदर टिंचर है और शरत्चन्द्र बोस टू हण्हेड डाइल्युशन।"

होम्योपैथिक दवाओं के सिद्धान्त के इस उदाहरण से वातावरण बिलकुल ही बदल गया। सब लोग अट्टहास कर उठे और शरत्चन्द्र बोस भी उस व्यंग्य की चोट को भूलकर हंसने लगे।

लेकिन कभी-कभी यह व्यंग्य बड़ा कठोर हो उठता था। दिल्ली कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर शरत्चन्द्र अन्य मित्रों के साथ दर्शनीय स्थान भी देखने गए थे। एक दिन वे लोग कुतुबमीनार के पास एक विकराल बावड़ी देखने गए। तुरन्त तीन मंज़िल से उसमें कूदने वाला एक युवक पण्डा उनके पास आकर हाज़िर हो गया। सुभाषचन्द्र ने उनमे एक रुपया दिया। वह तुरन्त नीचे कूद पड़ा। बाप रे, कैसा लोमहर्षक दृश्य था। ज़रा-से कुंए

जितना घेरा, कृपण के धन जैसी रोशनी, जरा इधर-उधर हुए तो हहु-पिसली गई, पर वह पण्डा तो फिर आकर रुपया मांगने लगा। बोला, "एक रुपया और दीजिए फिर कूदूंगा।.

सुभाषचन्द्र, किरणशंकर राय, दिलीपकुमार राय सभी ने मना कर दिया, परन्तु शरत् बाबू ने तुरन्त एक रुपया निकालकर उसके हाथ पर रख दिया। बोले, "कूदो।"

चकित होकर सुभाषचन्द्र बोस ने कहा, "क्यों, अभी तो देख चुके हैं।"

शरत् बाबू हंसकर बोले, "कौन जाने इस बार इधर-उधर हो जाने से चोट लगे या डूब जाए। तब एक दुस्साहसी पण्डा तो कम होगा।.

यहां से वे अपने छोटे भाई प्रभासचन्द्र (स्वामी वेदानन्द) के पास वृन्दावन गये। साथ में कई मित्र थे। एक दिन सभी राधाकुण्ड देखने गये। उन्हें देखकर कई पण्डे साथ आ लगे और पैसे मांगने लगे। किसी की समझ में नही आया कि क्या दें। लेकिन शरत् बाबू ने तुरन्त दो रुपये निकाले और उनके बीच में फेंक दिये। सभी चकित थे—दो रुपये! शरत् बाबू बोले, "देखा नहीं, उन रुपयों पर वे सब कैसे झपटे थे! मैंने सदा के लिए उनमें झगड़ा करा दिया है। ये रुपये किसके हैं, वे कभी फैसला नहीं कर पायेंगे।"

क्रूर हास्य की ये घटनाएं क्या स्पष्ट नहीं करतीं कि इन तमाशों से उन्हें कितनी घृणा थी?

---

1. जून 1922 ई०

2. 14 जुलाई, 1922 ई०

3. 26 दिसम्बर, 1922 ई०

4 1 जनवरी, 1923

5. 25-27 मई, 1923

6. 13 मई, 1923

7. 15 दिसम्बर, 1923

8. 23-10-1923 ई०

9. सन् 1924 ई०

7

शरत्चन्द्र इस समय आकण्ठ राजनीति में डूबे हुए थे। साहित्य और परिवार की ओर उनका ध्यान नहीं था। उनकी पत्नी और उनके सभी मित्र इस बात से बहुत दुखी थे। क्या हुआ उस शरत्चन्द्र का जो साहित्य का साधक था, जो अड्डा जमाने में सिद्धहस्त था, जो अभद्र भेलू और प्राणप्रिय पक्षी के लिए कुछ भी सहने को तैयार था? राजनीति ने उस असली शरत्चन्द्र को ग्रस लिया था। लेकिन वे बिल्कुल ही न लिखते हों ऐसी बात भी नहीं थी। शरत् ग्रंथावली [1] के पांचवें खण्ड के अतिरिक्त 'नारी का मूल्य' (संदर्भ) और 'देना-पावना' उपन्यास इसी काल में प्रकाशित हुए। 'श्रीकान्त' का तीसरा पर्व, 'पथेर दाबी', नवविधान' और 'जागरण'; ये चार उपन्यास भी उन्होंने इसी काल में लिखने आरम्भ किए। इसी काल में प्रकाशित हुई उनकी दो प्रसिद्ध कहानियां 'महेश' और 'अभागी का स्वर्ग'।

इसके अतिरिक्त उनके कुछ प्रसिद्ध भाषण और कुछ लेख भी इसी काल में प्रकाशित हुए और इसी काल में प्रकाशित हुआ 'श्रीकान्त' प्रथम पर्व का अंग्रेजी अनुवाद [2]। यह अनुवाद के० सी० सेन और थियोडोसिया टामसन ने किया था। भूमिका लिखी थी ई० जे० टामसन ने। प्रकशन हुआ था आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से।

देना-पावना' के साथ एक मधुर कहानी जुड़ी है। प्रसिद्ध नाटककार क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद 'बिन्दी का लल्ला' पढ़कर बिगड़ उठे थे। ऐसा लगता है वे उसे बिना पड़े ही बिगड़ पड़े थे। क्योंकि श्री यतीन्द्रमोहन सिंह ने अपनी पुस्तक 'भाहित्य की स्वास्थ्यरक्षा' में उन्हें अनीति क्त प्रचारक प्रमाणित करने में प्राणपण से चेष्टा की थी। परन्तु जब उन्होंने 'दत्ता' पढ़ा तो वे मुग्ध हो उठे। उसके बाद पढ़ा 'देना-पावना'। कैसी भाषा! कैसा चरित्र-चित्रण! वे अभिभूत हो आए। उन्होंने नलिनीकान्त सरकार से कहा, मैं शरत् बाबू से मिलना चाहता हूं।"

"किसलिए?"

"उन्हें प्रणाम करके उनका अभिनन्दन करूंगा।"

वयोज्येष्ठ साहित्यकार इससे अधिक और क्या कहते। और सचमुच जब वे दोनों मिले तो क्षीरोद बार ने शरत् को ऐसे छाती में भर लिया, जैसे जब अलग ही नहीं होंगे।

इस काल की उनकी रचनाओं पर स्पष्ट ही उनकी राजनीतिक अभिज्ञता का प्रभाव है। उनके मस्तिष्क में अनुभवों के विशाल कोष थे, जो उन्हें प्रेरणा और सूझ प्रदान करते रहते थे। गरीबी, ज़मींदारों के अत्याचार और स्वाधीनता के प्रति अदम्य आकांक्षा का इन रचनाओं में प्रस्फुटन हुआ है। 'महेश' कहानी को पढ़कर श्री अरविन्द ने लिखा था, "वीस्मित कर

देनेवाली रचना-शैली, महान स्रष्टा-शिल्पी जो मानव हृदय में गम्भीर आवेग पैदा करने में सक्षम है।"

आश्चर्य! यह कहानी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से सहायताप्राप्त, सरकारी मत क्त प्रचार करनेवाली पत्रिका 'पल्लीश्री' में प्रकाशित हुई थी। इसे पढ़कर एक हिन्दू ज़मींदारों ने आक्षेप किया, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से सहायता प्राप्त पत्र में ऐसी कहानियां नहीं छपनी चाहिए। इससे प्रजा ज़मींदारों के विरुद्ध उठ खड़ी होगी, अर्थात् देश का सर्वनाश होगा।"

यह कहानी इस पत्र में कैसे छपी, इसका एक इतिहास है। शरत् बाबू के पड़ोसी अक्षय बाबू हुगली गवर्नमेंट कालेज में प्राध्यापक थे। वे: पल्लीश्री' के सम्पादक होने को मजबूर थे। उन्होंने शरत् बाबू से एक कहानी देने की प्रार्थना की थी। वही कहानी थी 'महेश'। शरत् बाबू शायद उस क्षण यह कल्पना भी नहीं कर सके थे कि यह कहानी उनके साहित्य की ही नहीं विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कृति है लेकिन अक्षय बाबू अवश्य इस तथ्य को समझ गए थे। वे नहीं चाहते थे कि इतनी सुन्दर कहानी ऐसे पत्र में छपे। इसीलिए उन्होंने स्वयं इस बात की व्यवस्था की कि 'महेश' पल्लीश्री' के साथ-साथ उसी महीने बंगवाणी' में भी प्रकाशित हो।

'अभागी का स्वर्ग' में शरत्चन्द्र ने गरीबी से पीड़ित दूले समाज का दारुण चित्र अंकित किया है। इनके मुर्दों के लिए लकड़ी का विधान नहीं है, लेकिन कंगाली की मां की साध थी चिता पर जलकर स्वर्ग जाने की। वह साध पूरी न हो पाई। गड्ढे में दबकर ही उसे गति पानी पड़ी। अपने हाथ से रोपे हुए पेड़ हो भी वे लोग न काट सके। नीच जाति के दूले कहीं ब्राह्मण-कायस्थों कई बराबरी कर सकते हें?

'पथेर दाबी' उनके अपने राजनीतिक विश्वास का प्रतीक है। अपने आवारा जीवन में उन्होंने अनेक देशों की जो यात्रा की थी, उसका अनुभव ही मानो उसमें संचित हुआ है। जिस समय वे इसे लिख रहे थे, उस समय उनके सामने बंगाल का क्रांतिकारी आन्दोलन तो था ही सुप्रसिद्ध रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की का उपन्यास 'मां' भी था। वे मानते थे, "गोर्की की रचनाएं पढ़ने के बाद मुझे ऐसा लगता है कि जीवन की जैसी पकड़ उसमें है, वैसी न दास्तायव्स्की में पाई जाती है और न किसी और में।"

उन्होंने उनका अभी प्रकाशित कहानी-संग्रह 'क्रीचर दैट वन्स मैन' पढ़ा था। पढ़कर कहा था, "इन कहानियों में जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण है, नई भावधारा, नई शैली, नई टेकनीक। गोर्की मानवता के लिए एक नया सन्देश लेकर आया है।"

इलाचन्द्र जोशी ने लिखा है, "तब वह पतित नर-नारियों से संबंधित युग पार कर चुके थे और अपने रचनाकाल के तीसरे चरण में प्रवेश कर रहे थे। 'पथेर दाबी' के कुछ परिच्छेद वे लिख चुके थे और अब वह उसे नया मोड़ देना चाहते थे, बल्कि गोर्की उन पर बड़े ज़ोर से हावी हो रहा था। 'पथेर दाबी' पर निश्चय ही गोर्की का प्रभाव है। दोनों के जीवन में भी किसी सीमा तक साम्यता है। दोनों ने बहुत दिन तक आवारगी का जीवन बिताया था। दोनों ने

जीवन को सचमुच बहुत पास से देखा था। दोनों ही मुक्ति आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे। व्यक्तिगत रूप से अहिंसा के पथ के पथिक होने पर भी, शरत्चन्द्र देश की मुक्ति के लिए हिंसा का मार्ग अपनानेवालों को सच्चे मन से प्यार करते थे।"

राजनीतिक अभिज्ञता का प्रमाण उनके असमाप्त उपन्यास 'जागरण' [3] से भी मिलता है। लगभग दो वर्ष तक वह 'वसुमति' में छपता रहा था। लेकिन वे उसे पूरा नहीं कर सके थे। कर पाते तो निश्चयही यह उपन्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता, इसीलिए नहीं कि इसकी शैली प्रौढ़ है बल्कि इसलिए भी कि इसमें जो राजनीतिक विचार प्रकट हुए हैं, वे मानो भविष्यवाणी के रूप में हैं। साहित्यिक महाकाल का स्वामी होता है। आने वाले युग की कल्पना उसके लिए असाध्य नहीं है। इस उपन्यास में एक स्थान पर नायिका का ज़मींदार पिता कहता है, "प्रजा की मनःस्थिति में भारी परिवर्तन आ गया है। अब यह चाहे शिक्षा का परिणाम हो, चाहे युगधर्म का हो, चाहे ज़मींदारों के अत्याचारों का नतीजा हो जनता अब ज़मींदारी प्रथा का नाश चाहती है। दो रोज़ पहले हो या दो रोज बाद, ज़मींदारी मिटेगी ज़रूर। ज़मींदारी को विदा होना होगा। तुम किसी भी तरह इसे बचा न सकोगे।"

ज़मींदारी प्रथा को समाप्त करने के बारे में इतना स्पष्ट मत उस समय शायद किसी भी कथाकार ने व्यक्त नहीं किया था। न जाने क्यों वे इसे पूरा न कर पाए। शायद अपने चिरसंगी आलस्य के कारण, शायद इस कारण भी कि देशबन्धु की मृत्यु के बाद उनका मन राजनीति में नही रहा था। 'पथेर दाबी' भी ये बड़ी कठिनता से 'बंगवाणी' के बार-बार आग्रह करने पर कई वर्ष में पूरा कर सके थे।

'नवविधान' [4] पुराने ढर्रे की पुस्तक है, जिसमें नई साहबी सभ्यता के विरोध में प्राचीन हिन्दू रीति-नीति की (कर्मकाण्ड की नहीं) जय-पताका फहराई गई है। शायद शरत् बाबू स्वयं इस बात को समझते थे। एक दिन असमंजस मुखोपाध्याय ने उनसे पूछा, "अपनी पुस्तकों में सबसे प्रिय पुस्तक आपको कौन-सी लगी हे?"

उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया, "नवविधान।"

फिर कुछ क्षण चुप रहकर बोले, "अचरज हुआ न! इस पुस्तक का कोई आदर नही करता। इसीलिए मैंने अपनी इस अनादृत रचना का नाम लिया है। देखो, तुम भी लेखक हो। तुम्हारे लेखन में भी अच्छा, बुरा और साधारण सब है।"

साहित्यिक मान्यताओं की चर्चा करने उनके पास अनेक व्यक्ति आते थे। उन्हीं में थे हिन्दी के एक नवयुवक लेखक इलाचन्द्र जोशी। शरत्चन्द्र में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। बहुत खोज करने पर ही वे एक दिन उनका मकान ढूंढ सके थे| [5] वहां पहुंचकर उन्होंने देखा कि एक अधेड़ सज्जन दातुन कर रहे हैं। जोशीजी ने कहा, मै शरत् बाबू से मिलना चाहता हूं।"

उन्होंने उत्तर दिया, "कहिए क्या काम है? मैं ही हूं।"

अत्यन्त श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर संकोच-भरे स्वर में जोशी ने कहा, "आपकी रचनाएं पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं। बहुत दिनों से मिलने की तीव्र इच्छा थी। आज पूरी

हुई।..... "

सहसा उन्हें बीच में रोककर वे सज्जन बोले, "ओह, आप उपन्यासकार शरत् चाटुज्जे से मिलना चाहते हैं। वे उस तरफ रहते हैं। वह जो उस गली की बायीं ओर लाल मकान दिखाई दे रहा है न, वहीं वे मिलेंगे।"

तो ये सज्जन भी उनके प्रिय शरत् नहीं है!

निराशमन जोशीजी उसी ओर चल पड़े। बताए हुए मकान पर पहुंचकर वे बरामदे में जा खड़े हुए। सामने एक छोटा-सा कमरा था। तीन-चार व्यक्ति एक मेज़ को घेरकर बैठे शतरंज खेलने में व्यस्त थे। जोशीजी ने वहीं से पुकारा, "क्या विख्यात उपन्यासकार शरत् बाबू इसी मकान में रहते हैं?"

आवाज़ सुनकर एक अधेड़ सज्जन ने, जिनके सिर के आधे बाल पक चुके थे, दादी-मूंछ साफ थी, केवल चेहरे पर सफेद बालों की खूंटियां यहां-वहां दिखाई दे रही थीं और जो बण्डी तथा धोती पहने शतरंज के खेल में बड़ी दिलचस्पी ले रहे थे, सिर उठाकर उनकी ओर देखा, "कहिए, आप कैसे आए? आइए, बैठिए।"

जोशीजी ने भीतर प्रवेश करते हुए कहा, "मुझे उन्हीं से कुछ काम है।"

"बैठिए, मैं ही हूं शरत्चन्द्र।"

"विख्यात उपन्यासकार शरत्चन्द्र?"

एक बार धोखा खा चुके थे, इसीलिए जोशीजी ने यह अटपटा प्रश्न किया। शरत्चन्द्र बड़ी शालीनता से मुस्कराए, "हां, एक प्रकार से विख्यात ही हूं।"

वहां एकान्त नहीं था। जोशीजी को संकोच हो रहा था। इसलिए शरत् बाबू बोले, "चलिए मेरा मकान पास ही है, वहीं चलते हैं।"

तो वह भी उनका मकान नहीं था!!

जब शरत् बाबू अपने मकान पर पहुंचे तो जोशीजी की देखते ही भेलू विकट स्वर में भौंकने लगा। शरत्चन्द्र के प्रेमपूर्वक डांटने पर ही वह चुप हो सका। जिस कमरे में वे जाकर बैठे, वह वैसे तो काफी बड़ा था, पर न तो उसमें कोई विशेष फर्नीचर था और न कोई दूसरे प्रकार की साजसज्जा थी। कुछ कुर्सियां, बेंच, दीवार से सटे हुए कुछ रैक, जिनमें पुस्तकें सजाकर रखी गई थीं। यही सब कुछ वहां था, लेकिन था एकान्त। अच्छा लगा। दोनों आराम से एक-दूसरे के आमने-सामने बैठ गए। तभी एक नौकर हुक्का भरकर ले आया। शरत्चन्द्र ने बड़े आराम से उसे गुड़गुड़ाते हुए प्रेम-भरे शब्दों में कहा, "अब कहिए।"

जोशीजी यद्यपि पहली बार मिल रहे थे, लेकिन पूछने को उनके पास बहुत कुछ था और बातें करने में तो शरत् पटु थे ही। न जाने किन-किन विषयों पर उस दिन चर्चा हुई। सतीत्व और नारीत्व, श्रीकान्त और अन्नदा दीदी, उपन्यास का यथार्थ और जीवन का यथार्थ, एक के बाद एक जोशीजी प्रश्न पूछते चले गए। कला के सम्बन्ध में अपना मत बताते हुए शरत् बाबू ने कहा, "हमारे यहां कला में कल्याण और मंगल की भावना को प्रमुख

स्थान दिया गया है, इसलिए जिस कलात्मक सत्य की पृष्ठभूमि में यह भावना न हो, उसके प्रति मेरे मन में कभी आदर का भाव नहीं रहा है। मैंने कला को कभी कीड़ा-कौतुक के रूप में नहीं देखा है। मैं उसे मनुष्य के जीवन की चरम साधना के रूप में मानता हूं। '

अपने अतीत जीवन की अनेक कहानियां भी शरत् बाबू ने उन्हें सुनाई। इस अवसर पर रवीन्द्रनाथ की चर्चा होना भी स्वाभाविक था। जोशीजी ने पूछा, 'आपने बहुत-सी रचनाओं में वेश्याओं और तथाकथित असती नारियों को नायिकाओं के रूप में चुना है। इसका कारण क्या आपकी व्यक्तिगत रुचि है? अथवा किसी विशेष आदर्शात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर केवल अपने सैद्धान्तिक पक्ष के समर्थन के लिए आपने ऐसे चरित्रों की अवतारणा की है?"

शरत् बाबू ने सहज भाव से उत्तर दिया "दोनों बातें हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से ऐसे चरित्रों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया हूं और इसी कारण मैंने अत्यन्त तीव्रता से यह अनुभव किया है कि वे वेश्याएं समाज की सबसे अधिक शोषित और सबसे अधिक अत्याचार-पीड़ित नारियां हैं। आर्थिक विषमता के कारण वे जिस प्रकार का गन्दा और घृणित जीवन बिताती हैं, उससे उबरने के लिए वे जाने या अनजाने सब समय छटपटाती रहती हैं। उनकी यह छटपटाहट देखने का संयोग सबको सब समय नहीं मिलता। पर जब कभी किसी को किसी कारणवश यह सुयोग मिल जाता है तब वह उसे जीवन-भर नहीं भूलता। उनके अन्तर के इस मूल विद्रोह को वाणी देने का निश्चय मैं बहुत पहले कर चुका था और अपने उस मिशन को कार्यान्वित करने में मैंने कोई बात उठा नहीं रखी।"

जोशीजी ने कहा, "एक बार रवीन्द्रनाथ ने अपने एक लेख में आप पर छीटें कसते हुए लिखा था - 'कला विशुद्ध आनन्दमूलक सौंदर्य से सम्बन्ध रखती है। इसका निवास चीतपुर की गन्दी गलियों में नहीं है, बल्कि वाणी के अकलुष मन्दिर में है।' इस सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?"

शरत् बाबू बोले, "उस लेख में किसी अज्ञात कारण से रवीन्द्रनाथ उलझ गए। नहीं तो उनके समान महान् द्रष्टा कला के क्षेत्र और उद्देश्य की व्यापकता के सम्बन्ध में अपरिचित हो, ऐसा मैं नहीं मानता। इस लेख में उन्होंने स्वयं अपनी पिछली बातों का खंडन किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि वे आनन्दमूलक सौन्दर्य के कवि रहे हैं और हैं। पर साथ ही साथ दुख-दैन्य, अभाव, शोषण और अत्याचार से पीड़ित जीवन के कठोर वास्तविक पहलू की उपेक्षा भी उन्होंने नहीं की। जिस कवि ने अपनी एक कविता में वेश्याओं और दूसरी पतिता स्त्रियों को सती-शिरोमणि माना हो और 'पतिता' शीर्षक कविता म एक वेश्या के अन्तर में निहित देवत्व को अत्यन्त मार्मिक सुन्दरता से प्रस्फटित किया हो, वह आज कहे कि चीतपुर की गन्दी गलियों से कला का कोई सम्बन्ध नहीं है तब यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि उनके इस लेख के पीछे कोई रहस्यमय कारण है। यह कारण व्यक्तिगत भी हो सकता है।"

वह व्यक्तिगत कारण क्या था कोई स्पष्ट रूप से नहीं जानता, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिग प्रकार ऋषिकुमार अपनी पुण्य दृष्टि के स्पश से 'पतिता' के अन्तर में सोये देवता को जग देते हैं, उसी प्रकार 'देवदास' की चन्द्रमुखी के अन्तस्तल में सोया देवता चरित्रहीन पर सरलप्राण *******देवदास की निष्कपट आत्मा के स्पर्श से जाग उठा था। शरत्-साहित्य की यही विशेषता है, पर उनमें और कविगुरु में एक अन्तर है। रवीन्द्रनाथ देवत्व को जगाने के लिए तपोवन का पवित्र वातावरण उपयुक्त समझते हैं, शरत्चन्द्र उसी देवत्व को चीतपुर की गन्दी गलियों में खोज लेते हैं। यह अन्तर आभिजात्य और ब्रात्य संस्कारों का है। शरतचन्द्र इसी कारण हीन न होकर कुछ महान् ही प्रमाणित होते हें। रवीन्द्रनाथ आनन्दमूलक सौंदर्य के कवि थे। साहित्य के माध्यम से वह विश्वमानव की खोज करना चाहते थे। इसके विपरीत शरत् अपनी धरती से चिपके हुए थे। इसी कारण सविनय अवज्ञा आन्दोलन को लेकर एक दिन दोनों में तीव्र मतभेद पैदा हो गया था। लेकिन यह सब होने पर भी अपने गुरुदेव के प्रति उनकी श्रद्धा तनिक भी धूमिल नहीं हुई थी। गुरुदेव उनसे बहुत प्रसन्न हैं, यह सुनकर इन्हीं दिनों उन्होंने उन्हें एक पत्र लिखा था -

श्री चरणेषु,

लड़की से सुना था कि आप मुझसे अतिशय असन्तुष्ट हें। उत्तेजना में आकर गुस्से में हो सकता हे कि आपके बारे में कोई मिध्या बात कही हो। लेकिन जो व्यक्ति इसकी सच्चाई-झुठाई की जांच करने आपके पास गए थे, उन्होंने भी कुछ कम अपराध नहीं किया है। इंग्लैण्ड के बर्ताव से आप क्षुब्ध हुए है और सब कुछ वही पंजाबवाली चिट्ठी के लिए, उसके न लिखने से यह सब नहीं होता, इन बातों को मैंने उस समय ठीक-ठीक कहा था, मुझे याद नहीं। आमतौर पर मैं बनाकर झूठ नहीं बोलता, पर बोलना एकदम असम्भव है, ऐसा भी नहीं। कम से कम इन बातों को अवश्य ही कहा हे कि इस बार विलायत से लौटकर आप बहुत बदल गए हैं, और बंगाल के लोगों के प्रति आपका पहला स्नेह और ममत्व अब नहीं है। चर्खा, असहयोग आदि पर आपकी तनिक भी आस्था या विश्वास नहीं है, इत्यादि।

आपके पास से एक दिन गुस्से में ही चला आया । उसके बाद शायद झूठी बातों का प्रचार किया हो। शायद मेरे मन में यह भाव था कि लोग गलत समझते हें तो समझें।

आपके प्रति मैंने बहुत अपराध किया है, पर प्रथम अपराध होने के कारण मुझे क्षमा करेंगे। आपके सिवा और किसी बड़े आदमी के यहां मैं जानबूझकर कभी नहीं जाता। पर मेरे लिए उसका रास्ता भी मेरे अपने ही दोष से बन्द हो गया है । सोचने पर दुख होता है।

आपके अनेकों शिष्यों में एक मैं भी हूं। उनकी तरह इतने दिनों तक मैंने भी कभी आपकी निन्दा नहीं की, लेकिन इस बार क्यों शामत आई, मैं नही जानता। [6]

तीन दिन बाद फिर लिखा -

श्री चरणेषु,

क्षुद्र स्वार्थ के लिए आप देश का अमंगल करेंगे, इतनी बड़ी निन्दा अगर की ही हो तो उसके बाद चिट्ठी लिखकर आपसे क्षमा मांगने जाना केवल विडम्बना ही नहीं है, आपका विदूप करना भी है। अतएव आपके पत्र का स्वर इतना कठोर होगा इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। भारी अपराध कै बात जिन लोगों ने आप तक पहुंचाई है, उन्होंने कहीं इसकी सीमा नहीं रखी।

इसके बाद मैं क्या कहूं? मेरा प्रणाम स्वीकार करें। [7]

अपनी दृष्टि में शरत् बाबू निश्चय ही धनवान हो गए थे, परन्तु बहुत कम लोग यह जानते हैं कि उनका वह पैसा कैसे खर्च होता था । एलायन्स बैंक आफ इण्डिया, उनका प्रिय बैंक था। -उनकी सब जमा पूंजी इसी बैंक में सुरक्षित थी। उनके कहने पर आसपास के सभी किसान और परिचित व्यक्ति इसी बैंक में- पैसे जमा करवाते थे। अचानक वही बैंक एक दिन फेल हो गया। शरत्चन्द्र बड़ी परेशानी मै पड़े। वे अपना मकान बनवा रहै थे, वह अभी पूरा नहीं हा सका था, लेकिन उसकी उन्हें इतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी इन व्यक्तियों की । वे बेचारे अपना सब कुछ लुटाकर सड़क पर खड़े थे। शरत् बाबू उनकी यह दुर्दशा नहीं देख सके। वैधानिक दायित्व न होते हुए भी उन्होंने निश्चय किया कि यदि बैंक पैसा न देता तो उन्हें ही इनकी पाई-पाई चुकता करनी होगी।

अपने इस विचार को व्यावहारिक रूप देने में उन्हें घोर परिश्रम करना पड़ सकता था, लेकिन सौभाग्य से उस बैंक में जिन लोगों के पैसे थे उनमें अंग्रेजों की संख्या बहुत अधिक थी। इस कारण सरकार ने बैंक की सहायता की और सभी लेनदारों को अपनी जमा पूंजी का पचास प्रतिशत वापस मिल गया। फिर भी शरत्चन्द्र को उनका शेष रुपया चुकाने के लिए काफी भार उठाना पड़ा।

अचानक इसी समय उनके मित्र और, रवीन्द्रनाथ के बाद जिनका नाम लिया जा सकता था, बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि सत्येन्द्रनाथ दत्त का देहान्त हो गया। [8] उनकी कुछ कविताओं का अनुवाद स्वयं कविगुरु ने इंगलिश में किया था। उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए जो सभा सरस्वती इंस्टीट्यूट की ओर से थियोसोफिकल हाल में नियोजित की गई थी, उसका सभापतित्व शरतचन्द्र को करना था। भाषण देने में वे बहुत घबराते थे। लेकिन इस बार वे किसी भी तरह बच नहीं सके। उन्हें यह पद स्वीकार करना ही पड़ा। शायद इसलिए भी कि सत्येन्द्र के प्रति उनके मन में एक सहज ममता थी। फिर भी वे सभा में नियत समय पर नहीं पहुंच सके। काफी देर हो जाने पर जब एक वृद्ध सज्जन को अध्यक्ष के आसन पर बिठाकर कार्यवाही आरम्भ कर दी गई थी तभी वे आते हुए दिखाई दिए। अस्थायी सभापति ने तुरन्त उनके लिए कुर्सी छोड़ दी। बार-बार मना करने पर भी वे नहीं माने। शरतचन्द्र को बैठना ही पड़ा। एक-एक करके जब सभी वक्ता बोल चुके तब सभापति की हैसियत से वे बोलने के लिए उठे। मेज पर दोनों हाथ रखकर उन्होंने अपनी पीठ को नीचे की ओर झुकाया। उसके बाद अस्पष्ट स्वर में कुछ बुदबुदाना आरम्भ कर

दिया। कुछ क्षण बाद शायद उन्होंने यह अनुभव किया कि उनकी आवाज जनता तक नहीं पहुंच रही है, तो उन्होंने स्वर को ऊंचा करते हुए कहा, "हां ठीक है। सत्येन्द्रनाथ की मृत्यु से आज हमारे बंगीय साहित्य समाज में शोक-सागर उमड़ रहा है। हम लोग कुछ समय के लिए खूब मजे में रो लिए। बस हमारा कर्त्तव्य समाप्त हुआ। चलिए, अब सब लोग घर चलें।"

सुनने वाले अवाक् होकर देखते ही रह गए, लेकिन शरत् बाबू बोलते जा रहे थे - आज हम लोगों ने आविष्कार किया है कि सत्येन्द्र कितने प्रिय कवि थे। आज उनके लिए जगह-जगह साहित्यिक सभाएं हो रही हैं पर जब वे जीवित थे तब कभी किसी सभा के संयोजक को इतना तक न सूझा कि सत्येन्द्र भी किसी साहित्य सभा के अध्यक्ष होने की योग्यता रखते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं को या बड़े-बड़े पदाधिकारियों को सभापति बनाया जाता था। साहित्य के प्रति श्रद्धा प्रकट करने का मार्ग उनके ग्रंथो का पाठ करना हे। सत्येन्द्र बाबू की पुस्तकें आपमें से किस-किसने अभी तक पढ़ी हैं? यह पता लगाने पर ही उनकी श्रद्धा का हिसाब लगाया जा सकता है। बहुतों को तो उनकी सब पुस्तकों के नामों का भी पता न होगा, लेकिन उनकी रचनाएं पड़े बिना यह पता लगाना कि वे कितने बडे कवि थे बड़ा कठिन है। मन्मथ बाबू ने उनके बारे में बहुत देर तक भाषण दिया था। शायद इन्होंने उनको पढा होगा। और भी बहुत से व्यक्ति बोले थे, अच्छा ही बोले थे। नजरुल ने गीत गाया था, अच्छा ही गाया था। नलिनी इस बार तुम गाओ। अच्छा ही गाओगे..... ।"

बडी कठिनता से वे इतने शब्द कह सके थे। लेकिन ऐसे अवसर पर भी वे स्पष्टवादिता से बाज नहीं आए। सत्य के प्रति उनकी यह निर्भीकता उन्हें अच्छा लेखक ही नहीं, अच्छा मनुष्य भी प्रमाणित करती है।

वे मित्र जाति के व्यक्ति थे, लेकिन सभा-समितियों से उन्हें बड़ी अरुचि थी। उनके बचपन के मित्र विभूतिभूषण भट्ट और उनको बहन निरुपमा देवी, जो लेखिका के रूप मे प्रसिद्ध हो चुकी थी, बहरामपुर में रहते थे। उनसे मिलने के लिए एक बार वे वहां गए। जहां भी वे जाते थे लोग उनक घेरने की चेष्टा करते थे । यहां भी उनके सम्मान में एक सम्बर्द्धना सभा का आयोजन किया गया। महाराजकुमार श्रीशचन्द्र नन्दी उस बोट पार्टी में उनकी राह देखने लगे। पर 'उत्सव के राजा' का कहीं पता नहीं था।

वह तो चुपचाप कवि यतीन्द्रनाथ के साथ मुर्शिदाबाद देखने चले गए थे। सभा का समय पांच बजे था। तीन बजे तक वे घूमते रहे। थक गए तो गंगा-तीर पर जा बैठे। यतीन्द्र ने कहा, "दादा अब लौटना चाहिए। तीन बज चुके हैं।"

शरत्चन्द्र बोले, "लेकिन सभा तो पांच बजे है। चार बजने दो।"

चार भी बज गए, लेकिन बातों का अन्त नहीं आ रहा था। यतीन्द्र ने फिर कहा, "दादा, अब नहीं चलेंगे तो पांच बजे पहुंचना नहीं हो सकेगा।"

शरत्चन्द्र ने उत्तर दिया, "तुमने कितनी सभाएं देखी हैं? कोई सभा कभी ठीक समय पर आरम्भ होती है? बैठो, बैठो। सभा ही तो है।"

इसी समय गंगा में एक शव बहता हुआ दिखाई दिया। बस वे उदास हो उठे। अपलक उसे देखते रहे और मनुष्य के जीवन-दर्शन पर चर्चा करते रहे। यतीन्द्र की दृष्टि घड़ी पर थी, लेकिन शरत् की दृष्टि उस शव पर से होती हुई न जाने किस अदृश्य में जा अटकी थी। यतीन्द्र ने कहा, "दादा, पांच बज गए।"

"पांच बज गए। वहां पहुंचते-पहुंचते छः बज जाएंगे। अब वहां जाकर क्या होगा?"

यतीन्द्र बोला, "होगा दादा, सब राह देख रहे होंगे।"

उसी निर्विकार भाव से शरत् ने उत्तर दिया, "तुम पागल हो गए हो। सभा पांच बजे है और वे लोग साढे छः बजे तक बैठे रहेंगे? मानो किसी को और काम ही नहीं है। सब चले गए होंगे। अब वहां जाना व्यर्थ है । इससे तो अच्छा यही है कि यहीं बैठकर मन की बातें करें।"

यह मात्र एक ही घटना हो ऐसा नहीं है। बार-बार वह ऐसा करते थे। वचन देकर ठीक समय पर घर से गायब हो जाते! उस दिन ठीक दोपहर में नरेन्द्रदेव के घर जा पहुंचे। उन्होंने पूछा, "इतनी दोपहर में! बात क्या है?"

"अरे क्या बताऊं। एक सभा में जाने की बात है । इसीलिए भाग आया हूं । वे लोग देखकर लौट जाएंगे।"

"परन्तु सोचेंगे क्या?"

"जो चाहे सोचें। मैं नहीं जा सकता।"

"लेकिन जाने की सम्मति जो दे चुके हैं!"

"सम्मति क्या, मैंने मन से दी थी । जोर करके उन्होंने ले ली।"

कई वर्ष बाद [9] हरिपद साहित्य मन्दिर, बाढागार, पुरलिया के अधिवेशन में जाकर भी वे पूरी तरह योग न दे सकें। सम्मेलन कई दिन चला, पर वे एकाध बार ही वहां गए। पूरे समय मामा डा० सत्येन्द्रनाथ गांगुली के पास ही रहे।

इसे परले सिरे की गैरजिम्मेदारी कहा जा सकता है। पर साहित्यकार क्या किसी जिम्मेदारी को ओढ़ता है? शरत् बाबू को, इस आदर्श के पीछे अपनी सहज दुर्बलता को छिपाने का, जो उनके आवारा जीवन का ही एक अंग थी, बड़ा अच्छा अवसर मिल जाता था। लेकिन यह मन्तव्य क्या एकांगी नहीं है? इतने लोकप्रिय लेखक को सभी अपने बीच में चाहते हैं। उसकी सुविधा-असुविधा की चिन्ता नहीं करते। ऐसी स्थिति में लेखक यदि बचने का उचित-अनुचित कैसा भी मार्ग ढूंढ लेता है तो उसे निन्दनीय नहीं कहा जा सकेगा। फिर शरत् बाबू तो सभा-समितियों से सचमुच घबराते थे। भाषण यदि देना ही पड़ता तो बहुत धीरे-धीरे बोलते। बोलते-बोलते बैठ जाते । बैठे-बैठे बोलते, फिर खडे हो जाते ।

1. शरत् ग्रन्थावली 21 फरवरी, 1923 ई०; नारी का मूल्य, अप्रैल, 1923 ई०; देना-पावन, 14 अगस्त, 1923 ई०; महेश, सितम्बर, 1922 ई०; अभागी का स्वर्ग, जनवरी, 1923 ई०
2. सन् 1922 ई०
3. अक्टूबर 1923 ई० से अप्रैल, 1925 तक। उनकी मृत्यु के बाद इस अधूरे उपन्यास को (अमरनाथ के नाम से) ननीमाधव मुकर्जी ने पूरा किया, लेकिन लेखक की कल्पना और प्रतिभा को यह छू भी नही सका
4. मार्च, 1922 ई०
5. मार्च, 1922 ई०
6. 9 मई, 1922 ई०
7. 12 मई, 1922 ई०
8. सन् 1922 ई०
9. अप्रैल, 1928 ई०

8

शरत्चन्द्र कभी नियमित होकर नहीं लिख सके। उनसे लिखाया जाता था। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक घर पर आकर बार-बार धरना देते थे। बार-बार आग्रह करने के लिए आते थे। भारतवर्ष' के सम्पादक रायबहादुर जलधर सेन आते, शरत् बाबू के सेवक भोला को पुकारते, "ओरे भोला, चा ले आ और भीतर बऊ मां को कह दे कि आज मैं यही नहाऊंगा-खाऊंगा।"

इतना कहकर वे कपड़े उतारते और एक तकिए के सहारे लेटकर चुरुट पीने लगते।

शरत् बाबू सब कुछ देखते, मुस्कराकर पूछते, "क्या बात है दादा, इस सबका क्या मतलब है?"

"मतलब पांच बजे चाय पीकर जाऊंगा। तुम्हारा लेख भी लेता जाऊंगा। इसलिए अब समय व्यर्थ न खोकर लिखना शुरू कर दो।"

'विचित्रा' के लिए लेख लेकर आते श्री तुलसी, जो रेल विभाग में काम करते थे। उपेन्द्रनाथ स्वयं स्टेशन जाकर लेख ले आते थे। वे स्वयं इसलिए जाते थे जिससे शरत् बाबू उनका लिहाज करके सुस्ती न करें।

यदि, ये लोग ऐसा न करते तो उनके लिए लिखना असम्भव जैसा था। इसी बात की गवाही देती हुई उनकी कितनी ही रचनाएं असमाप्त पड़ी रह गई हैं। काशी-प्रवास मैं उनकी भेंट साहित्यकार श्री केदारनाथ बंदोपाध्याय से हुई थी । शीघ्र ही वह भेंट प्रगाढ़ बंधुत्व में परिवर्तित हो गई। उन्हीं केदार बाबू ने अपनी पत्रिका 'प्रवास-ज्योति' में लिखने के लिए उनको आमंत्रित किया था। वे तुरन्त उन्हें एक उपन्यास देने के लिए वचनबद्ध हो गए। लेकिन बार-बार आग्रह करने पर केवल एक किस्त ही वे भेज सके। उस समय एक बार एक पत्र में उन्होंने लिखा-

"आपके साथ मेरा व्यवहार काफी निन्दनीय हो गया, लेकिन मजबूर होकर ही ऐसा हुआ। आशा है भविष्य में फिर कभी ऐसा नहीं होगा। पहली बात है, बीमारी में बिस्तर पर पड़ा था। कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। इसके बाद जब शरीर स्वस्थ हुआ तो दूसरे उपसर्ग दिखाई पड़े। आपके लिए रचना इस महीने भेज मकता था, पर भारतवर्ष' में न भेजने के कारण आप लोगों को भी न भेज सका। उनको न देकर आप लोगों को देने से उनको असीम व्यथा ही न पहुंचती, अपमान भी होता।

"इस महीने से फिर सब कुछ नियमित होगा। मुझे लेकर जो भी कोई कारबार करते हैं, उन्हें इसी तरह भुगतना पड़ता है। मैं केवल खुद ही अन्याय नहीं करता और पांच

आदमियों को भी विडम्बिन करता हूं। इसे आप लोग निज गुण से क्षमा करें। स्वभाव.....।

"मैं जितनीं जल्दी हो सकेगा (किस्त) भेज रहा हूं। इस विषय में इस बार निश्चिन्त रह सकते हैं।" [1]

लेकिन ऐसा नहीं हो सका। वे उनको कुछ भी नहीं भेज सके। यह तथाकथित असमर्थता उनके स्वभाव का अंग बन गई थी। कारण अनेक थे, होते ही है। जो मजलिसी हैं उनके लिए न काल कोई अर्थ रखता है न नियम। इन्हीं केदार बाबू के साथ वे काशी में गप्प-शप्प करते-करते दिन पर दिन बिता देते थे। केदारनाथ अस्वस्थ हैं, इन्हें बाहर लेकर जाना ही होगा। तांगेवाले को आदश मिला आठ बजे आने का।

वह आया पर अभी तो चाय चल रही है, अब नवयुवक मिलने आ गए है। बारह बज गए। अब क्या जाने का वक्त है! अच्छा चार बजे आना। न-न, डरी नहीं, किराया पूरा मिलेगा। तांगेवाला दो दिन ऐसे ही आता रहा और रात को ग्यारह बजे पूरा किराया लेकर जाता रहा। उनका बाहर जाना न होना था न हुआ।

ऐसा व्यक्ति अगर अफीम भी खाता हो तो.....एक तो करेला फिर नीम चढ़ा....।

एक और अवसर पर अपनी इस चिरपरिचित असमर्थता की कैफियत देते हुए उन्होंने कवि गिरिजाकुमार को जो पत्र लिखा, उसमें उन्होंने अपने मन की बात कुछ अधिक स्पष्टता से कही कही है।

".....मुझे यह विश्वास है कि किसी और के सामने अपने दोषों के स्पष्टीकरण देने का कोई मार्ग हो या न हो, तुम्हारे सामने तो है। कारण यह कि तुम केवल किसी मासिक या साप्ताहिक के सम्पादक ही नहीं हो, स्वयं कवि भी हो। अर्थात् सगोत्र हो। सजातीय हो। साहित्य-सेवा में जो आनन्द और जो वेदना होती है, उसको जानते हो। साहित्य-सेवी की दुरवस्था को पहचानते हो। तुमको यह बताना नही होगा कि साहित्यकार का बाह्य और अन्तर दोनों एक सूत्र में गुंथे हुए नहीं होते। एक के प्रमाण से दूसरे पर विचार नहीं किया जा सकता। ऐसी विडम्बना भी होती है कि जब शरीर स्वस्थ दिखाई देता है, लेकिन मन एकदम दिवालिया हो जाता है। मस्तिष्क हो उठता है बिलकुल रेगिस्तान। उनको हिलाने-दुलाने से 'भाव' के बदले 'अभाव' की रसहीन धूल ही बाहर आना चाहती है। आजकल मेरी यही दुरवस्था हो रही है।"

कैफियत नाना प्रकार से दी जा सकती है, दी भी जाती थी। लेकिन सत्य यही है कि उनसे रचना प्राप्त करने के लिए सम्पादकों को बहुत बार आग्रह का ऋजुपथ छोड़कर दुराग्रह का कुटिल मार्ग ग्रहण करने को विवश होना पड़ता था। उस बार 'बिजली' के सम्पादक नलिनीकान्त सरकार ने पूजा के अंक के लिए समय से बहुत पहले एक रचना के लिए प्रार्थना की।

शरत ने कहा, "तुम्हारे पत्र में मैं निश्चय लिखूंगा।"

आश्वासन पाकर नलिनी बाबू धन्य हो गये। एक सप्ताह बाद वे फिर आए। उनके अतिथ्य में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं हुई। बातों का भी कोई अन्त नहीं आया। संन्यासी दल की कथा, वेश्यालयों में रहने की कथा, यात्रा दल, गाना-बजाना, नाटक, अतीत के जीवन की न जाने कितनी कहानियां उन्होंने नलिनी बाबू को सुना डालीं। विदा के समय नलिनी ने पूछा, "दादा, मेरे लेख की बात तो याद है न।""

उत्तर दिया, "खूब याद है, तुम्हें एक लेख दूंगा।"

दिन बीते, महीने बीते। नलिनी आते रहे। आतिथ्य, स्नेह, कथा-वार्ता सभी कुछ होता रहा, पर लेख नहीं लिखा जा सका तो नहीं ही लिखा जा सका। आखिर नाम देने का समय आ गया। उसी उत्साह मे शरत् बाबू ने कहा, "निश्चय ही लेख दूंगा। कहा है तो दूंगा। तब नाम देने में क्या?"

नाम भी छप गया, पर लेख कहीं नहीं था। अन्त में एक दिन निश्चित करना ही पड़ा। उस दिन आने पर नलिनी बाबू को जो कुछ मिला, वह यह पत्र था -

श्रीयुत 'बिजली' सम्पादक

परम कल्याणयेषु।

देश की अनेक समस्याओं की आलोचना तुम्हारे 'बिजली' पत्र में छपती है। मुझे भी बहुत कुछ देखने का सुयोग मिला है। सोचा था, इस अंक में उन्हीं के बारे में कुछ लिखूंगा। किन्तु शरीर इतना टूट गया है कि कुछ न लिख सका। भरोसा यही है कि न तो तुम्हारा पत्र बन्द होगा और न ही मैं मरूंगा। स्वस्थ होते ही लिखना शुरू करूंगा। वायदा पूरा न कर पाया, इसका दु:ख है। उस पर तुम क्रोध करोगे तो दु:ख और बढ़ जाएगा। अच्छी तरह जानता हूं वह तुम नहीं करोगे।

तुम्हारा,

श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

उस वर्ष के पूजा अंक में यही पत्र छपा। अगले वर्ष पूजा अंक के लिए फिर आग्रह की बारी आई। वही कहानी फिर दोहराई जाने लगी। आखिर फिर अन्तिम दिन निश्चय हो गया। उस दिन जाकर नलिनी बाबू ने देखा, घर में मेहमानों की भीड़ है। शरत् बाबू ने कहा, "देखते हो, इस भीड़ में कहीं लिखा जा सकता है!"

दो क्षण चुप रहने के बाद नलिनी बाबू बोले, "जानता था, लेख नहीं मिलेगा। लेकिन में आज किसी और ही उद्देश्य से आया हूं दादा।"

"वह क्या है?"

"दादा, 'बिजली' से जो मिलता है, उससे पेट नहीं भरता। छोटे-छोटे बच्चों को गाना सिखाकर कुछ रोजगार करता हूं। रामकृष्णपुर मैं सुना है, अमुक सज्जन को एक ऐसे ही मास्टर कर्ा आवश्यकता है। वे आपके पास आते है। आप उनसे कह देंगे तो काम हो जाएगा।"

लेख देने से इतनी सरलता से मुक्ति मिल जाएगी, यह कल्पना शायद शरत् बाबू ने नही ख़ई थी। बहुत खुश हुए। और जैसा कि उनका स्वभाव था, तुरन्त चलने के लिए तैयार हो गए। नलिनी बाबू टैक्सी ले आए, लेकिन वे तो चले ही जा रहे हैं। गंतव्य स्थान आकर भी चला गया है। टैक्सी क्खी ही नही। शरत् बाबू ने पूछ. "आखिर हम कहा जा रहे हैं?"

नलिनी बाबू ने उत्तर दिया, "दादा, मेरा मेस आ गया है। जब आ ही गया है तो चलिए, मेरे निवास स्थान पर चलिए। यह सौभाग्य मिला है तो चाय पीकर और कृतार्थ कीजिए।"

ऊपर जाकर सरकार महाशय ने शरत् बाबू को बड़े आदर के साथ एक कमरे में विठाया। चाय और खाने के लिए सामान लाने का आदेश दिया। आने पर उसी के साथ एक पैकेट सिगरेट, दियासलाई, राइटिंग पैड और फाउंटेन पेन भी उनके सामने रखे। चकित होकर शरत् बाबू ने पूछ. "यह सब क्या है?"

सरकार महाशय ने शान्त भाव से उत्तर दिया, "दादा, चाय पीकर दया करके मेरा लेख लिख दीजिए। बिना लेख लिखे आपका छुटकारा नहीं हो सकता। इस कमरे का दरवाजा बन्द करके मैं पास के कमरे में रहूंगा। लेख पूरा होने पर मुझे पुकार लीजिए। दरवाजा खोल दूंगा।"

यह कहते हुए वे बाहर चले गए और दरवाजा बन्द कर दिया। जाते समय पाया कि विस्मय-विष्णु शरच्चन्द्र उनकी ओर देख रहे हैं। बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं था। चारों ओर शोर मच गया कि शरत्चन्द्र कमरे में बन्द होकर लेख लिख रहे हैं। तीन घंटे बाद दरवाजे पर आहट हुई। शरत्चन्द्र ने भीतर से पुकारा, मनलिनी, दरवाजा खोलो।"

दरवाजा खुला, हाथ में लेख लिए शरत्चन्द्र खडे थे। बोले, गझे धन्य हे लड़के। यह रहा तेरा लैख।"

लेख का नाम था 'कतिपय दिनों की भ्रमण कहानी।' कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने वे दिल्ली गए थे, उसी का यह रोचक यात्रा-विवरण था, लेकिन अचरज यह कि उन्हें तनिक भी तो क्रोध नहीं आया। उड़ी तरह हंसते-हंसते नलिनी के साथ शिवपुर लौट गए।

यह सब ठीक है परन्तु क्या यह भी सत्य नहीं कि लिखने में दुतगति क्लर्क की योग्यता हो सकती हे, लेखक की नहीं।

शरत् बाबू ने एक नई लेखिका को यही उपदेश दिया था। [2]

---

1. नवम्बर, 1920 ई०

2. आषाढ़ 1335 (आशालता सिंह), जून-जूलाई, 1928 ई०

9

अपनी रचनाओं के कारण शरत् बाबू विद्यार्थियों में विशेष रूप से लोकप्रिय थे। लेकिन विश्वविद्यांलय और कालेजों से उनका संबंध अभी भी घनिष्ठ नहीं हुआ था। उस दिन [1] अचानक प्रेजिडेन्सी कालेज की बंगला साहित्य सभा के सम्पादक ने निश्चय किया कि इस बार अवश्य कुछ नया करके दिखाना है। सभी लोग 'शरत् ग्रंथावली' पढ़ते हैं। क्या उन्हीं शरत् को नहीं बुलाया जा सकता?

बस एक दिन दो विद्यार्थी [2] पहुंचे बाजे शिवपुर। किसी तरह कुते की यातना से मुक्ति पाकर देखा कि घर के संकरे बरामदे में आराम कुर्सी पर लेटा नंगे वदन एक व्यक्ति हुक्का गुड़गुड़ा रहा है। एक साड़ी को लुंगी की तरह बांधे हुए है। जनेऊ माला की तरह गले में अटका है। खिचड़ी बाल कंधे तक आ गए हैं। दोनों ने नमस्कार किया। उत्तर में दो तीक्षा आखें उठी। शुष्क गले से पूछा, "कहां से आना हुआ?

“प्रेजिडेन्सी कालेज से।”

“क्या काम है?.”

बेचारे विद्यार्थी इस शुष्क व्यवहार के लिए शायद प्रस्तुत नहीं थे। प्रयोजन बताया कि साहित्य सभा का अध्यक्ष बनाने की प्रार्थना लेकर आए हैं। शरत् बाबू ने तुरन्त इंकार कर दिया, “मैं किसी सभा-वभा में नहीं आता। उस दिन एक स्कूल के लोग आये थे, मैं नहीं गया।"

विद्यार्थियों को जैसे आघात लगा। बोले, हम किसी स्कूल से नहीं आए, प्रेजिडेन्सी कालेज से आए हैं।"

शरत् बाबू ने कहा, 'एक ही बात हैं। वह छोटा स्कूल है, तुम्हारा बडा हो सकता है किन्तु.....वहां जाकर मैं क्या करूंगा? बंगाल में मेरी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। फिर मुझे बोलना नहीं आता। एक काम करो। जलधर सेन को ले जाओ। वह साहित्यकार भी हैं और रायबहादुर भी।“

विद्यार्थियों ने समझाने की चेष्टा की कि उन्हें न रायबहादुरी से प्रेम है और न सामाजिक प्रतिष्ठा से। वे ‘उनके कारण' ही उनके पास आए हैं।

अब शरत् बाबू ने कुछ गम्भीर होकर कहा, “क्या तुम मेरी पुस्तक-उस्तक भी पढ़ते हों?'

"तुरन्त एक विद्यार्थी ने उत्तर दिया, “आप अपनी कोई भी पुस्तक ले लें। कहीं से पूछ लें। सब याद है।"

शरत बाबू ने कहा, “मैं तो समझा था पढ़े-लिखे लड़के हो। बंगला नहीं पढ़ते होंगे। ‘कांटिनेण्टल लिटरेचर' पढते होंगे। शिक्षित वर्ग में आजकल वही व्यापार चलता है।“

वह युग कांटिनेण्टल साहित्य का ही था। पर विद्यार्थियों ने कहा, आप ठीक खबर नहीं रखते। तरुण समाज में आपकी बहुत प्रतिष्ठा है।"

और तरुणोचित आवेश में वे न जाने क्या-क्या कहते रहे और वे चुपचाप सुनते रहे। उनके चुप होने पर भी वे कई क्षण चुप रहे। फिर बोले, “मै तो यह नहीं समझता था। मेरे पास तुम्हारे जैसे विद्यार्थी कहां आते हैं? बडे-बड़े लोग आते हैं। कहते हैं, ‘यह करो, यह मत करो। बंकिम ने जैसे पाप के क्षय और पुण्य की जयपताका फहराई है, ऐसा ही आप भी करो। आप पाप को ऐसे अंकित करते हैं जैसे वह कोई बहादुरी हो।“

ऐसे पथ- प्रदर्शन से उन्हें बडी चिढ थी। वह अपनी स्वाधीन चिन्ताधारा पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं चाहते थे और न स्वयं ही किसी का रहबर बनने की उनकी इच्छा थी। इसीलिए सभा सोसाइटियों में जाना उन्हें अच्छा नहीं लगता था पर आज वार्ता का क्रम कुछ ऐसा चला कि कुछ क्षण बाद नरम होकर वह बोले, “अच्छा आ जाऊंगा। किन्तु क्या बोलना होगा?”

“जो आप चाहें।"

“बहुत भीड तो नहीं होगी?"

“भीड कहां? केवल हम ही होंगे?"

"अच्छा ठहरो। तारीख लिख लूं।"

दीवार पर लगे कलेण्डर में तारीख अंकित करने के बाद वे सहज स्नेह से बाते करने लगे। अपने अतीत की न जाने कितनी कहानियां उन्होंने उन दोनों विद्यार्थियों को सुनाई। एक ने पूछा “लोग कहते हैं, 'श्रीकान्त ' आपकी जीवनी है, क्या यह सत्य है?”

शरत् हंसे बोले, “तुम क्या कहते हो?"

“हम कैसे जानेंगे, हम तो पूछते है।"

वह फिर गम्भीर हो गए। कहा, “उपन्यास लिखने बैठने पर कोई हूबहू अपनी कथा नहीं लिखता। उसी तरह अपने को छोडकर कोई सार्थक सृष्टि भी नहीं होती।“

विद्यार्थी ने फिर पूछा, “आपके साहित्य में पतिताएं बहुत हैं। इसका क्या कोई विशेष कारण है?”

सहसा वे अनमने हो उठे। उनकी तीक्षा दृष्टि उदासी से भर आई। नली मुंह से निकालकर हाथ में ले ली। कहा, नहीं जानता, विशेष कारण क्या है। मैं बहुतों को जानता हूं। अपनी आखों से देखा है। उनमें ऐसी वस्तु है जो बड़ों-बड़ों में नहीं है। त्याग, धर्म, दया, माया, प्रेम, मनुष्य में जो कुछ अच्छा है, उसका उनमें अभाव नहीं है। भद्रता के मोह में पड़कर इसे अस्वीकार करूं तो इससे बड़ा अधर्म क्या होगा? कोई मनुष्य केवल काला ही है, उसमें कोई सुधरने योग्य वस्तु नहीं है, ऐसा नहीं होता। '

वे जैसे कहीं खो गए थे। इस तरह बोल रहे थे, जैसे अपने से ही बातें कर रहे हों। किसी ने उनके कमरे की दीवार पर बदूक और रुद्राक्ष माला को एक साथ देखकर कहा था, "इसी आपात असंगति में शरत्चन्द्र के व्यक्तित्व और साहित्य-साधना का रहस्य छिपा है। '

लेकिन फिर भी क्या सहजभाव से वे उस सभा में जा सके। ठीक समय पर 'ना' कर बैठे। किसी तरह अनुनय-विनय, आवेदन-निवेदन और अन्त में विक्षोभ-प्रदर्शन के बाद ही उन्हें ले जाया जा सका। वहां भीड़-सी भीड़ थी। उनको देखने को लोग पागल रहते थे, पर वे थे कि आतंकित हो उठे। बोले, 'यह क्या किया? इतने मनुष्य!'

लेकिन जब खड़े हुए तो अपनी रचना-प्रक्रिया और साहित्य सृजन की पृष्ठभूमि की विस्तार से चर्चा करते हुए तरुणों को अपना पृष्ठपोषक स्वीकार किया।

तरुण विद्यार्थी उन दिनों देशभक्ति और क्रान्ति की भावना से भरे हुए थे। शरत्चन्द्र में उन्होंने न केवल एक प्रसिद्ध लेखक को देखा बल्कि एक ऐसे क्रान्तिकारी को भी पाया जो उनका पथ-प्रदर्शक बन सकता था। केवल तरुणों ने ही नहीं, उस वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी जगत्तारिणी स्वर्णपदक देकर उनका सम्मान किया। इससे पहले केवल रवीन्द्रनाथ ही यह सम्मान प्राप्त कर चुके थे। वे केवल एफ०ए० तक पड़े थे, परन्तु विश्वविद्यालय ने एक बार उन्हें बी०ए० परीक्षा के बंगला भाषा के प्रश्नपत्र का रचयिता भी नियुक्त किया था।

इसी समय योरोप से यह समाचार आया कि इस वर्ष नोबल पुरस्कार किसी भारतीय को मिलने वाला है। डा० सर मोहम्मद इकबाल और श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ शरत्चन्द्र का नाम भी लोगों की जिहा पर था। इसी बात की चर्चा करते हुए इलाचन्द्र जोशी ने एक दिन उनसे पूछा, "यह सब सुनकर आपको कैसा लगता है?'

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, 'यदि पुरस्कार मिल गया तो अच्छा ही है। और न भी मिला तो मुझे कोई विशेष खेद नहीं होगा। संसार के सभी प्रतिभाशाली लेखकों को नोबल पुरस्कार मिल ही जायेगा यह निश्चित नहीं है। फिर भी यह बात माननी पड़ेगी कि यह पुरस्कार किसी भी लेखक के लिए प्रलोभनीय है। "

जोशीजी ने पूछा, प्रलोभनीय किस अर्थ में? "

शरत्चन्द्र बोले, "जिसे यह पुरस्कार मिल जाता है, उसकी ख्याति सारे संसार में फैल जाती हे और इतनी बड़ी ख्याति का प्रलोभन न हो ऐसा कोई कवि या लेखक हो सकता है, यह मैं नहीं मानता। मैं इतना बड़ा ढोंगी नही बनना चाहता कि तुझसे कह दूं कि मुझे इसका कोई भी प्रलोभन नहीं है। "

सम्मान बढ रहा था। साथ ही सभा-समितियों में बुलाने का आग्रह भी। अगले वर्ष उन्होंने बंगीय साहित्य परिषद नदिया शाखा के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता की। [3] यह अधिवेशन कृष्णनगर में हुआ। वहां वे श्री ललितकुमार चटर्जी के निवास स्थान पर ठहरे थे। चटर्जी महोदय एक सुप्रसिद्ध वकील ही नहीं थे सर आशुतोष मुकर्जी के समधी भी थे।

नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय भी कृष्ण नगर के ही रहने वाले थे। इसलिए दिलीपकुमार भी ललित बाबू के मित्र थे। उन्हीं के कारण शरत् बाबू इस अधिवेशन की अध्यक्षता करन के लिए तैयार हुए थे। स्वीकृति कं बाद भी उन लोगो को आशा नहीं थी कि वे आ ही जायेंगे। फिर भी ठीक समय वे लोग शरत् बाबू को लेने के लिए स्टेशन पर आए। नगर के और भी अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति साथ में थे। ट्रेन आई, यात्री उतरे लेकिन शरत् बाबू किसी भी कम्पार्टमेण्ट के द्वार पर दिखाई नहीं दिए। अन्दर ढूंढने पर पाया कि वे एक द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में बैठे हुए शान्त भाव से गुड़गुड़ी पी रहे हैं। सामने नौकर खड़ा है। जो अब तक चिन्तामग्न थे, वे सब व्यक्ति प्रसन्न हो उठे। बड़े आदर से उन्हें नीचे उतारा और विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया।

ललित बाबू के घर पर ही बहुत-से लोग आ गये थे। शरत् बाबू दिन- भर हुक्का और चाय पीते रहे। कहानियां सुना-सुनाकर सबको हंसाते रहे। सभी को उन्होंने व्यस्त रखा। दूसरे दिन भी इस क्रम में कोई व्याघात नहीं पड़ा। ललित बाबू जानना चाहते थे कि उन्होंने अपना अध्यक्षीय भाषण लिख लिया है या नहीं। पता लगा, नहीं लिखा है। उन्होंने दिलीपकुमार से कहा "जानते हो, ये बहुत नर्वस स्वभाव के व्यक्ति हैं। भीड़ का सामना नहीं कर सकते। अब यह देखना तुम्हारा काम है कि ये अपना अध्यक्षीय भाषण लिख लेते हैं।"

कचहरी से वे तीन बजे लौटे। देखा, शरत् बाबू अभी तक मजलिस लगाए बैठे हैं। सभा दो घण्टे बाद ही तो होने वाली है। अब कहीं याद दिलाने पर शरत् बाबू कागज़-कलम लेकर कमरे में गए। ललित बाबू की चिन्ता का पार नहीं था। इतने थोड़े समय में क्या वे कुछ लिख पायेंगे, लेकिन साढ़े चार बजे तक शरत् बाबू अपना भाषण लिख चुके थे। ठीक समय पर वे लोग कृष्ण नगर कालेज के सभा भवन में पहुंच गए। स्थानीय भद्र लोगों से वह भवन खचाखच भरा हुआ था। तरुण विशेष रूप से बहुत उत्तेजित थे। शरत् बाबू ने जब बोलना शुरू किया तो सहसा शान्ति छा गई। अन्त तक छाई रही। भाषण सुनकर सभी लोग बहुत सन्तुष्ट हुए। इतने थोड़े समय में इतना सुन्दर संक्षिप्त सारगर्भित भाषण लिख डाला था उन्होंने। [4]

इसी सभा में दिलीपकुमार राय ने अपना प्रबन्ध 'शरत् साहित्य में आदर्शवाद' पढ़ा और निरुपमा देवी का यह गीत गाया - बाहिरेर न ओ तूमि, आमादेरि आमादेरि एकजन।'

सभा के बाद भोजन की सभा का आयोजन था। मखमल के आसन पर अध्यक्ष को आसीन करके सब लोग दिलीपकुमार राय की प्रशंसा करने लगे। किसी ने गाने की प्रशंसा की, किसी ने अभिनन्दन की तो किसी ने आवृत्ति की। शरत् बीच में बोले, "रुको, मण्टू का गाना चमत्कार, आवृत्ति चमत्कार, उच्छवास चमत्कार, सब चमत्कार। किन्तु सबसे अधिक चमत्कार जो वस्तु है, उसे कोई नहीं जानता। मैं जानता हूं।"

सब चकित होकर उनकी ओर देखने लगे। वे उसी गम्भीरता से बोले, "वह सबसे अधिक चमत्कार वस्तु है, इनकी तिल्ली। साधुभाषा में उसे जिगर कहते हैं। वृन्दावन,

दिल्ली, आगरा, सभी जगह हम लोग साथ रहे हैं। मैं जो कुछ भी खाता वह मुझे बदहजमी कर देता। ये जो भी खाते वह इनकी शक्ति बन जाता। इतने-इतने बैलून जितने परांवठे, ईंट के परिमाण जितनी मलाई, पहाड़ जितना ऊंचा पुलाव, कोफता, कोरमा, सीक-कबाब। पता नहीं सब कहां चला जाता था? किसी से भी इन्हें कोई बदहजमी नहीं हुई। इसीलिए कहता हूं कि इनकी सबसे बड़ी सम्पदा गाना या लिखना या आवृत्ति नहीं है, इनका जिगर है।"

एक दिन इन्हीं दिलीपकुमार राय ने शरत् बाबू को उस्ताद अब्दुल करीम का गाना सुनने के लिए आमन्त्रित किया था। जब वे बुलाने के लिए आए तो वे बड़े गम्भीरता से बोले, "एक शर्त पर चल सकता हूं, मुझे यह विश्वास दिला दीजिए.....।"

"क्या विश्वास?"

"कि वे रुक तो जायेंगे।"

सुनकर दिलीपकुमार एकदम अट्टहास कर उठे। शरत् कभी स्वय बड़ा अच्छा गाते थे। लेकिन शास्त्रीय संगीत से, विशेषकर उस्तादों से उनको कोई प्रेम नहीं था। एक दिन किसी मित्र के आग्रह पर वे गाना सुनने के लिए गए भी। पक्का राग था। आलाप के साथ उस्ताद एक ही वाक्य बार-बार दोहराते थे। 'सैयां तू कहां गैयां, आ रे मोरे सैयां तू कहां गैयां रे।' [5]

बहुत देर तक सुनते रहे, लेकिन अन्त तक वे चुप नहीं रह सके। हुक्के की गुड़गुड़ी मुह से निकालकर वे जोर से बोले, "अरे तेरा सैयां काशी मित्तर के घर गैयां, उसे बाद क्या हुआ बताओ न!"

दिलीपकुमार से जो कुछ उन्होंने कहा था, उसका संबंध इसी घटना से था। जहां भी वे जाते, जहां भी वे बैठते, उस मजलिस में इस तरह हंसी के फबारे फूटते रहते।

उन्होंने संगीत में रुकने की बात कही थी, परन्तु जहां तक हास-परिहास की वृत्ति का संबंध है वह स्वयं भी रुकना नहीं जानते थे। उस दिन 'भारतवर्ष' के कार्यालय में केवल कर्मचारी ही थे, कर्ता कोई नहीं था। शरत् बाबू उसी समय वहां पहुंचे। अफीम खाने का समय था। उन्होंने जैसे ही गोली मुंह में डाली, कर्मचारी उन्हें देखने लगे। वे बोले, "तुम भी खाओगे? मेरे जैसा लेखक बनना चाहते हो तो जरूर खाओ।"' और नाना प्रकार के प्रलोभन देकर थोड़ी-थोड़ी सभी को खिलाई। फिर हरिदास को पत्र लिखा कि उनके सभी कर्मचारी लेखक बनने के मोह में अफीम खाकर नशे में टूल रहे हैं। अगर अभी उनके लिए मिठाई का प्रबन्ध नहीं कर देते तो हाथ में हथकड़ी पड़ सकती है।

हरिदास सब कुछ समझ गए और उन्होंने दस रुपये भेज दिए।

लेकिन एक बात जो उनके मित्रों को बहुत परेशान करती थी, वह थी उनकी लोगों को अकारण ही कुद्ध कर देने की प्रवृत्ति। किसी के भी बारे में झूठ-मूठ प्रचार कर देते थे या परेशान करने के लिए ऐसा-वैसा कह देते थे। कविगुरु रवीन्द्रनाथ तक को उन्होंने नहीं छोड़ा था। उस दिन 'रसचक्र' की बैठक में उन्होंने सहसा बड़ी गम्भीरता से कहा, "तुमने सुना, आजकल रामानन्द चटर्जी और गुरुदेव में बोलचाल बन्द है।"

"सच? क्या बात है?"

"रामानन्द योरोप गए थे न। दाढ़ी के कारण लोगों ने उन्हें रवीन्द्रनाथ समझ लिया। उस कविगुरु को यह पता लगा तो उन्होंने रामानन्द चटर्जी से कहा कि वे अपनी दाढ़ी कटवा दें। वे तैयार नहीं हुए। भला इतने दिनों के परिश्रम से बढ़ाई दाढ़ी कैसे कटवाई जा सकती है। तब कविगुरु ने प्रस्ताव किया कि यदि दाढ़ी कटवाना संभव नहीं है तो वे मेंहदी लगाया करें। यह सुनकर रामानन्द बाबू कुद्ध हो उठे। बोले, मैं क्या मुसलमान हूं?'

"बस तब से उनकी बोलचाल बन्द है।"

'रसचक्र' के अधिकांश सदस्य शरत् बाबू के बीरबली स्वभाव से परिचित थे। इस परिहास पर वे खूब हंसे। पर यह भी सच है कि इसी कारण जो उनसे अपरिचित थे, उनके बारे में बुरी धारणा बना लेते थे। या जो उनके विरोधी थे वे इसका अनुचित लाभ उठाते थे। किन्तु वे जरा भी परेशान नहीं होते। मित्र तर्क करते और वे हंसते रहते। यह सब वे रस लेने के विचार से ही करते थे। वे लोग देखते तो पाते उनकी आखों में छेड़-छाड़ करने की वृत्ति है। इसलिए जब सत्य प्रकट होता तो संबंधित व्यक्ति हंस पड़ते थे। लेकिन सभी तो इतने उदार नहीं होते कि जानें कि आदमी अपनी दुर्बलताओं के साथ ही बड़ा होता है। उनसे कटकर नहीं।

इसी वर्ष [6] मुंशीगंज में, बंगीय साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था। उसकी साहित्य शाखा की अध्यक्षता की थी शरत् बाबू ने। उस समय वे [7] ढाका भी गए थे और अपने प्रिय मित्र उपन्यासकार चारुचन्द्र बंदोपाध्याय के घर पर ठहरे थे। वहां के डिप्टी मजिस्ट्रेट सुरेशचन्द्र घटक स्वयं साहित्यिक थे। वे उन्हें अपने पास ले जाना चाहते थे। ढाका विश्वविद्यालय के इतिहास के अध्यापक डा० रमेशचन्द्र मजूमदार मुंशीगंज में ही उन्हें अपने घर पर ठहरने का निमंत्रण दे चुके थे। लेकिन शरत् बाबू ने सबसे यही कहा "मैं अपना घर छोड्कर कहीं नहीं जा सकता।"

"आपका घर यहां है?'

"हां, चारु मेरा बचपन का दोस्त है। उसका घर मेरा घर है। उसकी पत्नी मेरी जितनी देखभाल करती है, उतनी तुम नहीं कर सकोगे।""

वे किसी के पास जाकर नहीं ठहरे। फिर भी बारी-बारी उनके घर चरणधूलि डालने का निमन्त्रण उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। मजूमदार महाशय के घर जब मजलिस जमी तो कितनी कहानियां सुनाईं, कितने प्याले चाय पी और कितना तम्बाकू खाया, इसका हिसाब किसी के पास नहीं हो सकता। जिस रात सुरेशचन्द्र के यहां निमन्त्रण था, उसी रात को अपूर्वचन्द्र कुमार के घर जाना था। बातों के धनी शरत् बाबू को यह सब कैसे याद रहता। बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद स्वयं कुमार रात में 11 बजे उन्हें लेने के लिए आए। शरत् बाबू ने कहा, "लोगों को मुझसे बात करने में आनन्द आता हे, तो मैं कृपण क्यों होऊं?"

उनके घर से वे रात के ढाई बजे लौटे तो चारु बाबू ने कहा, "शरत्, समय के संबंध में तुम्हें कुछ ध्यान देना चाहिए।"

उन्हें तुरन्त उत्तर मिला, "देखो, चारु, मनुष्य घड़ी का दास हो, यह मैं कभी नहीं चाह सकता। तुम दासता से घृणा करते हो, तब भी मुझसे कहते हो कि घड़ी का दास बनूं। वह मैं नहीं करूंगा।"

आवारापन से शायद उन्हें मुक्ति मिल गई थी, लेकिन उसने उनके जीवन पर जो छाप लगा दी थी उससे वे कभी भी मुक्त नहीं हो सके। वे तथाकथित सभ्य समाज के सुसंस्कृत व्यक्ति कभी नहीं बन सके। उस समय भी, जब वह बंगला साहित्य के महान उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित और समादृत हो चुके थे, उन्होंने अपने को अभिजात वर्ग का व्यक्ति कहकर परिचित कराने की जरा भी चेष्टा नहीं की। यही कहा "मै न तो बहुत पढा-लिखा हूं न मेरा ज्ञान ही कुछ अधिक है। मुझे जो पढ़ना चाहते हैं उसका कारण यही है कि मैंने अपनी रचनाओं में वही चित्रित किया है जो मैंने अपनी आंखों से देखा और मन से अनुभव किया है।" अभिजात की के विरोध में वे ब्रात्य ही बने रहे। कई वर्ष पूर्व [8] प्रमथ चौधरी ने जब उन्हें अपनी एक पुस्तक समर्पित की थी तब भी उन्होंने यही कहा था कि "मेरे जैसे दुश्चरित्र को पुस्तक समर्पित करने के लिए समाज चौधरी महाशय को क्षमा नहीं करेगा। वे ठहरे परम विद्वान, समाज के चौधरी और मैं ठहरा शरत् चाटूज्जे।"

लेकिन इस सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने जो भाषण दिया था वह उतना ही गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। उसमें उन्होंने अपनी साहित्यिक मान्यताओं को और अपने साहित्य के थीम को स्पष्ट किया है। साहित्य में आर्ट और दुर्नीति क्या है [9] -उसकी विशद व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा, "साहित्य की सुशिक्षा, नीति और लाभालाभ का अंश ही अब तक मैं व्यक्त करता आया हूं। जो चीज इससे भी बड़ी है -इसका आनन्द, इसका सौन्दर्य - उसकी आलोचना करने का समय अनेक कारणों से मुझे नहीं मिला। केवल एक बात कह रखना चाहता हूं कि आनन्द और सौन्दर्य केवल बाहर की वस्तु नहीं है। केवल सृष्टि करने की त्रुटि ही है, उसे ग्रहण करने की अक्षमता नहीं-यह बात किसी तरह सच नहीं है। आज यह शायद असुन्दर और आनन्दहीन जान पड़े, किन्तु यही इसकी आखिरी बात नहीं है, आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में यह सत्य याद रखने की जरूरत है।

"और एक बात कहकर ही मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करूंगा। अंग्रेजी में आईडियलिस्टिक आदशवादी) और रियलिस्टिक (यथार्थवादी) दो शब्द हैं। हाल में किसी-किसी ने यह अभियोग लगाया है कि आधुनिक बंगला साहित्य अत्यधिक यथार्थवादी हो चला है। मैं कहता हूं एक को 'बाद देकर' दूसरा नहीं होता। [10] कम से कम जिसे उपन्यास कहते हैं, वह नहीं होता। हां, कौन किधर कितना झुककर चलेगा, यह साहित्यिक शक्ति और रुचि पर निर्भर करता है । किन्तु एक शिकायत यह की जा सकती है कि पहले की तरह राजे-रजवाड़ों और जमींदारों के दुख-दैन्य-द्वन्द्व-हीन जीवन के इतिहास को लेकर

आधुनिक साहित्यसेवी को सन्तोष नहीं होता -उसका मन नहीं भरता । वह नीचे स्तर में उतर गया है । यह अफसोस की बात नहीं है । बल्कि इस अभिशप्त और तमाम दुखों के देश में, अपने अभियान को छोड़कर रूसी साहित्य की तरह जिस दिन वह और भी समाज के नीचे के स्तर में उतरकर उनके दुख और वेदना के बीच खड़ा हो सकेगा, उस दिन यह साहित्य-साधना केवल स्वदेश में ही नहीं विश्व-साहित्य में भी अपना स्थान कर ले सकेगी।.

आदर-अभ्यर्थना का यह जो क्रम आरम्भ हुआ वह फिर नहीं टूटा। उसमें कई महान गुण थे, फिर भी हमेशा डर लगा रहता था कि कही उनकी कमजोरियां, जो कम नहीं थीं, उनके कार्य को नष्ट न कर दें। लेकिन यह डर निर्मूल था, नियति ने उनके लिए यही पथ निश्चित किया था जिस पर वे निरन्तर भूल और संघर्ष करते हुए आगे बढ़ रहे थे। वे गरीबी से उठकर आये थे। शिक्षा भी उन्हें कम ही मिली थी। परन्तु जीवन की पाठशाला में उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किए थे, उनके कारण मनुष्य को समझने की शक्ति उन्हें प्राप्त हो गई थी। भले ही व्यवहार उनका अब भी अटपटा ही था। यह अटपटापन उन्हें अक्सर मुसीबत में डाल देता था, परन्तु मस्तिष्क का संतुलन कभी नहीं खोने देता था। जानने से भी अधिक वे मनुष्य को प्यार करते थे।

---

1. सन 1923 ई० (यह वार्षिक अधिवेशन 30 अगस्त, 1923 ई० को हुआ) ।

2. उनमें एक थे जरासन्ध जो बाद मे स्वयं प्रसिद्ध लेखक हुए।

3. 10 आश्विन 1331 (26 सितम्बर, 1914 ई०)

4. 'साहित्य और नीति' शीर्षक से यह 'सुदेश और साहित्य' में संगृहीत है।

5. इसका शुद्ध रूप है-'कहां गये सैयां।' चुटकुले में आते-आते यह विकृत रूप हो गया।

6. 10-11 अप्रैल, 1925 ई०

7. विश्वभारती सम्मिलनी ने उनका अभिनन्दन किया था।

8. सन् 1919 ई० में 'आहुति' कहानी-संग्रह

9. सुदेश और साहित्य' में संगृहीत

10. एक को अलग कर दूसरा नहीं होत

10

किसी पत्रिका का सम्पादन करने की चाह किसी न किसी रूप में उनके अन्तर में बराबर बनी रही। बचपन में भी यह खेल वे खेल चुके थे, परन्तु इस क्षेत्र में यमुना ' से अधिक सफलता उन्हें कभी नहीं मिली। अपने मित्र निर्मलचन्द्र चन्द्र' के साथ उन्होंने रूप और रंग? [1] का सम्पादन भी कुछ दिन किया। 'भारत लक्ष्मी' का सम्पादन करने के लिए भी वे सहमत हो गए थे। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था - ' 'भारत लक्ष्मी ' नामक एक नये पत्र का सम्पादक बनने के लिए राज़ी हो गया हूं। आज एक चिट्ठी लिखी है। अगर उन शर्तों पर तैयार हुए तो सम्पादन का भार ले सकता हूं। संसार में बहुतेरे लोगों के बारे में जो होता है मेरे बारे में भी वही होगा। अर्थात् संसार में बुद्धिमान और बेवकूफ दोनों ही हैं और एक पक्ष की जीत होती है। अधिक न होने पर भी पांच-छ: हजार का जमानतदार हूं। सोचा है कि 'भारत लक्ष्मी ' में शामिल होकर इसे चुका दूंगा। वे मुझे चौथाई का हिस्सा देंगे। अब सांसारिक बुद्धि वाले जैसा आचरण करते हैं, मैं भी वैसा ही करूंगा। अर्थात् ठगा न जाऊंगा। दशहरे के बाद ये सारी बातें तफसील से तय करूंगा। लेकिन इसी बीच परिचित-अपरिचित साहित्यिक बहुतेरे लोग लिश्व्र रहे हैं कि उनकी रचना लेकर पेशगी रुपये भेजूं। हाय, इतनी शक्ति यदि होती, किन्तु इसी शक्ति की परम आवश्यकता है।.....'

लेकिन यह शक्ति शायद उन्हें कभी नहीं मिली। हां, अपनी अर्जित सम्पत्ति में से वे नाना व्यक्तियों की नाना रूपों में सहायता करते रहे। काशी में सम्भ्रान्त परिवार की एक वृद्धा बंगालिन रहती थी। बालपन में ही विधवा हो गई थी। पढ़ी-लिखी थी। खूब खाना-पकाना और खिलाना जानती थी लेकिन बुढ़ापे में उसकी आखें बिलकुल खराब हो गईं। एक दिन उसने शरत् बाबू को बेटा कहकर पुकारा था, उस समय से अपने मित्र हरिदास शास्त्री के द्वारा वह बराबर उसकी सहायता करते रहे। लेकिन अपना नाम कभी प्रकट नहीं होने दिया। वृद्धा यही समझती रही कि यह पैसा हरिदास का ही है। गप्त रूप से सहायता करने का जैसे उनका स्वभाव था। कछ दूर पर एक विधवा मुडिवाली [2] रहती थी। उसके कोई सन्तान भी नहीं थी। गुप्त रूप से उसकी सहायता करने के उद्देश्य से ही उन्होंने बड़ी बहू को आदेश दिया था कि वे प्रतिदिन उससे छी खरीदा करें। गरम पुडी खाना उन्हें बहुत अच्छा लगता था।

छोटा भाई प्रकाशचन्द्र उन्हीं के साथ रहता था। बड़े चाब से उन्होंने उसका विवाह [3] किया। कन्या के पिता की अवस्था बहुत अच्छी थी, परन्तु उन्होंने दान-दहेज की जरा भी चिन्ता नहीं की। बड़ी बहू ने सहज उदारता के साथ अपने सब गहने देवरानी को चढ़ा दिए।

उनका यह भाई कभी कुछ नहीं कर सका। कुछ करने योग्य न तो उसे कोई शिक्षा मिली थी और न वातावरण ही। अभावों में वह पला और जमींदारों की नाटक मण्डलियों में स्त्रियों का अभिनय कर-करके बड़ा हुआ। वहां वह पीना ही सीख सकता था। जीवन-भर शरत् बाबू अपने इस भाई का और उसके परिवार का पोषण करते रहे।

ऐसी मानवीय करुणा से ओतप्रोत होने के बावजूद स्वयं उनकी प्रसिद्धि अनीति के प्रचारक के रूप में जरा भी कम नहीं हुई थी। लोग बराबर मानते रहे कि वे इतनी शराब पीते हैं कि तौबा। और भी न जाने कितने कल्पनीय-अकल्पनीय ऐब हैं उनमें। न जाने कितने सम्मेलन उन्हें अध्यक्ष के रूप में पाकर गौरवान्वित हुए। न जाने कितनी सभाओं ने उनका अभिनन्दन किया, परन्तु उनके मुंह पर ही उनकी निन्दा करने वालों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई। कभी परोक्ष रूप में, कभी अपरोक्ष रूप में भाषणकर्ता उन्हें लक्ष्य करके बहुत कुछ कह जाते थे। चितपुर में एक पुस्तकालय के स्थापना-दिवस पर होने वाली सभा की अध्यक्षता करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया गया था लेकिन उसी सभा में एक सज्जन ने भाषण करते हुए कहा, हम लोगों ने बड़े उत्साह से पुस्तकालयों की स्थापना करने की ओर ध्यान दिया है। लेकिन कभी-कभी सोचता हूं ऐसा करने से क्या लाभ? क्या पढ़ने लायक अच्छी किताबें निकल रही हैं? कोई लिख रहा है? साहित्य में न तो आज नीति है और न रुचि। सब कुछ गन्दगी से भरा हुआ है। और इस गन्दगी के लिए खास तौर से जिम्मेदार हैं हमारे आज के अध्यक्ष। '

शरत् बाबू अध्यक्ष पद पर बैठे हुए यह सब कुछ चुपचाप सुनते रहे। जब उनके भाषण देने का समय आया तो उन्होंने केवल इतना ही कहा, रेखिए, अच्छी किताबें अगर नहीं निकल रही हैं तो आप लोग एक काम कीजिए, पुस्तकालय बन्द कर दीजिए। एक संकीर्तन दल बनाइए। पुस्तकालय स्थापित कर देश के लोगों में गन्दगी न फैलाकर कीर्तन दल बनाकर मोहल्ले-मोहल्ले में कीर्तन का प्रचार कीजिए। यह अच्छा सत्कर्म होगा। "

एक मजिस्ट्रेट थे - श्री यतीन्द्रमोहन सिंह। उन्होंने 'साहित्य की स्वास्थ्य-रक्षा ' नाम से एक पुस्तक लिखी। इसमें उन्होंने शरत् बाबू पर तीव्र आक्रमण किए। इस पुस्तक का उतना ही तीव्र विरोध हुआ और एक दिन अपने-आप ही यह समाप्त भी हो गई। लेकिन कहते हैं, एक दिन उनकी शरत् बाबू से भेंट हो गई थी। अनितिमूलक साहित्य र्का चर्चा चलने पर शरत् बाबू ने कहा, गझे विश्वास है कि आप सच्चरित्र व्यक्ति हैं। आप तो कभी वेश्या के यहां गए नहीं होंगे?'

यह सुनकर मजिस्ट्रेट साहब हतप्रभ ही हो सकते थे। हां या ना में उत्तर देना उनके लिए सम्भव नहीं था। शरत् बाबू ने ही कहा, 'अब जब आपको अनुभव ही नहीं है तो आपसे क्या बात करें?'

जिस प्रकार वे जीवन- भर अनीति के प्रचारक के रूप में प्रसिद्ध रहे, उसी प्रकार आवारा जीवन की ललक भी कभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। प्रतिवर्ष जगद्धात्री पूजा के

अवसर पर वे भागलपुर मामा-बाड़ी में जाते थे। जब वे बर्मा से लौटे थे तो उन्होंने मामा-परिवार से, विशेषकर बचपन के अपने सहपाठी मणि मामा से, संबंध सुधारने का बहुत प्रयत्न किया था। एक बार ये मामा बेटी के विवाह के संबंध में कलकत्ता आए थे। उस समय सुरेन्द्रनाथ ने शरत् बाबू को सलाह दी, 'इस अवसर पर तुम उपहार भेजो। '

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, यणि मामा नहीं लेंगे।

सुरेन्द्रनाथ ने कहा, 'तुम भजॉ, बाकी हम देख लेंगे। '

शरत् बाबू ने ऐसा ही किया और, जैसा कि हो सकता था, उसे देखकर मणि मामा तुरन्त बोले, नही, यह नही लिया जाएगा। इसे लौटा दो। '

मामी ने कहा उपहार नहीं लौटाया जा सकता। लेना ही होगा। '

नही, नहीं... ... मणि मामा और भी कुद्ध हो उठे कि तभी सुरेन्द्र ने आकर उनसे कहा-रादा, शरत् आए हैं।

कहां हैं?'

सामने आकर शरत् बाबू ने मणि मामा के पैर पकड़ लिए। कहा, 'मुझे क्षमा कर दो।

क्षण-भर में मामा का राग-अभिमान दूर हो गया। काठ अवरुद्ध और आखें भरी-भरी। इतना ही कह सके, 'शादी में आना, समझे!'

शरत् बाबू के लिए मामा-बाड़ी के द्वार खुल गए। मणि मामा की मृत्यु [4] के बाद तो उन्होंने जैसे वहां जाने का नियम बना लिया था। उस समय वे यथाशक्ति अपना पुराना जीवन जीने की चेष्टा करते थे। चाय, तम्बाकू और हंसी-मजाक चलता था। खाने के लिए दिन में चार बज जाते और रात में एक। आते ही घर के सब नियम उलट-पुलट कर देते थे। यह उनकी प्रकृति थी। बच्चे उन्हें बहुत प्यार करते थे। वे आते और सीधे गंगा तट पर पहुंच जाते और ढेरों खिलौने लाकर बच्चों के सामने बिखेर देते। फिर आता मिठाईवाला, अरे, इतने से क्या होगा, और लाओ। और चाय लाओ। और तम्बाकू लाओ।' बस यही पुकार वे लगाते रहते।

पूजा के समय नाटक भी होते थे। उस बार उन्होंने 'चन्द्रगुप्त' नाटक को मंचस्थ करने का निर्णय किया और तुरना गिरीन्द्रनाथ को बुलाकर कहा, .इस बार 'चन्द्रगुप्त' नाटक का एक दृश्य करने की इच्छा है। तुम 'चाणक्य' का अभिनय करो। प्रफुल्ल कात्यायन' बनेगा। शचि 'भिक्षु' और देवी प्रॉम्पटर'।'

ऐसा ही हुआ। जब शरत् बाबू भिक्षुक का गाना नहीं सुन सके तो रोते-रोते अपने कमरे में चले गए और वहीं अंधेरे में बैठकर अभिनय देखते रहे।

कीर्तन भी उसी तरह होता और वे लेटे-लेटे सुनते रहते। बीच में सहसा बोल उठते, -रासबिहारी, ओ कुब्जार बन्धूटि' गाओ। '

यह उनका बड़ा प्रिय गाना था। लेकिन इसे वे कभी पूरा नहीं सुन पाते थे। बीच में ही रो पड़ते और भाग जाते।

बोलि ओ कुब्जार बन्धु

तोमाय राधानाथ आर बोलबो ना हे। ओ कुलनार बन्धु

रासबिहारीदास तुलसी की माला भी तैयार करते थे। एक दिन शरत् बाबू ने कहा, -मुझे भी एक दो। '

सुरेन्द्रनाथ ने पूछा, 'तुम पहनोगे?

"हां, बडी इच्छा है।"

रासबिहारी ने उसी दिन परिश्रम से माला तैयार की। शरत् बाबू ने उसे पहना और बहुत प्रसन्न हुए। लेकिन उस दिन जैसे पुराने यायावर-जीवन की याद आ गई हो। उन्होंने कहा, "इस बार भागलपुर से स्टीमर के मार्ग से कलकत्ता जाएंगे। घूमना हो जाएगा।"

बस सुरेन्द्रनाथ और गिरीन्द्रनाथ को साथ लेकर चल पड़े। साथ में नौकर-चाकर और बहुत-सा सामान। इतना कि दो- तीन घोड़ागाड़ियों में भी नहीं आया। स्टीमर घाट पर पहुंचे। बहुत देर तक कोई जहाज नहीं दिखाई दिया। निश्चय किया कि पहले जिस ओर का जहाज आएगा उसी में बैठकर चल दंग। पश्चिम र्का ओर से आएगा तौ पूर्व र्का ओर चलेंगे और पूर्व र्का और सं आएगा तो पश्चिम की ओर।

मामा ने पूछा णश्चिम की ओर कहां चलेंगे?"

उत्तर दिया, "कहीं भी। रवीन्द्रनाथ भी तो गाजीपुर तक हो आए है।"

सौभाग्य से कलकत्ता जाने वाला जहाज ही पहले आ गया। लेकिन मार्ग उसका बड़ा विकट था। आगे चलकर पद्मा नदी से होकर गुआलन्दी पहुंचना था। वहां से सुन्दर बन होकर फिर डायमण्ड हार्बर द्वारा खिदिरपुर आते थे।

शरत् बाबू अपने सभी साथियों के साथ प्रथम श्रेणी के टिकट लेकर केबिन में पहुंच गए। नौकर को गुड़गुड़ी तैयार करने का आदेश दिया। पास ही कप्तान का केबिन था। गुड़गुड़ी की आवाज सुनकर उसने तुरन्त एक खलासी को भेजा। उसने आकर शरत् बाबू से कहा, "यहाँ तम्बाकू पीने की आशा नहीं है, बन्द कर दीजिए।"

शरत् बाबू ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। कप्तान स्वयं आया। बोला, -तम्बाकू पीना आपको बन्द करना होगा।"

क्यों?

क्योंकि यह असभ्यता है। अच्छा नहीं दिखाई देता।"

लेकिन मुझे तो यह सुन्दर दिखाई देता है। इससे सभ्यता का परिचय अधिक मिलता है।' इसका कर्णकटु शब्द सुनकर यात्री नाराज होते हैं।"

"शायद स्टीमर की सीटी सुनकर उनको अच्छा लगता है। केवल अनिवार्य समझकर ही क्या वे उसे सहन नही करते?"

"लेकिन गुड़गुड़ी पीना क्या अनिवार्य है?"

"शायद आप धूम्रपान नहीं करते?"

“सिगार या सिगरेट पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है।“

“आपको न हो, लेकिन किसी और को हो सकती है।“

किसी योरोपियन को कोई आपत्ति नहीं है।“

लेकिन यह योरोप नहीं हे।“

इस वाक्यूद्ध का कोई अन्त नहीं था। कप्तान को अन्त में यह कहकर चले जाना पड़ा, “किसी योरोपियन को आपत्ति होगी तो आपको बन्द करना होगा। यह आपसे मेरा अनुरोध है।“

शरत् बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसी तरह गुड़गुड़ी पीते रहे।

जहाज चलते-चलते पहुंच गया कहालगांव। कभी इस गांव में कलह होता होगा, अब तो नाम शेष रह गया है। कुछ क्षण जहाज यहां रुकता था। शरत् बाबू उतरे और चल दिये एक ओर। जहाज के छूटने का समय आ गया। लेकिन उनका कहीं पता नहीं था। दोनों मामा खोजने के लिए इधर-उधर भागे। पाया कि घाट के पास ही जो एक छोटी-सा दुकान है उसके सामने मैदान में शरत् बाबू बैठे हुए हैं। चारों ओर पन्द्रह-बीस कुत्ते दही-चूहा खाने में मस्त हैं। एक बारह-तेरह वर्ष का बच्चा दोनों हाथों में सामान लिए खड़ा है। सुरेन्द्रनाथ ने कहा, “यह क्या है? जहाज छूटने वाला है।“

“भुझे मालूम है। लेकिन अभी सीटी नहीं हुई।“

यह कहकर वे उठे। दुकानदार का हिसाब चुकता किया। वह बाकी पैसे देने लगा तो हिन्दी में बोले, रने नहीं होंगे। यह तुम्हारा नफा है।“

बेचारा दुकानदार उनका मुंह देखता रह गया। जहाज़ पर लौटकर शरत् बाबू ने बताया, “जैसे ही मैं नीचे उतरा कुत्तों के एक दल ने मुझे घेर लिया। देखने पर लगा न जाने कितने दिनों से उन्होंने खाया नहीं है। मेरी इच्छा हुई, कुछ इन्हें खिलाना चाहिए। यहां सिर्फ दही-चूड़ा ही मिल सका। वही खिलाने मै इतनी देर हा गई।“

अगले दिन संध्या को फिर एक गांव आया। यहां दूध, मछली, तरकारी खूब मिलती थी। बस खरीदने के लिए लोग उतर पड़े। वेचने वाले वहीं आ गए थे। लेकिन जव जहाज़ फिर चला तो देखा गया कि एक व्यक्ति स्टीमर के साथ भागता हुआ किनारे-किनारे चल रहा है। बार-बार उधर देखकर हथि जोड़ता है और फिर भागता है। सहसा शरत् बाबू की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कप्तान से अनुरोध किया, श्वहाजू को रोक दीजिए।“

कप्तान ने उत्तर दिया, “बाबूजी, इस प्रकार दया दिखाने पर तो दस दिन में भी गुआलन्दो नहीं पहुंचा जा सकेगा।"

लेकिन फिर भी शरत् बाबू के अनुरोध करने पर उसने जहाज किनारे लगा ही दिया। वह व्यक्ति रोता-रोता जहाज पर बढ़ा और बेहोश होकर गिर पड़ा। बेटी के मरणासन्न होने का समाचार पाकर वह उसे देखने के लिए जा रहा था।

यात्रा लम्बी थी और इस प्रकार के अनुभवों की कोई कमी नहीं थी। दूसरे दिन सवेरा होते ही दूर से कोलाहल का शब्द पास आने लगा। दस बजे के लगभग जहाज एक गांव के किनारे जा लगा। नाम था 'प्रेमतली'। वैष्णवों का बहुत बड़ा मेला यहां लगता था। चारों ओर से असंख्य वैष्णव-वैष्णवी मेले में आते थे, लेकिन जहाज तो केवल आधा घंटे के लिए ही रुक रहा था। शरत् बाबू ने कहा, "इतना बड़ा मेला लगता है यहां, क्या एक दिन भी नहीं ठहरेंगे?"

कप्तान हाथ जोड़कर बोला, "माफ कीजिए। आध घंटे से अधिक नहीं ठहर सकता।"

शरत् बाबू ने मामा से कहा, "आध घंटे में कुछ नहीं हो सकता। प्रेमतली का मेला देखे बिना मैं आगे नहीं जाऊंगा। जहाज जाता है तो जाए।"

और वह तुरन्त अपना सारा सामान लेकर सबके साथ नीचे उतर पड़े। लेकिन अब जाएं कहां? शरत् बाबू स्थान की खोज करने के लिए निकले। पता लगाया, पास ही जमींदार की कचहरी है। वही जाकर ठहरना होगा। साथ में वे जमींदार के नौकर भी लेकर आए थे। धीरे-धीरे सब लोग वहां पहुंच गए। देखा चारों ओर वैष्णव नर-नारी अधिकार जमाए हुए हैं। इन लोगों का सामान देखकर वे सब चकित हो उठे। और जब अन्त में शरत् बाबू वहां पहुंचे तो जैसे चारों ओर एक आर्तनाद मच उठा। दाढ़्द्यिधारी शरत् को उन्होंने मुसलमान समझ लिया था। चीत्कार करके वे पुकारने लगे, "भागो, भागो! श्यामसुन्दर, राधिकारमण, सर्वनाश हो गया! रसोई तैयार हो रही थी। आज हमारा जन्म भ्रष्ट हो गया। राधे, राधे, यह क्या किया मदनमोहन?"

क्षण-भर तो शरत् बाबू हतप्रभ- से देखते रहे। फिर बोले, "अजी सुनते हो तुम सब लोग, मैं ब्राह्मण हूं ब्राह्मण। डरो नहीं, मैंने जनेऊ पहना है । "

एक बुद्धिमान दिखाई देने वाले वैष्णव ने उत्तर दिया, "सुनता हूं, आजकल वे भी जनेऊ पहनने लगे हैं।"

सुनकर शरत् बाबू और मामा लोग बड़े जोर से हंस पड़े। शरत् बरामदे में जा पहुंचे। सब वैष्णव-वैष्णवी 'श्यामसुन्दर', 'राधिकारमण' पुकारते हुए वहां से भाग गए। तब शरत् बडे आराम से शतरंजी के ऊपर बैठ गए औग् बोले, "अच्छा ड्डूआ, यह विपत्ति टली।"

कुछ क्षण आराम करने के बाद वे मेला देखने के लिए निकल पड़े। घण्टे पर घण्टे बीतने लगै, लेकिन उनका कहीं पता नहीं था। दोनों मामा फिर ढूंढने के लिए निकले। पाया, एक प्रकाण्ड वृक्ष के नीचे बहुत बडी भीड़ के बीच में एक कृष्णवर्णीय बाउल एक गौरांगिनी के साथ नृत्य-संगीत मे लीन है और शरत् तन्मय होकर सुन रहे है। मामा ने कहा, "नहाना, धोना और खाना नहीं होगा क्या?"

उत्तर मिला, "वह तो रोज ही होता है। सुनो कैसी भक्ति है इनकी! अहा, यदि यह भक्ति और यह तन्मयता मुझे मिल सके!"

मामा ने कहा, "तो इनके दल में शामिल हो जाओ न।"

"काश, अब ऐसा कर पाता।"

और पुराने जीवन की याद करके उन्होंने दीर्घश्वास खींचा। बड़ी कठिनता से मामा लोग उनको वहां से उठाकर ला सके। भोजन करते समय शरत् ने कहा, "आज यहीं रहना होगा। सुना है, यहां का वैष्णवी-ग्रहण व्यापार बहुत रोचक है। कुछ धन जमा करा देने पर किसी को भी वैष्णवी मिल सकती है। एक चादर के पीछे ाँग्रात्रियों का दल इस प्रकार खड़ा कर दिया जाता हें, कि बस उनके ेर की अंगुली ही दिखाई दे। जिस वैष्णवी की अंगुली जो पकड़ लेता है वे दोनों एक वर्ष तक एक साथ रह सकते है।"

क्या जितनी रोचक थी, उतनी ही अविश्वसनीय भी। इसीलिए अन्त में बहुत खोज करने पर पता लगा कि अब वह प्रथा समाप्त हो गई है। लेकिन साथ ही यह भी पता लगा कि रात में यहां बहुत बड़े-बड़े मच्छर होते है।

"अरे बाप रे, मच्छर-मलेरिया! तब तो यहां रहना नहीं हो सकता। अब क्या किया जाए? इस समय कोई जहाज भी तो नहीं जाता। क्यों न नाव से यात्रा की जाए । खूब मजा आएगा।"

मामा ने पूछा, "लेकिन जाना कहां होगा?"

खहां भी पहुंच जाएं। राजशाही तो पहुंच ही सकते हैं।"

बस एक नौका तैयार की गई, लेकिन भाग्य अच्छा था कि रास्ते में ही गुआलन्दो जानेवाला जहाज़ मिल गया। बस सब लोग उसमें सवार हो गए। दिन-भर बहुत भाग-दौड़ हुई थी, खूब नींद आई। अगले दिन जहाज़ एक घाट पर जाकर ठहरा। वहां के ज़मींदार से शरत् बाबू का परिचय था। बोले, श्वलो, वहीं चलकर चाय पीयेंगे।"

बहुत खोज करने पर कहीं मकान मिल सका, लेकिन दुर्भाग्य से ज़मींदार साहब सो रहे थे। नौकर किसी भी तरह उन्हें जगाने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसी समय जहाज़ की सीटी सुनाई दी और वे दौड़े। उनके चढ़ते ही जहाज़ छूट गया। लेकिन चाय तो मिलनी ही चाहिए। नौकर को आवाज़ दी बैकुण्ठ, चाय तैयार करो।"

लेकिन बैकुण्ठ हो तो जवाब दे। वह तो पद्मा के किनारे दौड़ रहा था। बड़ी कठिनता से एक नाव द्वारा उसे जहाज़ पर लाया गया। उसने कहा, "ताजा दूध लेने के लिए मैं गांव में चला गया था।"

अब शरत् बाबू कैसे उस पर कुद्ध होते, लेकिन कप्तान के क्रोध का पार नहीं था । शरत् बाबू बोले, "अजी छोड़ो भी, जाओ चाय तैयार करो। अजी, उसे सीटी सुनने की फुर्सत कहां थी। थोड़ा रसिक है बेचारा।"

और इसी प्रकार अनुभव प्राप्त करते हुए आखिर एक दिन वे गुआलन्दो पहुंच ही गए। शरत् बाबू ने घोषणा की, "बस, जहाज की यात्रा यही तक। अब यहां से रेल द्वारा सीधे कलकत्ते जाऊंगा।"

लेकिन अब तो कोई गाड़ी नहीं जाती, यही सोचकर दोनों मामा बाजार की सैर करने चले गए। आधे घंटे बाद लौटे तो पाण, न कहीं शरत् बाबू है और न नौकर-चाकर। सामान का भी कुछ पता नहीं। वे स्टेशन गए। वहां भी कोई नहीं था। फिर घाट पर आए। एक खलासी से पूछा, "बाबूजी कहा गए हैं?"

पीछे एक और जहाज खड़ा था। उसी की ओर इशारा करके खलासी ने कहा, "वहां।"

दोनों मामाओं ने जब उधर देखा तो पाया कि रेलिंग के सहारे खड़े हुए शरत् बाबू हंस रहे है। पास जाने पर उन्होंने कहा, "पहला जहाज एक दिन बाद जाएगा। यह अभी जाने वाला है । डायमण्ड हार्बर होकर जाएगा। पांच-छह दिन लग सकते हैं । अच्छा है, सुन्दर बन देखने को मिलेगा। वहां जंगल में रायल बंगाल टाइगर हे तो नदी में बड़े-बड़े मगर और घड़ियाल हैं। सुन्दरी वृक्षों पर नाना प्रकार के पक्षी हैं । भयानक अजगर भी दिखाई दे सकते हैं।"

शरत् बाबू के मन के भीतर बैठे हुए यौवन के यायावर शरत् ने इस सबका इतने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया कि अन्तत: मामा लोगों को गाड़ी छेड़कर जहाज से जाना ही स्वीकार करना पड़ा। जहाज बड़ी तीव्र गति से आगे बद रहा था। रायल बंगाल टाइगर और घड़ियाल-मगरमच्छ की आशा में दिन कट रहे थे, लेकिन भाग्य देखिए कि किसी काठविडाल की पूछ तक दिखाई नहीं दी।

इसी प्रकार चलते-चलते पाया कि एक दिन वह जहाज डायमण्ड हाबर पहुंच गया है। जैस उनके प्राण लौटे। सुन्दर बन का वह असामान्य सौन्दर्य उन्हें बहुत महंगा पड़ा। इतना कि मामा को इसराज बजाते देखकर शरत् बाबू स्वयं चंचल हो उठें कहा, ग्राहना करता हूं, इसे वन्द कर दीजिए, नहीं तो जहाज से कूदकर आत्महत्या कर लूंगा ।.

डायमड हार्बर के बाद खिदिरपुर आने में देर नहीं लगी। लेकिन एक और मुसीबत..। पता लगा कि गिरीन मामा के सूटकेस में से किसी ने सभी रुपये निकाल लिए हैं। शरत् बाबू ने कहा, "ठीक है, जो होना था वह हो गया। हम सब लोगों ने मिलकर आनन्द मनाया है तो यह हानि भी मिलकर ही बांट लेंगे।"

खिदिरपुर पहुंचने पर यात्री अपना-अपना सामान संभालने लगे। तभी मामा लोगों ने देखा कि शरत् का कहीं पता नहीं है। बैकुण्ठ ने बताया, त्राबू तो ट्राम से चले गए।"

सब सामान लेकर जब मामा लोग घर पहुंचे तो पाया कि शरत् बाबू आरामकुर्सी पर लेटे हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं और पास ही उनका चिर दिन का संगी भेलू बड़े प्रेम से उन्हे ताकता हुआ बैठा हे, जैसे कभी घर से बाहर ही नहीं निकले हों। मामा ने पूछा, "इतनी जल्दी चले आए! कहकर तो आते।

शरत् बाबू ने शान्त भाव से उत्तर दिया, छने पर क्या तुम मुझको आने देते? अच्छा, अब आराम करो, नहाओ-धोओ और खाना खाओ।"

1. 1924 ई० (प्रारम्भ किया 4-10-24 को)
2. सन् 1925 ई०
3. सन् 1925 ई०
4. सन् 1921 इ०

11

राजनीतिक क्षेत्र में इस समय अपेक्षाकृत शान्ति थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन जैसा उत्साह अब शेष नहीं रहा था। लेकिन गांव का संगठन करने और चन्दा इकट्ठा करने में अभी भी वे रुचि ले रहे थे। देशबन्धु का यश ओर प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था। हिन्दू और मुसलमानों के बीच मैत्री और सद्भावना बढ़ाने के लिए जो 'बंगाल समझौता' हो सका था उसका कारण वही थे। उनके प्रति शरत् बाबू के मन में अगाध श्रद्धा और ममता थी। लेकिन इस समझौते से वे शत-प्रतिशत सहमत नहीं थे । अवसर मिलने पर एक दिन देशबन्धु ने उनसे पूछा, "आप हिन्दू-मुस्तिम एकता पर विश्वास रखते हैं?"

शरत् ने कहा, "नहीं।"

देशबन्धु बोले, "आपकी मुस्लिम-प्रीति तो बहुत प्रसिद्ध है।"

शरत् ने कहा, "मनुष्य की कोई भी अच्छी इच्छा गुप्त नहीं रह सकती। मेरी यह ख्याति इतने बड़े आदमी के कानों तक भी पहुंच गई। किन्तु अपनी प्रशंसा सुनकर मुझे सदैव लज्जा लगती है।"

देशबन्धु बोले, "किन्तु क्या आप बता सकते हैं कि इसके सिवाय और उपाय क्या है? इसी बीच वे संख्या में पचास लाख बढ़ गए और दस वर्ष बाद क्या होगा, बताइए तो?"

शरत् बाबू ने कहा, "यह यद्यपि ठीक मुस्लिम-प्रीति का निदर्शन नहीं है। अर्थात् दस वर्ष बाद क्या होगा-इसकी कल्पना करके आपका चेहरा जैसे सफेद हो उठता है उससे तो मेरे साथ आपका बहुत अधिक अन्तर नहीं जान पड़ता। सो वह चाहे जो हो, केवल संख्या ही मेरे विचार में बड़ी चीज नहीं है। अगर ऐसा भी होता, संख्या का ही महत्त्व होता तो चार करोड़ अंग्रेज एक सौ पचास करोड़ लोगों के सिर पर पैर रखकर संसार में न घूम पाते। नम: शूद्र, आलो' बट' 'राजवंशी', 'पौध' आदि को समेट लीजिए, देश के बीच, दस आदमियों के बीच इनका एक मर्यादा का स्थान निर्दिष्ट करके इन्हें मनुष्य बनाइए। स्त्री जाति के प्रति जो अन्याय, निष्ठुर सामाजिक अविचार अरसे से चला आ रहा है, उसका प्रतिविधान कीजिए। फिर उधर की संख्या के लिए आपको चिन्तित होना नहीं पड़ेगा।"

कुछ भी हो, समझौते से देशबन्धु की ख्याति बहुत बढ़ गई। महात्माजी से भी उनका समझौता हो गया। अब उन्होंने अपना सारा समय गांवों में रचनात्मक कार्यों में लगाने का निश्चय किया। शरत् बाबू उनके साथ थे, लेकिन स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा था। जब परिषद में काले बिलों पर विचार किया जाने वाला था तब उन्हें स्टेचर पर डालकर परिषद भवन में ले जाया गया। इसके बाद डाक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम के लिए पटना जाने को कहा। जाने

से पूर्व शरत् बाबू मिलने के लिए आए। उन्हें देखकर देशबन्धु ने पास आकर बैठने के लिए इशारा किया। बोले, "अबकी आखिरी है शरत् बाबू।"

शरत् बाबू बोले, "आप तो कह चुके हैं कि स्वराज्य अपनी आंखों से देखकर जाइएगा!"

क्षण-भर चुप रहकर देशबन्धु ने कहा, "उसके लिए समय नहीं मिला।"

शरत् बाबू बोले, "आप जब जेल में थे तब कुछ आदमी जेलखाने की दीवारों को प्रणाम कर रहे थे। उन्होंने कहा था, 'हमारे देशबन्धु जेल के भीतर हैं, उनको आखों से देखने का तो कोई उपाय नहीं है। इसी से हम जेल की दीवार को प्रणाम करते हैं।' वे लोग अब आपको कैसे छोडेंगे?"

देशबन्धु की आखों में आंसू भर आए। संभलने में कई क्षण लग गए। उसके बाद उन्होंने इस बात की चर्चा नहीं की। दूसरी बातें करने लगे। लगभग बीस मिनट बीत चुके थे। डाक्टर दासगुप्त घर के कोने में रखी हुई शरत् बाबू की मोटी लाठी उठा लाए और उनके हाथ में थमा दी। यह देखकर देशबन्धु को हंसी आ गई। बोले, "इशारा समझ गए शरत् बाबू? ये लोग हमें थोड़ी-सी बातचीत भी नहीं करने देना चाहते।"

देशबन्धु पटना चले गए। स्वास्थ्य कुछ सुधरा, परन्तु विधान परिषद का अधिवेशन आ पहुंचा था। वे फिर कलकत्ता लौट आए। वे राजनीतिक हत्याओं और हिंसा के विरोधी थे। उन्होंने एक वक्तव्य देते हुए इस बात की पुष्टि की। इस वक्तव्य से ब्रिटिश गवर्नमेण्ट बहुत प्रभावित हुई। उन्होंने एक बार फिर समझौते की चर्चा आरम्भ करनी चाही। देशबन्धु को विश्वास हो चला था कि सचमुच ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का हृदय-परिवर्तन हो रहा है। लेकिन इस बात से उनके साथी और उनके शिष्य बहुत रुष्ट हो चुके थे। इतने कि उन्होंने आक्षेप किया कि दास बाबू प्राविंशियल एटानामी स्वीकार करके गवर्नर बनने के लोभ में फंस गए है। लेकिन शरत्चन्द्र संकट के इस क्षण में भी उनके पीछे खड़े रहे। दास बाबू ने एक दिन उनसे कहा था, "शरत् बाबू समझौते करना जिसने नहीं सीखा, जान पड़ता है, इस दुनिया में उसने कुछ नहीं सीखा। अनुदार दल की सरकार दुनिया में सबसे बढ़कर बेरहम सरकार है। पृथ्वी पर ऐसा कोई अनाचार नहीं, जिसे ये लोग नहीं कर सकते। पर समझौता और मिटमाट कर लेने में भी जान पड़ता है कि ऐसा मित्र और कोई नहीं है।"

यह विश्वास ही लांछन का कारण बन गया। उनका स्वास्थ्य और भी गिरने लगा। उन्होंने पटना होकर दार्जिलिंग जाने का निश्चय किया। उस समय' [1] शरत् बाबू उनसे मिलने के लिए स्टेशन पर आए थे। शचिनन्दन ने लिखा है – "अपने इस मित्र से अपने मन की व्यथा प्रकट करते हुए दास बाबू ने कहा, 'शरत्बाबू, मैं माडरेट हो गया हूं। मैं गवर्नर होना चाहता हूं। बंगाल ने अन्त में मेरे बारे में यही धारणा बनाई है।"

"शरत् बाबू चुपचाप अपने दोनों हाथों में देशबन्धु के दोनों क्षीण कर - पल्लव पकडे रहे। फिर धीरे-धीरे मानो अपने प्राणों का समस्त आदर उड़ेलते हुए बोले, 'दुखी न होइए।

दुखी होकर भविष्य में देश के प्रायश्चित्त करने के मार्ग को ही अवरुद्ध न कर दीजिए। समग्र देश के लिए, सारी जाति के लिए इस दुख को संचित किए रखिए। सोच लीजिए, सीता को भी अग्निपरीक्षा देनी पड़ी थी। जो असाधारण हैं वे ही यदि तुच्छ को ताच्छिल्य नहीं कर सकते तो जो स्वयं तुच्छ है उनकी तुच्छता कैसे दूर होगी? इस दुख को आप ग्रहण न कीजिए। हम सबके लिए रखे रहिए।'

परन्तु देशबन्धु का मन टूट चुका था। अवरुद्ध कष्ट से वे बोले, "मां, अब और नहीं सहा जाता। इस बार तुम मुझको स्वीकार करो।'

"शरत्चन्द्र बैठे-बैठे, उनके हाथ की दस उंगलियों को अपने हाथ की दस उंगलियों में लिए चुपचाप समस्त श्रद्धा और विश्वास और सम्बेदना उंडेलते रहे। कई क्षण बाद फिर बोले, 'आप स्वस्थ होकर दार्जिलिंग से लौट आइए, सब ठीक हो जाएगा। आप सर्वत्यागी है, अभ्रान्त हैं, अग्निशुद्ध हैं, आप ही देश के नेता हैं। देश आपका है। किसी ऐरे-गेरे, नत्थू-खैरे का नहीं।'"

लेकिन देशबन्धु स्वस्थ नहीं हो सके। कुछ दिन बाद ही दार्जिलिंग में उनका देहांत हो गया।' [2] सारे देश में क्रन्दन फूट पड़ा। बंगाल में जैसें तूफान आ गया। उनके कट्टर विरोधी श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में लिखा, "ओ बंगाल, यदि तेरे पास आंसू हैं तो उन्हें आज बहा दे।" श्मशान घाट में हुई शोकसभा के एक मात्र वक्ता महात्मा गान्धी भी एक स्थान पर फूट-फूटकर रो उठे थे ।

शरत्चन्द्र की विकलता का पार नहीं था। आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे शोक के आवेग से वे हांफने लगे। रोते-रोते बोले, सब कुछ समाप्त हो गया। हमने ही तो उन्हें समाप्त कर दिया। इतनी मार क्या कोई सह सकता है?"

श्मशान भूमि में अपार भीड़ देखकर उन्होंने कहा, "यदि ये लोग उनके जीवनकाल में जरा भी उनके अनुकूल होते तो शायद उनकी अकाल-मृत्यु न होती। बाउल कवि गोविन्ददास ने ठीक ही कहा है, 'ओ भाई बंगवासी, मेरे मरने पर मेरी चिता पर तुम मठ बनवा दोगे'।"

कई दिन तक उनकी ऐसी ही अवस्था रही। उत्तेजना से उठकर बैठ जाते और जोश में कहने लगते, "अजी हमारा अपराध क्षमा करो। हम तुम्हारा विश्वास करते हैं। हम तुमको चाहते हैं। हम केवल तुम्हारे हैं।.....उन्होंने इस बात का बदला लिया, उनको हमने रूलाया, उन्होंने हमें रूलाया। सूद और असल सब वसूल कर लिया। अच्छा किया, वे हमारे योग्य नहीं थे।"

उन्होंने देशबन्धु के संबंध में एक अत्यन्त मार्मिक संस्मरणात्मक लेख लिखा। सुदूर मांडले जेल में बैठे हुए देशबन्धु दास के परम शिष्य सुभाषचन्द्र बोस ने उस 'स्मृति कथा' को तीन बार पढ़ा और उन्हें एक लम्बा पत्र लिखते हुए कहा, मनुष्य चरित्र को पहचानने में आपकी अद्भुत दृष्टि हे। देशबन्धु के साथ अपने घनिष्ठ परिचय और आत्मीयता एवं छोटी-

छोटी घटनाओं का विलेषण करके आपमें रस और सत्य का उद्धार करने की क्षमता है। ऐसा करके ही आपने कितना सुन्दर लेख लिखा है।" [3]

देशबन्धु और शरत्चन्द्र के संबंध सचमुच निराले थे। देशबन्धु उनके प्रति इतनी श्रद्धा रखते थे कि कई बार परामर्श करने के लिए उनके धर चले जाते थे। एक बार एक सभा के बाद गाड़ी के भीतर शरत् बाबू से उन्होंने पूछा था, बहुत-से लोग मुझे सलाह देते है कि फिर बैरिस्टरी करके देश के लिए रुपये कमाऊं। आप क्या कहते हैं?"

शरत् बाबू ने कहा, ना। रुपयों के काम का अन्त है, किन्तु इस आदर्श का कोई अन्त नहीं है। आपका त्याग सदैव हमारी जातीय सम्पत्ति बनकर रहे। यह हमारे लिए असंख्य रुपयों से भी कहीं बड़ा है।"

उन दोनों की चिन्तनधारा में अद्भुत समानता थी। इसीलिए दोनों एक-दूसरे से प्रेम करते थे। जमाने-समाने हाये प्रणयेर विनिमय'।

---

1. 11 मई, 1925 ई०

2. 16 जून, 1925 ई०

3. 12 अगस्त, 1925 ई०

12

देशबन्धु की मृत्यु के बाद शरत् बाबू का मन राजनीति में उतना नहीं रह गया था। काम वे बराबर करते रहे, पर मन उनका बार-बार साहित्य के क्षेत्र में लौटने को आतुर हो उठता था। यद्यपि वहां भी लिखने की गति पहले जैसी नहीं रही थी। वे अपने रचनाकाल के तीसरे यूग में प्रवेश का चुके थे। उद्दाम भावुक्ता पीछे छूट रही थी। वे अब वैज्ञानिक विवेचन और जीवन के व्यापक कैनवास को चित्रित करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस समय बहुत थोड़ी रचनाए प्रकाशित हुईं। दो-चार कहानियां और कुछ लेख। लेखों में 'वर्तमान हिन्दू-मुस्लिम समस्या' महत्त्वपूर्ण है, और कहानियों में 'हरि'लक्ष्मी' [1] 'नवविधान' [2] और ‘पथेरदाबी' अभी भी धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो रहे थे।

‘पथेर दाबी' के लिखे जाने का इतिहास बहुत रोमांचकारी है। लगभग तीन वर्ष [3] पूर्व सर आशुतोष मुकर्जी के लड़के उनके पास आए थे। वे 'बंगवाणी' का प्रकाशन करते थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि शरत्चन्द्र की रचनाएं उनकी पत्रिका में प्रकाशित हों। इसके लिए श्यामाप्रसाद मुकर्जी, रमाप्रसाद मुकर्जी और व्यवस्थापक कुमुदचन्द्र राय चौधरी छः महीने तक शिवपुर के चक्कर काटते रहे। परन्तु उन्हें एक कोई रचना नहीं मिल सकी। पर एक दिन सहसा क्या हुआ कि बाहर के कमरे में बैठे रमा बाबू मेज पर रखे कागजी को उलट-पुलट रहे थे कि उन्होंने ‘पथेर दाबी' का अंश देखा। कुल सात-आठ पृष्ठ होंगे, परन्तु उनके उत्साह की कोई सीमा नहीं थी। बोले, यह रही रचना।”

शरत् बाबू ने उधर देखा और कहा, "इसे तुम नहीं छाप सकोगे। तुम आशुतोष के बेटे हो।”

रमा बाबू ने पूछा, “क्यों नहीं छाप सकूंगा?”

शरत् बाबू बोले, "क्योंकि यह भीषण रचना है।"

रमा बाबू ने कहा, “मैं इसे छापूंगा। आपने इसे समाप्त कर लिया है?”

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, “मैंने समझा था कि इसे छापने वाले नहीं मिलेंगे। इसीलिए आगे नहीं लिखा। तुम छापोगे तो लिखूंगा।”

उस दिन जो पन्ने मिले थे वे ही पहले अंक में छपे। [4] उनकी यह रचना इतनी विद्रोहात्मक थी कि सरकार की दृष्टि से नहीं बच सकी। जैसे-जैसे यह बंगवाणी' में प्रकाशित होती रही वैसे-वैसे सरकार इसका अनुवाद कराती रही। लेकिन उस समय पब्लिक प्रॉसिक्युटर के पद पर थे, श्री तारकनाथ साधु। वे स्वयं साहित्यिक थे। शरतचन्द्र के

प्रति उनके मन में बड़ी श्रद्धा थी। वे रमाप्रसाद मुकर्जी के भी मित्र थे। इसलिए उनको बराबर सूचना देते रहते थे।

यह उपन्यास वैसे तो कुल 24 किस्तों में छपा, लेकिन शरत् बाबू तो इतने मनमौजी और इतने अनियमित थे कि बार-बार आग्रह करने पर भी इसके छपने में तीन वर्ष और तीन महीने लग गए। एक-एक अंक की सामग्री के लिए कुमुद बाबू को ही नहीं स्वयं श्यामाप्रसाद मुकर्जी और रमाप्रसाद मुकर्जी को भी दस-दस, बीस-बीस बार चक्कर लगाने पड़ते थे। उमाप्रसाद से शरत् बाबू का परिचय बाद में हुआ पर स्नेह सबसे अधिक उन्हीं से था। जब जाते तो बातों का अन्त ही नहीं आता था। इनको भी बहुत बार खाली हाथ लौटना पड़ता था।

प्रकाशक जानते थे कि सरकार 'पथेर दाबी' को पुस्तक के रूप में नहीं छपने देगी। इसलिए उन्होंने एक खेल खेला। इसकी अन्तिम किस्त पर भी उन्होंने 'कमश:' लिख दिया। पुलिस ने समझा उपन्यास अभी समाप्त नहीं हुआ है। और बीच में पुस्तक प्रकाशित हो गई।

पहले इस पुस्तक का प्रकाशन एम० सी० सरकार एण्ड सन्स के मालिक सुधीरचन्द्र सरकार करना चाहते थे। उन्होंने शरत् बाबू को इसीलिए एक हजार रुपये पेशगी दिए थे। लेकिन जब सुधीरचन्द्र ने पूरा उपन्यास पढ़ा तो डर गए। उन्होंने वकील से परामर्श किया। जांच करने के बाद वकील ने कहा, "ऐसे का ऐसा छापने पर राजद्रोह का मुकदमा निश्चय ही चल सकता हे।"

सुधीरचन्द्र शरत् बाबू के पास गए और बोले, "मेरा वकील कहता हे कि इस उपन्यास को हूबहू छापने से हम विपत्ति में पड़ सकते हैं। उन्होंने पाण्डुलिपि में कई जगह निशान लगा दिऐ हैं। उन्हें यदि आप बदल दें तो अच्छा हो।"

सुनते ही शरत् बाबू बोल उठे, "मैं एक शब्द भी नहीं बदलूंगा। कॉमा तक नहीं बदलूंगा। इच्छा हो तो छापो, नहीं तो मत छापो।"

"तब मेरे लिए छापना सम्भव नहीं होगा।"

"अच्छी बात है। मत छापो। तुम्हारा रुपया मैं लौटा दूंगा।"

उनके जाने के बाद रमा बाबू ने शरत् बाबू से कहा, "यदि कोई और नहीं छापना चाहता तो मैं इसे छापूंगा।"

शरत् बाबू बोले, "ठीक है, तुम ही छापो।"

प्रकाशन की समस्या सुलझी तो प्रेस वालों ने उसे छापने से इनकार कर दिया। अन्त में बहुत प्रयत्न करने पर काटन प्रेस में छपाई का प्रबन्ध हुआ। सब काम इस प्रकार करने थे कि किसी को पता न लगे। उधर तत्कालीन एडवोकेट जनरल श्री बी०एल० मित्र सरकार को राजद्रोह का मुकदमा चलाने की सलाह दे चुके थे। अब यह प्रश्न उठा कि प्रकाशक के स्थान पर किसका नाम दिया जाए। प्रेस में कापी जाने तक किशोरमोहन भट्टाचार्य का नाम जाने

की बात थी। उस समय उमाप्रसाद मुकर्जी ने कहा "यदि राजद्रोह का मुकदमा चला, तो बेचारा गरीब आदमी मारा जाएगा। इसलिए मुकदमे का व्यय हम ही वहन करेंगे, नाम भी हमारा ही जाएगा।"

सरकार मुकदमा चलाने को उत्सुक थी, लेकिन पब्लिक प्रॉसीक्यूटर तारकनाथ साधु ने कहा, "मुकदमा चलाने से पहले एक बार सोच लीजिए। इस पुस्तक के लेखक हैं बंगाल के लोकप्रिय कथाशिल्पी शरत्चन्द्र और प्रकाशक हैं स्वनामधन्य आशुतोष मुकर्जी के छोटे बेटे उमाप्रसाद मुकर्जी।"

सरकार सहसा कुछ निर्णय नहीं कर सकी। जानती थी कि शरत् बाबू इतने लोकप्रिय हैं और आशुतोष मुकर्जी का इतना मान है कि उन पर मुकदमा चलाने से विद्रोह की सम्भावना हो सकती है। तब पुस्तक और भी लोकप्रिय होगी।

इसी सोच-विचार में कई महीने बीत गए और तभी अचानक पता लगा कि पुस्तक प्रकाशित हो गई है। [5] पहला संस्करण तीन हज़ार प्रतियों का छापा गया। जिनमें से एक हज़ार प्रतियां पहले ही दिन बिक गईं। शेष दो हज़ार को बिकते भी देर नहीं लगी। बीस दिन बाद जब सरकार ने यह निर्णय किया कि मुकदमा चलाने के स्थान पर पुस्तक को. ज़ब्त करना उचित होगा, तब तक उसकी एक भी प्रति शेष नहीं रही थी। तलाशी का वारण्ट लेकर जब पुलिस अधिकारी 'बंगवाणी' के कार्यालय में पहुंचे तौ उन्हें कुछ भी नहीं मिला। अधिकारी ने पूछा, " क्या यह संभव हो सकता है कि एक भी पुस्तक प्रेस में न हो।"

रमा बाबू ने उत्तर दिया, "तलाशी ले लीजिए।"

अधिकारी ने कहा, "नहीं, हम तलाशी नहीं लेंगे। आप पर हमें विश्वास है। लेकिन एक कापी तो हमें दे ही दीजिए। आप जानते है कि हर नई छपनेवाली पुस्तक की तीन प्रतियां रजिस्ट्री करने के लिए भेजी जाती है।"

"जी हां, जानते हैं । तीस दिन के अन्दर ये प्रतियां भेजी जाती हैं, लेकिन आप तो बीस दिन के अन्दर ही आ गए?"

पुलिस अधिकारी ने कहा, "फिर भी एक प्रति तो हमें चाहिए ही।"

रमा बाबू ने इधर-उधर कई व्यक्ति भेजे। बड़ी कठिनता से छोटी बहन के घर एक प्रति मिल सकी। वही लेकर पुलिस वाले चले गए।

कई पुस्तक-विक्रेता ऐसे थे जिन्होंने कुछ पुस्तकें रोक ली थीं। बाद में उनकी एक-एक प्रति पचास रुपये तक मे बिकी। मांग इतनी अधिक थी कि लोग एक प्रति के लिए 100 रुपये तक देने को तैयार थे। परन्तु दूसरा संस्करण निकालने का कोई प्रश्न नहीं था।

यह पुस्तक क्रांतिकारियों में भी बहुत लोकप्रिय हुई। वे इसे बाइबिल की तरह मानते थे। इस स्थिति का लाभ उठाकर एक व्यक्ति ने चोरी से एक बडे ही रद्दी कागज़ पर इसे छापा। वह अशुद्धियों से भरी हुई थी। बाज़ार में वह कभी नहीं आई। केवल क्रांतिकारियों में ही बांटी गई। शरतचन्द्र 'पथेर दाबी' का दूसरा भाग भी लिखना चाहते है। वे दिखाना चाहते

है भारती भारत में आकर काम करती है। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका। 'बंगवाणी' में जब यह पुस्तक छप रही थी तो उसके सब अंकों को मिलाकर एक फाइल तैयार की गई थी। उसी फाइल को उमा बाबू ने एक दिन उनको देते हुए कहा, "अपने हाथ से इस पर कुछ लिख दीजिए।"

व्यथा-भरे कण्ठ से शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "और क्या लिखूं? मैं लिखूंगा और सरकार ज़ब्त कर लेगी। पराधीन देश में सच्चे मन से साहित्य-साधना करने में व्यथा ही मिलती है।"

लेकिन फिर भी मोटा फाउंटेन पेन अपने हाथ में लेकर वे सोचने लगे। दो क्षण बाद बोले, "नहीं, कुछ नहीं लिख सकता।"

फिर धीरे-धीरे उनकी कलम चलने लगी। उसके पहले पन्ने पर उन्होंने बीच में उमाप्रसाद का नाम लिखा। उसके पास अपना नाम लिखा। नीचे अपनी जन्मकुण्डली अंकित की। जन्मतिथि और जन्म का समय भी लिखा। फिर 'मृत्यु' शब्द लिखकर उसके आगे का स्थान खाली छोड़ दिया। और पन्ने के ऊपर तिरछी पंक्ति में लिखा - कुछ नहीं लिख सका। शरत् । 19 ज्येष्ठ, 1333 । 'पथेर दाबी' का दूसरा भाग यदि मैं पूरा नहीं कर सका तो मेरे देश में कोई और करेगा। यही कामना करता हू - शरत् खाते के अन्तिम पन्ने पर लिखा -

जे फूल ना फूटिते, झरिल धरणीते

जे नदी मरुपथे हाराल धारा, जानि हे जानि ताओ हयनि हारा।

अस्फुट स्वर में यह गाना गाते-गाते वह खाता उन्होंने उमा बाबू को दे दिया। वे कुछ नहीं लिख सके। लेकिन जो थोडे-से शब्द उन्होंने लिखे वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उस समय की उनकी मन:स्थिति को और उनके चिन्तन को वे स्पष्ट करते हैं। दासता की व्यथा उनके साहित्यकार को कितना साल रही थी।

इसके रचनाकाल में उमाप्रसाद से उनकी अनेक बार गम्भीर बातें होती थी। प्रकाशक के जेल जाने की बहुत सम्भावना थी। शरत् बाबू ने एक दिन उनसे पूछा, "यदि जेल हुई तो क्या करोगे?" उमा बाबू ने उत्तर दिया, "जेल होगी तो अकेले प्रकाशक को नहीं होगी, लेखक को भी होगी। दोनों एक साथ ही जेल में रहेंगे। आपके साथ ही जेल में रहना मेरा सौभाग्य होगा।"

शरत्चन्द्र ने सहसा गम्भीर होकर कहा, "ऐसा करना जिससे मैं अपने हुक्के को साथ ले जा सकूं।"

दोनों बडे जोर से अट्टहास का स्ठे लेकिन जेल किसी को भी नहीं हुई। केवल पुस्तक ही जप्त होकर रह गई। इस पुस्तक के लिखने में शरत् बाबू ने जिस कागज का प्रयोग किया था, वह अत्यन्त सुन्दर और लाइनदार था और उस पर शरत् बाबू का मोनोग्राम अंकित था - कच्चे नारियल की आकृति के मध्य में लिखा - शरत्। उतना ही मूल्यवान था वह पेन, जिससे उन्होंने इस उपन्यास को लिखा। 'बंगवाणी' के मालिकों ने विशेष रूप से उनके

लिए ये दोनों वस्तुएं मंगाकर दी थीं। शरत् बाबू सदा ही सुन्दर कागज पर मुन्दर और दामी कलम से, छोटे-छोटे मोती जैसे सुन्दर अक्षर लिखा करते है। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा, " शरत् बाबू, आप इतने कीमती कलम और कागज का प्रयोग क्यों करते हैं?"

शरत बाबू ने तुग्न्न जवाब दिया, "मां सरस्वती ने मुझे प्रतिभा का जो इतना बडा वरदान दिया है उसकी क्या न्दी कागज पर लिखकर नष्ट कर दूं?"

जिम दिन वह पुस्तक प्रकाशित हुई उससे पहली रात शरत्चन्द्र, मुकर्जी लोगों के घर पर ही रहे। रागि गत जमाका उमारामाद से वे नाना प्रकार की बातें करते रहे। सवेरा हुआ। इससे पूर्व कि मुद्रित पुस्तन्स पेम मे भाग?, उमा बाबू उनके हाथ की लिखी हुई पूरी पाण्दुलिपि ले आए। उन्हें बडा आश्चर्य हुआ। वाले इम तुमने सहेजकर रखा हुआ है। तुमने इतना किया! मुझे दो, मैं तुम्हारे लिZ इम पर कुम्दृ लिखे देता हूं।"

और पाण्श्दृलिपि लैकर उसके पहले पन्ने पर उन्होंने सुन्दर अक्षरों में लिखा – बीजू, मेरे हाथ की लिखी हुई पुस्तक इसको छोडकर और नहीं है। यह तुम्हारे पास ही रहेगी, ऐसा होने पर मैं निश्चिन्त रहूंगा। -दादा

भाद्र, 1333

(अगस्त, 1926 ई०)

इस पाग्ग्हुत्निपि के शीर्ष स्थान पर 'पथेर दाबी' लिखा है और अन्त में लिखा है - श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय सामताबेड 1० चैत्र, 1333(24 मार्च, 1926 ई०)

जिस समय 'पथेर दाबी' को सरकार ने ज्ञ किया, उसी समय रेवरेण्ड जे० टी० सेण्डरलैण्ड रचित 'इण्डिया इन बांडेज' पुस्तक भी जब्त की गई थी। इसके प्रकाशक थे, 'माडर्न रिव्यू' के संचालक स्वनामधन्य रामानन्द चट्टोपाध्याय। उन्होंने पुस्तक की जल्दी के विरुद्ध दावा दायर कर दिया था। शरत् बाबू ने सोचा कि क्या वे भी ऐसा नहीं कर सकते, लेकिन उनके प्रिय मित्र श्री निर्मलचन्द्र 'चन्द्र' ने उनसे कहा, मैं आपको ऐसा करने की सलाह नहीं दूंगा।"

निर्मलचन्द्र जानते थे कि अदालत पर सरकार का प्रभाव है। वह कभी भी सरकार को हारने नहीं देगी। उनकी बात सही प्रमाणित हुई। रामानन्द बाबू मुकदमा हार गए। शरत् बाबू भी हार जाते। हारना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इस पुस्तक के कारण सरकार को बहुत परेशानी उठानी पड़ी थी। उस वर्ष की सरकारी पुस्तक में 'पथेर दाबी' के संबंध में लिखा है, "इस पुस्तक के लगभग हर पृष्ठ पर राजद्रोह का प्रबल प्रचार किया गया है।"

पुलिस कमिश्नर ने शरत् बाबू से कहा था, "शरत् बाबू, जानते हैं, 'पथेर दाबी' लिखकर आपने हमारी कितनी हानि की है? जहां भी हम क्रांतिकारियों को पकड़ते हैं, वहीं देखते हैं कि हरेक के पास दो पुस्तकें हैं, एक गीता और दूसरी 'पथेर दाबी'। आपकी 'पथेर दाबी' ने क्रांतिकारियों को पागल बना दिया है।"

'पथेर दाबी' ने क्रांतिकारियों को ही नहीं तमाम बंगाल को पगाल बना दिया था। उसकी लोकप्रियता की कल्पना नहीं की जा सकती। शरत् बाबू के उत्साह का भी कोई अन्त नहीं था। यदि सरकार पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता तो इसके विरुद्ध जन-आन्दोलन तो किया ही जा सकता है, लेकिन यह आन्दोलन रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सहायता के बिना सम्भव नहीं हो सकता। उन्होंने गुरुदेव को पत्र लिखा। तुरन्त उत्तर आया, चुस्तक की एक प्रति भेज दो। पढ़कर ही कुछ कह सकूंगा।"

शरच्चन्द्र ने तुरन्त पुस्तक भेज दी। उसको पढ़कर रवीन्द्रनाथ ने अपना मत व्यक्त करते हुए एक लम्बा पत्र लिखा-

कल्याणयेष

तुम्हारा 'पथेर दाबी ' पढ़ लिया। पुस्तक उत्तेजक है, अर्थात् अंग्रेजी शासन के विरुद्ध पाठकों के मन को अप्रसन्न करती है। लेखक के कर्तव्य के हिसाब से वह दोष नहीं हो सकता। क्योंकि लेखक अंग्रेजी राज को खराब समझता हे। वह चुप नहीं बैठ सकता। लेकिन चुप न बैठने पर जो विपद पैदा हो सकती है वह भी उसको स्वीकार करनी चाहिए। अंग्रेजी राज क्षमा कर देगा, इस अधिकार को लेकर हम उसकी निन्दा करें, यह भी कोई पौरुष कों बात नहीं है। मैं नाना देशों में धूम आया हूं और जो कुछ जान सका हूं उससै यही देखा है कि एकमात्र अंग्रेजी राज को छोड्कर स्वदेशी या विदेशी प्रजा के मौखिक या व्यावहारिक विरोध को और कोई भी राज्य उतने धैर्य के साथ सहन नहीं करता।

यदि हम अपनी ताकत पर नहीं, बल्कि दूसरे की सहिष्णुता की बदौलत विदेशी राज्य के संबंध में यथेच्छ व्यवहार दिखाने का साहस दिखाते हैं तो, वह पौरुष की विडम्बना-मात्र है। उसमें अंग्रेजी शासन के प्रति हीं श्रद्धा झलकती हे न कि अपने प्रति। राजशक्ति में पशुबल है, यदि कर्तव्य के आधार पर उसके विरुद्ध खडा भी होना पड़े तो दूसरे पक्ष में चारित्रिक जोर का होना यानी आघात सहने का जोर होना आवश्यक है। पर हम अंग्रेजी शासन से उस चारित्रिक जोर की मांग करते हैं, अपने से नहीं। उससे प्रमाणित होता है कि हम मुंह से चाहे जो भी कहें पर अपने अनजान में हम अंग्रेजों को गालियां देकर हम उनसे सजा की आशंका नहीं करते। शक्तिमान की दृष्टि से देखा जाए तो तुम्हें कुछ न कहकर सिर्फ तुम्हारी पुस्तक को ज्ज्ञ कर लेना लगभग क्षमा करना है। कोई भी प्राब्य या पाश्चात्य विदेशी शासन ऐसा न करता। हम भारतीयों के हाथो मैं राजशक्ति होती तौ हम क्या करते, इसका अनुमान हम अपने जमींदारों और भारतीय रजवाड़ों के व्यवहार से लगा सकते हैं।

पर इसीलिए लेखनी बन्द थोड़े ही करनी है। मैं भी यह नहीं कहता। मैं कह रहा हूं कि सजा स्वीकार करके ही लेखनी चलानी पड़ेगी। जिस किसी देश में राजशक्ति के साथ विरोध हुआ है, वह ऐसा ही हुआ है। राजशक्ति का विरोध करते हुए आराम से नहीं रहा जा सकता। इस बात को असदिग्ध रूप से जानकर ही ऐसा करना है। क्योंकि यदि तुम पत्रों में उनके राज्य के विरुद्ध लिखते तो उसका प्रभाव बहुत थोड़ा और बहुत कम समय के लिए

होता। किन्तु तुम्हारे समान लेखक गल्प के रूप में ऐसी क्या लिखें तो उसका प्रभाव सदा ही होता रहेगा। देश और काल दोनों ही की दृष्टि से उसके प्रचार की कोई सीमा नही हो सकती। कच्ची उम्र के बालक-बालिकाओं से लेकर बूढ़ी तक पर उसका प्रभाव होगा। ऐसी अवस्था में अंग्रेजी राज्य यदि तुम्हारी पुस्तक का प्रचार बन्द न करे तो उससे यही समझा जा सक्ता है कि साहित्य में तुम्हारी शक्ति और देश में तुम्हारी प्रतिष्ठा के संबंध में उसे को? ज्ञान नही है। शक्ति पर जब आघात किया है, तो प्रतिघात सहने के लिए तैयार रहना ही होगा। इसी कारण से उस आघात का मूल्य है। आघात की गुस्ता को लेकर विलाप कररने से उस अघात के मूल्य को एक बार ही मिट्टी कर देना होगा। इति । 27 माघ, 1333 (10 फरवरी, 1927 ई०)

तुम्हारा
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पत्र की भाषा, यद्यपि बहुत युक्तियुक्त है और परोक्ष में उन्होंने शरतचन्द्र की प्रशंसा ही की हे, परन्तु फिर भी उन दोनों के सोचने के दृष्टिकोण के अन्तर को यह पत्र स्पष्ट करता है। इसे पढ़कर शरत् बाबू की व्यथा का पार नही था। प्रतिवाद के अधिकार को वह किसी भी तरह छोडने को तैयार नहीं थे। बार-बार सोचते थे कि रवीन्द्रनाथ ने 'पथेर दाबी' पढ़कर अंग्रेजों की सहिष्णुता की प्रशंसा की है। मेरी पुस्तक पढ़कर यह मत दिया है कि इसमें अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की सम्भावना है। हमारे देश के कवि के समीप यदि वे इतने बड़े हैं तो फिर स्वाधीनता का यह आन्दोलन क्यों? तब तो सबको मिलकर अंग्रेजों को कन्धे पर चढ़ाकर नाचते हुए धूमना चाहिए। हाय कवि, यदि त्राग् जानते कि तुम हमारी कितनी बड़ी आशा, क्लिना बड़ा गर्व हो तब निश्चय ही यह बात नहीं कह सकते थे। कवि की दृष्टि में मेरा 'पथेर दाबी' कितनी बड़ी लांछना का पात्र हुआ, यह मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। क्या मन लेकर मैंने यह किताब लिखी थी, यह मैं किसी को नहीं समझा सकूगा।

इसी उत्तेजना में इस पत्र के उत्तर में उन्होंने कवि को जो पत्र लिखा उसके शब्द-शब्द से आजा श टपका पड़ता है। संयम जैसे हाथ से छूट गया हे। अच्छा यही था कि यह पत्र उन्होंने तुरन्त ही नहीं भेज दिया। शायद मन ही मन उन्हें ऐसा लगा जैसे उंन्होंने यह पत्र लिखकर गलती की है। उन्होंने लिखा था -

श्रीचरणेषु,

आपका पत्र पाया। बहुत अच्छा, वही हो। यह पुस्तक मेरी लिखी हुई है, इसलिए दुख तो म्(झे है, पर कोई खास बात नहीं है। आपने जो कर्तव्य और उचित समझा उसके विरुद्ध न तो मेरा कोई अभिमत है और न कोई अभियोग, पर आपकी चिट्ठी में जो दूसरी बातें आ गई हैं, उस अभिमत में मेरे मन में दो-एक प्रश्त हैं और कुछ वक्तव्य भी हैं। यदि तुर्की ब

तुर्की लगे तो वह भी आपकी ही शराफत के कारण समझिए। आपने लिखा हे, 'अंग्रेजी राज्य के प्रति पाठकों का मन अप्रसन्न हो उठा है।' होने की बात थी, किन्तु यदि मैंने ऐसा किसी असत्य प्रचार के द्वारा करने की चेष्टा की होती तो लेखक के रूप में उससे मुझे लज्जा और अपराध दोनो ही महसूस होते। किन्तु जान-बूझकर मैंने ऐसा नहीं किया। यदि ऐसा करता तो वह राजनीतिज्ञों का धन्धा होता। कृति न होती। नाना कारणों से बंगला में इस तरह की पुस्तक किसी ने नहीं लिखी। मेंने जब लिखी है और उसे छपवाया है तो सब परिणाम जानकर ही किया है।

जब बहुत मामूली कारणों से भारत में सर्वत्र लोगों को बिना मुक्तमें के अन्यायपूर्वक या न्याय का दिखावा करके कैद और निर्वासित किया जा रहा हे तौ मुझे छुट्टी मिलेगी यानी राजपुरुष मुझ क्षमा करेंगे यह दुराशा मेरे मन में नहीं थी, आज भी नहीं है। किन्तु बंगाल देश के लेखक के हिसाब से पुस्तक में यदि मिथ्या का आश्रय नहीं लिया है एवं उसके कारण ही यदि राजरोष भोग करना होगा तो करना ही होगा। चाहे वह मुंह लटकाकर किया जाए या रोकर किया जाए। किन्तु क्या इसस प्रतिवाद करने का प्रयोजन खत्म हो जाता है?

राजबन्दी जेल में दूध-मक्खन नही पाते। चिट्ठी लिखकर पत्रों में शोर करने में मुझे ल ज्जा आती है, किन्तु मोटे चावल के बदले में जेल के अधिकारी यदि घास का प्रबन्ध करते हैं तब से सक्ता है लाठी की चोट से उसे चबा सकूं किन्तु जब तक घास के कारण गला बन्द नहीं रन नाान ' तब तक उसे अन्याय कहकर प्रतिवाद करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं ।

किन्तु पुस्तक मेरे अकेले की ही लिखी हुई है, इसलिए मेरा अकेले का ही दायित्व है, टनो कुछ कहना मैंने उचित समझा वह कहा या नहीं, असली बात तो यही है। अंग्रेजी राज्य की क्षमाशीलता के प्रति मेरी कोई निर्भरता नहीं है। मेरी सारी साहित्य-सेवा इसी प्रकार की है। जो मैं ठीक समझता हूं वही लिखता हूं।

मेरा प्रश्न यह है कि अंग्रेजी राज्यशक्ति द्वारा उस पुस्तक को जूब्द करने का औचित्य यदि है तो पराधीन भारतवासियों द्वारा प्रतिवाद करने का भी वैसा ही औचित्य है। मेरे प्रति आपने यही अविचार किया है कि मैं दण्ड के भय से प्रतिवाद करना चाहता हूं और उस प्रतिवाद के पीछे ही अपने को बचाना चाहता हूं। किन्तु वह वास्तविकता नहीं है। देशवासी यदि प्रतिवाद नहीं करते तो मुझे करना होगा, लेकिन वह सब शोर मचाकर नहीं करूंगा, एक और पुस्तक लिखकर करूंगा।

आप यदि केवल मुझे यह आदेश देते कि इस पुस्तक का प्रचार करने से देश का सचमुच अमंगल होगा तो मुझे सांत्वना मिलती । मनुष्य से भूल होती है । सोच लेता कि मुझसे भी भूल हुई है । मैंने किसी रूप में विरुद्ध भाव लेकर आपको यह पत्र नहीं लिखा । जो मन में आया आपको स्पष्ट रूप से लिख दिया । मैं सचमुच रास्ता खोजता हुआ धूम रहा

हूं इसलिए सब कुछ छोड़छाड़कर निर्वासित हो गया हूं । इसमें कितना पैसा, कितनी शक्ति, कितना समय बर्बाद हुआ वह किसी को बताने से क्या?..... .आपके अनेक भक्तों में मैं भी एक हूं इसलिए बातचीत से या आचरण से आपको तनिक भी कष्ट पहुंचाने की बात मैं सोच भी नहीं सकता । इति ।

2 फान्तुन, 1333

सेवक श्री

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

यह पत्र लिखने से पूर्व शरत् बाबू ने उमाप्रसाद मुकर्जी को भी एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने अपनी वेदना को छिपाया नहीं था। उसे पढ़कर उमा बाबू सामताबेड आए। उन्होंने यह पत्र पढ़ा और निर्णय किया कि इसे गुरुदेव के पास नहीं भेजा जा सकता। उस पत्र को उन्होंने अपने पास रख लिया। दो दिन बाद शान्त होने पर स्वयं शरत्चन्द्र ने भी कहा, 'यह वाद-विवाद ठीक नहीं। मेरी चिदठी भेजने की आवश्यकता नहीं।. उन्होंने रमा बाबू से यह भी कहा कि वे इन पत्रों की चर्चा किसी से न करें। लेकिन वे स्वयं ही चुप न रह सके। अनेक सभाओं और अनेक पत्रों में इसकी चर्चा उन्होंने की है। श्रीमती राधारानी देवी को उन्होंने लिखा-

"..... .एक बात तुमको बताता हूं । किसी से कहना मत । 'पथेर दाबी' जब जूझ ह गया था तब रवि बाबू के पास जाकर कहा कि यदि आप प्रतिवाद करेंगे तो काम होगा । पून्त्री के लोग जान सकेंगे कि सरकार किस तरह साहित्यिकों के साथ विचार करती है । अवश्य ही मेरी किताब संजीवित नहीं होगी । अंग्रेज ऐसे पात्र नहीं हैं । तब भी संसार के लोग जान तो लेंगे । उनको किताब दे आया । उन्होंने जवाब में लिखा, पृथ्वी में घूमकर देखता है । अंग्रेजों की राजशक्ति के समान सहिष्णु और क्षमाशील राजशक्ति और नहीं है । तुम्हारी पुस्तक पढ़कर पाठकों का मन अंग्रेजी सरकार के प्रति अप्रसन्न हो उठेगा । तुम्हारी पुस्तक को जुष्ठ करके तुमकी कुछ नहीं कहा । प्राय: क्षमा ही कर दिया । इसी क्षमा कं ऊपर निर्भर करके गवर्नमेंट की निन्दा करना साहस कीं विडम्बना है ।'

सोच सक्ती हो, बिना अपराध कोई किसी के प्रति इतना कटु हो सकता है? यह चिट्ठी उन्होंने छपने के लिए दी थी । किन्तु मैंने छपने नहीं दिया । इसलिए कि कवि का इतना बड़ा सर्टिफिकेट सभी, स्टेट्समैन' आदि अंग्रेजी के पत्र प्रकाशित कर देगे और यह जो हमारे देश के लड़के बिना विचारे जेल में बंद कर दिए गए हैं इनको लेकर जो आन्दोलन हो रहा है वह निष्फल हो जाएगा । '

उस समय बंगाल लाइब्रेरी एसोसिएशन का पहला अधिवेशन होने वाला था । अविनाशचन्द्र घोषाल व्यवस्थापकों में से एष्क थे और वह थे शरतचन्द्र के परमभक्त । इसी नाते वे शरतचन्द्र को निमंत्रण देने के लिए आए । पर उनके मन और मस्तिष्क पर तो 'पथेर दाबी' छाया हुआ था । बातचीत करते-करते सहसा अनमने हो उठे और बोले 'अच्छा

तुम्हारा यह तो सारे बंगाल के पुस्तकालयों का काम है । तुम एक काम करो न, और वह तुम्हारा ही तो काम है । पथेर दाबी' को मुक्त कराने के लिए सभा में एक प्रस्ताव पास करा सकते हो? प्रकाश रूप में सभा से प्रतिवाद होने पर बहुत काम होगा । सरकार भी कुछ झुकेगी । वह अगर मेरी पांच और किताबें ज्ज्ञ कर लेती तो मुझे इतना दुख न होता।"

उनकी इच्छानुसार ऐसा ही किया गया । यही नहीं प्रान्त के अनेक विशिष्ट व्यक्तियों ने भी इस निषेध आज्ञा को लेकर तीव्र भाषा में सरकार की निन्दा की । लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं निकला, हां, एक दिन एक अधिकारी ने उन्हें बुलाकर कहा तुम सरकार की ओर से चथेर दाबी ' के समान एक पुस्तक लिख दो । खूब पैसा मिलेगा । " [6]

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, फाहब बचपन मैंने पतंग उड़ाकर और लट्टू धुमाकर. काट दिया और जवानी काट दी गांजा आदि पीकर । उसके बाद रंगून जाकर नौकरी की । अब चार अध्याय' लिखने की उम्र नहीं है । क्षमा करें । '

इस घटना के न जाने कितने रूप प्रचलित हो गए थे । शायद उन्होंने कहा था, 'साहब, मेरे जीवन के तीन अध्याय बीत गए हैं । बचपन में देवदास था, यौवन में जीवानन्द, प्रौढ़ावस्था में आशु बाबू अब चौथा अध्याय जोड़ने की इच्छा नहीं है । '

शायद यह घटना बिलकुल ही सही नहीं हे । उनके जीवन में किंवदंतियां जैसे पेवस्त हो गई थीं वैसी ही एक किंवदंती यह भी हो सकती है । क्योंकि वे कविगुरु से चाहे कितने भी अप्रसन्न हों, उनकी निन्दा इस सीमा तक कभी नहीं कर सकते थे कि उनकी रचनाओं का मखौल उड़ाए और वह भी एक विदेशी अधिकारी के सामने । 'चार अध्याय' रवि बाबू का सुप्रसिद्ध उपन्यास है ।

पथेर दाबी' के साथ और भी अनेक कहानियां जुड़ी हैं । उसके कारण जेल जाने की स भावना बहुत दिन तक बनी रही । एक समय तो स्थिति बहुत गम्भीर हो गई थी । किसी भी क्षण पकड़े जा सकते थे । वे जानते थे कि जेल जाने पर अफीम खाने की सुविधा नहीं मिल सकती । इसलिए एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि अब अफीम नहीं खाऊंगा ।

लेकिन शीघ्र ही उन्हें ज्वर रहने लगा । धीरे- धीरे तीन सप्ताह बीत गए, ज्वर था कि उतरता ही नहीं था । डाक्टर बहुत चिन्तित हुए लेकिन तभी कारण की खोज करते-करते उन्हें पता लगा कि शरत् बाबू ने अफीम खाना छोड़ दिया है । जो व्यक्ति दिन में कई बार चने (7) के बराबर गोली बनाकर अफीम खाता हो, वही अचानक उसे छोड़ दे तो आश्चर्य ही कहा जा सकता हे । डाक्टर ने पूछा, 'अफीम खाना आपने कब से छोड़ा है?'

उत्तर दिया बड़ी बहू ने । बोली, लगभग एक महीना बीत गया ।

डाक्टर ने कहा, 'हमारे शास्त्र में इसे 'ओपियम फीवर' कहते हैं । दवा के साथ- साथ धीरे- धीरे जब अफीम की मात्रा बढ़ाई जाएगी तभी बुखार उतरेगा । अफीम छोड़ने की भी एक विधि होती हे । आप यदि सचमुच छोड़ना चाहते हैं तो उस विधि का पालन कीजिए ।'

लेकिन उसका पालन करना शरत् बाबू के लिए सम्भव नहीं था । बुखार उतर गया, परन्तु अफीम नहीं छूटी । एक बार बर्मा में भी ऐसा करके देख चुके थे । लगता है कि देशबन्धु के साहचर्य तथा प्रसिद्धि बढ़ने के साथ-साथ उन्हें अपने पुराने जीवन से ग्लानि हो चली थी । क्योंकि बड़े दुखी मन से एक दिन उन्होंने अपने मामा से कहा था, देख, यह नशा करके मैंने कैसी भूल की है । जब अफीम नहीं खाता था, तब पृथ्वी का सब कुछ खूब स्वच्छ और सुन्दर दिखाई देता था । यदि मैं नशा न करता तो इससे कहीं बड़ा लेखक हो सकता था ।

इसके विपरीत बातें भी वे कई बार कर चुके थे । एक बार किसीने उनसे पूछा भी था, -दादा, उस दिन आपने यह बात इस प्रकार कही थी, आज उसके बिलकुल विपरीत क्क रहे हैं?.

किंचित् कठोर स्वर में उत्तर दिया, 'बात मेरी है । किस प्रकार कहना चाहिए, यह मेरा अधिक्तर है ।.

ऐसे अवसरों पर उनकी परिहास-वृत्ति कुछ अधिक गम्भीर हो उठती थी । लेकिन साहित्यकार सदा ही विनोद करने की स्थिति में नहीं रहता । पाठकों में लोकप्रियता पा लेने पर उसे सचमुच गम्भीर प्रश्नों का सामना करना पड़ता है । पथेर दाबी' की रचना-प्रक्रिया और प्रेरणा के संबंध में न जाने कितने प्रश्न उनसे पूछे जाते थे - दादा, आपको इस उपन्यास की प्रेरणा कहां से मिली? दादा, इस उपन्यास का नायक कौन है? दादा, किस क्रान्तिकारी को लक्ष्य में रखकर आपने सव्यसाची की सृष्टि की है? भारती कौन है? इत्यादि, इत्यादि ।.

ये सभी प्रश्न अर्थहीन हैं । लेखक की अभिज्ञता का अर्थ यह नहीं है कि वह सदा ही किसी जीवित व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर अपने पात्रों की सृष्टि करता है । उन दिनों उनका संबंध राजबन्दियों और क्रान्तिकारियों से बहुत घनिष्ठ हो उठा था । बहुत पहले पीनांग में भी वे किसी क्रान्तिकारी से मिले थे । सम्भवत: उनके सामूहिक गुणों को देखकर ही उन्होंने क्षब्यसाची' की सृष्टि की थी । किसी एक व्यक्ति को उसमें ढूंढना व्यर्थ है ।

लेकिन पथेर दादी' में रंगून के विभिन्न स्थानों और उसके निवासियों क्त जो चित्रण हआ है, यह सचमुच यथार्थ है । चन्दन नगर की आलोचना सभा में उन्होंने स्वीकार किया था - द्मस्त द्वीपों में सुमात्रा, जावा तथा बोर्नियो आदि में धूमता फिरता था ।' वहां के अधिकांश लोग अच्छे नहीं हैं । तस्कर हैं । उन्होंने बर्मा में भी कोकीन का गुप्त व्यापार करनेवाले एक दल की बात सुनी थी । उसकी संचालिका एक नारी थी । वही उनकी सुमित्रा की सृष्टि का कारण बनी । इसी प्रकार इस सारी अभिज्ञता का फल है पथेर दाबी ' । घर में बैठकर और आरामकुर्सी पर पड़े रहकर साहित्य की सृष्टि नहीं होती । हां, नकल की जा सकती है । किसी ने बंकिमचन्द्र के 'आनन्द मठ' से 'पथेर दाबी' की तुलना करते हुए कहा हे कि बंकिमचन्द्र के आनन्दमठ' में न आदर्श विद्रोह है, न विप्लव, न अराजका । वह स्वदेश पूजा का शास्त्र है, परन्तु उसमें परजाति का विद्वेष है । 'पथेर दाबी' में पथ का संकेत नही है

। वह मार्ग में ही समाप्त हो जाता है । शरत् जो है ' के कलाकार हैं । कल्पना के सहारे आदर्श का निर्माण नहीं करते । यथार्थ को स्वर देते हें ।

परन्तु क्या यह भी सच नहीं है किए 'आनन्द मठ' में जो परजाति विद्वेष दिखाई देता हे यह जानबूझकर नहीं है । यह विद्वेष शासक के प्रति है और यह मात्र संयोग ही है कि शासक परजाति का हे । इसके अतिरिक्त 'पथेर दाबी ' में क्रान्तिकारी का जो चित्र उपस्थित किया गया है, बहुतों के समीप वह सजीव होकर भी पूर्ण नहीं है । कला की दृष्टि से भी 'पथेर दाबी' का स्थान उनके अपने अनेक उपन्यासों से नीचे है । मनोवेगों का वह घात-प्रतिघात जो शरत्-साहित्य की विशेषता हे, इसमें कहां है? और कहां है वह संयम जो चरित्रहीन ' की सावित्री में है । मात्र डाक्टर या कुछ और गौण पात्र ही इस दृष्टि से उभर सके हें ।

वस्तुत: पथेर दाबी ' का महत्त्व कला या चरित्र -सृष्टि के संयम में उतना नहीं है, जितना राजनीतिक जीवन के एक अछूते पहलू को सजीव रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । चेष्टा प्राय: ही सायास होती है । यह सायासता ही इसकी दुर्बलता हे । किन्तु फिर भी अपनी समस्त दुर्बलताओं के बीच में पथेर दाबी' के सव्यसाची का निर्मल चरित्र भारत के जन-मन को सदा आकर्षित और प्रभावित करता रहेगा ।

---

1. 1925 ई० पुस्तक रूप में इसी नाम के कहानी-संग्रह में यह 13-3-36 को प्रकाशित हुई। शेष दो गल्प थीं, 'महेश' और 'अभागी का स्वर्ग'
2. पुस्तक रूप में अक्टूबर, 1924 ई० में प्रकाशित
3. जनवरी, 1923 ई०
4. फरवरी, 1923 ई० (अन्तिम किस्त अप्रैल, 1926 ई०)
5. 31 अगस्त, 1926 इं०
6. शरत् परिचय - सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय

13

जिस समय वे 'पथेर दाबी ' लिख रहे थे, उसी समय उनका मकान बनकर तैयार हो गया था । वे वहीं जाकर रहने लगे थे । [1] ' वहां जाने से पहले लगभग एक वर्ष तक वे शिवपुर टाम डिपो के पास कालीकुमार मुकर्जी लेने में भी रहे थे।

यह मकान उन्होंने अपनी दीदी के गांव गोविन्दपुर के पास सामतोबेड में रूपनारायण नदी के किनारे पर बनवाया था। प्रशस्त स्थान था, पास में दो पोखर और एक बगीचा, ये भी उन्होंने तैयार करवाये थे। अपनी सुविधानुसार सभी बातों का ध्यान उन्होंने रखा था। तभी तो उस युग में लगभग सत्रह हज़ार रुपये खर्च कर दिये थे।

गांव का मूल नाम सामता था परन्तु उनका मकान चूंकि एकदम किनारे पर बाड़ की तरह था इसलिए वे सामताबेड लिखते थे। रेल द्वारा देउल्टी स्टेशन पहुंचकर वहां से पालकी के द्वारा ही गांव पहुंचा जा सकता था, वर्षा में पानी भर जाने के कारण असुविधा की कोई सीमा नहीं रहती थी लेकिन प्राकृतिक सौन्दर्य उसको अनुभव ही नहीं होने देता था। चारों ओर फैले हुए धान के खेत, प्रहरी के समान खड़े हुए केले और खजूर के पेड़ और पूरम्पार भरी हुई नदी, तीव्रता से और उच्छ्वसित रूप से जल के संघर्ष के कारण फेन लट्टू की तरह घूमते हुए आगे बढ़ते थे। मार्ग में नाले भी कम नहीं थे। बांस के पुल पर से पार करना पड़ता था।

मार्ग की सारी बाधाओं के बावजूद रूपनारायण नद उनके शिल्पी मन को शुरू से ही पुकारता आ रहा था। अपने कैशोर्य में वे दीदी के पास अवश्य आये होंगे। कम से कम बर्मा जाने से पूर्व तो वे अवश्य आये थे। तब उन्होंने मामा गिरीन्द्रनाथ को लिखा था, "फिर भी एक बार अवश्य आओ। दीदी प्रसन्न होगी। घर ठीक विशाल रूपनारायण के सामने है। सुना है, शिकार की व्यवस्था भी है. .....अगर तुम सचमुच आना चाहते हो तो अवश्य आओ। हम रेलवे स्टेशन का निरीक्षण करेंगे, जो भव्य है। रूपनारायण पर बना पुल तो और भी भव्य है। फिर हम नौकाविहार करेंगे। क्या कहते हो!....."।

तन और मन के स्वास्थ्य को ठीक करने की चेष्टा में ही उन्होंने शेष जीवन के कुछ वर्ष गांव में बिताने का विचार किया था। पिछले कुछ दिनों से उन्हें नाना प्रकार के आघात सहने पड़ रहे थे। कई प्रियजनों की मृत्यु ने उनके मन को बहुत चोट पहुंचाई थी। देशबन्धु चितरंजनदास की मृत्यु ने उन्हें बहुत कुछ अस्त-व्यस्त कर दिया था। किन्तु उससे भी पहले उनके चिर संगी कुत्ते भेलू की मृत्यु हो चुकी थी। उनका जीवन भेलू के बिना कितना अपूर्ण था, इसको वही जान सकते थे जिनको उनके पास रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था उसको

लेकर उन्हें बहुत कुछ सहना पड़ा था। पर वे सदा उसे अपने हृदय के अन्तरतम से प्यार करते रहे। उनका यह सहज विश्वास था कि भेलू जैसा शान्त, शिष्ट कुत्ता और कोई नहीं है। इलाचन्द्र जोशी से उन्होंने कहा था, "कुत्ता प्यार में भी क्रोध का भाव जताता हुआ भूंकता है। इस सत्य से केवल वे ही लोग परिचित होते हैं जो कुत्ते को प्यार कर चुके हैं और उसका प्यार पा चुके हैं..... कुत्ता आदमी को आदमी से अधिक पहचानता है, मेरी यह बात तुम गांठ बांध लो।"

इसलिए वह मानते थे कि भेलू यदि किसी को काटता भी है तो आदर से काटता है। इस आदर के कारण उन्हें अदालत में जाना पड़ा, पीड़ितों को रुपया देना पडा और बार-बार उसकी लार की परीक्षा करवानी पड़ी। लेकिन उसका अनादर वे कभी नहीं कर सके। बड़े आदर-प्यार के साथ वे उसे अपने पास बिठाते थे। उस दिन एक सम्भ्रान्त महिला ने उनके लिए थाल भरकर सन्देश भेजे। साथ में एक पत्र था। लिखा था -ग्रहण करेंगे तो कृतार्थ होऊंगी। - इला।

भेलू ने जैसे ही उस पात्र को देखा वह उसके आसपास मंडराने लगा। बड़े प्यार से शरत् बाबू ने उसे एक सन्देश खाने को दिया। खाकर उसने और मांगा। वह मांगता रहा और शरत् बाबू तब तक देते रहे जब तक पात्र खाली नहीं हो गया। कवि नरेन्द्रदेव बैठे हुए सब कुछ देख रहे थे। बोले, "यह आपने क्या किया? उन महिला ने जो सन्देश आपके लिए श्रद्धापूवक भेजे थे, वे सभी आपने कुत्ते को खिला दिए। वह सुनेगी तो कितना कष्ट होगा! सोचो तो। "

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "यही तो तुम्हारा दोष है। किसी बात की गहराई में जाकर समझने की चेष्टा नहीं करते। इला ने मुझे सन्देश क्यों भेजे थे? इसी आशा से न, कि मैं खाकर तृप्त होऊंगा। अब सोचो मैंने स्वयं न खाकर भेलू को खिला दिए। उन्हें खाकर वह जितना तृप्त हुआ है, उतना क्या मैं हो पाता? मेरे विचार में इला का अदान व्यर्थ न होकर पूर्ण रूप से सार्थक हुआ है।

इस तरह की अनेक घटनाएं भेलू को लेकर प्रचलित हो गई थीं। हो सकता है इस घटना-विशेष में कुछ कम सचाई हो, और एक मुंह से दूसरे मुंह तक जाते-जाते कल्पना ने उसे यह रूप दे दिया हो, पर शेष घटनाओं का प्रतिवाद करना भी मूर्खता है।

परन्तु यह सच है कि जब कोई उनसे मिलने आता और पुकारता, 'शरत् बाबू!' तो सबसे पहले उसका स्वागत करने के लिए यह भेलू ही भौंकता हुआ दौड़ पड़ता। आगन्तुक उसका रूप और स्वर देख-सुनकर घबरा जाता। तब शरत् बाबू प्यार से पुकारते, 'ऐ भेलू !' और भेलू भलेमानुसों की तरह उनके पास आ बैठता। एक दिन एक नवागन्तुक ने घबराकर पूछा, "क्या यह कुत्ता काट लेगा?"

शरत् बाबू ने प्रत्युत्तर में उनसे पूछा, "क्या इसने आपको काटा है ?"

आछेप का आभास तक उन्हें उद्विग्न कर देता था, लेकिन इसी भेलू के कारण कभी-कभी बड़ा अद्‌भुत दृश्य उपस्थित हो जाता था। उस दिन मकान-मालिक किराया लेने के लिए आए। उन्हें रुपये देकर शरत् बाबू तुरन्त खाना खाने के लिए चले गए और जब खाकर लौटे तो क्या देखते हैं कि मकान-मालिक एक कोने में कांपते हुए खड़े हैं। किराये के रुपये वैसे ही उनके हाथ में हैं और सामने बैठा हुआ भेलू एकटक उन्हें ताक रहा है।

शरत् बाबू बहुत दुखी हुए। उन्होंने भेलू को अपने पास बुलाया और मकान-मालिक से क्षमा मांगते हुए कहा, "छि:छि:, आपको इस तरह यहां खड़े रहना पड़ा ! खाना-नहाना भी नहीं हुआ ! बड़ा अन्याय हुआ। लेकिन मैं जानता नहीं था।"

इतना होने पर भी उन्होंने भेलू को एक शब्द नहीं कहा। यदि कोई पड़ोसी कभी उसे डांट देता तो बस उसकी खैर नहीं थी। हुक्का पीते होते तो उसे लेकर ही वे दौड़ पड़ते और धाराप्रवाह भाषण देना शुरू कर देते। उस भाषण की प्राकृत भाषा सुनकर पड़ोसी को बस सिर झुका लेने के सिवा और कोई मार्ग नहीं सूझता था।

वे भेलू को चाय भी पिलाते थे! प्याली में उसके बाल गिर पड़ते, तो भी न वह स्वयं आपत्ति करते थे न किसी दूसरे की आपत्ति सह सकते थे। इस असंगत-असीम प्यार के कारण मित्र लोग भेलू को व्यंग्य से उनका बेटा या युवराज कहते थे। लीलारानी को उन्होंने स्वयं यही लिखा था, "इस समय मेरा बेटा है मेरा भेलू कुत्ता, इसे सभी पहचानते हैं। सभी जानते हैं कि यह कुत्ता शरत् बाबू को प्राणों से भी प्यारा है।" [2]

वही उनके प्यार का अधिकारी एक दिन अचानक बीमार हो गया, वे तुरन्त उसे बेलियाघाट के अस्पताल में दाखिल करवाकर आए। उन्हें ढाका जाना था। वहां से लौटकर वे उसे फिर घर ले आए। स्वास्थ्य कुछ ठीक हो चला था, लेकिन घर आते ही उसका रोग फिर बढ़ गया। डाक्टर ने आकर बताया कि एक्यूट गैसटाइटिस का केस है।

अब कोई दवा काम नहीं कर सकी। आखिरी दिन सचमुच उसे बहुत कष्ट हुआ। पहले दिन शरत् बाबू ने चम्मच से उसे औषधि पिलाने की बहुत चेष्टा की, लेकिन दवा पेट में नहीं जा सकी। गुस्से में आकर उसने उनके हाथ में काट लिया। फिर सारी रात उनके गले के पास अपना मुंह रखकर वह रोता रहा। सवेरे उसका वह रोना थम गया। उनके एकाकी जीवन का चौबीस घंटे का साथी, प्रवास का बन्धु, इस दुनिया में वह केवल उन्हें ही पहचानता था। जब उसने उन्हें काटा तब सब लोग बहुत डर गए, लेकिन स्वयं शरत् बाबू के मन में रवि बाबू की यह पंक्ति गूंजती रही, 'तुम्हारे प्रेम में आघात है, अवहेलना नहीं ।'
भेलू ने उनके शरीर पर आघात किया था, पर उसके मन में अवहेलना नहीं थी, यही बात पूरे विश्वास के साथ उन्होंने सबसे कही। लेकिन इतनी व्यथा उन्होंने पहले कभी नहीं पाई थी। वे बच्चों की तरह रोये और स्वयं अपने हाथों से पड़ोसी के बाग में उसके लिए समाधि का निर्माण किया। एक खाते में उसकी मृत्यु का सम्वाद उन्होंने इस प्रकार लिखा, "भेलू, देह-त्याग करने का दिन 10 वैशाख, बृहस्पतिवार, 1322 सवेरे छ: बजे, 23 अप्रैल, 1925 ई०।

समाधि वेला साढ़े नौ बजे, बाजे शिवपुर, हावड़ा। रात्रिर-दिनेर संगी आमार परम लेकेर बन्धु।"

उनका नहाना-खाना सब बन्द हो गया। बस समाधि के पास बैठकर रोते रहते। बड़ी बहू समझाकर हार गई, पर वे शान्त नहीं हुए। सन्देशा पाकर 'भारतवर्ष' के सम्पादक रायबहादुर जलधर सेन उनसे मिलने के लिए आए। उनकी छाती से लगकर रोते-रोते शरत् बाबू ने कहा, "दादा, मेरा भेलू मुझे धोखा देकर चला गया।"

उन दिनों जो भी मिलने जाता उसके सामने इस प्रकार शोकांत हो उठते मानो उनके सबसे प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो गई है। अपने प्रिय मित्र चारुचन्द्र बंदोपाध्याय को उन्होंने लिखा, "मेरा चौबीस घंटे का साथी नहीं रहा। संसार में जो इतना बड़ा दुख का व्यापार है, उसको ठीक तरह से नहीं समझता था। शायद इसीलिए मुझे इसकी आवश्यक्ता थी। चारु, एक और बात समझ सका, इस संसार में ऑब्जेक्टिव कुछ भी नहीं है, सब कुछ सब्जेक्टिव ही है। नहीं तो वह एक कुत्ते के सिवा और क्या था? राजा भरत की कहानी किसी तरह मिथ्या नहीं है।" [3] 'मामा सुरेन्द्र से उन्होंने कहा था, "जीवन में कितने दुख-कष्ट पाए हैं, उनको भेलू ने बहुत बार तुच्छ कर दिया है..... दुख के दिनों में उसके सहारे मेरा समय सुख से कट गया।"

कितना एकात्म भाव था उन दोनों में। एक पशु, एक दरदी मानव।

इस कहानी से गलतफहमी हो सकती है कि वे केवल अपने कुत्ते को ही इतना प्यार करते थे, लेकिन यह सत्य नहीं है। जीव-मात्र से उन्हें प्रेम था। कुत्तों से कुछ विशेष प्रेम था। अपने मोटरचालक को उन्होंने आदेश दे रखा था कि देखो बापू, यदि तुम किसी मनुष्य को मोटर के नीचे दबा दोगे तो शायद मैं कुछ न कहूं, परन्तु यदि तुमने किसी कुत्ते को दबा दिया तो समझ लेना कि तुम्हारी नौकरी गई।

इन आघातों ने नये मकान में आने के बाद भी उनका पीछा नही छोड़ा। अभी नौ महीने भी नही बीते थे कि एक और प्रबल आघात उन्हें सहना पड़ा। उनके छोटे भाई प्रभासचन्द्र लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व संन्यासी हो गए थे। दो वर्ष तक वे मायावती अद्वैत आश्रम में रहे। फिर कई वर्ष तक रामकृष्ण मिशन सेवा आश्रम, वृन्दावन की व्यवस्था का भार उन पर रहा। कुछ दिन पूर्व वे मिशन के कार्य में बर्मा चले गए थे। शरत् बाबू की तरह स्वास्थ्य उनका भी कोई बहुत अच्छा नहीं था। बर्मा से लौटने पर वे कलकत्ता रुके और जैसा कि वे सदा करते थे, पूर्वाश्रम के अपने बड़े भाई शरत् बाबू के पास ही ठहरे। यहीं पर सहसा उनको ज्वर हो आया। अभी कुछ माह पूर्व स्वस्थ होकर ही तो यहां से गए थे, लेकिन निरन्तर बीमार रहने के कारण उनका शरीर बहुत शिथिल हो गया था। कई बार उन्होंने कहा था कि अब इस शरीर को छोड़ देने की आवश्यकता है। शायद आवश्यकता का वह क्षण आ पहुंचा था। अगले दिन ही वे बहुत बेचैन हो उठे। घर और बिस्तर छोड़कर वे बाहर चले आए। उन्होंने अपना सिर शरत् बाबू की छाती पर रख दिया और फिर शरीर का त्याग कर दिया| [4] मृत्यु के

समय शरत् बाबू, अनिला देवी, हिरण्मयी देवी और प्रकाशचन्द्र पूर्वाश्रम के यही चार परिजन उनके पास थे।

घर के एक पशु-पक्षी की भी जो मृत्यु नहीं सह सकते थे, वे शरत् बाबू इस भातृ-वियोग से बहुत ही व्यथित हो उठे। उस समय लिखे गए उनके एक पत्र से उस व्यथा का कुछ आभास मिलत है–"नहीं जानता था कि मैं इतना दुर्बल हूं। यह व्यथा मैं कैसे सहूंगा?"

अपने भाई की समाधि उन्होंने अपने घर के पास ही नदी के तट पर बनबाई। जब तक सामताबेड में रहे प्रतिदिन संध्या को उस पर दीपक जलाते रहे। यही नहीं, लिखते-लिखते वे बहुधा उठ खड़े होते और समाधि के पास जाकर खड़े हो जाते। उनके श्राद्ध के दिन वह प्रतिवर्ष कीर्तन और भोज कराते।

संन्यासी हो जाने के बाद प्रभासचन्द्र स्वामी वेदानन्द के नाम से जाने जाते थे। उनकी मृत्यु का समाचार पाकर बेल्लूरमठ के एक स्वामी शरत् बाबू के पास आए और बोले, "आपने स्वामी वेदानन्द की देह हमें क्यों नहीं सौंपी? स्वयं ही संस्कार क्यों किया? उनकी समाधि बेल्लूरमठ में बननी चाहिए थी। यहां क्यों बनवाई?"

स्वामीजी ने ठीक कहा था कि संन्यासी हो जाने के बाद पूर्वाश्रम के परिजनों से कोई संबंध नहीं रह जाता, लेकिन शरत् बाबू स्वामीजी की बात सुनकर विरक्त हो उठे। बोले, "आप यह क्यों भूल जाते हैं कि वे मेरे सहोदर थे। आपसे अधिक मेरा उन पर अधिकार था। आप उनके कौन हैं?"

शरत्चन्द्र ने विधि-विधानों की दासता कभी स्वीकार नहीं की। उनके सामने आदि शंकराचार्य का उदाहरण था। उन्होंने अपनी मां का स्वयं दाहसंस्कार किया था। उन्हीं की तरह शरत् बाबू ने भी जड़ नियमों पर आघात किया। बहुत तर्क-वितर्क हुआ, लेकिन बेल्लूरमठ के स्वामी किसी भी तरह आश्वस्त नहीं हो सके। तब सहसा शरत् बाबू बोल उठे, "खैर उसे जाने दीजिए। एक और स्वामीजी यहां हैं उन्हें ले जाइए।"

स्वामीजी बहुत चकित हुए, लेकिन वे कुछ कह पाते इससे पूर्व ही शरत् बाबू ने जोर से पुकारा, स्वामीजी! स्वामीजी!"

तुरन्त ही एक मोटा-ताज़ा बकरा भागता हुआ आया। भरतचन्द ने उसकी ओर देखते हुए कहा, बेल्लूरमठ के ये स्वामीजी तुम्हें लेने के लिए आए हैं। इनका कहना है कि कोई भी स्वामी गृहस्थी के घर में नहीं रह सकता। तुम चाहो तो इनके साथ जा सकते हो।"

फिर स्वामीजी की ओर मुड़कर बोले, "डसे यदि आप एक गेरुआ चादर पहना देंगे तो यह आपके दल में मिल जाएगा।"

जैसा कि स्वाभाविक था इस व्यंग्य से स्वामीजी तिलमिला उठे। और अग्निरूप होकर तुरन्त ही वहां से चले गए।

यह कथा भी मात्र एक प्रवाद हो सकती है परन्तु यदि सच भी है तो इसमें अस्वाभाविक कुछ नही। बहुत वर्ष बाद' [5] स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव पर बेल्लूरमठ में

श्री सुभाषचन्द्र बोस के सभापतित्व में जो सभा हुई थी, उसमें भी उन्होंने इस मठ की कार्य-पद्धति की आलोचना करते हुए कहा था, "आप लोग रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के आदर्श के अनुरूप कार्य नहीं कर रहे।"

इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस घटना में कुछ न कुछ सचाई की सम्भावना है? फिर भी यह कहना कि वे अधार्मिक या नास्तिक थे असत्य होगा। यौवन के आवेश में निश्चय ही उन्होंने कई बार धर्म और ईश्वर पर आक्रमण किया पर वह आक्रमण उनके अन्तर में विश्वास का परिणाम नहीं था। वे अन्धविश्वासों और संकीर्णता पर ही चोट करना चाहते थे। दैवी चमत्कारों और पाखण्डपूर्ण कर्मकाण्डों में उनका विश्वास नहीं था, पर एक सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान ईश्वर में उनकी सच्ची आस्था थी। जो वास्तविक धर्म है उसमें आयु के साथ-साथ उनकी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती जा रही थी। उनका सारा साहित्य इस बात का प्रमाण है। देशबन्धु दास ने राधाकृष्ण की जो प्रतिमा उन्हें भेंट में दी थी उसके लिए नित्य पूजा की व्यवस्था थी। विशेष रूप से एक पण्डितजी उसकी देखभाल करते थे। जिस दिन पण्डितजी नहीं आ पाते उस दिन वे स्वयं पूजा करते थे। कहते थे, "देशबन्धु उसकी पूजा का भार मुझ पर सौंप गए हैं। उसे यथासाध्य पूरा करना ही है।"

वे यज्ञोपवीत पहनते थे। गले में तुलसी की माला रहती थी। एक दिन उन्होंने कहा था, "मेरे गले में तुलसी की माला देखकर अचरज होता है। जो व्यक्ति दुर्नीति-परायण साहित्य की सृष्टि करता हे, वह तुलसी की माला पहनेगा, यह बात कोई नहीं सोच सकता।"

यज्ञोपवीत वे स्वयं ही नहीं पहनते थे अपने मित्रों के गले में भी उसे देखना चाहते थे। कलकत्ता के उनके पड़ोसी अध्यापक निर्मलचन्द्र भट्टाचार्य ने जनेऊ का परित्याग कर दिया था। एक दिन शरत्चन्द्र ने उनको नंगे बदन देखकर पूछा, "तुम्हारा जनेऊ क्या हुआ?"

निर्मलचन्द्र ने उत्तर दिया, "मैंने जनेऊ का त्याग कर दिया है।"

सुनकर शरतचन्द्र व्यथित हो उठे। बोले, "यज्ञोपवीत न पहनने से पितरों का अपमान होता है।"

वे वैष्णव धर्मग्रंथों का पारायण भी करते थे। जीवन के अनेक विरोधाभासों की तरह उनके धर्म-विश्वास के बारे में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हो गई थीं, जो साधारण-से दिखने वाले विरोधाभास को जटिल से जटिलतर बनाने में ही सहायक हो सकती थी। आज जो मनुष्य का विश्वास है वह कल बदल सकता है, यह न असम्भव ही है और न घृणा के योग्य ही। देशबन्धु के सम्पर्क में आने के बाद उनके धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ, यह सम्भव ही नहीं, निश्चित-सा दिखाई देता है।

संघर्ष और प्रसिद्धि के उन दिनों में उनके स्वभाव में कई परिवर्तन हुए, परन्तु मानवीय करुणा ने मनुष्य शरत्चन्द्र का साथ कभी नहीं छोड़ा सर्वोत्तम सौन्दर्य के समान सर्वोत्तम मानवीय करुणा ही क्या ईश्वर नहीं है?

1. 24 दिसम्बर, 1902 ई०
2. 7 भाद्र, 1326 (23 अगस्त, 1919 ई०)
3. 27 अप्रैल, 1925 ई०
4. बुधवार, 27 अक्टूबर, 1926 ई०
5. सन् 1932 इ०

14

गांव में आकर उनका जीवन बिलकुल ही बदल गया। इस बदले हुए जीवन की चर्चा उन्होंने अपने बहुत-से पत्रों में की है, "रूपनारायण के तट पर घर बनाया है, आरामकुर्सी पर पड़ा रहता हूं।"

एक और पत्र में उन्होंने लिखा, "उसके बाद मैं कलकत्ता नहीं गया। इधर छोटी परिधि में जैसे-तैसे दिन कट जाते हैं, लेकिन एक बार शहर का मुख देख आने पर संभलने में पांच-सात दिन लग जाते हैं। इसके अलावा वर्षा, बादल और कीचड़ में रास्ता चलना कठिन है। उतनी शक्ति भी नहीं है। उद्यम भी नहीं है। कुछ दिन पहले अंधेरी रात में सीढ़ियों को एक समझकर उतरने में जो होना चाहिए था वही हुआ। हां, बाहर उसके लक्षण नहीं, पर पीठ और कमर का दर्द आज भी पूरी तरह दूर नहीं हुआ है। सभी मुझे लिखने के लिए कहते हैं, लेकिन समझ में नहीं आता क्या लिखूं। सब कुछ अर्थहीन-अनावश्यक लगता है। और ग्रन्थकारों की तरह अपने मन में अगर एक बार फिर अपने- आपको पुराने ज़माने की साहित्य-सेवा के बीच खींच ले जा सकता तो शायद कितने ही "बिन्दो का लल्ला' और 'चरित्रहीन' लिखे जा सकते थे। लेकिन ऐसा नहीं लगता कि इस जीवन में वह बात फिर आएगी। निरन्तर सोचता हूं कि लिखकर क्या होगा? लोगों को आनन्द मिलता है, भले ही न मिले। पहले पाने का अधिकार प्राप्त करें, उसके बाद 'बिन्दो का लल्ला' और 'राम की सुमति' लिखनेवाले बहुतेरे पैदा होंगे। मुझे तो हाथ देखना सीखने की बड़ी इच्छा हो रही है।"

'बिन्दो का लल्ला' या चरित्रहीन' लिखने की स्थिति में वे भले ही न रहे हों, गांववालों के जीवन को समझने का यह स्वर्ण अवसर था। बर्मा में रहते समय जैसे वे अपने सर्वहारा पड़ोसियों की सहायता करने के लिए सदा तैयार रहते थे, वैसे ही यहां भी कोई अवसर नहीं चूकते थे। आयु काफी हो गई थी। नाम भी बहुत हो गया था। सभी सुविधाएं थीं जो एक समृद्ध व्यक्ति को हो सकती हैं। फिर भी मन से वे वही शरत् थे जो रंगून-प्रवास में थे। आसपास किसी को भी कष्ट होता तो 'बामन की बेटी' के डा० प्रियनाथ की तरह दौड़ पड़ते।

उस दिन मनोज बसु मिलने के लिए आए। देखते क्या है कि बरामदा गांव के अनेक स्त्री-पुरुषों से भरा हैं और उनके बीच में आरामकुर्सी पर बैठे हैं उनके दादा ठाकुर शरत्चन्द्र। एक-एक व्यक्ति से घर-गृहस्थी की बातें चल रही हैं। सहसा एक स्त्री से उन्होंने पूछा, "छवि की मां, तेरी बेटी कैसी हे?"

"ठीक है दादा ठाकुर। आपकी दवा तो बस धन्वंतरी है।"

इस पर शरत् बाबू से कहा, "लेकिन तुमने बच्चे को बड़ी असावधानी से नदी में फेंक दिया था। बहता-बहता वह अन्त में इस चड़े में अटक गया। कौवे और गिद्ध मांस नोचने को मंडरा रहे थे। मैं यह सब नहीं देख सका। नदी में उतर कर बीच धारा में डाल आया।"

बूढ़ी मां ने आंचल से आखें ढक लीं।

ये लोग कुलीन नहीं हैं। छवि का आठ वर्ष की उम्र में विवाह हुआ था। पति थे दादा की उम्र के। जल्दी मर गये। रह गई बिचारी मां और उसकी स्वस्थ बेटी। किसी युवक को बर्बाद करेगी, इसलिए उसे गांव से बाहर निकाल दिया गया था। बेचारी दादा ठाकुर की दया के सहारे रहती थी। छवि का एक बेटा था, वह भी कल मर गया। उसी को बुढ़िया ने असावधानी से नदी में फेंक दिया था.....।

इन कहानियों का कोई अन्त नहीं था। उस दिन सुना, एक व्यक्ति को हैजा हो गया है। कोई भी उसके पास नहीं जाता। अकेला फूस के छप्पर के नीचे पड़ा कराह रहा है। रंगून में न जाने कितने प्लेग के रोगियों को उन्होंने दवा दी थी। कितने ही व्यक्तियों ने उनकी गोद में प्राण छोड़े थे। 'गृहदाह' के सुरेश की तरह मृत्यु का भय उनके मन को कभी नहीं जीत पाया। तुरन्त उस व़्यक्ति के पास गए। उसे दवा दी। डा० प्रियनाथ का होमियोपैथी का बक्स अभी भी उनके पास था। वह मानो उसी की तरह रोगियों को ढूंढ़ते फिरा करते थे।

इतना ही नहीं, इनके लिये पथ्य का प्रबन्ध करने का भार भी वे संभाल लेते थे । नाना प्रकार की मछलियां, बेदाना, सेब, साबूदाना, मिश्री आदि सब कुछ खरीदकर भेज देते थे। यदि उनकी दवा से लाभ न होता तो वे पाणित्रास के स्थानीय डा० रमेशचन्द्र मुखोपाध्याय को बुलाते। वे भी सफल न हो पाते तो नूण्टेरहटा, हावड़ा से डा० गोपीकृष्ण चक्रवर्ती आते।

उनकी फीस भी वे स्वयं देते थे पर अपने हाथ से नहीं, मरीज़ के ही हाथ से दिलवाते थे।

वे केवल उनके शरीर का ही ध्यान नहीं रखते थे, बल्कि बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा के लिए एक विद्यालय भी उन्होंनें खोल दिया था। पथ-घाट बनवाते रहते थे। बच्चों के प्रति उनके प्रेम की थाह नहीं थी। न जाने क्या-क्या खरीदकर उनको देते रहते थे। प्रारम्भ में एक गांव वाले उन्हें नहीं चाहते थे, परन्तु जैसे-जैसे ये उनके सुख-दुख में एकाकार होते गए वे सबके प्रिय हो उठे। मामले-मुकदमे में ज़ालिम ज़मींदार के विरुद्ध उनका पक्ष लेने से वे यहां भी पीछे नहीं हटे। सब काम छोड़कर वे अन्याय का प्रतिरोध करने को कटिबद्ध हो जाते थे। इसीलिए वे गांव वालों के 'आपुन जन' हो गए थे।

मकान ठीक रूपनारायण नद के ऊपर था। ज्वार और बन्या का प्रकोप अक्सर होता रहता था। बंगाल में वर्षा ऋतु का क्या अर्थ है यह एकाध वर्ष गांव में रहकर ही जाना जा सकता है। उस बार इतना तीव्र ज्वार आया कि बांध भी बह गया। चारों ओर जल ही जल। मिट्टी खोद-खोदकर यहां-वहां गड्ढों को पाटने में ही दस-पन्द्रह दिन निकल गए। एक रात सूचना मिली कि जल बांध तोड़कर खेतों में घुस आया है। फसल को बचाने का प्रश्न था।

किसी न किसी तरह बांध बांधना था। लेकिन सभी गांव वाले सहसा इसके लिए राज़ी नहीं हुए। तब शरत् बाबू ने साम-दाम-दण्ड-भेद से, जैसे भी हो सका, उनको तैयार किया और वे बांस काटने और मिट्टी खोदने में जुट गए। आसपास मिट्टी कम थी। इसलिये श्मशान की ऊंची भूमि की खुदाई श्हुरू की। खोदते-खोदते सहसा क्या देखा कि गड्ढे में शिशु का शव है। क्षणभर में बचपन आंखों के सामने घूम गया। राजू के साथ मिलकर न जाने कितनी लावारिश लाशों का संस्कार किया था। बड़े प्यार से मृत शिशु को एक सुरक्षित स्थान पर रखा, जब बांध पूरा हो गया तब एक बड़ा-सा गहरा गड्ढा खोदकर उसे गाड़ दिया।

यद्यपि वे शहर से दूर रहने लगे थे, लेकिन मित्रों का आना-जाना कम नहीं हुआ। बल्कि ऐसा होता कि सवेरे ही व लोग आ जाते ओर फिर दिन-भर अड्डा जमाने के बाद ही शाम को लौटते। आने वालों में मित्र, रिश्तेदार, प्रशंसक सभी होते। शिवपुर की तरह कुछ रचनाएं मांगने आते, कुछ आते किसी सभा का सभापति बनने का आग्रह लेकर, कुछ सम्पादक बन जाने की प्रार्थना करते। उन्हें यह सब तो अच्छा न लगता, पर आना अवश्य अच्छा लगता। स्वयं शहर जाकर निमंत्रित कर
आते कि वे लोग आकर उनका बाग देखें, तालाब के माछ देखें। खिलाते-पिलाते भी खूब थे। उनकी घर की गाय का मीठा दूध बहुतों को प्रिय था और हर आने वाले को छ: बड़े-बड़े बताशे अवश्य दिए जाते थे। एक बन्धु ने कहा, "ये बताशे क्यों?"

उत्तर मिला, "यह तो भाई, गांव का शिष्टाचार है।" पास में बाज़ार नहीं था। देने को मिठाई हमेशा कैसे मिलती, सो बताशे तैयार रखते थे। कहते, "खूब खाएंगे तभी तो लोग यहां आारंगे।" फिर गल्प पर गल्प सुनाकर सवेरा कर देते। अन्दर से तकाज़ा आता, 'ओ जी, सवेरा हो गया, सोओगे कब?"

घंटों पर घंटे पंख लगाकर उड़ जाते। काम में हानि होती है, होने दो। बैठना ही होगा। कितनी कहानियां कहते-अपने बारे में, अपने आसपास के बारे में। कोई बोल उठता, "आपकी कहानियां हम मग्न होकर सुनते तो हैं, पर विश्वास नहीं करते। सब झूठ, झांसा-पट्टी, आप बना-बनाकर बोलते हैं।"

वे उत्तर देते, "जीवन भी तो झांसा-पट्टी देकर काट दिया है, भाई। तुम सब स्कूल-कालेजों में कितना खटे हो, वह सब समय मैंने झांसा-पट्टी देकर और तम्बाकू खाकर ही तो काटा है। उसके बाद सारा जीवन खाली झूठी कथाएं लिख-लिखकर इतना प्यार इकट्ठा का लिया।

फिर कहते, मैंने शायद मिथ्या तो कुछ नहीं लिखा। कितने मनुष्यों से मिला हूं। कितनों को देखा है। लिखते समय वे ही सब मेरे मन में उभर उठते है। फिर मैं अपने को रोक नहीं सकता।"

कहते-कहते वे उठकर बेचैनी से बरामदे में टहलने लगते। उत्तेजित होते तो माथे पर आए बालों को उंगली में लपेट लेते। सिगरेट पर सिगरेट पीते जाते और बोलते जाते।

लोग प्रश्न पर प्रश्न करके उन्हें परेशान कर देते, पर वे मृदु-मृदु मुस्कराते ही रहते। कोई पूछता, “आपने किरणमयी को पागल क्यों नहीं किया?” कोई जवाब तलब करता, "आपने फिर अन्नदा दीदी की खोज-खबर क्यों नहीं ली? इन्द्रनाथ को कहां निर्वासित कर दिया? आपके 'शेष प्रश्न' का समाधान क्या है?"

लेकिन एक दिन एक ऐसे ही आने वाले के साथ एक अघटित घटना घट गई। दस बजे का समय होगा। बाहर के बरामदे में आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे कोई पुस्तक पढ़ रहे थे, तभी किसी के आने की पदचाप सुनाई दी। किताब हटाकर आने वाले को देखा, फिर वैसे ही पढ़ने में व्यस्त हो गाए।

आगन्तुक और कोई नहीं चिर-परिचित मामा उपेन्द्रनाथ थे। उन्हीं दिनों "विचित्रा' [1] पत्र के प्रकाशन की योजना सामने आई थी। इसके स्वप्नद्रष्टा थे उपेन्द्रनाथ के समधी योगीन्द्रनाथ मुकर्जी। इस योजना को कार्यरूप देने से पूर्व ही वे स्वर्गवासी हो गए। तब उनके पुत्र ने इसे कार्यान्वित करने का बीड़ा उठाया। सम्पादक के पद पर प्रतिष्टित हुए उपेन्द्रनाथ। जैसा कि स्वाभाविक था उन्होंने पहले से ही रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र दोनों को लिखने के लिए आमन्त्रित किया, परन्तु बार-बार पत्र लिखने पर भी शरत्चन्द्र ने कोई जवाब नहीं दिया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे स्वयं उनसे मिलने के लिए पाणित्रास [2] आए। आश्चर्य! महान आश्चर्य!! शरत् ने उन्हें देखकर भी अनदेखा कर दिया। अल्छा नहीं लगा। फिर भी एक कुर्सी पर बैठते ही उन्होंने पूछा, "कैसे हो शरत्?”

उसी तरह किताब से मुंह ढके-ढके शरत् बाबू बोले, वैसा ही हूं।“

उपेन्द्रनाथ ने कहा, "वह तो मैं अपनी आखों से देख रहा हूं। पूछाता हूं कैसे हो? और तुमने मेरी चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं दिया?"

शरत् बाबू पूर्ववत् बोले, "क्या जवाब देता?”

उपेन्द्रनाथ को और भी आश्चर्य हुआ, लेकिन फिर भी मुस्कराकर कहा, "जवाब देते, तुम्हारी चिट्ठी पाकर खुशी हुई। उपन्यास लिखना शुरू कर दिया है। एक संख्या के जितना होने पर भेज दूंगा।“

शरत् बाबू ने धीरे-धीरे पुस्तक बन्द करके मेज़ के ऊपर रख दी। सीधे होकर बैठ गए और फिर तीक्ष्ण दृष्टि से मामा की ओर देखते हुए बोले, “उस कोयलेवाले के बेटे के पत्र में मुझसे उपन्यास लिखने के लिए कहते हो?”

इस अकारण क्रोध के विरुद्ध उपेन्द्रनाथ का अहंकार फुंकार उठा। उसी तरह तीव्र दृष्टि से देखते हुए वे बोले, "कोयलेवाला कौन है? जोगिन मुकुज्जे! उसका बेटा मेरा दामाद है, यह तो जानते हो?”

शरत् बोले, “जानता हूं या नहीं जानता हूं, मैं उसके पत्र में नहीं लिखूंगा।“

“जानते हो, वह कोयलेवाला अब इस संसार में नहीं है।

शरत् बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। उपेन्द्रनाथ के मन में अभिमान और क्रोध उमड़ आया। मन ही मन उन्होंने कहा, "देखता हूं, तुम्हें छोड्कर अखबार निकाला जा सक्ता है या नहीं। जहां प्यार बहुत होता है वहां आशा करना असंगत नहीं होता। तुम यदि मेरे नातेदार नहीं होते, बन्धु नहीं होते, दोनों के बीच ग्रेम का सहज सुदृढ़ बन्धन न होता तो तर्क-वितर्क और झगड़ा कर सका था। झगड़ा निपटा भी सकता था.....।"

मन में और भी न जाने क्या-क्या विचार आए, पर कहा उन्होंने कुछ नहीं। उठकर खडे हो गए। शरत् बाबू ही बोले, "कहां जाते हो?"

उपेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, "अपने घर जाता हूं।"

शरत् बाबू बोले, "खा-पीकर जाना।"

उपेन्द्रनाथ व्यंग्य से मुस्कराए। कहा, "इस किताबवाले के घर खाना-पीना करने के लिए कहते हो?"

शरत् बाबू को ये शब्द निश्चय ही बुरे लगे। फिर भी उन्होंने कहा, "बहुत दूर से आए हो। बहुत दूर जाना है। आखिर चाय- नाश्ता लेकर जाओ।"

लेकिन जैसा स्वागत हुआ था उसके देखते हुए उपेन्द्रनाथ का रुकना असम्भव था। वे नहीं रुके। शरत् बाबू फिर बोले, "तुम गुस्सा हो गए उपेन्द्र!"

उपेन्द्रनाथ ने कहा, "हो गया हूं किन्तु वह अकारण तो नहीं है।"

"अन्याय कर रहे हो।"

उपेन्द्रनाथ बोले, "मैं अन्याय नहीं कर रहा हूं। अन्याय मेरे साथ हुआ है। भविष्य में शायद इस पर विचार हो सकेगा।"

शरद बोले, "ऐसा होने पर भविष्य की ओर देखते बैठे रहना पड़ेगा।"

उपेन्द्रनाथ चले गए। इस घटना-विशेष में अपराध किसका हैं, यह चर्चा अभी असंगत है। स्पष्ट इतना ही है कि वे जब दृढ़ होना चाहते थे हो सकते थे। इसी प्रवृत्ति के कारण कई बार उन्हें गांववालों के मुकदमों में भी फंस जाना पड़ता था। पुराने ज़मींदार ने गोविन्दपुर में कुछ भूमि भगवान शिव के नाम अर्पित कर रखी थी। निचान में होने के कारण उसमें प्राय: जल भर जाता था। नये ज़मींदार ने इसका लाभ उठाना चाहा! जल से भरी वह भूमि उसने मछली पकड़ने के लिए ठेके पर उठा दी। अब तक गांव के लोग स्वेच्छापूर्वक मछली पकड़ते थे। इस ठेक से उनका वह अधिकार छिन गया.

यही झगड़े का आरम्भ था। लेकिन शीघ्र ही बात हाथापाई और मारपीट तक पहुंच गई। ठेकदार शिकायत लेकर ज़मींदार के पास पहुंचे। वह क्रुद्ध हो उठा और तुरन्त कचहरी जाकर उसने पच्चीस व्यक्तियों पर फौजदारी मुकदमा दायर कर दिया। इनमें शरत् बाबू की दीदी के एक देवर भी थे। वे एक स्कूल में मुख्याध्यापक थे। उन सहित कई लोग, जिन पर मुकदमा दायर किया गया, घटनास्थल पर मौजूद भी नहीं थे।

जब यह समाचार शरत् बाबू को मिला तो उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा। चुपचाप जमींदार के पास गए और उसे समझाने की चेष्टा की। लेकिन ज़मींदार तो मदान्ध था। तीव्र होकर बोला, "मैं किसी का उपदेश नहीं सुनना चाहता। जो मुझे ठीक लगेगा करूंगा गोविन्दपुर के लोगों को सबक सिखाऊंगा। सुनता हूं, आप उनके सलाहकार हैं! रहिए, मैं डरता नहीं हूं।"

इसका जो परिणाम हो सकता था वही हुआ। दोनों ओर से फौजदारी तथा दीवानी दोनों प्रकार के मुकदमे चलने लगे। उस स्थान पर शिवपूजा को लेकर एक उत्सव भी मनाया जाता था। इस बार गांववालों ने निश्चय किया कि जिन लोगों ने ठेका लिया है, उन्हें किसी भी शर्त पर उत्सव में भाग लेने की अनुमति नहीं दी जाएगी। इस बात पर फिर झगड़ा बढ़ा। ज़मींदार के पास पैसा ही नहीं था, वह यूनियन बोर्ड का प्रज़ीडेण्ट भी था। पुलिस के अधिकारियों से उसका खूब परिचय था। इसीलिए झगड़े की सम्भावना बाताकर वह वहां धारा 144 लगवाने में सफल हो गया। गांव में यहां-वहां सब कहीं पुलिस दिखाई देने लगी।

धर्म के मामले में पुलिस का यह हस्तक्षेप देखकर गांववाले भड़क उठे। दोनों दलों में फिर उत्तेजना बढ़ गई। तब कई भद्र पुरुष फिर शरत् बाबू के पास आए। वे क्रोध और दृढ संकल्प से भर उठे और उन्होंने निर्णय किया कि उन्हें डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पास जाना ही होगा। सब लोगों को शान्त रहने को कहकर वे तुरन्त चल पड़े। उन्होंने मजिस्ट्रेट को सब कुछ बता दिया। बंगाल के अपराजेय कथाशिल्पी को इस मामले में रुचि लेते देखकर मजिस्ट्रेट व्यस्त हो उठा। उसने तुरन्त पुलिस कप्तान को बुलाया और उसे सब कुछ समझाकर कहा, "आप शरत् बाबू को एक चिट्ठी लिखकर दे दीजिए कि थानेदार पुलिस को लेकर वहां से चला जाए। मेले की व्यवस्था शरत् बाबू स्वयं कर लेंगे।"

उधर थानेदार ने ऊपर रिपोर्ट करके अतिरिक्त पुलिस बुलाने का प्रबन्ध कर लिया था। लेकिन संयोग ऐसा हुआ कि शरत् बाबू और पुलिस के नये अफसर भुवनेश्वर बाबू एक ही ट्रेन और एक ही डिब्बे में सवार होकर गोविन्दपुर के लिए रवाना हुए। भुवनेश्वर बाबू शरत बाबू के भक्त थे, लेकिन उन्हें पहचानते नहीं थे। एक मित्र के माध्यम से उसी डिब्बे में उनका उनसे प्रथम साक्षात् परिचय हुआ। स्वाभाविक था कि झगड़े की बात सामने आती, शरत् बाबू ने भुवनेश्वर को सब कुछ बता दिया।

गांव पहुंचकर दोनों एक साथ ही झगड़े के स्थान की ओर रवाना हुए। शरत् बाबू कुछ आगे थे। लोगों ने पहले उन्हीं को देखा और थानेदार को सूचना दी, "शरत् बाबू आ रहे हैं।"

थानेदार बिगड़ उठा। बोला, "रहने दे रहने दे शरत् बाबू को। दो-चार किताबें लिख ली हैं तो उससे यहां नेतागिरी नहीं चलेगी। अपमानित होकर लौटना होगा।"

तब तक भुवनेश्वर बाबू भी सामने आ गए थे। अब तो थानेदार की सिट्टी गुम हो गई। थर-थर कांपने लगा। भुवनेश्वर बाबू सब कुछ सुन जो चुके थे। क्रुद्ध होकर उन्होंने दरोगा से कहा, "वर्तमान बंगाल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार के प्रति ज़रा भी शालीनता नहीं बरत सके!

ज़मींदार से घूस खाकर तुमने यह सब हंगामा किया है। अच्छा, अब यहां से इसी वक्त चले जाओ। और पाणित्रास के हाई स्कूल में मेरी राह देखो।"

डरते-कांपते थानेदार साहब वहां से चले गए। मेला खुशी-खुशी सम्पन्न हुआ। शरत् बाबू के अनुरोध पर गांववालों ने ठेकेदारों को भी उसमें भाग लेने की अनुमति दे दी। भगवान शिव के लिस समर्पित भूमि फिर से शिव के लिए समर्पित हो गई। लेकिन इससे पहला मामला हाईकोर्ट तक पहुंच चुका था। बार-बार हारने के बाद अंतत: ज़मींदार की बुद्धि लौट आई। वह शरत् बाबू के घर आया और उस झगड़े को समाप्त कर दिया।

मेलेवाली उस घटना के बाद एक दिन एक भद्र पुरुष सपत्नीक शरत् बाबू से मिलने के लिए आए। आते ही दोनों ने शरत् बाबू के चरण पकड़ लिए। बहुत पूछने पर उन्होंने कहा, "मैं वही थानेदार हूं, जिसने आपके साथ उस दिन अभद्रता का व्यवहार किया था। आप मुझे क्षमा कर दीजिए।"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "अरे भाई, वह बात तो उसी दिन समाप्त हो गई थी। मुझे उसका कुछ भी गिला नहीं है।"

दरोगा ने कहा, "पर मेरी नौकरी तो खतरे में पड़ गई है। वह चली गई तो मेरे बच्चे भूखे मर जायेंगे। ज़मींदार से घूस लेने के अपराध में भुवनेश्वर बाबू ने मूझे निलम्बित कर दिया हे। आप मुझ पर कृपा कीजिए।"

शरत् बाबू बोले, "मैं क्या कर सकता हूं, बताओ तो!"

"आप कृपाकर एक चिट्ठी भुवनेश्वर बाबू को लिख दीजिए कि आपने मुझे क्षमा कर दिया है।.....और यह कि वे भी मुझे क्षमा कर दें।"

बिना एक शब्द बोले शरत् बार ने वैसी ही चिट्ठी लिख दी और उन लोगों को वहां से तभी जाने दिया जब वे भोजन कर चुके।

लेकिन ये समस्याएं हमेशा नहीं रहती थीं, न मित्र-बन्धु ही हमेशा आ पाते थे। जब गांव में किसी प्रकार का आमोद-आनन्दोत्सव न होता तो गांव निर्जीव निस्पन्द हो उठता। तब उनका थका तन-मन संध्या के समय रेडियो संगीत के लिए उत्सुक हो आता। श्रावण के घने मेघ चारों ओर से घिर आए हैं। कीचड़-भरा जनहीन ग्राम्य पथ दुर्गम हो उठा है। निबिड़ अंधकार छाती पर भार बनकर बैठ गया है। तय रेडियो की तरंगों पर बहती हुई संगीत की धारा को सुनकर ऐसा लगता जैसे दूर कहीं संगीत की महफिल में भाग ले रहे हों। फिर किसी दिन वर्षा के बाद आकाश में छोटे-छोटे मेघों की दरारों से चांद का प्रकाश दिखाई देता। वर्षा के जल से पूरम्पार भरी नदी पर मलिन ज्योत्स्ना उभर आती। तब शरत् बाबू उस एकांत नदी-तट पर, आरामकुर्सी पर आंखें मूंदे लेटे हुए, ऐसा अनुभव करते मानो तम्बाकू के धुएं के साथ मिलकर रेडियो से उठती बांसुरी के स्वर किसी मायाजाल का निर्माण कर रहे हों।

1. प्रथम आषाढ, 1334 (16 जून, 1927) को प्रकाशन शुरू हुआ।
2. सितम्बर, 1926 ई०

15

गांव में रहने पर भी शहर छूट नहीं गया था। अक्सर आना-जाना होता रहता था। स्वास्थ्य बहुत अच्छा न होने के कारण कभी-कभी तो बहुत दिनों तक वहीं रहना पड़ता था। इसीलिए बड़ी बहू बार-बार शहर में मकान बना लेने का आग्रह करती रहती थी। इसीलिए इस अवधि में और इसके बाद भी मौलिक सृजन की दृष्टि से लिखना अ विशेष नहीं हुआ। पुराना उत्साह फिर लौटकर ही नहीं आया। 'भारतवर्ष' के सम्पादक जलधर सेन भी यहां उतनी आसानी से नहीं आ सकते थे, जितनी आसानी से शिवपुर में। चिद्ठियां शरत् बाबू को बहुत परेशान नहीं करती थीं। इसलिए इस काल में कुछ छोटी-मोटी कहानियों के अतिरिक्त तीन उपन्यास ही वे पूरे कर सके। 'श्रीकान्त' तीसरा [1] और चौथा [2] पर्व तथा 'शेष प्रश्न' [3]।

'शेष प्रश्न' भी शेष रचनाओं की तरह नियमित रूप से नहीं लिखा जा सका। लगभग चार वर्ष तक वह अनियमित रूप से छपता रहा। बहुत कड़ा तगादा आने पर एक बार उन्होंने उत्तर दिया -

"मेरे लिखने के बारे में यह जो त्रुटि है इसे आप पन्द्रह वर्ष से देखते आ रहे हैं....इसी तरह अन्त में एक दिन यह पुस्तक पूरी हो जाएगी। [4]

दो और नये उपन्यास उन्होंने इसी काल में शरू किए-'विप्रदास' और 'शेषेर परिचय'। इनमें 'शेषेर परिचय' एक महत्त्वपूर्ण रचना थी, परन्तु दुर्भाग्य से 'जागरण ' की तरह यह भी कभी पूरी नहीं हो सकी। इस समय के उनके दो लेख बहुत प्रसिद्ध हुए, 'साहित्य की रीति और नीति [5] तथा 'तरुणों का विद्रोह [6]। 'षोडशी [7] और रमा [8] ये दो नाटक भी उन्होंने इसी काल में अपने दो उपन्यासों देना-पावना' और पल्ली समाज' के आधार पर तैयार किए ।

इसी समय उनकी प्रसिद्ध कहानी 'बिन्दो का लल्ला' का अंग्रेजी अनुवाद 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ। डा० कानाई गांगुली ने 'श्रीकान्त' (प्रथम पर्व) का अनुवाद इटालवी भाषा में किया। 'बिन्दो का लल्ला' का अनुवाद श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय के पुत्र श्री अशोक चट्टोपाध्याय ने किया था। वे शरत् बाबू के पास आया करते थे। एक दिन अच्छे अनुवादों की चर्चा चल रही थी कि शरत् बाबू ने अशोक से पूछा, "क्या तुम बिना कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए मेरी किसी रचना का अनुवाद कर सकते हो?"

अशोक तुरन्त तैयार हो गए और उसी के परिणामस्वरूप 'बिन्दी का लल्ला' का अनुवाद 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ। [9]

इस काल की रचनाओं में 'शेष प्रश्न' कई कारणों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दिलीपकुमार को एक पत्र लिखते हुए उन्होंने इस उपन्यास की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला है-

मण्टू !

'शेष प्रश्न' पढ़कर तुम खुश हुए हो, यह जानकर बड़ा आनन्द हुआ। क्योंकि खुश होना तो तुम लोगों का नियम नहीं है। 'प्रवर्तक संघ' ने इस साल अक्षय तृतीया पर मुझे फिर नहीं बुलाया। उन्होंने अनुरोध किया था कि इस पुस्तक में अन्त की ओर आश्रम का जयगान करूं। लेकिन स्पष्ट है कि मुझसे वह नहीं हो सका। 'शेष प्रश्न' में आधुनिक साहित्य कैसा होना चाहिए इसी का कुछ आभास देने की चेष्टा की है। 'खूब गर्जन करूंगा, गर्जन करके गन्दी बातें लिखूंगा'-यही मनोभाव अति आधुनिक साहित्य का केन्द्रीय आधार नहीं है। इसीका थोड़ा-सा नमूना-भर दिया है। लेकिन बूढ़ा हो गया हूं। शक्ति, सामर्थ्य पश्चिम की ओर ढल गए हैं अब तुम्हीं लोगों पर इसका दायित्व रहा।.

.....अच्छा, यह तो बताओ कि क्या श्रीअरविन्द बंगला पड़ लेते हैं? 'शेष प्रश्न' देने पर क्या क्रुद्ध होंगे? जानता हूं इन चीजों को पढ़ने के लिए उनके पास समय नहीं है। पढ़ने के लिए कहा जाए तो क्या अपमान समझेंगे? 'प्रवर्तक संघ' क्रुद्ध हो गया है, यही देखकर डर लगता हे। नहीं तो उनके जैसे गम्भीर पंडित की राय जानने से मेरी रचना की धारा शायद कोई दूसरा रास्ता ढूंढती। उपन्यास के माध्यम से मनुष्य को बहुतेरी बातें सुनने के लिए बाध्य किया जा सकता है, इस बात को क्या श्रीअरविन्द स्वीकार नहीं करते? जिसे हलका (रोचक) साहित्य कहते हैं, उसके प्रति क्या वे अत्यन्त उदासीन हैं?.....”

इसके प्रकाशित होते ही उन पर चारों ओर से तीव्र आक्रमण होने लगे। किसी ने कहा, शरतचन्द्र मूर्ख है। किसी ने कहा, 'शेष प्रश्न' क्या सचमुच कोई प्रश्न है? किसी ने उसे 'शेषेर कविता' का अनुकरण बताया तो किसी ने ‘शेषेर कविता' की व्यंगोक्ति। एक आलोचक ने लिखा, "यह गोरा साहब का लड़का है, इसीलिए कमल का चरित्र गोरा की नकल के सिवाय और कुछ नहीं है"

उन लोगों की भी कमी नहीं थी, जो मानते थे कि ऐसी रचनाएं प्रकाशित होती रहीं तो हिन्दू समाज जीवित नहीं रह सकेगा। पत्रों में उनके विरुद्ध लेख ही नहीं निकले, कार्टून भी छपे। आक्रमण की जैसे बाढ़-सी आ गई लेकिन बंगाल की नारी ने 'शेष प्रश्न' को अन्तर्मन से स्वीकार किया।

सुमन्द भवन की श्रीमती सेन ने 'शेष प्रश्न' की आलोचना को लेकर एक विस्तृत पत्र उन्हें लिखा। वे शरत बाबू की प्रशंसक थीं और उनकी कटु आलोचनाओं से बहुत खिन्न हो उठी थीं। उनके पत्र का विस्तार से उत्तर देते हुए शरत बाबू ने लिखा- "हां, 'शेष प्रश्न' को लेकर आन्दोलन की लहर मेरे कानों तक आई है। कम से कम जो अत्यन्त तीव्र और कटु हैं वे कहीं संयोगवश मेरी आखों और कानों में पड़ने से ग्ड न जाएं इसकी ओर मेरे जो अत्यन्त शुभचिंतक हैं, उनकी तेज़ नज़र है। ऐसे लेखों को बडे यत्न से संग्रह करके लाल, नीली,

हरी, बैंगनी अनेक रंगों की पेंसिलों से निशान लगा-लगाकर उन्होंने डाक द्वारा महसूल देकर बड़ी सावधानी से भेज दिया है और बाद को अलग चिट्ठी लिखकर खबर दी है कि मुझ तक पहुंचे या नहीं। उन का आग्रह, क्रोध और सम्वेदन हृदय को स्पर्श करता है।

"खुद तुमने अखबार तो नहीं भेजे किन्तु क्रोध तुम्हें भी कम नहीं आया। समालोचक के चरित्र, रुचि यहां तक कि पारिवारिक संबंध पर भी तुमने कटाक्ष किया है। एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि कड़ी बात कह सकना हीं संसार में कठिन काम नहीं है। मनुष्य का अपमान करने से अपनी मर्यादा को ही सबसे अधिक चोट पहुंचती है। जौ लोग जीवन में यह भूल जाते हैं वे एक बड़ी बात भूल जाते हैं। इसके सिवाय ऐसा भी तो हो सकता है कि 'पथेर दाबी' और 'शेष प्रश्न' उनको सचमुच ही बुरे लगे हों। दुनिया में सभी पुस्तकें सभी के लिए नहीं हैं। कोई ऐसा बंधा हुआ नियम नहीं है कि वे सभी को अच्छी लगें और सभी प्रशंसा करें। हां, बात प्रकट करने का ढंग अच्छा नहीं बन पडा, यह मैं मानता हूं। भाषा अकारण ही रूढ़ और हिंस्त्र हो उठी है, किन्तु यही तो रचनाशैली की बडी साधना है। मन के भीतर क्षोभ और उत्तेजना का यथेष्ट कारण रहने पर भी भले आदमी को असंयत भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए; यह बात बड़े दुख उठाकर मन में बैठानी होती है। अपनी चिट्ठी में तुमने यह भूल उनसे भी अधिक की है। इतनी बड़ी आत्म-अवमानना और नहीं है।

भाव या ढंग से जान पड़ता है, तुमकी कालिज छोड़े अभी थोड़े ही दिन हुए हैं। तुमने लिखा है, कि तुम्हारी सखियों के मन का भी यही भाव है। यदि है तो दुख की बात है। यह मेरा लेख यदि तुम्हारे हाथ में पड़े तो उनको दिखाना। शील स्त्रियों का बड़ा आभूषण है। यह अपनी सम्पत्ति किसी के लिए, किसी बात के लिए भी नहीं छोड़नी चाहिए।

"तुमने जानना चाहा है कि मैं इन बातों का जवाब क्यों नहीं देता? इसका उत्तर यह है कि मेरा जी नहीं चाहता। क्योंकि यह मेरा काम नहीं है। आत्मरक्षा के बहाने मनुष्य का असम्मान करना मुझसे नहीं होता। देखो न, लोग कहते हैं कि मैं पतिताओं का समर्थन करता हूं। समर्थन मैं नहीं करता केवल उनका अपमान करने को ही मेरा मन नहीं चाहता। मैं कहता हूं कि वे भी मनुष्य हैं। उन्हें भी फरियाद करने का अधिकार है और महाकाल के दरबार में इसका विचार एक दिन अवश्य होगा। अथच संस्कारों से अंधे हो रहे लोग इस बात को किसी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते। किन्तु यह मेरी निहायत व्यक्तिगत बातें हैं, और नहीं कहूंगा।

तुमने संकोच के साथ प्रश्न किया है-बहुत लोग कहते हैं कि आपने 'शेष प्रश्न' में एक विशेष मतवाद का प्रचार करने की चेष्टा की है। क्या यह सत्य है?

"सत्य है या नहीं, मैं नहीं कहूंगा। किन्तु 'प्रचार किया है, बुरा किया' कहकर शोर मचा देने से ही जो लोग लज्जा से सिर नीचा कर लेते हैं और नहीं-नहीं' कहकर ऊंचे स्वर से प्रतिवाद करने लगते हैं, उनमें मैं नहीं हूं। अथच उलटे यदि में ही छ कि भला इसमें इतना

बड़ा अपराध हुआ क्या? तो मेरा विश्वास है कि वादी-प्रतिवादी कोई भी उसका सुनिश्चित उत्तर न दे पाएगा।..... उनसे यह बात नहीं कही जा सकती कि जगत का जो चिरस्मरणीय काव्य और साहित्य है, उसमें भी किसी न किसी रूप में यह चीज है। 'रामायण' में है, 'महाभारत' में है, कालिदास के काव्यग्रंथों में है, बंकिम के 'आनन्द मठ' और देवी चौधरानी' में है। इकन, मेटरलिंक, टाल्स्टाय में है.....। किन्त इससे क्या? कला-कला के लिए' नारा यहां पश्चिम से आया है। यह सब उनके नखाग्र में है। कहते हैं कहानी का कहानीपन ही मिट्टी है। कारण, इसमें चित्त का रंजन जो नहीं हुआ है। अरे भाई किसका चित्तरंजन? मेरा, गांव में मुखिया कौन हे, मैं और मेरा मामा।

तुमने चित्तरंजन' शब्द को लेकर बहुत कुछ लिखा है, किन्तु यह एक बार भी सोचकर नहीं देखा कि इसमें दो शब्द हैं। केवल 'रंजन' नहीं, 'चित्त' नाम की भी एक चीज़ है और वह चीज़ बदलती है। चित्तपुर के दफ्तरी खाने में 'गुलबकावली' की जगह है। उस तरफ वह चित्तरंजन का दावा रखती है। किन्तु उस दावे के जोर से बर्नार्ड शा को गाली देने का अधिकार तो नहीं मिल आता।

"अन्त में तुमसे एक बात कहता हूं समाज-संस्कार की कोई दुरभिसंधि मेरी नहीं है। इसी से इस पुस्तक के भीतर मनुष्य के दुख और वेदना का विवरण है। समस्या भी शायद है, किन्तु समाधान नहीं। यह काम दूसरों का है। मैं केवल कहानी लेखक हूं। इसके सिवा और कुछ नहीं।"

राधारानी देवी को लिखा-" 'शेष प्रश्न' तुमकी अच्छा लगा हे, सुनकर बहुत आनन्द हुआ। सोचता था कि जिनको यह पुस्तक अच्छी लगेगी ऐसे व्यक्ति शायद बंगाल में नहीं मिलेंगे। केवल गाली-गलौज ही भाग्य मै होगी। किन्तु देखता हूं भय का इतना बड़ा कारण नहीं है। रेगिस्तान मैं भी बीच-बीच में नखलिस्तान मिलते हैं। कई पत्र पड़े। एक नारी ने लिखा है कि उनके पास यदि यथेष्ट धन होता तो इस पुस्तक को विना मूल्य बाइबिल के समान वितरण करतीं। एक तरफ तो यह बात है, दूसरी तरफ अभी सब छिपा हुआ है। शुरू होने पर उसका पता लगेगा। अति आधुनिक आवारा साहित्य कैसा होना चाहिए, इसका ही उसमें थोड़ा-सा इशारा है बूढ़ा हो गया हूं। शक्ति-सामर्थ पश्चिम कई ओर दूबने का इशारा दिन-रात अपने अन्दर अनुभव करता हूं। इस समय शक्तिमान जो नये साहित्यिक हैं उनके लिए केवल इतना ही कह दिया है। अब यह उनका ही काम है - फूलें- फलें। शोगा-सम्पदा को बड़ा करना यह अब उन्ही का दायित्व है। भाषा पर मेरा सदा ही क्य अधिकार रह, है। शब्द-सम्पदा कितनी साधारण है, यह संवाद किसी और से भले छिपा हो पर तुम लोगों से ष्णि नहीं है। साथ ही कहने स्रे बहुत-सी बातें रह गईं। समय न बीत जाए, इसलिए 'शेष प्रश्न' में कुछ कहने क्तई चेष्टा की है।.

भूपेन्द्रकिशोर रक्षित राय को लिखा –'शेष प्रश्न' उपन्यास तुमकी इतना अच्छा लगा है, जानकर की हुई। इसमें बहुत-से सामाजिक प्रश्नों की आलोचना है, पर समाधान का भार

तुम लोगों पर है। भविष्य की इस कठिन जिम्मेदारी की सम्भावना ने शायद तुम लोगों को आनन्द दिया है, मगर मेरी धारणा है कि यह किताब बहुतों को निराश करेगी। उन्हें किसी भी तरह का आनन्द नहीं मिलेगा। एक तो गल्पांज्ञ बहुत कम हैं। बड़ी तेजी से समय काटना या नींद की खुराक की तरह निश्चित हो आराम से अधमुंदी आखों से आनन्दानुभव करना नहीं हो सका है। इसके अच्छे लगने की बात नहीं। फिर भी यह सोचकर लिखा था कि कुछ लोग समझेंगे और मेरा काम इसी से चल जाएगा। सभी प्रकार के रस सभी के लिए नहीं होते। अधिकारी भेद को मैं मानता हूं।

'और एक बात याद थी कि वह अति आधुनिक साहित्य हे। सोचा था, इस दिशा में एक संकेत छोड जाऊंगा। बूढ़ा हो गया हूं लिखने की शक्ति असंगत प्राय: है। फिर भी सोचता हूं कि आगामी कल के तुम लोगों को शायद इसका आभास मिल जाएगा कि गंदा किए बगैर अच्छा साहित्य भी लिखा जा सकता है। केवल कोमल-पेलव रसानुभूति ही नहीं, बुद्धि के लिए बलकारक भोजन उपलब्ध करना भी अति आधुनिक साहित्य का एक बड़ा काम है। इसके बाद तुम लोग जब लिखोगे तो तुम्हें भी बहुत पढ़ना पड़ेगा, बहुत सोचना पड़ेगा। केवल मनोरंजन के हल्के बोझ को देने से ही छुटकारा नहीं मिलेगा।

ये सब लोग भरत बाबू के भक्त और प्रशंसक थे। उन्हें यह रचना पसन्द आई, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। परन्तु प्रसिद्ध क्रान्तिकारी मानवेन्द्रनाथ राय ने भी इसे जेल में पढ़ा और वे इससे बहुत प्रभावित हुए, यह अवश्य आश्चर्य की बात है। उन्होंने लिखा -

"शेष प्रश्त की तुलना इस युग में सिंक्तलेयर लीविस की पुस्तकों से नहीं हो सकती। किन्तु अनतोले फ्रांस, ज़ोला और इब्सन से इसकी अच्छी तरह तुलना हो सकती है। इसका अभी तक किसी भी विदेशी भाषा में अनुवाद नहीं हुआ। इस पुस्तक का मध्य बिन्दु एक लड़की है, जो सचमुच एक दायोनिमस है। किस प्रकार वह युगान्ता से आदृत सारे बुतों, रिवाजों तथा परम्परा को कुचल देती है और रवीन्द्रनाथ तथा गाँधी के धार्मिक रूप से अनुसरण करनेवाले नौजवान भारत को सबक देती है। जो कुछ भी हो, जो भी शरत् बाबू की दायोनिसीय लड़की को पश्चिम में परिचित करा देगा वह एक भारतीय को फिर से नोबल पुरस्कार दिलाने का मार्ग प्रशस्त कर देगा। विश्वास करो, रवि बाबू मे शरत् बाबू नोबल पुरस्कार के लिए कम हकदार नहीं हैं। वैयक्तिक रूप में मैं 'शेष प्रश्न' को गीताजलि' से बढ़कर समझता हूं। हो सकता है, उच्च साहित्य को कूतने की मेरी योग्यता संदिग्ध हो, किन्तु यह रुचि की बात है। 'शेष प्रश्न' भारतीय पुनर्जीवन की एक क्रोश शिला है। इसने बंगाली रोमांसवाद तथा रहस्यवादी भावाविलता से ग्रस्त तथा स्थिर वातावरण को दूर कर दिया। शरत् बाबू छई अन्य रचनाओं की पात्रियां मुनमुनाती थी, यहां तक कि विद्रोह भी कर बैठती थी, किन्तु अन्त में खुशी से वे सिर झुका देती थी। शरत् बाबू के लिए दो रास्ते थे - एक तो यह कि ते निष्ठुर प्रतिक्रिया की और जाकर नबी पहली पात्रियो का गला घाट देते, किन्तु नहीं, उन्हौंने दूसरे रास्ते का अपनाया। वे क्रमश: आगे बढ़ते गए और अन्त में चलकर

उन्होंने 'दायोनिसीय' कन्या की सृष्टि की। जिसके हाथ में विद्रोह का नहीं, बल्कि क्रान्ति का झण्डा है। हां, यह कृति भी आद वादी है। देश की वर्तमान अवस्था में ऐसा होना अनिवार्य है, किन्तु यह आदर्शवादिता 'कला कला के लिए' दृष्टिकोण से ही है और यह दृष्टिकोण आदर्शवाद का निकृष्टतम रूप है। '

राय महोदय ने ठीक ही लिखा है कि कमल शरत् के नारी पात्रों के क्रमागत विकास की चरम परिणति है। सर्वबन्धन-विमुक्त भारतीय नारी का वह प्रतीक है। यद्यपि वह नारी अभी तक मानसिक ही है, हाड़-मास की नहीं, फिर भी इस पात्र के माध्यम से शरत् बाबू ने नवयुग की झलक का संकेत किया है। 'शेष प्रश्न' वही प्रभाव पैदा करने के लिए उन्होंने लिखा था। चन्दन नगर की गोष्ठी में उन्होंने स्पष्ट कहा था, मेरा कहना है, प्राचीन वस्तुओं को लेकर गर्व करने से बात नहीं बनेगी। नूतन गढ़ डालो। जाति के संबंध में वही है। जाति यदि नहीं रहती तो उससे क्या आता-जाता है। इस प्रकार के लड़के मिलते है जिनके पास वंश-परिचय देने को कुछ नहीं है। वे अपने बल पर बड़े हुए हैं सफल हुए हैं। मेरा तात्पर्य भी वही है। मेरी एक पुस्तक अधूरी पड़ी है ' शेष प्रश्न'। उसमें इसी संबंध में चर्चा की है। आजकल जो कुछ चल रहा है, उसमें उसके बहुत-से पहलुओं पर कटाक्ष किया गया है। पुस्तक अभी तक समाप्त नहीं हुई। लगता है दो-चार दिनों में समाप्त होगी।"

एक और स्थान पर उन्होंने लिखा अन्त तक चलकर ' शेष प्रश्न' में मैं शायद बहुतों को व्यथित करूंगा। फिर भी जो कुछ ठीक है, उसे कहना जरूरी है। इसके बाद जो होगा देखा जाएगा।

'शेष प्रश्न' का विरोध वयोवृद्ध या पुराने विचार के लोगों ने ही नहीं किया, नये लेखकों ने भी इसकी कटु आलोचना की। अन्नदाशंकर राय और प्रबोधकुमार सान्याल दोनों ही शरत् बाबू के प्रशंसक थे। पर 'शेष प्रश्न! पढ़कर वे निराश हुए। प्रबोधकुमार ने सुदेश' में लिखा, 'शरत् बाबू आधुनिक विचार और बुद्धि से बिलकुल परिचित नहीं हैं। प्रगति और मुक्ति का उनका समर्थन झूठा है।

'

' कुछ और लोगों ने कहा कि वह तर्कजाल-मात्र है। कथा-अंश नाममात्र को है। चरित्र बहुत हैं, पर वे सभी रक्त-मांस-हीन हैं। इसमें न साहित्य है और न रस-सौन्दर्य, न भाव-सौष्ठव है। है केवल विकृत यौनभाव-संस्कार। सब कुछ लेखक ही कह डालना चाहता है। पात्रों के प्राणों की वह पुकार इसमें कहां सुनाई देती है जो 'चरित्रहीन' आदि में है?

इस कटु आलोचना के कारण नये लेखकों से उनके संबंध कुछ खिंच-से गए। लेकिन इसमे सन्देह नहीं कि ये आरोप आधारहीन थे। ' शेष प्रश्न' की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह एक विचार-बहुल सायास लेखन है, सहज नहीं। परन्तु तार्किक क्या चुप रह सकता है? अपना स्वर और भी ऊंचा करके वह कह सकता है, "महाशय, यह सब उनके समूचे साहित्य को दृष्टि मे रखकर तुलनात्मक दृष्टि से ही कहा जा रहा है। अगर उन्होंने केवलमात्र

'शेष प्रश्न' ही लिखा होता तो क्या तब भी उनकी ऐसी ही आलोचना होती? क्या वे एक क्रातिकारी लेखक के रूप में रातों -रात प्रसिद्ध नहीं हो जाते? "

तर्क का अन्त नहीं है, लेकिन सब कुछ कहने के बाद यह तो मानना ही पड़ेगा कि ' शेष प्रश्न' का अध्ययन उनके विकास और उनकी क्षमता के आधार पर होना चाहिए। उन्होंने .अपने मित्र कुमुदिनीकांत कर से कहा था, "दस वर्ष बाद बंगाल के घर-घर में कमल जैसी नारियां पैदा हो जाएंगी।

'शेष प्रश्न' एक क्रांतिकारी रचना है या नहीं, इस पर विवाद हो सकता है, लेकिन आश्चर्य यह है कि एक ओर तो शरत् बाबू इस प्रकार की विवादग्रस्त रचनाएं करते थे, दूसरी ओर लगभग उसी अवधि में ऐसी रचनाएं भी उन्होंने कीं जो यथास्थितिवादी विचारधारा का समर्थन करती हैं। ' शेष प्रश्न ' के प्रकाशित होने से पूर्व ही उन्होंने एक और उपन्यास हाथ में लिया था, जो विप्रदास ' के नाम से प्रकाशित हुआ। शेष-प्रश्न में प्राचीन आचार और विचार का जितना विरोध हुआ है, विप्रदास ' उतना ही आचार और संस्कारनिष्ठ है। एक ही काल में एक ही लेखक ने ऐसी परस्पर विरोधी विचारधारा-प्रधान रचनाएं कीं, यह बात बहुतों की समझ में नहीं आएगी। ऐसा लाता है कि लोग शंष प्रश्न' की ध्वंसमूलक नीति को उनके जीवन कीं चरम अनुभूति मानने की भूल न करे, इसीलिए उन्होंने साथ-साथ ही 'विप्रदास' के समान समाजनिष्ठ रचना की सृष्टि की। प्रकट रूप में शरतचन्द्र अपने साहित्य में एक वैज्ञानिक की दृष्टि से समाज की त्रुटियों को देखते थे, समाज संरकार की दृष्टि से नहीं। इसी कारण किसी विशेष मतवाद के प्रति उनका पक्षपात नहीं मालूम होता। ऐसा वे चाहते भी नहीं थे। वे मात्र अन्याय के विरोधी थे। बहुत वर्ष पूर्व जब उन्होंने चरित्रहीन ' का सृजन किया था तब उसके संबंध में उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा था' [10] - .लोगों की जैसी इच्छा हो मेरे संबंध में सोचें। किन्तु 'यमुना ' के संपादक यह विश्वास करते हैं कि 'चरित्रहीन' के द्वारा ही उनके पत्र क्तई श्रीवृद्धि होगी और अनैतिक-नैतिक जो हो लोग खूब आग्रह से उसे पढ़ेंगे। तब उन्हें जो अच्छा लगे करें। फिर भी एक उपाय करना होगा राम की सुमति' के समान सरल-स्पष्ट कहानी साथ-साथ ही लिखकर 'चरित्रहीन' के प्रभाव को कुछ हल्का करना होगा। '

इसलिए यह बात समझ में आ जाती हे कि 'शेष प्रश्न' के प्रभाव को हलका करने के लिए ही उन्होंने 'विप्रदास ' [11] मे की रचना की। विप्रदास' का नामकरण उन्होंने अपने सगे मामा के नाम पर किया। उन्होंने विप्रदास को जैसे वे अपने जीवन में थे ठीक उसी रूप में चित्रित किया हे। वे स्वधर्मपरायण, आचारनिष्ठ, गुरु और देवताओं में भक्ति रखनेवाले थे और तीनों समय संध्या, आहिक और पूजा-पाठ के बिना पानी तक नहीं पीते थे। वे उसी वस्तु को खाने योग्य समझते थे जो देवता के भोग के काम आती है। अखाद्य वे नहीं खाते थे। धर्म का अर्थ उनके लिए केवल सनातन हिन्दू धर्म था और यात्रा का अर्थ था तीर्थयात्रा। संस्कृत भाषा और साहित्य से. उन्हें परम अनुराग था। कालिज में प्रवेश करने से पहले ही

उन्होंने जटिल संस्कृत व्याकरण को अच्छी तरह बस में कर लिया था। अपने इन धर्मनिष्ठ मामा को शरत् अपनी पुस्तकें भेंट करते हुए भी डरते थे। जगद्धात्री पूजा के अवसर पर वे प्रतिवर्ष भागलपुर जाते थे। उस बार गए तो सहसा मामा विप्रदास से भेंट हो गई। उन्हें देखकर वे प्रणाम करने के लिए आगे बड़े। लेकिन जैसे ही वे आगे बड़े मामा पीछे हट गए। बोले, "बस-बस, रहने दे। काफी हो गया। अब और प्रणाम करने की आवश्यकता नहीं।

जो व्यक्ति उस समय वहां उपस्थित थे वे चकित हो आए, लेकिन मामा के चले जाने पर शरत् बाबू ने उनसे कहा, 'कुछ दिन पहले मामा ने मुझसे मेरी पुस्तकें मांगी थीं। भला इन नीतिवागीश मामा को मैं अपनी चरित्रहीन' जैसी पुस्तके कैसे दे सकता हूं। इसीलिए तो यह क्रोध है, प्रणाम तक नहीं लिया। '

विप्रदास' को लेकर कई अपवाद प्रचलित हो गए थे, इनमें एक यह था कि इसकी रचना उन्होंने अधिकारियों के कहने पर की थी। परन्तु यह सत्य नहीं हो सकता। वे कुछ भी कर सकते थे, पर छोटा काम उन्होंने कभी नहीं किया। कलाकार किसी के आदेश पर लिखे इससे 'छोटा काम' और क्या हो सकता है? परन्तु जाने दें ये बातें। कला की दृष्टि से भी इस पुस्तक के संबंध में बहुत मतभेद हैं। 'स्वदेशी ' के जिस टंकार से यह आरम्भ होती है, वह टंकार शीघ्र ही सनातन विधि-निषेधों और अपरिपक्व रोमांस के रेगिस्तान में जाकर खो जाती है। ऐसा लगता है कि इस उपन्यास को लिखते समय उनके सामने मामा विप्रदास ही नहीं, नाते के दूसरे मामा मणीन्द्रनाथ और नाना केदारनाथ की मूर्ति भी रही थी। किसी से उन्होंने कहा भी था कि विप्रदास' में मैंने मणि मामा का ऋणशोध किया है। उनके नाना केदारनाथ भी घोर आदर्शवादी और हिन्दू धर्म के प्रति एकान्त अनुरक्त तथा आस्थावान थे।

'विचित्रा' में प्रकाशित होने से पूर्व उसके कुछ अंश वेणु' में प्रकाशित हुए थे। चेणु युवकों का पत्र था। उसके संपादक भूपेन्द्रकिशोर रक्षित राय शरत् के प्रिय थे। उस पत्रिका के पीछे विप्लवी दल का समर्थन था। बार-बार उस पर सरकार की कोपदृष्टि होती थी। इसीलिए वह चल नही सका और विप्रदास' का प्रकाशन भी बन्द हो गया। पुलिस ने भी उन्हें चेतावनी दे दी थी कि वेणु' में विप्रदास' अब और नही छप सकेगा [12]

शरत् बाबू को इस पत्र से कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता था। उनसे इस संबंध में जब प्रश्न किया गया तो उन्होंने उत्तर दिया -. वेणु' के लोग अपने देश को प्यार करते हें, यही मेरा शल्क है। वे गरीब हैं, वे मुझे क्या देंगे? मुझे ही उन्हें देना चाहिए, लेख ही नहीं, अर्थ भी।

तब यह कल्पना असंगत न होगी कि यदि विप्रदास' वेणु' में प्रकाशित होता रहता तो शायद उसका अन्त संस्कारनिष्ठा के जयघोष में न होता। स्वयं उन पर भी तो इन दिनों सरकार की कोपदृष्टि थी। उनकी रिवाल्वर और राइफल भी ज़ब्त हो गई थी, लेकिन उन्होंने कभी इन बातों की निन्दा नहीं की। 'वेणु' में आन्दोलन के संबंध में भी कहानियां छपती थीं। उन्हीं का एक संग्रह भी निकला था। उसकी भूमिका स्वयं शरतचन्द्र ने लिखी थी' [13] और

जैसा कि हो सकता था वह तुरन्त ज़ब्त कर लिया गया था। लेकिन ज़ब्त होने से पहले ही पुस्तक का पूरा संस्करण बिक चुका था।

जिस समय वे दोनों उपन्यास लिखे जा रहे थे, उसी काल में उन्होंने दो कहानियां भी लिखीं - सती' और 'अनुराधा'। पूर्ण रचना की दृष्टि से 'अनुराधा' उनकी अन्तिम रचना कही जा सकती है। जिस समय यह प्रकाशित हुई [14], उस समय अति आधुनिक साहित्यिकों के देह समर्पण करने वाले प्रेम की बाढ़ आई हुई थी। यह कहानी मानो उस प्रवृत्ति का गुप्त प्रतिवाद है। लेकिन शरत् बाबू ने इस बात को स्वीकार नहीं किया.। इसकी रचना प्रक्रिया की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है - मैंने किसी का प्रतिवाद करने के लिए 'अनुराधा' नहीं लिखी। इसमें नायिका अनुराधा की जो मातृमूर्ति सेवापरायणता और चरित्र के माधुर्य से नायक विजय को मुग्ध कर लेती है, और उसके कारण नायक का चित्त जिस अनुराग के रंग से रंजित होता है, वह तो व्यर्थ मिथ्या नहीं है। वही तो प्रेम है। नारी-चरित्र की इस विभिन्न प्रकार की रसधारा का जो शिल्पी उपभोग नहीं कर पाता अर्थात् नारी के विभिन्न रूपों को जो नहीं पहचानता, उसकी देह को ही सब कुछ मान लेता है, उसकी साहित्य-सृष्टि कभी सार्थक नहीं हो सकती। प्रेम में देह का कोई स्थान नहीं, यह बात नहीं, किन्तु उसका स्थान पेड़ मैं जड़ के समान है, मिट्टी के नीचे।.

'सती' कहानी 'अनुराधा' के कई वर्षपूर्व [15] लिखी गई थी। उसका स्वर व्यंग्यात्मक है। एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व ठीक एक ही वस्तु नही हैं। ' - यह बात साहित्य में स्थान नहीं पाती तो सत्य कहां बचेगा? शरतचन्द्र की यह मान्यता मानो ग्ती' कहानी में मूत हुई है। इस कहानी के लिखे जाने का भी एक इतिहास है। शिवपुर वाले घर में उनके पास एक बहुत बड़ा डेस्क था। उसमें उनकी कई असमाप्त रचनाएं पड़ी थी। शरत् बाबू ने उमाप्रसाद मुकर्जी से कहा, -उन्हें लाकर मेरे पास रख दो। ' उमा बाबू ने वैसा हो किया। उनमें सचमुच कई अधूरी कहानियां थी। उन्हें एक कहानी की आवश्यकता थी। बार-बार वायदा करने पर भी शरत् बादू कुछ लिख नहीं पा रहे थे। उमाप्रसाद ने उन्हीं में से एक सबसे बड़ी अधूरी कहानी लेकर शरत् बाबू से कहा, डस कहानी को पूरा कर दीजिए।

उस अधूरी कहानी को पढ़ते-पढ़ते वे जैसे शून्य में खो गए, मानो समाधिस्थ हो गए हों। कई क्षण बाद दीर्घ नि: श्वास खींचकर वे बोल, इसे मेरे पास रहने दो।

देखता हूं क्या हो सकता है। '

लेकिन जब वह कहानी तैयार हुई तो उस अधूरी कहानी से उसका कोई संबंध नही था।

'श्रीकान्त' (चतुर्थ पर्व), [16] 'विप्रदास' के प्रकाशन से पूर्व समूर्ण हो चुका था। दिलीपकुमार राय ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए एक विस्तृत निबन्ध लिखा था। उसे पढ़कर शरत् बाबू ने कहा,. ..... 'श्रीकान्त' (चतुर्थ पर्व) तुम्हें इतना अच्छा लगा यह जानकर कितनी प्रसन्नता हुई बतला नहीं सक्ता। इसका कारण यह है कि इस पुस्तक को

मैंने सचमुच ही बड़े यत्न से मन लगाकर हृदयवान पाठकों को अच्छा लगने के लिए ही लिखा है। तुम्हारे जैसा एक पाठक ही 'श्रीकान्त' को भाग्य से मिला है, यही मेरे लिए परम आनन्द की बात है। अब दूसरा पाठक नहीं चाहिए। कम से कम, न मिले तो दुख नहीं।"

अपनी इस रचना को वे स्वयं सर्वश्रेष्ठ मानते थे। मतभेद हो सकता है, परन्तु उनका यह सहज विश्वास था। जब कोई व्यक्ति इस संबंध में शंका व्यक्त करता तो वे कह देते, "यह बात तुम बडे होकर समझोगे।" दिलीपकुमार को उन्होंने लिखा [17], "और कुछ भी अच्छा न बना हो पर कम से कम असंगत होकर उछृखलता का स्वरूप प्रकट नहीं कर बैठा हूं..... "

'श्रीकान्त' (चतुर्थ पर्व) की रचना की कहानी बहुत विचित्र है। यदि इसके पीछे किसी का आग्रह न होता तो शायद वह इसकी रचना न कर पाते। वह 'विचित्रा' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। इस पत्रिका के सम्पादक थे मामा उपेन्द्रनाथ। कई वर्ष पूर्व एक दिन वे शरत्चन्द्र से एक उपन्यास मांगने के लिए आए थे। उस दिन उन्हें निराश होकर लौट जाना पड़ा था। इस मनोमालिन्य के पीछे एक पूरा इतिहास है। हावड़ा डिस्ट्रिक्ट कांग्रेस कमेटी के प्रधान होने के नाते वहां की म्युनिसिपल कमेटी के चुनाव में उनका भी एक पक्ष रहता था। ऐसे ही एक अवसर पर वे जिस पक्ष की सहायता कर रहे थे, उसके विरोध में नित्यधन मुकर्जी नाम के एक सज्जन थे। इन्हीं नित्यधन के परम मित्र थे योगीन्द्रनाथ मुकर्जी, जो उपेन्द्रनाथ के समधी थे।

इस प्रकार अनायास ही ये नातेदार दो दलों में बंट गए। ऐसे अवसरों पर उन लोगों की बन आती है, जो फूट डालने का काम किया करते हैं। इन्हीं लोगों में एक ऐसा व्यक्ति भी था, जिस पर योगीन्द्रनाथ के एहसान थे। वह शरत् बाबू के पास आकर उनके कान भरने लगा। कहता कि वह प्रतिदिन शाम को योगीन्द्रनाथ के घर पर भोजन करता है और उस समय उनकी पुत्रवधू शरत् बाबू की बड़ी निन्दा करती है।

यह पुत्रवधू उपेन्द्रनाथ की लड़की थी और शरत् की ममेरी बहन लगती थी। बार-बार यह कथा सुनते-सुनते शरत्चन्द्र का मन योगीन्द्रनाथ के परिवार के प्रति विमुख हो उठा। ऐसा होना नहीं चाहिए था, परन्तु यह बात भी सच थी कि शरत् के प्रति मामा लोगों का व्यवहार कभी सहज नहीं रहा। केवल सुरेन्द्रनाथ ही उनके मित्र थे। एक ही क्षेत्र में होने के कारण उपेन्द्रनाथ से भी मिलना-जुलना होता रहता था, पर वैसी अनुरक्ति नहीं थी, इसलिए शरत् बाबू को यह बात मानने में बहुत कठिनाई नहीं हुई कि उपेन्द्रनाथ की लड़की उनकी निन्दा कर सकती है।

पांच वर्ष बाद [18] अचानक यह रहस्य खुला कि शरत् बाबू के कान भरनेवाले सज्जन कभी भी योगिन्द्रनाथ के घर खाना खाने नहीं गए और उन्होंने शरत् बाबू से जो कुछ कहा था. वह सब झूठ था। यह जानकर उन्हें बड़ी वेदना हुई और वे उपेन्द्रनाथ से मिलने के लिए छटपटाने लगे। एक दिन सहसा उन्होंने उपेन्द्रनाथ को फोन किया। संध्या के साढ़े सात बजे

थे। दफ्तर बन्द हो चुका था। केवल उपेन्द्रनाथ और परिचालक सुशीलकुमार ही दफ्तर में बैठे हुए थे। टेलीफोन की घंटी बज उठी। रिसीवर उठाकर उपेन्द्रनाथ ने कहा, "हलो!".

उधर से आवाज आई, चपीन है क्या?"

स्वर परिचित था और पांच-छ: वर्ष के बाद सुनाई दिया था। उपेन्द्रनाथ ने तुरन्त कहा, 'मैं बोल रहा हूं, कैसे हो शरत्?"

“जैसा रहता हूं, वैसा ही हूं। तुम्हारे पत्र की अवस्था क्या बहुत खराब है? "

"किस दृष्टि से पूछते हो?"

“आर्थिक दृष्टि से।"

वह ज़रा टेढ़ी बात है। बहुत खराब है कि नहीं, एकदम नहीं कहा जा सकता। लेकिन तब भी बहुत अच्छी नहीं है।"

"मेरा लेख मिलने पर तुम्हें सुविधा होगी?.

"होनी तो चाहिए।'

चाहते हो!'

स्वयं शरत् के मुख से यह बात सुनकर उपेन्द्रनाथ का मन एकदम उल्लास और अभिमान से भर आया। सुशील भी शरत् का नाम सुनकर उत्सुक हो उठे थे। जब उपेन्द्रनाथ ने बताया कि शरत् लेख देने के लिए कहते हैं, क्या तुम लोगे? तो उनका मुख हर्ष से खिल उठा। बोले, डसमें पूछने की क्या बात है? निश्चय ही लेंगे। '

दोनों जानते थे कि शरत् का लेख छपने पर विचित्रा' की लोकप्रियता बढ़ जाएगी। पाठक और ग्राहक दोनों ही शरत् को चाहते हैं, इसलिए व्यक्तिगत मान-अपमान का कोई प्रझ नहीं है। उपेन्द्रनाथ ने शरत् से कहा, चाहते हैं या नहीं, यह क्यों पूछो हो शरत्? मैं तो चाहने के लिए ही गया था। तुमने ही लौटा दिया था। '

इस शिकायत और अभिमान का कोई उत्तर न देकर शरत् ने कहा, 'दफ्तर में कितनी देर हो?'

"क्या तुम आ रहे हो?'

पस, बीसेक मिनट में पहुंच रहा हूं।"

लेकिन आठ मिनट बीतते न बीतते शरत् बाबू ने हंसते हुए उपेन्द्रनाथ के कमरे में प्रवेश किया। फिर तो ऐसे बातें होने लगी, जैसे कभी भी उनके बीच में झगड़ा नहीं हुआ हो। किसी ने भी पुरानी बात का कभी भी संकेत नहीं किया। इसलिए शिकायत, कैफियत और माफी मांगने की कोई बात ही पैदा नहीं हुई। दो-चार मिनट इधर-उधर की बात करने पर असली बात उठी। शरत् ने पूछा, चुझसे क्या चाहते हो?'

उपेन्द्रनाथ ने कहा, 'निश्चय ही उपन्यास।.

शरत् वाबू बोले, उपन्यास तो निश्चय ही, पर किस विषय का उपन्यास?.

उपेन्द्रनाथ इसी बीच में मन ही मन निर्णय कर चुके थे। तुरन्त बोले, "श्रीकान्त' चौथा पर्व। ' विस्मित स्वर में शरत् ने कहा, 'क्या चाहते हो? 'श्रीकान्त' चौथा पर्व; तीन पर्वों के बाद चौथा पर्व पढ़ने का धैर्य क्या पाठकों को होगा?'

उपेन्द्रनाथ बोले, निश्चय ही होगा। 'श्रीकान्त' के तीसरे पर्व के अन्त में तुमने राजलक्ष्मी को काशीधाम में सद्गुरु के हाथ में सौंपकर उसकी कहानी पर हमेशा के लिए यवनिका डाल दी। इसके बाद अब राजलक्ष्मी और श्रीकान्त को रांगामाटी से वापस लाकर फिर से कहानी आरम्भ करने से पाठकों का धैर्य खत्म हो जाएगा, यह कहना कठिन है। किन्तु जिस अभया के ज़ोरदार आमन्त्रण के कारण श्रीकान्त आग्रह के साथ रंगून जाने के लिए तैयार हुआ था, उस अभया को तुमने ऐसे ही छोडू दिया, पुकित-पल्लवित नहीं किया? लेकिन उस अवस्था में ही तुमने अभया का जो परिचय दिया है, उसके फल होकर पुष्पित होने की कहानी यदि लिखो तो निश्चय ही अपूर्व होगी। केवल विचित्रा' के पाठक ही नहीं, गौडजन भी उससे आनन्द उठायेंगे।'

सुशील ने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया। शरत्चन्द्र सहमत हो गये। 'विचित्रा' की अगली संख्या में यह विज्ञापन प्रकाशित हुआ कि माघ मास की संख्या से "विचित्रा' में धारावाहिक रूप से 'श्रीकान्त' का चौथा पर्व प्रकाशित होगा और उसमें अभया के सौरभ से सुगन्धित 'श्रीकान्त' के पाठकों का मन विभोर हो उठेगा।

विज्ञापन के अनुसार 'विचित्रा' में 'श्रीकान्त' का चौथा पर्व प्रकाशित होना भी शुरू हो गया लेकिन आरम्भ से ही उसमें अभया का कहीं कुछ पता नहीं लगा। कहानी आरम्भ हुई, कवि गौहर और वैष्णवी कमललता का लैकर। शरत् का मन बदल गया और अभया की कहानी हमेशा कं लिए अधूरी रह गई। शायद इसलिए भी कि ये दोनों चरित्र पूर्ण रूप से काल्पनिक नहीं है। दोनों से उसका प्रत्यक्ष परिचय रहा है। अभिज्ञता के इस मोह ने ही अभया तक पहुंचने के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। लेकिन स्वयं अभया का चरित्र भी तो काल्पनिक नहीं है। मिस्त्री की एक स्त्री से बर्मा में उनका परिचय हुआ था। पति से बुरी तरह सताई जाकर भी वह उसके जीते-जी प्रेमी के पास नहीं गई। उसके मरने पर ही वे दोनों एक हो सके थे। थोड़े-से परिवर्तन के साथ इस घटना के आधार पर अभया का जन्म हुआ, लेकिन यह थोड़ा-सा परिवर्तन महत्त्व की दृष्टि से कितना बड़ा है! उसने जीते-जी अत्याचारी पति को छोड़ने का साहस किया। मिस्त्री के अत्याचारों को आखों से देखकर शरत् बाबू को लगा यदि ऐसे पति को नारी छोडू देती है तो कोई पाप नहीं करती।

उनके साहित्यिक चरित्रों में हम उनके जीवन में आये वास्तविक व्यक्तियों की खोज करते हें खोज करने पर बहुत कुछ मिल भी सकता है, पर साहित्य में आते-जाते जैसे मिस्त्री की पत्नी अभया बन गई वैसे औरों के साथ भी तो हुआ, इसलिए 'श्रीकान्त' शरत् होकर भी शरत् नहीं है। कृतिकार की जादू- भरी लेखनी का परस पाकर वह इतना परिवर्तित हो गया है कि कुछ का कुछ हो गया। अभया को लेकर पांचवां पर्व लिखने का विचार उनके मन में

अब भी था। दिलीपकुमार को उन्होंने लिखा [19] 'श्रीकान्त' का पांचवां पर्व लिखकर समाप्त कर दूंगा - अभया आदि के संबंध में। और यदि तुम लोग कहते हो कि चौथा पर्व अच्छा नहीं हुआ तो बस रथ यहीं रुका.....। '

लेकिन चिर आलस्य के कारण दिलीपकुमार के चौथे पर्व की प्रशंसा करने पर भी रथ आगे नहीं बढ़ सका।

इन्हीं दिनो [20] ' उनके निबन्धों का संग्रह 'सुदेश और साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुआ। पिछले अनेक वर्षों में उन्होंने जो लेख लिखे थे या भाषण दिये थे उन्हीं का यह संकलन था। इसके दो भाग थे-'सुदेश' विभाग में राजनीतिक लेख थे और 'साहित्य' विभाग में वे लेख थे, जिनका संबंध साहित्य से था। यह संग्रह इसलिए अधिक उल्लेखनीय है कि इसका सर्वस्व उन्होंने आर्य पब्लिशिंग कम्पनी के स्वत्वाधिकारी श्री अश्विनीकुमार बर्मन को दान कर दिया था। अश्विनीकुमार स्वतंत्रता-संग्राम के एक सेनानी थे। जेल हो आये थे। इस समय उनकी संस्था आर्थिक संकट में से गुजर रही थी। पूंजी के अभाव में लेखकों को धन देकर उनसे पुस्तकें लेना सम्भव नहीं था। उसी की सहायता करने के उद्देश्य से उन्होंने ऐसा किया। 'सुदेश और साहित्य' के अतिरिक्त 'तरुणों का विद्रोह' प्रकाशित करने का अधिकार भी उन्होंने इसी संस्था को दे दिया। इस संग्रह में चत्य और मिध्या 'प्रबन्ध भी संगृहीत है। [21]

इन निबन्धों से यह सहज रूप से प्रमाणित हो जाता है कि भले ही उनके पास कोई सुस्पष्ट दर्शन न हो, लेकिन चिन्तनशीलता का अभाव उनमें नहीं था। प्रबन्ध के रूप में अपनी बात कहना त्रन्हें आता था। इसी प्रकार की अनेक रचनाएं हैं जो उनकी मृत्यु के बाद संकलित हुई। उनमें सुद्रेर गाव! [22] जैसी रम्य रचना और 'आमार आशय' [23] जैसी रम्य कथा भी थी। ये माधुर्य-मण्डित रचनाएं उनके कवि मन का परिचय देती हैं।

---

1. 18 अप्रैल, 1927 ई०
2. मार्च, 1933 ई०
3. 2 मई, 1931 ई०
4. 30 सितम्बर, 1928 ई०
5. 18 अप्रैल, 1929 ई०
6. 13 अगस्त, 1927 ई०
7. 4 अगस्त, 1928 ई०
8. बंगवाणी, आश्विन, 1334 सितम्बर-अक्टूबर 1927 ई०)
9. फरवरी-जून, 1927 ई०

10. प्रमथनाथ भट्ट, डाक मोहर 24 मई, 1913 ई०

11. पुस्तक रूप में 1 फरवरी, 1935 ई० को प्रकशित

12. सन् 1932 ई०

13. दिसम्बर, 1929 ई०

14. 1934 ई०। इसी वर्ष 'अनुराधा, सती और परेश संग्रह में यह संकलित हुई 18 मार्च, 1934 ई०। 'परेश' शरतेर। फूल के पूजा वार्षिकी में छपी थी, बंगाब्द भाद्र, 1332 में।

15. आषाढ़, 1934 (जून 1927 ई०)

16. 13 मार्च, 1933 ई०

17. 19 मई, 1933 ई०

18. दिसम्बर, 1931 ई०

19. 19 मई, 1933 ई०

20. अगस्त, 1932 ई०

21. 23 अगस्त, 1932 ई०

22. 'यमुना', माघ, 1920 (जनवरी, 1914 ई०)

23. भारतवर्ष' ज्येष्ठ 1324 (मई जून, 1917 ई०)

16

किशोरावस्था में शरत् बात् ने अनेक नाटकों में अभिनय करके प्रशंसा पाई थी। उस समय जनता को नाटक देखने का बहुत शौक था, लेकिन भले घरों के लड़के मंच पर आयें, यह कोई स्वीकार करना नहीं चाहता था। शरत बाबू थे जन्मजात विद्रोही. इसलिए वे बराबर अभिनय में रुचि लेते रहै। कलकत्ता और फिर बर्मा जाकर भी उनका यह शौक किसी न किसी रूप में जीवित रहा। रंगन में उन्होंने बिल्वमंगल थियेटर की स्थापना का प्रयत्न किया था, परन्तु गायिका विधुबाला की अकस्मात् मृत्यु से इस थियेटर की भूण हत्या हो गई। [1] अभिनय में इतनी रुचि रहने पर उन जैसे कृतिकार के लिए यह स्वाभाविक था कि उनके मन में स्वयं नाटक लिखने की लालसा जागती।

जिस समय वे अप्रसिद्धि के अधकार है बाहर आए उस समय उन्होने अपने परम मित्र प्रमथनाथ को एक पत्र लिखा था मैंने भी एक नाटक लिखने का निश्चय किया है। यदि अच्छा हो तो क्या उसका किसी थियेटर में अभिनय हो सकता है।" [2]

लेकिन ऐसा लगता है कि यह मात्र प्रस्ताव होकर ही रह गया। वे नाटक नहीं लिख पाये। फिर धीरे- धीरे इस ओर से उनका मन हटता गया। लगभग 15 वर्ष बाद जब उनके प्रशंसकों ने उनके उपन्यासों के आधार पर नाटक लिखने की बात उठाई, कुछ ने ऐसा करने का प्रयत्न भी किया तो उनका ध्यान फिर से इस ओर आकर्षित हुआ। श्री अक्षयचन्द्र सरकार को इस संबंध में उन्होंने एक पत्र में लिखा म्पेरे उपन्यासों को नाटक बनाकर अभिनय करने के संबंध में साधारण नियम इतना ही है कि वह नाटक छपाया न जा सकेगा और कोई व्यापारी थियेटर वाला उससे अर्थोपार्जन नहीं कर सकेगा। यदि यह न हो तो शौक से अभिनय करने और उसके लिए टिकट बेचने में मेरी कोई मनाही नहीं है।" [3]

किन्हीं सज्जन ने 'दत्ता' उपन्यास के आधार पर एक नाटक तैयार भी किया था। शरत् बाबू ने स्वयं उसमें संशोधन किये और उसका नाम रखा 'विजया'। वे मानते थे कि नाटक बनाने के लिए उपन्यास की कथा को नया रूप देना होगा और यह काम उनके अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। लेकिन यह नाटक आसानी से नहीं लिखा जा सका था। उनके प्रकाशक हरिदास चट्टोपाध्याय जब उनसे निराश हो गये तो उन्होंने किसी और व्यक्ति से उसे लिखा लेना चाहा। शरत् बाबू ने जवाब दिया, -आप उसे दूसरे से लिखा लेना चाहते हैं, लेकिन क्या वह मुझसे जल्दी कर सकेगा? अनेक असुविधाएं उसे होंगी। बीच में लेखक के स्वयं न रहने से उनका दूर होना कठिन ही समझता हूं। और अभिनय की दृष्टि से भी वह बहुत अच्छा होगा, उसकी भी आशा नहीं रखता। मेरा अपना लिखा होने से वह बाधा नहीं

रहती औग् मैं भी एक नाटक 'विजया' नाम से प्रकाशित कर सकता। दूसरे का लिखा होने से तो नहीं कर सकूंगा।.....

जथम अंक प्रबोध गुह देखने को ले गये थे, सो दिया ही नहीं। कापी थी, उसको अभिनयोपयोगी करके लिखना आरम्भ किया था कि इसी समय विस्म आ पड़ा। पर विलम्ब होने से अर्थात् 'विजया' की आशा में) बहुत क्षति होगी। व्यर्थ ही अभिनेताओं को वेतन देना पड रहा है। इस हालत में क्या करूं कुछ, समझ में नहीं आता। पर एक तरह से पूरी पुस्तक तैयार है। केवल थोड़ा-बहुत रही-बदल और थोड़ा-सा लिखकर कापी करवानी है। अगर इस बीच मे अच्छा हो गया तो अवश्य ही कर डालूंगा। कुछ दिन पहले आपने यह फैसला किया होता तो कुछ बात ही नहीं थी।.....

चुनत्व:- देखने के लिए पहले हिस्से को तुलू के हाथ भेज रहा हूं। इसे देखकर अगर समझें कि बाकी हिस्से को आप लिखा सकेंगे तो मुझे जताना। [4]

शरत् बाबू नाटक नहीं लिख सके, लेकिन अपनी अक्षमता को स्वीकार करते हुए भी उनके मन में विश्वास था कि वे लिख सकते हैं। यह विश्वास पशुपति चट्टोपाध्याय को लिखे एक पत्र में प्रकट हुआ है:

'नाटक शायद मैं लिख सक्ता हू। कारण, नाटक की जो अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, उस कथोप थन को लिखने का अभ्यास मुझे है। बात कैसे कहनी चाहिए, कितनी सरल बनाकर कहने से वह मन पर गहरा असर करती है, इस कौशल को नहीं जानता, ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त अगर चरित्र या घटना-निर्माण की बात कहते हो तो उसे भी कर सकता हूं ऐसा मुझे विश्वास है। नाटक में घटना या सिचुएशन तैयार करनी पडती है, चरित्र-सृजन के लिए ही। चरित्र- सृजन दो तरह से हा सकता है, एक है, प्रकाश अर्थात् पात्र-पात्री जो है उसी को घटना-परम्परा की सहायता से दर्शकों के समुख उपस्थित करना और दूसरा है चरित्र का विकास, अर्थात् घटना-परम्परा के अन्दर से उसके जीवन में परिवर्तन दिखाना। यह अच्छाई की ओर हो सकता है और बुराई की ओर भी। मान लो कोई आदमी बीस साल पहले विल्सन होटल में खाना खाता था झूठ, बोलता था और दूसरे बुरे काम भी करता था। आज वह धार्मिक वैष्णव है, बंकिमचन्द्र के शब्दों में पत्तल पर मछली का रस गिर जाता है तो उसे हाथ से पोंछ देता है। फिर भी हो सकता है कि यह उसका दिखावटीपन न हो. सच्चा आन्तरिक परिवर्तन हो। कुछ घटनाओं के कारण या 1०-५ भले आदमियों के सम्पर्क में आकर, उनसे प्रभावित होकर वह सचमुच ही बदल गया हो। अतएव वह बीस वर्ष पहले जो था वह भी सत्य है और आज जो हो गया है वह भी सत्य है। नाटक में इसी को रचना के अन्दर से पाठक या दर्शक के सम्मुख ऐसे उपस्थित करना होगा कि यथार्थ दिखाई दे। उन्हें ऐसा नहीं लगना चाहिए कि रचना में इस परिवर्तन का कारण कहीं ढूंढने पर भी नहीं मिलता। काम कठिन है।

'और एक बात। उपन्यास की तरह नाटक में लचीलापन नहीं है। उसे एक निश्चित समय के बाद आगे नहीं बढ़ने दिया जा सकता। एक के बाद दूसरी घटना को सजाकर नाटक को दृ श्यों या अंकों में विभाजित करना, वह भी चेष्टा करने पर शायद दुस्साध्य नहीं [5]

उन्होंने कहा, थियेटर केवल आनन्द के लिए ही नहीं है, लोक-शिक्षण का कार्य भी करता है। लेकिन अगर देश के नाट्यकारों ने इस सत्य को प्रतिपादित करते हुए कभी ऐसा नाटक लिखा है तो वह फौरन ही शान्ति-रक्षा के नाम पर आईन की आड़ में राज्य सरकार द्वारा ज्ज्ञ कर लिया गया है। इसी कारण सत्य से वंचित हमारी नाट्यशाला आज देश के सामने ऐसी लज्जित व्यर्थ और अर्थहीन है।'

संभवत: इसी कारण उन्होंने नाटक लिखने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। केवल दत्ता '. पल्ली समाज' और देना-पावना' इन तीन उपन्यासों के नाट्य-रूप तैयार किये। षोडशी' देना- पावना' का रूपान्तर है। इसका प्रथम प्रारूप कवि शिवराम चक्रवर्ती ने तैयार किया था। अन्तिम रूप दिया स्वयं शरत् बाबू ने। भारती' में वह इन्हीं के नाम है प्रकाशित हुआ। और पारिश्रमिक रूप में तीन सौ रुपये मिले। उसमें से सौ रुपये उन्होंने शिवराम चक्रवर्ती को दे दिये।

नाट्य मंदिर के रगमंच पर षोडशी' का निर्देशन उस समय के सुप्रसिद्ध निर्देशक श्री शिशिर भादुड़ी ने किया' [6]। मुख्य पात्रों की भूमिका में जीवानंद के रूप में स्वयं शिशिर भादुडी मंच पर आये। षोडशी' का अभिनय अभिनेत्री चारुबाला, राय साहब का योगेश बाबू और सागर सरदार का मनोरंजन भट्टाचार्य ने किया। शिशिर और. चारु का अभिनय शरतचन्द्र को बहुत पसन्द आया। मित्रों से उन्होंने उसकी बार-बार प्रशंसा की है। लेकिन उन्हें इस बात का सदा दुख रहा कि अपनी इच्छा के विरुद्ध. शिशिर बाबू के कहने पर उन्हें नाटक को दुखान्त बनाना पड़ा। उपन्यास में कहानी का अन्त सुखद है। नाटक में जीवानन्द को मारने की सार्थकता वे कभी स्वीकार नही कर सके। षोडशी' का सन्देश उसके जीवित रहने में जिस प्रकार सार्थक होता है उस प्रकार मरने में नहीं। उन्होंने इस सबंध में शिशिर को एक पत्र भी लिखना श्1रू किया था। लेकिन फिर उसे पूरा नहीं किया। क्योंकि वे जान गये थे कि थियेटर के सभी लोग एक जैस हैं मैं ' सस्ते देमैटिक इफैक्ट' र्का चिन्ता है।

यह नाटक एक और कारण से महत्त्वपूर्ण है। कई बार कविगुरु रवीन्द्रनाथ से उनका मने?गां◌ाrलनग् हुआ। उसके अनेक कारणों में एक कारण यह नाटक भी रहा है। नाटक में गीतों की आवश्यकता होती है। 'षोडशी ' के लिए गीत लिख देने की प्रार्थना उन्होंने कविगुरु से की थी, परन्तु व्यस्तता के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। असमर्थता प्रकट की। शरत् बाबू इस कारण को स्वीकार नहीं कर सके। बहुत पहले से मन के किसी कोने में यह बात बैठ गई थी कि रवीन्द्रनाथ जान-बूझकर उनकी उपेक्षा करते हैं। फिर भी मान-अभिमान की

चिन्ता न करते हुए जब 'षोडशी' [7] का प्रकाशन हुआ तब उसकी एक प्रति उन्होंने गुरुदेव को भेजी और चाहा कि वे अपनी सम्मति दें।

नाटक पढ़कर कविगुरु ने लिखा, तुम्हारी 'षोडशी' मिली। बंगला साहित्य में नाटक जैसे नाटक नहीं हैं। अगर मुझमें नाटक लिखने की शक्ति होती तो मैं कोशिश करता। क्योंकि नाटक साहित्य का एक श्रेष्ठ अंग है। मेरा विश्वास है कि तुममें नाटक लिखने की शक्ति है। भीतर की प्रकृति औरँ बाहर की आकृति में दोनों जब सचमुच मिलते हैं तभी चरित्र-चित्रण सुन्दर होता है। मेरा विश्वास है कि यदि तुम्हारी कलम ठीक तरह से चले और रूप के साथ भाव का ताल-मेल बैठा सके तो तुम बहुत कुछ कर सकते हो, क्योंकि तुममें देखने की शक्ति है। चिन्तनशील मनु है। इसके अतिरिक्त देश के लोक-चरित्र के संबंध में तुम्हारी अभिज्ञता का क्षेत्र बहुत बड़ा है। लेकिन तुम यदि वर्तमान के दावे और जनसमूह की अभिरुचि को नहीं भूल पाते तो तुम्हारी इस शक्ति में व्यवधान पड़ेगा। जो सचमुच बड़ा साहित्य है, उसका परिप्रेक्ष्य दूरव्यापी है। जो उसके साथ तालमेल बैठा सकता है, वही साहित्य टिक सकता है। पर जब आसपास के लोगों का शोर दीवार बनकर संकीर्ण परिवेश में उसको अवरुद्ध करता है, तब वह कुण्ठित और असत्य हो जाता है।

"षोडशी' में तुमने वर्तमान काल को प्रसन्न करना चाहा है। उसका मूल्य भी पाया है, लेकिन अपनी शक्ति के गौरव को खूब कुण्ठित किया है। जिस 'षोडशी' का निर्माण किया है, वह इस काल की फरमायश है। मन से गढ़ी हुई वस्तु है। वह अन्तर और बाहर का सत्य नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि इस प्रकार की भैरवी नहीं हो सकती। किन्तु होने पर जिस भाषा और जिस ढांचे के बीच में उसका निर्माण होता, वह आजकल के अखबार पड़े हुए सेहरों में नहीं मिलती है। जिस कहानी में हमारे गांव की सच्ची भैरवी आत्म-प्रकाश कर पाती, वह यह कहानी नहीं है। सर्जक के रूप में तुम्हारा कर्त्तव्य था कि इस भैरवी को एकान्त सत्य बना देते। लोकरंजन के लिए आधुनिक काल की चलती भादूकता से पूर्ण कहानी की रचना नहीं करनी थी। जानता हूं मेरी बात से तुम्हें गुस्सा आएगा। किन्तु तुम्हारी प्रतिभा में मुझे श्रद्धा है, तभी सरल मन से अपनी राय दे रहा हूं। नहीं तो कोई आवश्यकता नहीं थी। तुम साहित्य के बड़े साधक स्:ाए। इन्द्र यदि सामान्य प्रलोभन से तुम्हारा तपोभग करते है, तो वह नुकसान साहित्य का है। तुम वर्तमान से मूल्य प्राप्त करके खुश हो सकते हो, किन्तु शाश्वत काल के लिए क्या दे जाओगे? " [8]

शरत् बाबू गुरुदेव की इस धारणा से सहमत नहीं हो सके। अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुए उन्होंने एक लम्बा पत्र लिखा। यद्यपि इस पत्र में आवेश और उफान नहीं है, फिर भी इतना तो म्पष्ट है कि गुरुदेव की बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने लिखा, चह नाटक मेरे एक उपन्यास को लेकर लिखा गया है। इसलिए उपन्यास में जितनी बात कह पाया, चरित्र-चित्रण के लिए जितनी घटनाओं का समावेश कर पाया, नाटक में उतना नहीं कर सका। काल की दृष्टि म नाटक का परिसर विस्तार) छोटा है। व्याप्ति की दृष्टि से भी इसका स्थान

संकीर्ण है। यह बात लिखते समय, मैंने भी बार नार अनभव की थी। यह ठीक नहीं हुआ। फिर उपन्यास जब इसका आधार है, तब ठीक किस प्रकार यह हो सकता -यह नहीं सोच सका। सोचता हूं, उपन्यास से नाटक तैयार करने पर एस दी होता है। एक ओर काम आसान हो जाता है, दूसरी अरि गलती भों बहुत होती है।।सा ही हुअ' है।

"एक और कारण है, इस जीवन में नाना अवस्थाओं से गुजरने पर आखों में बहुत सी वस्तुएं आती हैं। आपने इसी को इस देश के लोक-चरित्र के संबंध में मेरी अभिज्ञता कहा हे। किन्तु बहुत कुछ देखना और जानना साहित्य के लिए अच्छा है या नहीं, इस विषय में मुझे संदेह है। अभिड़ाता केवल शक्ति ही नहीं देती, उसका हरण भी करती है एवं सांसारिक सत्य साहित्य का सत्य नहीं भी हो सक्ता। जान पड़ता है यह पुस्तक उसका उदाहरण है। इसको मैंने एक ऐसी घटना के आधार पर लिखा है, जिसको मैं घनिष्ठता से जानता हूं। यह ज्ञान ही मेरी मुसीबत हो गया है। लिखते समय कदम-कदम पर जिरह करके उसने मेरी कल्पना के आनन्द और गति में बाधा ही नहीं दी उन्हें विकृत भी किया है। सत्य के साथ कल्पना को मिश्रित करने पर, लगता है, ऐसा ही होता है। दुनिया में अचानक या सचमुच जो कुछ होता है, उसको उसी रूप में लिखना इतिहास हो सकता हे, साहित्य नहीं हो सक्ता। किन्तु सत्य के साथ कल्पना मिलाकर मेरी 'षोडशी' का जन्म हुआ हे। इस उपाय से साधारण जनता से तो बहुत आदर पाया है, किन्तु आपसे मूल्य नहीं पा सका।

".....आपने ठीक-ठीक क्या कहा, वह मैं नहीं समझ सका। आपने परिप्रेक्ष्य का उल्लेख किया हे। छवि आंकते समय इतनी दूर से बड़ी वस्तु छोटी, गोल वस्तु चपटी, ठिगनी वस्तु लम्बी और सीधी वस्तु बांकी दिखाई देती है। इतनी दूर कौन-से स्थान में वस्तु के आकार-प्रकार में कैसा और कितना परिवर्तन होगा, उसका एक बंधा हुआ नियम है। केमरा जैसे यन्त्र को भी उस नियम से छुट्टी नहीं मिलती, परन्तु साहित्य का तो ऐसा कोई बंधा हुआ नियम नहीं हे। यह सब लेखक की रुचि और विचार बुद्धि पर निर्भर करता है। अपने-आपको कहां और कितनी दूर खड़ा करना होगा, इसका कोई निर्देश पाने का रास्ता नहीं है। इसलिए मूर्ति का परिप्रेक्षित और साहित्य का परिप्रेक्षित कथा की दृष्टि से एक होने पर भी कार्य की दृष्टि से एक नहीं है। इसके अतिरिक्त साहित्य में वर्तमान काल जितना बड़ा सत्य है, भविष्य किसी भी तरह ठीक उतना बड़ा सत्य नहीं है। नर-नारियों का जो एकनिष्ठ प्रेम हे, उसको लेकर इतने समय से इतने काव्य लिखे गए, मनुष्य ने इतनी तृप्ति पाई है, आंखों का इतना जल बहाया है, वह भी हो सकता है, एक दिन हंसी का व्यापार हो जाएगा। अन्तत: यह असंभव नहीं है किन्तु ऐसा होने पर भी आज तो कल्पना में भी उसको ग्रहण नहीं क्मिा जा सकता.....।

"त्रामायण में राम-रावण के युद्ध के ब्यौरे ने बहुत जगह ली है। राक्षस और बन्दरों ने मिलकर किस प्रकार की लड़ाई की, किसने कौन-सा अस्त्र मारा, इस संबंध में कितने ही नाम तथा कितने ही प्रकार के वर्णन आते हैं। किसका हाथ किसका पैर और किसका गला

कट गया, यह भी उपेक्षित नहीं हुआ है। युद्धक्षेत्र में यह ब्यौरा न तो छोटा है, न तुच्छ। और शायद उस ज़माने की भीड़ ने कवि के निकट यह ब्यौरा मांगा भी था और पाकर लोगों को अकृत्रिम आनन्द भी मिला। पर आज इतने दिनों के बाद युद्धक्षेत्र में युद्धार्थी वीरों का युद्धकौशल बिलकुल तुच्छ हो गया है। साहित्य के सुदूर विस्तृत परिप्रेसित से शायद आपने उसी प्रकार की किसी बात का इंगित किया है।

मेंने कभी पहले नाटक नहीं लिखा। अब दो-एक लिखने की इच्छा होती है। किन्तु बाधाएं भी बहुत हैं। मेरे उपन्यासों पर विचार पाठक समाज ने किया है। उसका क्षेत्र प्रशस्त है। किन्तु नाटकों के परीक्षक कौन हैं, यह समझना कठिन है। थियेटर वाले या बुद्ध दर्शक? कहां उसकी हाईकोर्ट है, यह कोई नहीं जानता। रामायण, महाभारत या उन्हीं की तरह प्रतिष्ठित टाड साहब के राजस्थान से कथानक लेकर नाटक लिखने पर परीक्षा में पास हुआ जा सक्ता है। लेकिन आपसे तो ताड़ना ही पानी होगी।

"आपने मेरी शक्ति का उल्लेख करके लिखा है, "तुम यदि वर्तमान काल के दावे और लोगों की भीड़ की अभिरुचि नहीं भूल सके तो तुम्हारी इस शक्ति में व्यवधान पड़ेगा।" आप बहुत-से कामों में व्यस्त हैं, किन्तु मेरी बड़ी इच्छा है कि आपके पास जाकर इस बात को ठीक तरह से समझ लूं । कारण, वर्तमान काल भी एक बड़ी वस्तु है। इसका दावा न मानने से दण्ड मिलता है।....." [9]

इसके उत्तर में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिख, ".....तुममें प्रतिभा है, इसलिए मैं तुमसे मांग करता हूं, वह मांग साहित्य की तरफ से मांग है। बहुत-से मामलों में (एक-एक युग के) वर्तमान का भोग वर्तमान काल में ही समाप्त हो जाता है। पर साहित्य में प्रत्येक जाति चिरकाल की सम्पत्ति की कल्पना करती है। इस संपत्ति को सृजन करने की जिनमें क्षमता है, वे वर्तमान के किसी प्रलोभन में न आ जाएं और उनका तपोभंग न हो, यही हम लोग तहेदिल से चाहते हैं। जो लोग संसार में केवल वर्तमान काल की मांग की पूर्ति करने आये हैं, उनकी संख्या असीम है। उनको प्रचुर परिमाण में नकद विदाई मिलती है। उन लोगों की मजलिस क्षणिक उत्सव के लिए तैयार की हुई बांस की खपच्चियों से भरी मजलिस है। यदि तुम वहां पैर रखो, तो उससे तुम्हारी जाति चली जाएगी। तुमने लिखा है कि वर्तमान भी बहुत बड़ी वस्तु है। वहां पर वह सचमुच ही बहुत बड़ी वस्तु है, जहां अनुपस्थित काल में भी उसका प्रवेशाधिकार है। 'वर्तमान' काल का एक बहुत बड़ा अंश है, जो क्षण-जीवियों का है। आधुनिक डेमोक्रेसी के युग में साहित्य के दरबार में गला फाड़-फाड़कर वे अपनी मांग पेश करते रहते हैं। इस युग में इस मांग से बचकर निकल जाना एक बहुत कठिन समस्या हो गई है। पहले के युगों में यह समस्या इतनी कठिन नहीं थी। आज के युग की राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति के प्रचलित नारे बराबर मुंह-दर-मुंह ध्वनित-प्रतिस्वनित हो रहे हैं। तुम्हारे सदृश साहित्यकारों को ऐसे लोगों से कहना चाहिए कि तुम लोगों का नारा मेरा नारा नहीं है। अदत दाशूराय के ज़माने में उस समय के काल ने दाधूराय को प्रचुर पुरस्कार दिया

था। पर उस काल ने जिस चेक पर दस्तखत किया था, उसे आधुनिक काल के बैंक में कैश नहीं किया जा सकता। दूसरी तरफ मैमनसिंह के गाथाकाव्य और लोकसाहित्य की मियाद अब भी खत्म नहीं हुई है। वह अशिक्षित लोगों की सहज भाषा में रचित है। फिर भी उसकी भाषा चिरकाल की भाषा है।.....मैंने तुम्हारी जो कहानियां आदि पड़ी हैं, उनमें तुमने बिना किसी आयास के चिरकाल के सत्य को मूर्त क्विा है। भीड़ की वाणी तुम्हारी वाणी में प्रविष्ट होकर सत्य के चित्रण पर अपनी छाप नहीं मार सकी है! उस समय तुम भीड़ से दूर थे, पर इस समय तुम जो कुछ लिखते हो, उसे पढ़ते हुए मुझे भय लगता है कि मैं कहीं यह आविष्कार न कर बैसूं कि तुम्हारी लेखनी पर तुम्हारी जानकारी या गैर-जानकारी में भीड़ का भार बैठ गया है। वह इतनी बड़ी हानि हे कि उसे मैं अपनी आख से देख नहीं सकता।

"तुम्हारे नाटक के जिस परिक्षित की बात मैंने बताई है, वह नाटक के कथानक के संबंध में है। तुमने जो कुछ कहना चाहा है, उसे यदि उसकी परिस्थितियों के साथ संगत करके कहते तो, उससे वह भाषा और घटना में दूसरे ही रूप में सामने आता। मूल बात बनी रहती, पर रूप बदल जाता। कला में विषय के साथ रूप का सामंजस्य हो, तभी वह सत्य होता है। मने तुम्हारे इस नाटक के संबंध में जो मत व्यक्त किया गदि वह तुम्हे असंगत जंचे, तो उसे मन से एकदम निकाल दो। तुम्हारी सृष्टि का आदर्श तुम्हारे अपने ही मन में है। यदि तुमने उसकी रक्षा की है, तो कुछ नहीं कहना हे पर यदि भीड़ के भोंड़े-भुलावे में तुम्हारी लेखनी विकृत हुई, तो वह चिन्तनीय है।

"डन दिनों मैं क्लकते में हूं, यदि किसी दिन भेंट हो तो आमने-सामने बैठकर आलोचना हो सक्ती है।" [10]

शरत्चन्द्र नाटककार नहीं थे, परन्तु उनके उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तरों ने बंगाली रंगमंच की दुर्दिन में रक्षा अवश्य की। दूरदर्शी रवीन्द्रनाथ ने उनकी शक्ति को व्यर्थ ही नहीं सराहा था। रचनाओं की लोकप्रियता, क्या में नाटकीय तथ्यों की प्रधानता, पारिवारिक वातावरण और पात्रों में आत्मीयता, सामाजिक कुरोतियों पर प्रहार, य थार्थवादी अर्न्तदृष्टि, प्रसाद गुण, प्रांजल, सरल, अन्तस्पर्शीय भाषा, कितने सारे गुण उस शक्ति क आधार थे! लेकिन एक अवगुण भी था, हृदय पक्ष का असाधारण महत्त्व अर्थात् भावुकता की प्रधानता। इसलिए चरम परिणति न्यायसंगत नहीं रह पाती थी। उनके नाटकों में 'षोडशी' सर्वश्रेष्ठ है। इसका गठन-कौशल निर्दोष है और कथा में माधुर्य है। लेकिन दूसरे नाटक उतने सफल नहीं हो सके'

बहुत पहले श्री भूपेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय ने 'विराजबहू' का नाट्य-रूपांतर किया था। स्टार थियेटर के मंच पर इसका अभिनय भी हुआ था। [11] लेकिन शरत् बाबू का इस रूपांतर से कोई संबंध नहीं था। इसी तरह देवनारायण गुप्त ने 'रामेर सुमति' का नाट्य-रूपान्तर किया वह भी बहुत सफल हुआ। 'पल्ली समाज' का रूपान्तर किया था उनके प्रकाशक श्री हरिदास चट्टोपाध्याय ने। आर्ट थियेटर द्वारा इसे स्टार के रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया [12]।

बाद में इसका परिवर्तित रूप 'रमा' के नाम से प्रकाशित हुआ। [13] शरत् बाबू ने इस पर काफी परिश्रग किगा था। शिशिर भादुड़ी ने इसी परिवर्तित रूप को नाट्य मन्दिर में बड़ी सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया।

'आंधारे आलो' उनकी एक बहुत साधारण क्कानी है। उसके आधार पर कई वर्ष पूrk?ः [14] एक निर्वाक् चललित्र तैयार किया गया था। सवाक् चलचित्रों का तब तक प्रचलन नहीं हुआ था। उसके निर्माण-काल में शरत् बाबू ने उसमें रुचि ली थी। इस फिल्म की काफी चर्चा हुई। बहुत-से लोगों ने इसकी गद्गद् भाव से प्रशंसा की। हिन्दी लेखक श्री इलाचन्द्र जोशी ने भी इस फिल्म को देखा था। जब वे शरतचन्द्र से मिलने के लिए गये तो उन्होंने जोशी जी से पूछा, "तुम्हें फिल्म कैसी लगी, सच बताना?"

सकुचाते हुए जोशीजी ने धीरे से उत्तर दिया, "किसी अच्छी साहित्यिक कहानी की स्पिट को फिल्म में उसी खूबी से उतार लाने की कला बहुत कठिन है। कोई विदेशी फिल्म भी अभी तक सफल नहीं हो पाई। इसलिए उच्चकोटि की साहित्यिक कला के मान से इस पर विचार करना उचित नहीं है। यदि करेंगे तो 'आंधारे आलो' को लेकर बड़ी निराशा होगी। लेकिन मुझे तो शिकायत कुछ दूसरी ही बात की है।"

उसुक्ता से शरत्चन्द्र ने पूछा, "किस बात की?."

"फिल्म निर्माता ने आपकी इसी कहानी को क्यों फिल्म के उपयुक्त समझा? साहित्यिक दृष्टि से इससे कहीं अच्छी आपकी और बहुत-सी कहानियां हैं जो चित्रपट बनाने की दृष्टि से भी अधिक उपयुक्त हैं।"

"क्या 'आंधार आलो' साहित्यिक दृष्टि से भी तुम्हें नहीं जंचती?"

"जंचती है। फिर भी उसमें आपकी कला का निखरा हुआ रूप नहीं मिलता। कहानी में अवास्तविकता, कृत्रिमता और अपरिपक्वता के स्पष्ट मिलते हैं। लगता है यह कहानी आपने प्रारम्भिक प्रयास के युग में लिखी होगी?"

"नहीं, तुम्हारी यह धारणा एकदम गलत है। यह कहानी मैंने तब लिखी थी, जब मेरे विचार परिपक्व हो चुके थे। और मेरी लेखनशक्ति पूर्णतया विकसित हो चुकी थी।"

अकृत्रिम आश्चर्य से जोशी ने कहा, "अच्छा, मैं तो समझता था कि 'देवदास' से पहले ही आपने उसे लिखा होगा?"

"पर तुम्हें इसमें अपरिपक्वता और अक्त्रिमता कहां नज़र आती है, यह तो तुमने बताया ही नहीं?"

जोशीजी ने विस्तार से कहानी की चर्चा करते हुए उसे अमनोवैज्ञानिक और अवास्तविक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कई क्षण तक शरत् बाबू गम्भीर भाव से सोचते रहे। फिर बोले, "चूम यह आशा क्यों करते हो कि औपन्यासिक सत्य जीवन के सत्य के अनुरूप ही होना चाहिए। क्या तुम यह चाहते हो कि उपन्यास जीवन का फोटो बनकर रह जाए? जो संभाव्य सत्य हे, उसके लिए भी उपन्यास या कहानी में गुंजाइश रखनी ही होगी

और फिर किसी विशेष आदर्श को उपस्थित करने के लिए यदि यथार्थ को तोड़ना-मरोड़ना भी पड़े, तो इसमें कोई अनौचित्य मैं नहीं मानता।"

जोशीजी ने उत्तर दिया. "आदर्श का विरोध में नहीं करता। मैं यह भी नहीं मानता कि कोई कहानी या उपन्यास जीवन का फोटो होना चाहिए था, पर जो आदर्श यथार्थ के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं होता, आज के जीवन में उसका मैं कोई मूल्य मानने को तैयार नही हूं। इसी कारण रूस के आदर्शवादी कलाकारों ने यथार्थ को बड़ी बारीकी से अपनाया है। आदर्शवादी होने पर भी ताल्साय ने प्रत्यक्ष जीवन की सचाई को, यथार्थवादी दृष्टिकोण को, स्वीकार किया है। मैं ज़ोला की कोटि के प्रकृतवादी कलाकारों को विशेष महत्व नहीं देता। वे जीवन के अच्छे और गन्दे सभी पहलुओं को वैसा ही चित्रण कर देने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। और उस चित्रण को किसी आदर्श की स्थापना के लिए साधन न मानकर अपने-आपमें साध्य मानते हैं। पर आदर्श की स्थापना के लिए जीवन की सचाई पूर्णत: आवश्यक है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।"

शरत् बाबू सहमत नहीं हो सके, लेकिन बड़े शान्त भाव से उन्होंने कहा, "तुम्हारे दृढ़ विश्वास को खण्डित करने की प्रवृत्ति इस समय मुझमें नहीं जग रही है और न कोई उपयुक्त तर्क ही मुझे सूझ रहा है, पर इतना मैं बता देना चाहता हूं कि यथार्थवादी लेखकों की टेकनीक को मैं कभी नहीं अपनाऊंगा। वह मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है और न वह उस जीवन के चित्रण और उस आदर्श की स्थापना के लिए उपयुक्त है जो मुझे अभीष्ट हैं।"

जोशीजी ने इस अप्रिय प्रसगं को आगे नहीं बढ़ाया। उचित भी नहीं था, लेकिन जहां तक उनकी शिकायत का संबंध है वह सही है। कहानी में एक वेश्या का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है परन्तु वह अत्यन्त आकस्मिक और अवास्तविक है। छोटी-सी कहानी में परस्पर विरुद्ध भावों को प्रस्कूटन इस प्रकार हुआ है कि वह अति नाटकीय ही लग सकता है। उसे विश्वसनीय बनाने के लिए बड़े आयाम की आवश्यकता थी। इसीलिए विस्तृत विलेषण के अभाव में वह सहज नहीं हो सका। कहा जा सकता है कि उसकी कथावस्तु उपन्यास के लिए अधिक उपयुक्त है। शरत् बाबू ने छोटी कहानियां अपेक्षाकृत कम लिखी हैं। उनकी प्रतिभा का वास्तविक क्षेत्र उपन्यास ही है।

अवाक् चलचित्रों के उस युग में "आंधारे आलो' के अतिरिक्त 'चन्द्रनाथ', 'देवदास', 'श्रीकान्त', 'चरित्रहीन' और 'स्वामी' के आधार पर चित्रपट तैयार किये गये थे। ऐसा लगता है उन्होंने अपनी कुछ कहानियों के आधार पर चित्र बनाने के अधिकार पन्द्रह वर्ष के लिए मंडन थियेटर को बेच दिये थे। [15]

---

1. जुलाई, 1907 ई०, शरत्-प्रतिभा-सतीशचन्द्र दास

2. 8 अप्रैल, 1913 ई ०

3. 21 जनवरी, 1928 ई०

4. 29 जून, 1933 ई०। बाद में वह दिसम्बर, 1934 ई० मे प्रकाशित हुआ।

5. सितम्बर, 1934 ई० (25 आश्विन, 1314)

6. 6 अगस्त, 1927 ई०

7. 13 अगस्त, 1927 ई०

8. 17 फरवरी, 1927 ई०

9. मार्च, 1927 ई०

10. 11 मार्च, 1928 ई०

11. 3 अगस्त, 1918 ई०

12. अगस्त, 1928 ई०

13. 4 अगस्त, 1928 ई०

14. सन् 1923 ई०

15. 4 दिसम्बर, 1925 ई० का पत्र निर्मलचन्द्र के नाम

17

शरत साहित्य की रीढ़, नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण है। बार-बार अपने इसी दृष्टिकोण को उन्होंने स्पष्ट किया है। प्रसिद्धि के साथ-साथ उन्हें अनेक सभाओं में जाना पडता था और वहां प्राय: यही प्रश्न उनके सामने आ उपस्थित होता था। राजनारायण बसु पति पाठागार के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए वे मेदिनीपुर गये थे [1]। वहां उनके सम्मान में हुई एक गोष्ठी में किसी ने उनसे पूछा, "अच्छा शरत् बाबू, सतीत्व ही तो नारीत्व है। आपने इन दोनों में अन्तर क्यों किया?"

शरतचन्द्र ने कहा, "इस प्रश्न के उत्तर में आपको एक कहानी सुनानी पड़ेगी। मेरे बचपन की बात है। हमारे गांव में एक बाल विधवा रहती थी। गांव के नाते से वह हमारी बड़ी बहन लगती थी। दुर्भाग्य से विवाह के थोडे ही दिन बाद उनके पति मर गए। विधवा के वेश में वे नैहर लौट आई। भाई-बहन उनके कोई था नहीं और मां- बाप कितने दिन जी सकते थे? तीस-बत्तीस की उम्र होते न होते वे दोनों भी चल बसे। तब से वे उस घर में अकेली ही रहती थीं। उनका वह मिट्टी का घर चारों ओर से ऊंची दीवारों से घिरा हुआ था। आने-जाने के लिए आंगन में एक ओर एक ही दरवाजा था। शाम होते ही वह दरवाजा अन्दर से बन्द हो जाता था।

"उस गांव में एक भी ऐसा परिवार नहीं था, जहां बहन की खातिरदारी और प्यार का कोई अभाव हो। इसका कारण भी था। लोगों के रोग- शोक में खाना-पीना भूलकर वह जी-जान से उन सबकी सेवा करती थीं। उनसे ज्यादा मेहनत करने वाला कोई भी दिखाई नहीं देता था। गांव में ऐसा एक भी घर नहीं था जो उनके उपकार और सहायता के बोझ से दबा न हो।

"तब मैं लड़का ही था। तरह-तरह की शैतानी में दिन कटते थे। एक दिन मुझे एक खुराफात सूझी कि बहन को डराना चाहिए। घर में वे अकेली रहती हैं। डर दिखाने का ऐसा अच्छा मोका नही मिलेगा।

"बस तय किया कि बहन की चारदीवारी से लगा हुआ जो जामुन का पेड़ है, शाम के अंधेरे, में उसी पर चढ़कर और भूत की बोली बोलकर बहन को इस तरह डराना होगा कि वे जिन्दगी-भर याद रखें।

"यथासमय चुपचाप पेड़ पर जा बैठा। वहां से बहन का घर साफ दिखाई पड़ता था। मौका देखकर नकियाकर जैसे ही बोला, वैसे ही देखा कि एक आदमी बहन की खाट से झट उतरकर उसके नीचे जा छिपा।

"इसके बाद बहन के बारे में मेरी क्या धारणा होनी चाहिए? आप कह सक्ते हैं कि बहन में सतीत्व नाम की कोई चीज नहीं है। इस बात को माने लेता हूं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इसके साथ ही उनका नारीत्व भी लुप्त हो गया। इन्सान के रोग- शोक में रात-दिन सेवा करके, दीन-दुखियों को दान देकर सारी जिन्दगी उन्होंने जिस महानता का परिचय दिया था उसका क्या कोई स्वतंत्र मूल्य निर्धारित नहीं किया जाएगा? नारी का शरीर ही सब कुछ है, उसका अन्तर क्या कुछ भी नहीं है? यह बाल विधवा जवानी की दुस्सह ताड़ना से अपनी देह को पवित्र नहीं रख पाई तो क्या उसके अन्तर के सारे गुण झूठे पड़ जायेंगे? मनुष्य का सच्चा रूप हमें किस बात में मिलता है? उसकी देह के आवरण में या उसके अन्तर के आचरण में? आप ही बताएं! इसीलिए सतीत्व और नारीत्व को पृथक् दिखाने के लिए बाध्य हुआ हूं।"

कई वर्ष बाद जब प्रेसिडेंसी कालेज में बंकिम शरत्-समिति ने उनके तिरपनवें जन्मदिन [2] के उपलक्ष्य में उनका अभिनन्दन किया था तब भी उन्होंने यही कहा था, "सम्पूर्ण मनुष्यत्व सतीत्व से बड़ा है। इस बात को मैंने एक दिन कहा था और इसी को अभद्र एवं गंदा बताकर मुझे गाली देने में कुछ उठा नहीं रखा गया। मनुष्य मानो विक्षिप्त हो गया। मैंने अत्यन्त सती नारी को चोरी-जुआखोरी और जालसाजी करते तथा झूठी गवाही देते देखा है। साथ ही इससे उलटी बात देखने का भी सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

"सतीत्व की धारणा सदा एक-सी नहीं रही। पहले भी नहीं थी। बाद में भी शायद किसी दिन नहीं रहेगी। एकनिष्ठ प्रेम और सतीत्व एक ही वस्तु नहीं है । यह बात यदि साहित्य में स्थान नहीं पाती तो सत्य जीवित कहां रहेगा।"

और कई वर्ष पहले जब इलाचन्द्र जोशी ने भारतीय नारी के सतीत्व के आदर्श संबंध में उनके विचार जानने चाहे थे तब उन्होंने यही कहा था "मैं मानव धर्म को सती धर्म के बहुत ऊपर स्थान देता हूं। सतीत्व और नारीत्व यह दोनों आदर्श समान नहीं हैं। नारी-हृदय की मंगलमयी करुणा, उसकी जन्मजात मातृ वेदना उसके सतीत्व से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। बहुत-सी स्त्रियां मैंने ऐसी देखी हैं, जिनका दूसरे पुरुष से कभी किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक संबंध नहीं रहा, तथापि उनके स्वभाव में अत्यन्त नीचता, घोर संकीर्णता, विद्वेष भावना और चौरवृत्ति पाई गई है। इसके विपरीत ऐसी पतिताओं से मेरा परिचय रहा है, जिनके भीतर मैंने मातृ हृदय की निःस्वार्थ ममता और करुणा का अथाह सागर उमड़ता हुआ पाया है।" [3]

जोशीजी ने पूछा, "यदि यही बात है तो आपने 'श्रीकान्त' में अन्नदा दीदी के सतीत्व की महिमा ऐसे ज़ोरदार शब्दों में क्यों वर्णन की है कि उसके दीप्त प्रकाश के आगे आपके दूसरे नारी चरित्र प्तान पड़ जाते हैं?"

यह प्रश्न' सुनकर शरत् बाबू मन्द-मन्द मुस्काये। बोले, "आपकी यह बात मैं मानता हूं। अन्नदा दीदी के प्रति वास्तव में मेरी भी आन्तरिक श्रद्धा रही है। मेरे जन्मगत संस्कार आखिर

भारतीय ही हैं। फिर भी मैं इतना बता देना चाहता हूं कि उनके एकनिष्ठ पातिव्रत धर्म ने मेरी श्रद्धा उतनी नहीं उभारी हैं जितनी उनकी प्रेम-प्लावित आत्मा के मुक्त प्रवाह ने।"

शरत् बाबू ने अपने साहित्य में स्पष्ट रूप से यह अंकित किया है कि पुरुषों के बनाये हुए झूठे शास्त्र केवल स्त्रियों को बांध रखने की बेड़ियां हैं। जिस प्रकार हो उन्हें रोक रखकर उनसे सेवा लेने के खाली जाल हैं। सतीत्व की महिमा केवल स्त्रियों को बतलाई जाती है- पुरुषों के लिए कुछ नहीं। यह सब धोखा है। योनि-परीक्षण से ही नारी के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचाना जा सकता।

उन्होंने बार-बार प्रल पूछा है कि नारी-जीवन की सार्थकता कहां है? जिसे लोग आत्मा कहते हैं वह क्या स्त्रियों के शरीर में नहीं होती? वे क्या इस संसार में केवल पुरुषों की सेवादासी बनने के लिए ही आई हें। [4]

'शेष प्रश्न' की कमल कहती है, समस्त संयमों की भांति यौन संयम भी सत्य है किन्तु गौण सत्य। उसे मुख्य मानना एक प्रकार का असंयम है। उसका दण्ड भी है। आत्मनिग्रह के उग्र दम्भ से आध्यात्मिकता क्षीण हो जाती है।"

तथाकथित पतिता नारी को उन्होंने वह प्रतिष्ठा दी है कि कलुषित से कलुषित मन वाला व्यक्ति भी उसके सम्पर्क में आकर किसी न किसी रूप में प्रभावित होता ही है और स्वयं को सुधारने की प्रवृत्ति उसमें जग जाती है। रूपाकार केवल आकार एवं रूप को ही उद्भासित नहीं करता अपितु अतरंग को भी अनुरंजित करता है।

असहयोग आन्दोलन के प्रथम चरण में उन्होंने घोषणा की थी कि हमने नारी को जो "यनुष्य नहीं बनने दिया उसका प्रायश्चित स्वराज्य के पहले देश को करना ही चाहिए, अत्यन्त स्वार्थ की खातिर जिस देश ने जिस देन से केवल उसके सतीत्व को ही बड़ा करके देखा है उसके मनुष्यत्व का खयाल नहीं किया उसे उसका देना पहले चुका देना होगा।

"नारी जाति को मैं कभी छोटा करके नहीं देख सका। नारी के कलंक पर अविश्वास करके संसार में ठगा जाना भला है, किन्तु विश्वास करके पाप का भागी होना अच्छा नहीं। बहुत दिनों से नारी का अस्तित्व ही जैसे लोप हो गया था। वह स्वयं ही भूल गई थी कि उसकी कोई सत्ता भी है। मुख बन्द करके सब प्रकार के अत्याचार सहती आ रही थी। उसकी छाती विदीर्ण हो जाती थी पर मुंह नही खुलता था। उसका प्रतिवाद करने की आवश्यकता भी है, यह अनुभूति भी उसमें नहीं रह गई थी।"

शरत् बाबू ने इस वास्तविकता को पहचाना और स्वीकार किया कि नारी जाति के प्रति पुरुष ने कभी न्याय नहीं किया। 'नारी का मूल्य' प्रबन्ध में उन्होंने नारी मात्र का पक्ष लेते हुए स्पष्ट कहा, "जिस धर्म ने बुनियाद ही रखी है आदम-जननी हौवा के पाप पर, और जिस धर्म ने नारी को बैठा रखा है संसार के समस्त अध:पतन के मूल में, उस धर्म के संबंध में जिन लोगों के मन में यह विश्वास है कि सच्चा धर्म यही हे उन लोगों से यह कभी हो ही नहीं सकता कि वे नारी जाति को श्रद्धा की दृष्टि से देखें। ऐसे लोगों की श्रद्धा केवल उतनी ही हो

सक्ती है जितने में उनका स्वार्थ लगा हुआ है। इससे अधिक चाहे श्रद्धा कहो चाहे उसका न्यायोचित अधिकार कहो वह न तो पुरुष ने उसे आज से हजार बरस पहले दिया है और न आज के हजार बरस बाद ही देगा।"

उसी अन्याय के प्रति उन्होंने युद्ध करने कर्ा घोषणा की। ललिारानी गंगोपाध्याय को उन्होंने लिखा था, "जारी का स्वामी परम पूजनीय व्यक्ति सबसे बड़ा गुरुजन है, पर इसी कारण स्त्री दासी नहीं है, इस संस्कार ने नारी को जितना छोटा, जितना क्षुद्र, जितना तुच्छ कर दिया हे उसकी कोई तुलना नहीं।" [5]

अपने एक मित्र की पत्नी से उन्होंने कहा था, "रीदी, पुरुष जाति ने तुम्हारे साथ अन्याय किया है। मैं सदा उसके विरुद्ध लड़ता रहूंगा।"

और सचमुच वे जीवन-भर लड़ते रहे। इसी कारण सही अर्थो में वे नारी जाति के मसीहा बन गये। इसी कारण बंगाल की नारियों ने उनका अभूतपूर्व अभिनन्दन किया। उनकी 57वी जन्म-जयन्ती [6] के अवसर पर उनको अभिनन्दन-पत्र भेंट करते हुए गद्‌गद् होकर उन्होंने कहा, "पराधीन देश के अध:पतित समाज क्ये असहाया अन्त:पुरचारिणियों के हृदय की मूक आनन्द वेदना को तुमने भाषा में मूर्त कर दिया है। उनके दुर्गतिपूर्ण जीवन के सुख-दुखों की सभी अनुभूतियों को निविड सहानुभूति में ढालकर तुमने साहित्य में सत्य करके प्रत्यक्ष करा दिया है। तुम्हारी अनाविष्ट दृष्टि, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-सामर्थ, सुगंभीर उपलब्धि, शक्ति तथा विचित्र मानव-चरित्र की अतलस्पर्शी अभिज्ञता ने निखिल नारी चित्र ख्रई निगूढ़ प्रकृति का गुप्ततम पता पा लिया है। हे नारी-चरित्र के परम रहस्यज्ञाता, हम लोग तुम्हारी वन्दना करती हैं।

"त्रय तरह का आत्मापमान तथा सब तरह की हीनता की हालत में भी नारी की प्राकृतिक विशेषताएं सब देशों के सब समाजों में मौजूद हैं। तुमने उसके अकृत्रिम रूप को प्रत्यक्ष किया है। उसकी सत्य प्रकृति का अध्ययन किया। हे सन्नारियों के अन्तर्यामी, हम तुम्हारी वन्दना करती हें।

"आज के इस विशेष दिन हम यह बताने आई हैं कि हम तुम्हारा सम्मान करती हैं। हम लोग तुमको श्रद्धा करती हैं। हम तुमको प्यार करती हैं। तुमकी हम लोग अपना करके ही समझती हें। हे नारियों के परम श्रद्धेय मित्र! तुम हम लोगों को परम प्रिय हो। तुम हम लोगों के परम आत्मीय हो। हम तुम्हारी वन्दना करती हैं।"

ऐसी प्रशंसा कदाचित् ही किसी देश के साहित्यिक को मिली हो, लेकिन शरत् की नारी बंगाल क्कई होकर भी शिल्प की दृष्टि से किसी सीमा को स्वीकार नहीं करती। वातावरण का चित्रण करते समय शरत्‌चन्द्र बंगाली है, परन्तु जीवन-रस के परिवेश में शिल्पी हैं। शरत् की जननी ' बंगाल की जननी हैं, लेकिन प्रेमिका का परिवेश समस्त विश्व है। जो व्यथा वह भोगती हे जो अपमान वह सहती है वह नारी-मात्र ने किसी न किसी रूप में सदा सहा है।

बंकिमचन्द्र के साहित्य में विधवा-विवाह का हल मारात्मक हुआ। रवीन्द्रनाथ ने नारी मात्र को स्नेह दिया, पर सहानुभूति दी शरत्चन्द्र ने। यद्यपि जोर-जबर्दस्ती उन्होंने भी नहीं की। उनके साहित्य में भी विधवा-विवाह नहीं है। 'पण्डितजी' की कुसुम तो ऐसे लोगों को कुत्ता-बिल्ली समझती है। 'पथ-निर्देश' में हेम बार-बार विधवा-विवाह की निन्दा करती है, लेकिन उसके पक्ष में दलील भी कम नहीं है। गुणेन्द्र कहता है, "हिन्दुओं को छोड़कर संसार की और सभी जातियों में विधवा-विवाह होता है।" यहां तक कि बचपन की रचना 'शुभदा' में जब सुरेन्द्रनाथ पूछते हैं, "क्यों क्या विधवा से विवाह नहीं करना चाहिए?" तो मालती का उत्तर है, "विधवा से विवाह करना चाहिए मगर वेश्या से नहीं।" अनुपमा के पिता तो यहां तक कहते हैं, "मैंने बहुत विचार कर देखा है। दो बार विवाह करने से ही धर्म नहीं जाता। विवाह के साथ धर्म का कोई संबंध नहीं बल्कि अपनी बच्ची की इस तरह हत्या करने में ही धर्महानि की संभावना है।"

लेकिन अनुपमा तैयार नही हुई, अर्थात् शरत् तैयार नहीं हुए, क्योंकि समाज तैयार नहीं था। शरत् मानते थे कि नारी की दासता मानवीय अधिकारों का हनन है, परन्तु क्रान्ति का स्वर हृदय के भीतर से ही उठना चाहिए। समाज को यदि जीवित रहना है तो हृदय के गुण से ही रहना है। इसलिए सामाजिक अत्याचारों कं प्रति विद्रोह उनके साहित्य मैं उतना मुखर नहीं हुआ। [7] 'शेष प्रश्न' कं कमल और 'श्रीकान्त' (द्वितीय पर्व) की अभया अपवाद हैं। लेकिन यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शरत्चन्द्र उन परिस्थितियों का चित्रण करने में निश्चय ही सफल हुए जो पाठक के अन्तर में विद्रोह की अनिवार्यता क्तें स्पष्ट करती हैं और यह विद्रोह दृढ़ और सत्य सिद्धान्तों पर आधारित है। उन्होंने बार-बार कहा हे कि विधवा होना ही नारी जीवन की चरम हानि और सधवा होना ही सार्थकता है-इन दोनों में से कोई सत्य नहीं है।

शरत् शास्त्र को स्वीकार करते है, पर उसे हृदय के ऊपर नहीं मानते। कमल विवाह को संसार में होनेवाली अनेक घटनाओं में से एक घटना मानती है। मानती है कि उसी को जिस दिन से नारी क सर्वस्व मान लिया गया उसी दिन से स्त्रियों के जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी शुरू हो गई। हृदय में प्रेम नहीं तो मंत्रपूत विवाह विडम्बना-मात्र है। 'बारी का मूत्य' निबन्ध में उन्होंने मानो भविष्यवाणी की, "आगे चलकर एक ऐसा समय आएगा जबकि प्रेम के द्वारा दोनों का मिलकर एक होना अधिक महत्व का समझा जाएगा और कानून के द्वारा दोनों क मिलकर एक होना गौण माना जाएगा।" शरत् साहित्य में प्रिया है, जाया है, जननी हे, पतिता है, विप्लवी भी है। लेकिन बाहर से एक दिखाई देकर भी वे एक नहीं हैं। राजलक्ष्मी की त्रासदी इतनी गढ़ और रहस्यमय है कि उसे समझ पाना असम्भव जैसा ही है। उसका अन्तर्विरोध, उसका द्वन्द्व वही उसकी सफलता है। उसके विषाद में ही शिल्पी की चेतना मूर्त हुई है। जिन्होंने प्रेम पाया, सुखी हुईं वे किसी के हृदय को उद्वेलित नहीं कर सकीं। कर सकीं राजलक्ष्मी, पार्वती और सावित्री जैसी ही। याद रह सकी अन्नदा और ताल

जैसी ही जो स्वामी को प्यार करके पीड़ा ही पा सकीं, और अचला तो निर्धन महिम को एकनिष्ठ प्यार करती है, पर उसका व्यक्ति-स्वातंन्य दरिद्रता के सामाजिक वातावरण को नहीं सह पाता और अनजाने-अनचाहे वह सुरेश को समर्पित हो जाती है। फिर भी सारी त्रासदी के अन्त में यह कहने का साहस उसमे हे, "चिट्ठी लिखने पर तुम जवाब दोगे?"

याद रह सकी अभया की। शरत् साहित्य में अभया एक ही है, पर वह उनके इस विश्वास का कि सतीत्व और नारीत्व एक ही नहीं है, जीवन्त प्रतीक है। वह प्रतीक है इस सत्य का कि स्त्री-पुरुष का मिलन तभी तक सत्य है जद तक वह पति-पली की प्रसन्नता का कारण बनता है। जिस क्षण लाभ से हानि का पलड़ा भारी हो जाता है, पति जब एकमात्र बेंत के जोर से स्त्री के समस्त अधिकारों को छीन लेता है, उसी क्षण वह स्वत: ही समाप्त हो जाता है। वह अपने प्रेमी रोहिणी बाबू के लिए अपने अत्याचारी पति को छोडू देती है और यह कहने का साहस करती है, "येसे मनुष्य के सारे जीवन को लंगड़ा बनाकर मैं सती का खिताब नहीं खरीदना चाहती श्रीकान्त बाबू! निश्चयपूर्वक मैं क्क सकती हूं कि हमारे निष्पाप प्रेम क्कै संतान संसार में मनुष्यत्व के लिहाज से किसी से भी हीन न होगी। उसकी माता उस को यह भरोसा अवश्य दे जाएगी कि वह सत्य के बीच पैदा हुई है। सत्य से बढ्कर सहारा संसार में और कुछ नहीं है। इस वस्तु से भ्रष्ट होना उसके लिए कठिन होगा।"

".....उन्होंने (पति) भी तो मेरे ही साथ उन्हीं मंत्रों का उच्चारण किया था किन्तु वह एक निरर्थक बकवाद ही रहा, उनकी इच्छा पर जरा भी रोक न लगा सका.....क्या वह सारा बन्धन, सारा उत्तरदायित्व में स्त्री हूं इसलिए केवल मेरे ही ऊपर रह गया? वह मात्र बंगाल की नारी का स्वर नहीं है। यह मनोभूमि है शाश्वत नारी की। शरत् की सबसे दुर्बल नारी है विप्लवी नारी। वह विचारों की प्रतिमा हे। रक्त-मांस की सहज सुख-दुखमयी नारी नहीं। उनकी सबसे सशक्त नारी है पतिता। इस वर्ग को उन्होंने मात्र सहानुभूति ही नहीं दी, अन्तर में छिपी नारी को मर्यादा भी दी। प्रेमी के लिए ही प्रेमी को त्याग करने का साहस दिया। चन्द्रमुखी कह सकी, "रूप का मोह तुम लोगों की अपेक्षा हम लोगों में बहुत ही कम होता हे, इसलिए तुम लोगों की तरह हम लोग उन्मत्त नहीं हो जाते।"

लेकिन शरत् की यह निविड़ सहानुभूति मात्र मौखिक ही नहीं थी। व्यवहार में भी वे नारियों के प्रति उतने ही सम्बेदनशील थे। इलाचन्द्र जोशी ने लिखा है, "जो साधारण से साधारण स्त्रियां भी उनके सम्पर्क में आईं, उनके प्रति भी शरत् के मन में करुणा, सवेदनशीलता और सहृदयता की भावना उमड़ती रही। कभी किसी भी नारी की आर्थिक या सहृदयताजनित विवशता से अनुचित लाभ उठाने की प्रवृत्ति उनके मन में नहीं जागी। यह बात स्वयं शरत् ने मुझसे कही थी। उनके निकट और घनिष्ट सम्पर्क में आने के कारण स्वयं मुझे भी उनके स्वभाव और व्यवहार के अध्ययन से जो अनुभव हुआ उससे उनकी वह बात प्रत्यक्ष स्म में पूर्णत: प्रमाणित होती थी।"

उन्होंने अनेक असहाय नारियों की न केवल आर्थिक सहायता ही ल्टई थी बल्कि कइयों को अपने घर में आश्रय भी दिया था। शिवपुर के एक युवक प्रतुल मुकर्जी को वे बहुत अरसे से जानते थे। उसने अपने परिजनों और मित्रों के विरोध के बावजूद दुर्गादेवी नाम की एक विधवा से विवाह किया था। विरोध के उस वातावरण में दुर्गादेवी को शरत् बाबू ने कुछ समय के लिए अपने घर में शरण दी थी और लिखना-पढ़ना सिखाने की चेष्टा भी की थी।

और स्वयं उनका अपना विवाह क्या इसका सबसे बड़ा प्रमाण नहीं है? और क्या वे अपनी प्रसिद्धि के शिखर पर उन तथाकथित दुश्चरित्र नारियों को भूल सके, जिनकी बस्ती में वे रंगून से आकर ठहरा करते थे? अनेक मित्रों ने उनसे बातें करते देखकर लज्जा अनुभव की थी। [8]

उस दिन वे कविगुरु रवीन्द्रनाथ से मिलकर जोड़ासाकी से लौट रहे थे। बहुत देर हो गई थी, कविगुरु ने किन्हीं सज्जन को आदेश दिया, "गओ, .शरत् को सड़क तक पहुंचा आओ।"

सड़क पर आने पर शरत्चन्द्र ने ऐसा अनुभव किया कि बहुत देर बैठना पड़ा है, इसलिए कुछ दूर पैदल चल लेना उचित ही होगा।

इसलिए बातचीत करते हुए अचानक वे एक मोहल्ले के पास जा निकले। सहसा एक नारी ने पुकारा, "रादाजी, ओ दादाजी !"

शरतचन्द्र ने देखकर पहचाना कि वह तो पाएं की मां है। पास आकर पाएं की मां प्रणाम के अनन्तर बोली, "आज मेरा बड़ा सौभाग्य है कि दादाजी के दर्शन हो गए। आप बड़े वैसे हैं। हम लोगों को बिलकुल ही बिसार दिया। बताओ तो कितने दिनों से इधर नहीं आये? आज मैं नहीं जाने दूंगी। मेरे धर में चरणफूलइ देनी ही होगी।"

साथ आनेवाले सज्जन हतप्रभ यह सब देख रहे थे। शरतचन्द्र ने उनसे कहा, "आप अब जाएं। पकड़ा जब गया ही हूं तो छुटकारा नहीं मिलने का।"

वे सज्जन लौट गये और शरतचन्द्र पाएं क्ई मां के घर की ओर चल पड़े। देखते-देखते कितने ही लड़के-लड़कियों ने 'दादाजी आए हैं, दादाजी आए है' कहते हुए उन्हें घेर लिया। किसी तरह उनसे छुट्टी पाकर आगे बड़े तो पाया कि सात साल का पाएं विद्यासागर महाशय का 'चर्ण-परिचय' खोले मुंह लटकाए है। बोले, "प्पांचू की मां, तुम्हारा लड़का इस तरह से क्यों बैठा है? पढ़ना पड़ रहा हे शायद इसीलिए क्या?"

पांचू की मां ने कहा, "देखो न दादाजी, कब से कह रही हूं स्कूल में कल जो पढ़ा है उसे धर में अच्छी तरह पढ़ ले तभी तो मास्टर के सामने सबक सुना सकेगा। लेकिन अभागा लड़का हर्गिज सुनने के लिए तैयार नहीं। इतने पैसे नही है कि घर पर मास्टर रखकर पदाऊं।"

शरत्चन्द्र ने कहा, "अच्छा, तुम अर्ब जरा तम्बाकू भर लाओ। मैं इसे पढ़ाता हूं।"

हुक्का सामने रखते हुए पांचू की मां ने फिर कहा, "दादाजी, तुम ही बताओ, अभागे को कितना समझाती हूं कि ज्यादा न पड़े तो कम से कम पहली और दूसरी किताब तो पढ़ ले। कहती हूं यह जो हमारे दादाजी हैं, सुनती हूं वे किताबें लिखते है। अगर कुछ न भी कर सका तो पहली-दूसरी किताब पढ़कर हमारे दादाजी की तरह चार किताबें लिखकर पेट तो पाल सकेगा। लेकिन अभागा किसी तरह पड़ता ही नहीं। आप कृपा करके इसे जरा समझा दो दादाजी। आपकी बातें सुनकर थोड़ी-सी अकल तो आए। मैं तब तक आपके लिए भोजन का इंतजाम करती हूं। न, न,यह नहीं होने का दादाजी। आज आप कितने दिनों के बाद आए है। थोड़ा-सा भोजन कराए बिना नही जाने दूंगी।"

उस दिन भोजन करते-करते और बस्ती के हर घर में पगधूलि देते-देते दिन का अन्त हो गया।

और इसीलिए अनीति के प्रचारक के रूप में उनकी प्रसिद्धि जरा भी कम नहीं हो सकी। होती तो क्यों एक उच्चशिक्षिता भद्र महिला वीणा देवी सरस्वती क्के अपने ही घर में अपमानित होना पड़ता वह स्वयं लेखिका थी। शरत् बाबू के प्रति श्रद्धा का कोई पार नहीं था। अक्सर उनसे मिलने के लिए आया करती थीं। एक दिन उन्होंने शरत् बाबू को भोजन के लिए निमन्त्रित किया।

जिस दिन उन्हें भोजन करने के लिए आना था उसी दिन वीणा देवी की एक अल्पशिक्षित ननद ने अपनी मां से कहा, "जानती हो मां, आज भाभी ने किसको खाने पर बुलाया है? अरे, वही अरलू चाटुज्जै, शराबी और चरित्रहीन। सुना है वेश्याओं के यहां पड़ा रहता है।"

मां ठहरी निरक्षर भट्टाचार्य। सुनकर स्व हो उठी। तुरन्त बहू के पास गई और बोली, बहू तुमने यह क्या किया? मैं यदि पहले जानती तो लड़की को मछली आदि लाने को मना कर देती। जो भी हो वह इस घर में नहीं आ सकता।"

वीणा देवी सुनकर परेशान हो उठीं। अनुनय-विनय के स्वर में उन्होंने का, या, केवल आज के लिए आज्ञा दे दो। फिर किसी दिन उन्हें नही बुलाऊंगी। निमन्त्रण देकर उन्हें न बुलाने से उनका अपमान होगा।"

लेकिन मां किसी तरह से राजी नहीं हुई। अपना अन्तिम निर्णय देते हुए उसने कहा, "जुम अभी उसके पास जाओ और कहो कि अचानक मेरी सास बहुत बीमार हो गई है, इसलिए आज भोजन की व्यवस्था नहीं ही सकेगी।"

भारी मन लेकर वीणा देवी जरत बाबू के पास गई, लेकिन वे झूठ नहीं बोल सकीं। रोते-रोते उन्होंने सारी कथा कह सुनाई। बोलीं, "अगर मेरे स्वामी या जेठ घर पर होते तो मां को समझाया जा सकता था। मेरी बात वे किसी भी तरह मानने को तैयार नहीं है।"

शरत् बाबू सहसा गम्भीर हो उठे। बोले, "ग्स बात को लेकर तुम अपने मन में किसी प्रकार का दुख न मानो। मेरे संबंध में लोग इसी तरह की भूल करते हैं। न जाने क्या-क्या

कहते रहते हैं। तुम्हारी भाभी से मैंने धर्म के अनुसार विवाह किया है, फिर भी लोग कहते हैं कि यह मेरी रखैल है।"

ऐसी भी नारियां थीं जो इस प्रकार की भूल नही करती थीं। उन्हीं में थी कानपुर की लीलारानी गंगोपाध्याय। उनसे अजस्र पत्र-व्यवहार तो चलता ही था, उनके घर निमन्त्रित होकर भी वे रह आये थे। उनके पति बहुत उदार थे। शरत् बाबू की बड़ी इच्छा थी, उनको निरुपमा देवी बनाने की। एक बार नवद्वीप के उनके घर में आकर वे उनसे रात-भर बैठे बातें करते रहे थे। उन बातों का अन्त नहीं आ रहा था। लेकिन रात का अन्त आ गया था। उनके मित्र ने आखें खोलकर देखा, वे तब भी बातें कर रहे थे। लीलारानी ने उन्हें लिखा था, "रादा, एक बार मिलने के लिए आओ।"

और दादा दौड़े चले गए। लीलारानी ने उनके स्वागत-सत्कार का कैसा विराट आयोजन किया! विदा की वेला भी कितनी भीग आई! बार-बार आने की प्रतिज्ञा, कैसा अकपट स्नेह था उन दोनों में!

समाज के सभी वर्ग की नारियों से उनके सदा सहज और आत्मीय संबंध रहे। उनकी कहानियां सुनने को वे नारियां जैसे लालायित रहती थी। उनके कहने की भावभंगिमा पर वे मुग्ध थी। उनके विचारों पर वे प्राण निछावर करती थीं। ऐसा निःस्वार्थ, ऐसा उदार, ऐसा मुक्त मनुष्य अब से पहले उन्होंने कहां देखा था। उनकी इसी अगाध भक्ति के करण तो वे उन्हें जान सके और उनके प्रति होने वाले अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर सके, उन्हें मनुष्य की मर्यादा दिला सके। यह मर्यादा दिलाने के लिए ही उन्होंने मूक नारी को स्वर दिया और पतिता के अन्तर में छिपे मनुष्य को खोजा। लेकिन इतना सब कुछ करने पर भी क्या वे अपने मन की आदर्श नारी को (राजलक्ष्मी को) अपने जीवन में पा सके!

यह न पाना ही उनके साहित्य की शक्ति है।

---

1. 24 फरवरी, 1924 ई०

2. 16 सितम्बर, 1928 ई०

3. मार्च, 1922 ई०

4. 'स्वामी' कहानी

5. 29 जुलाई, 1919 ई०

6. सन् 1932 ई०

7. परिच्छेद 18, खण्ड 2 भी देखिए।

8. इसी प्रकार की एक घटना की चर्चा श्री सौरिन्द्रमोहन मुकर्जी ने लेखक से की थी।

18

केवल नारी और विद्यार्थी ही नहीं दूसरे बुद्धिजीवी भी समय-समय पर उनको अपने बीच पाने को आतुर रहते थे।

बड़े उत्साह से वे उनका स्वागत-सम्मान करते, उन्हें नाना सम्मेलनों का सभापतित्व करने को आग्रहपूर्वक आमंत्रित करते और उनका जन्मदिन मनाते ।

इन अवसरों पर जो गोष्ठियां होती थी उनमें साहित्यिक बन्धु-बान्धव घरेलू वाततावरण में उनसे दिन खोलकर बात कर सकते थे । वे भी वहां मुक्त मन से अपनी मान्यताओं का विवेचन करते - न कुछ छिपाने का प्रयत्न न अपने को रहस्यमय बनाने का आयोजन । ऐसी ही एक गोष्ठी हुई थी मेदिनीपुर [1] में, जिसमें उन्होंने केवल सतीत्व और नारीत्व संबंधी अपनी मान्यता का ही विश्लेषण नहीं किया था और भी अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर दिए थे । एक बन्धु ने पूछा, "आपने सतीत्व की प्राचीन धारणा के विरुद्ध एक रिवोल्ट खड़ा कर दिया । क्यों ? यह समझाइए ।"

शरत्चन्द्र ने उत्तर दिया, "मैंने रिवोल्ट खड़ा नहीं किया । यह तो युग का प्रभाव है । कोई धारणा या वस्तु बहुत प्राचीन काल से चली आई है, इसी कारण वह सही नहीं है । कुछ भी हमेशा के लिए सही नहीं हो सकता । सतीत्व परिपूर्ण मनुष्यता का एक अंग है । वह मनुष्यता पर हावी नहीं हो सकता । कर्तव्य और अधिकार का संबंध ऐसा अविच्छिन्न हे कि एक न रहे तो दूसरा निरर्थक हो जाता हे । मैं शास्त्र का ज्ञाता होने का दावा नहीं करता । मेरा कोई धर्म ही नहीं है, पर जो कुछ मैं देखता आरहा हूं उससे लगता है कि शास्त्रों में पुरुषों के लिए किसी कर्तव्य की चर्चा नहीं है । उनके अधिकार ही अधिकार बताये गए हैं । पुरुषों के लिए कुछ वर्जित नहीं, पर किसी युवती का ज़रा पैर फिसल जाए तो फिर उसकी मुक्ति नहीं । ऐसा क्यों ? उसके लिए समाज में फिर से लौटकर सम्मान का स्थान प्राप्त करना क्यों बन्द हो जाता है ? क्या उसके प्राण नहीं हैं ? मैं तो यह जानता हूं कि उसमें उतना बड़ा प्राण है जितना किसी गृहस्थ सती में दुर्लभ है ।"

"पुरुष जो चाहे करके अपने को पतित कर लेता है, पर क्या आप इसी कारण स्त्री को भी पतित होने देंगे ?"

"देंगे का क्या अर्थ है ? मेरा केवल इतना कहना है कि आप जिस कसौटी पर स्वयं खरे नहीं उतर पाते, उस पर नारी को कसने की ज़बर्दस्ती क्यों करते हैं ?"

"क्या अन्याय या पाप के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न करना उचित नहीं है ?"

"शायद उचित है, पर मनुष्य मनुष्य से घृणा करे यह विचार भी मेरे लिए कष्टकर है । तारक गांगुली की 'सरला' नामक पुस्तक की प्रमदा को देखिए । उतनी बड़ी स्काउण्ड्रल देखने में नहीं आती । फिर भी वह आपके सनातनी मानदण्ड से सती है । क्या दैहिक शुद्धि इतना बड़ा गुण है कि जो पत्नी पति को जेल जाने से बचाने के लिए भी गहने नहीं देती, रुपये नहीं निकालती, वह भी सती है ? उसके सतीत्व का क्या मूल्य हे, मेरी समझ में नहीं आता ?"

"क्या पाप का ऐसा चित्र खींचना कर्तव्य नहीं, जिससे भय उत्पन्न हो ? क्या पाप के भय का प्रयोजन आप अस्वीकार करते हैं ?"

"भय से क्या सिद्ध होगा ? वह तो हमेशा रहा है । फांसी दी जाती हे फिर भी लोग हत्या करते हैं ।" एक सज्जन ने कहा, "यदि आप वेश्या में कोई सद्गुण दिखाएं तो क्या वह लोगों की दृष्टि में वेश्यावृत्ति के दोष घटाने के समान नहीं होगा ?"

शरत्चन्द्र ने उत्तर दिया, "शायद होगा । पर उसमें क्या हानि है ? मैं प्राचीन काल के राजकुमार और राक्षस की कहानी नहीं लिखता । राजकुमार में गुण ही गुण और राक्षस में दोष ही दोष । जो सच्चाई है उसे मैं क्यों न कहूं ? आपने यह मान रखा है कि जो चला आया है, वही अच्छा है । मैं जहां भी उस मानदण्ड से हटा, वहीं आप मेरी कलम पकड़ लेने को तैयार है । क्या जो कुछ भी प्राचीन से मेल नहीं खाता, वह गलत है ?"

एक मित्र बोले, "बंकिमचन्द्र ने शैवलिनी को सज़ा दी । क्या उसी प्रकार सज़ा देना उचित नहीं ?"

"मैं किसी को सज़ा नहीं दे सकता ।"

"पर आपने विराजबहू को तो सज़ा दी है ।"

"विराज की बात अलग है । उसकी सज़ा स्वेच्छाकृत है । वह उसके अन्तर्लोक की सज़ा है । वह अपने पति को प्राण-मन से प्यार करती थी वह कभी चन्द्रशेखर से प्यार रहीं करती थी । उसकी सज़ा पिक्यूलियर है और फोर्स्ड है । मन पर उसका ज़ोर नहीं । बंकिम बाबू को अनेक प्रकार की साइकिक शक्तियों की सहायता लेकर अपने समय के समाज के साथ निभाना पड़ा । मेरा कहना यह है कि मैं अपनी रचना के द्वारा मनुष्य की आत्मा का अपमान नहीं करना चाहता । पुरुष हो या स्त्री गिरकर उठने का रास्ता सबके लिए खुला होना चाहिए । हिन्दुओं का समाज बड़ा निष्ठुर है । मुस्लिम समाज तुलनात्मक रूप से अच्छा है । ईसाई समाज उससे भी अच्छा है । मेरे 'पल्ली समाज' की रमा और रमेश को लीजिए । दोनों महाप्राण हैं । दोनों में मंगल करने की कितनी आपार शक्ति है । पर दोनों के जीवन किस प्रकार नष्ट हो गये ! इन दोनों का मिलन एक रिलीजस यूनिटी नहीं हो पाया । ऐसा क्यों हुआ, क्या यह सोचना वर्जित है ? इतने बड़े प्राण नष्ट हो गये, पर क्या किसी दूसरे समाज में ऐसा होता ? मैं तो केवल चिन्तन के मार्ग का संकेत देकर चुप हो जाता हूं । आप लोग समस्या का समाधान करें । हम जो बाहर हैं उससे उलझकर रह जाते है

आन्तरिक भी तो है । प्रेम कितनी बड़ी वस्तु है । उसकी शक्ति इतनी अपार है । इसे बताना सम्भव नहीं । इससे सारे दोष और सारी त्रुटियां ढक जाती हैं ।"

यहां मानो शरत् बाबू कहना चाहते हैं कि समाज की बाधा अमानुषिक है । उसे दूर करना ही चाहिए, परन्तु समाज जब तक अन्तर से सहज रूप में बाधाओं को दूर नहीं करता तब तक बाधा के बन्द द्वार पर सिर फोड़ते रहना ही होगा ।

किसी ने पूछा, "आत्मत्याग वाले हमारे प्राच्य आदर्श को आपकी रचना में कितना स्थान मिला ?" शरतचन्द्र ने उत्तर दिया, "आत्मत्याग अवश्य है, आप लोगों में बहुतों को मालूम नहीं । वह सुविधा आपको नहीं मिली । मैंने बहुत भटककर देखा है कि दूसरे समाजों में विवाह से पहले स्त्री-पुरुष एक-दूसरे का हृदय जीतने के लिए कितना विराट आत्मत्याग करते हैं । प्रेम से बढ़कर आत्मत्याग की प्रेरणा और शिक्षा देने वाला और क्या है ? मैंने एक बर्मी लड़की को अपने प्रेमी से दो बातें कर पाने के अज्ञात आनन्द के निमित्त कई रात तक सांपों से भरे अंधेरे जंगल में प्रतीक्षा करते देखा है । मैं यौन मिलन के पहले की बात कह रहा हूं । प्रेमिका के मन को जीतने के लिए कितनी विपुल चेष्टा, कितनी आन्तरिक साधना करनी पड़ती है और उसमें कितना माधुर्य है, वह मैंने प्रत्यक्ष किया है । उसे मैं भूल नहीं सकता । इस प्राप्ति के लिए जितना त्याग, चेष्टा और साधना करती पड़ती है, उससे मनुष्य नोबल और बड़ी सीमा तक महान् हो जाता है । हमारे यहां विवाहित जोड़े में तो कुछ भी सम्भावना नहीं । जीतने में जो आनन्द है, जीवन पर उसका जो महान प्रभाव पड़ता है, उससे वे वंचित रह जाते हें । जय के लिए कितनी व्यग्रता तथा आकुलता मैंने देखी है ! वे इस प्रक्रिया से शक्ति संचित करते हें । अपनी योग्यता बढ़ाते हैं और ज़रूरत पड़ने पर द्वन्द्व युद्ध में उतर पड़ते हैं । वे प्रेम की मर्यादा जानते हें । उन्हें उसका सम्मान रखना आता है । यहां क्या होता है, समाज उन्हें पकड़-बांधकर कुछ मन्त्र पढ़वाकर एक कर देता है । उन्हें एक साथ रहना-सोना होगा, स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता । अच्छी-खासी गृहस्थी जम जाती है । बच्चे होते हैं । कभी-कभी झगड़े भी हो जाते है पर उन्हें प्रेम का जीता-जागता आनन्द प्राप्त नहीं होता

पशुओं में व्यग्रता और आकुलता देखी जाती है । तो क्या वे इससे श्रेष्ठ हो गये ?"

"कह सकते हैं कि यह पाशव है, पर इसी कारण हेय नहीं । उसमें जो आनन्द है वह दुर्लभ है । वह क्षणिक हो सकता है, पर है बहुत प्रभावशाली । जय का आनन्द कम नहीं होता । स्वयं निर्मित मनुष्य जिस प्रकार महान है, उसी प्रकार जो अपनी प्रेमिका की जीतते हैं, वे भी महान हैं । पर मैं सदाचार को भी मानता हूं । सौन्दर्य की चर्चा ही सब कुछ नहीं हैं ।"

"पर क्या ऐसे विचार हिन्दू धर्म के प्रतिकूल नहीं हैं ?"

"किसी विशेष धर्म के संबंध में मैं न तो कभी कुछ कहता हूं, न कहना चाहता हूं । शायद मैं किसी धर्म में आस्था नहीं रखता, पर इतना तो कहूंगा, जिसे आप हिन्दू धर्म कहते

हैं उसी पर हमें पंगु और जड़ बनाने की सबसे अधिक ज़िम्मेदारी है । इस्लाम में मनुष्यता का कहीं अधिक आदर है । ईसाइयत में उससे भी कहीं अधिक है । मेरी कृतियों में मेरे पात्र बोलते हैं । उनमें से किसी के वक्तव्य में मेरा वक्तव्य नहीं आता । मैं उन बातों को न तो मानता हूं और न मान सकता हूं । मेरे निकट जीवन ही सब कुछ हे । जीवन के बाद जीवन है या नहीं, मैं नहीं जानता । रहने दीजिए, यह सब सुनना आपको अच्छा नहीं लगेगा । मैंने जो अभी हृदय जीतने की बात कही थी, वह शायद पहले भी थी । अपनी योग्यता दिखाकर नारी के हृदय को जीतना पड़ता था । ऐसा सब जातियों और सब समाजों में होता था । किसी तरह घुटकर सावधानी से लक्ष्मण रेखा के अन्दर ज़िन्दगी काट देना उन्हें नहीं रुचता था । इस कारण उनमें से बहुतेरे जीवन में वास्तविक आनन्द के खोजी थे ।"

शरत् बाबू भी आनन्द के उपासक हैं पर उनका आनन्द संयम के बिना कुछ नहीं है । यही उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्राण है । अगले वर्ष [2] चन्दन नगर की गोष्ठी में उन्होंने इस संयम की तो चर्चा की ही अपने साहित्य सृजन की पृष्ठभूमि और परिवेश पर भी प्रकाश डाला ।

स्थानीय प्रवर्तक संघ के निमन्त्रण पर वे वहां गये थे । विप्लवी युग के नेता चारुचन्द्र राय, मतिलाल राय तथा बसन्त बन्दोपाध्याय आदि बहुत सक्रिय थे । मुक्त राजबन्दी श्री बलाई चन्द्र उन्हें पाणित्रास से स्वयं अपने साथ चन्दन नगर ले गये । यह गोष्ठी बहुत ही अन्तरंग थी । परिवार की तरह सब लोग शरत् बाबू को घेरकर बैठ गये और प्रश्नों के द्वारा एक-दूसरे को समझने की चेष्टा करने लगे । प्रारम्भ हुआ शरत् बाबू के वंश-परिचय से । वे बोले, "सुनकर दुख होगा, वंश का कोई गौरव मेरे पास नहीं है । जिन लोगों ने हमारे इतिहास का ईट-पत्थर खोजकर ढूंढ़ निकाला है, और कहते हैं, 'यह देखों हमारा यह था, वह था,' मैं उनकी बात सुनकर खुश नहीं होता । मैं तो कहता हूं कि हमारे यहां कुछ भी नहीं था, इसलिए दुख करने की कोई बात नहीं । प्राचीन वस्तुओं को लेकर गर्व करने से बात नहीं बनती । नूतन गढ़ डालो ।

"मति बाबू [3] की पुस्तकें मैं खूब पढ़ता हूं । वे इस देश को फिर पुराने ढंग पर खड़ा करना चाहते हैं । नया की गढ़ना चाहते हैं । किन्तु आधार हुआ धर्म, भगवत्भक्ति, यही सब । शास्त्रों में बहुत-सी साधना की बातें हैं । दुर्भाग्य से मेरा मन उलटी दिशा में गया है । मैं साधना का कोई मूल्य ही नहीं खोज पाता । शास्त्र-साधना यदि इतनी महान थी तो हम इतने छोटे कैसे हो गये ? नाना लोग नाना बातें कहेंगे । सभी जातियां जिनमें आत्मसम्मान की अनुभूति बहुत है वे लोग स्वाधीन कहकर संसार को अपना परिचय देते हैं । हम लोग इतने बड़े होकर भी पठानों, मुगलों और फिर अंग्रेज़ों के जूतों तले रोंदे गये । हमारा आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊंचा है किन्तु यदि इतने ही बड़े थे तो छोटे क्यों हुए जा रहे हैं । देश जिस त्याग के बीच से गुजर रहा है, मुझे लगता हे कि ठीक इसी में कोई गलती छिपी हुई है । उसे खोज भी नहीं पाते । क्रमश: अवनति की ओर चले जा रहे हैं । चार जनों को

सुनाकर कहता हूं बताएं, यह हजार वर्ष से ही हमारी दुर्दशा क्यों हुई? यह क्यों कर सम्भव हुआ? कोई यदि इसका कारण खोज सके तो दे श का महान उपकार होगा ।

"असल बात यह है कि मै मंस्कार का पक्षपाती नहीं हूं । पुराण नामक वस्तु की पोशाक-भर बदल देना मैं नहीं चाहता । 'पहर दाबी' में मैंने समझाया है कि संस्कार का अर्थ क्या है । वह अच्छा कुछ नही है । जो वस्तु खराब है, बहुत दिन चलने के कारण ढीली-ढाली हेकर हिलने-जुलने लगी है, उमे सुधारकर खड़ा करना है जिस प्रकार गवर्नमेण्ट का शासन सुधार । दूसरा दल जो क्रांति चाहता है, उसका अर्थ और कुछ नहीं केवल आमूल परिवर्तन है । हम बूढ़ों का दल यह नहीं चाहता । वे लोग सुधार करना चाहते हैं । मुझे लगता है, मरम्मत करने से चीजें अच्छी नहीं बनतीं । जो निश्चल हो चुका है जो खराब है उसे सुधाकर फिर से खड़ा करना उचित नहीं । मति बाबू ने शायद सोचा है कि अपने धर्म क्त संस्कार कर अर्थात् उसी को सुधार करके फिर से खड़ा करेंगे। मैं कहता हूं, सुधार नहीं, इस धर्म को छोड़ दो। इसका जीर्णोद्धार कर पुनर्जीवित करने की क्या आवश्यकता?.

प्रवर्तक संघ के लिए इस धारणा को स्वीकार करना सम्भव नहीं था पर उस समय अधिक वाद-विवाद में पड़ने को भी वे प्रस्तुत नहीं थे, क्योंकि उनके साहित्यिक जीवन के विकास के बारे में जानने की व्यग्रता उनमें अधिक थी।

शरत् बाबू पहले तो अपने को माहित्यिक ही मानने को तैयार नहीं थे। बोले 'मैं तो पेट की खातिर साहित्यिक बना हूं।.

लेकिन फिर गम्भीर होकर उन्होंने कहा, 'साहित्य का मूल है सहित से, अर्थात् सबके सहित सहानुभूति रखना आवश्यक है। घर बैठ आरामकुर्सी पर पड़े रहकर साहित्य सृष्टि नहीं होती। हां, नकल की जा सकती है। साहित्यकार यदि मानव को न देखें तो साहित्य नहीं होता। ये लोग करते क्या है कि पुस्तक के किसी एक कैरेक्टर को लेकर उसी में कुछ रहो-बदलकर एक नवीन कैरेक्टर की सृष्टि कर डालते हैं। मानव क्या है, यह मानव को देखे बिना नहीं समझा जा सकता। अत्यन्त कुत्सित गन्दगी के भीतर भी मैंने इतनी मानवता देखी है कि उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। मेरी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी है। जानने की इच्छा मेरी बराबर बनी रहती है। मानव के भीतर की सत्ता को जानना ही मेरा उद्देश्य है। जो तनिक फिसल गया मनुष्य उसे बिलकुल फेंक दें, यह क्या बात हे?

त्रैं निरन्तर मनुष्य का अंतरंग ही देखता हूं। इसने कहा, उसने कहा, दूसरे के कंधे से बदूक चलाना, अन्यकी अभिज्ञता को अपना बनाना, यह मैंने कभी नहीं किया। बहुत ही अभागा यह करेगा। वास्तविक जीवन को देखना चाहने पर शुचिता-अशुचिता के चक्कर में पड़ने से बात नहीं बनेगी। अभिज्ञता के कारण ही गोर्की, टात्काय, शेक्सपियर आदि शुचिता के फेर में नहीं पड़े। मूर्त रचना करना चाहने पर कल्पना से काम नहीं चलता, अपनी अभिज्ञता चाहिए। दूसरों की रचनाएं मैंने बहुत कम पड़ी हैं। मेरे घर पर जो पुस्तकें है उनमें अधिकांश साइंस की पुस्तकें हैं। इसलिए मेरी रचनाओं में युक्तियों का प्रयोग या

समन्वयात्मक परिणाम अधिक है। रूप और स्वभाव का वर्णन प्राय: नहीं है। वह सब मैं दो-चार वाक्यों में ही निबटा देता हूं उस पर अधिक ध्यान नहीं देता। असली चीज है उसकी सत्ता व मन, चाहे जो कहिए, मनुष्य का अन्तरंग। उसी को प्राप्त करने के लिए गहरी अभिज्ञता चाहिए। मैंने अपनी अभिज्ञता किस प्रकार बढ़ाई उसका विवरण देने की आवश्यकता नहीं, सब बताने लायक भी नहीं। मानव स्वभाव-वश अथवा दुर्बलता के कारण यह सब सहन नहीं कर सकता। रवीन्द्रनाथ के उस गीत में जैसा हे, जो विष है, वह मेरे ही हिस्से में पड़ा। उससे जो अमृत निकला वह अपनी रचनाओं द्वारा सबको दिया है। बहुत-से लोग कहते हैं और ठीक कहते हैं 'आपके चरित्रों को पढ़ने पर लगता है मानो वे काल्पनिक नहीं है।' पर मेरे नब्बे प्रतिशत चरित्रों का आधार सत्य है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना होगा कि सत्य मात्र साहित्य नहीं है। ऐसी अनेक सत्य घटनाएं है जिन्हें साहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किन्तु बुनियाद सत्य पर न खड़ी करने से पात्र प्राणवान नहीं हो पाता। नीव पक्की होने पर कोई भय नहीं। मैंने जो चरित्र देखे हैं, पारिपार्श्विक घात-प्रतिघातों के कारण उनकी जो परिणति हुई, वही चित्रित की है। इसीसे मुझे डरने का कोई कारण नहीं। लोगों के उन्हें अस्वाभाविक कह देने भर से मैं नहीं मानूंगा।'

'आपकी जो गम्भीरतर साहित्यिक उपलब्धि हे, उसकी प्राप्ति किस प्रकार हुई? आप भाव को किस प्रकार मूर्त रूप देते हें? कहने का जो ढंग, जो गठन, आद्योपान्त जो रस, जो आकांक्षा, जो लालित्य है, यह सब आपने कहां से पाया? आपकी बोलचाल की भाषा के साथ आपकी पुस्तकीय भाषा का कोई मेल नहीं। न तो यह पथेर दाबी' की भाषा है और न किसी अन्य रचना की ही।'

यह मैं नहीं कह सकता। भाषा तो अपने-आप ही आती है। मेरा लिखने का ढंग साधारण से अलग है। मैंने पहले ही कहा, मेरी स्मरण शक्ति बहुत तेज है। बचपन से जो देखा-सुना है, वह सबका सब हर समय मन में बना रहता है, ऐसा नहीं, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर याद आ जाता है। मैं सर्वप्रथम पात्र ठीक कर लेता हूं-एक, दो, तीन, क्रमश:। कहानी आरम्भ करना अथवा पात्र० लाकर खड़ा कर ० बहुत सहज। बहुत-० ० ० प्लाट ' ०, इसलिए लिखते नहीं।' मैं अवाक् रह जाता हूं। इतनी विशाल धरती पड़ी है, इतना वैचिन्य है, और ये लोग प्लाट नहीं खोज पाते। इसका कारण है कि वे मानवता को नहीं खोजते, अपनी कथा को लेकर ही व्यग्र रहते हैं। किससे लोगों का मनोरंजन हो, मैं यह नहीं करता। किसी पात्र का व्यक्तित्व भी नष्ट नहीं होने देता और घटनाक्रम को भी नहीं। लगता है साइंस की पुस्तकें पढ़ने के कारण मेरी भाषा भी उसी तरह की हो जाएगी। मैं भाषा अच्छी नही जानता। शब्दावली बहुत क्य है, फिर भी यह लोगों को क्यों अच्छी लगती है, मैं नहीं जानता। जो कुछ कहना या समझना चाहता हूं यही मन में रखता हूं और इसके लिए बहुत परिश्रम करता हूं। 'चह' और 'उन' का प्रयोग बहुत सावधानी से करना होता है। रचना को बहुत घिसना-मांजना पड़ता है, निर्झर-सी स्वत: फूट नहीं पड़ती। जो लोग कहते

हैं कि जो लिखूंगा वही उकृष्ट है, ये लोग भयंकर भूल करते है। मनुष्य की बातचीत की तरह लिखने में भी बहुत-सी असम्बद्ध बातें रहती हैं। उस ओर नजर रखनी होगी। मैं जैसे-तैसे कोई काम नहीं करता। इसलिए भूमिका लिखकर मुझे समझाना नहीं पड़ता। मेरी किसी पुस्तक में भूमिका नहीं हे।

"और एक बात बराबर देखता आ रहा हूं। साहित्य-रचना के भी कुछ कायदे-कानून हैं। ध्यान रखना होता है कि रस-वस्तु अअलिता की सीमा में न चली जाए। श्लीलता-अश्तीलता के बीच ऐसी एक सूक्ष रेखा है कि जिसके एक इंच उधर पांव पड़ जाने से ही सब अश्लील होकर नष्ट हो जाता है। जरा-सा पांव फिसला तो फिर बचना मुश्क्ति है। अवश्य ही मै रसिकों के बारे में कह रहा हूं। अअलि साहित्य सर्वदा वर्जनीय है। मनोरंजन त्कई खातिर मैं कभी झूठ नहीं बोलूंगा। यथासाध्य मै ऐसा नही करता।

"वेरी कठोर आलोचना हुई है। गाली-गलौज कई बीह्मर निकल गई। देश नहीं जानता कि ग्रंथकार, कवि, चित्रकार, इनका जीवन सर्वसाधारण से भिन्न होता है। यहां के लोग यह नहीं जानते कि इनको स्नेह की छया में ही रखना पड़ता है। लोग चाहते हैं, इन्हें अभिज्ञता भी प्राप्त हो और हमारी तरह शान्त, शिष्ट, भद्र र्ज। न भी यापन करें। ऐसा नहीं हो सकता। यह दुख का विषय हे कि हमारे देश में जो आलोचना होती है उसमें बारह आने व्यक्तिगत आक्षेप होते है। यह सारी आलोचना व्यक्ति की होती है पुस्तक की नही। इसी कारण बहुत-से लोग भयभीत हो उठते है।.

प्रश्नों का कोई अन्त नहीं था लेकिन शरत् बाबू जुरा भी नहीं थके। उत्युन्न मन अन्त में उन्होंने कहा, "इग्स चर्चा में आनन्द आया। केवल मनोरंजन के लिए नहीं, वास्तव में इस प्रकार की गोष्ठियों की आवश्यकता भी है। देश को क्कि प्रकार अगे बढ़ाकर उठाया जा सकता है, इस संबंध में विभिन्न लोगों के विभिन्न मत हैं। बीच-बीच में इसी प्रकार पाठकों और लेखकों को एकत्रित होकर विभिन्न प्रयत्नों में सामंजस्य बनाए रखने की आवश्यक्ता है। इसमें बहुत लाभ है। आजकल बहुत-से लोग लिखते है, किन्तु उनमें से बहुतों को ठीक लेखक नहीं क्का जा सकता। उनकी रचनाओं में संयम नहीं होता। वे लोग यौन संबंध के बारे में ऐसा गोलमाल करते हैं कि उनकी रचनाएं साहित्य कहलाने की अधिकारिणी हैं या नहीं इसमें सन्देह है। इन सारी रचनाओं में अधिकांश बाहर से उड़ाया हुआ है, अपनी खुद की अभिज्ञता नहीं। इसीलिए दूसरे से उधार ली हुई चीज को चलाने जाकर एक अशोभनीय काण्ड कर बैठते है। किसी के कुछ कहने पर वे लोग जिद करते हुए कहते हैं-खूब करेंगे, कहेंगे, लिखेंगे। किन्तु यह ठीक नहीं। इस प्रकार की गोष्ठियों और तभा-समितियों का आयोजन कस् यदि उनके साथ वार्तालाप की व्यवस्था त्कई जाए तो इससे अख्र परिणाम निकल सक्ता हे।"

इस गोष्ठी में एक बात उन्होंने खूब जोर देकर कही, "मैं मनुष्य को बहुत बड़ा करके मानता हूं। उसे छोटा करके नहीं मान पाता।"

लिंकन ने भी एक दिन धोषणा की थी, "मैं किसी व्यक्ति को पतित देखना नहीं चाहता।""

सुनो रे मानुष भाई

साबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई। चण्डीदास

इन गोष्ठियों के अतिरिक्त उनकी जन्म-जयन्ती के अवसर पर जो सम्मेलन होते थे, वे एक और दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इनके साथ अनायास ही कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का संबंध जुड़ गया है। यह क्रम सम्भवत: उनके 42 वें जन्मदिन से आरम्भ हुआ। उस वर्ष हावड़ा शिवपुर साहित्य संसद में उनका सम्मान किया गया था।

अगले वर्ष उनके 43 दें जन्मदिन के अवसर पर यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट में प्रसिद्ध लेखक श्री प्रमथ चौधरी के सभापतित्व में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया [4]। संयोजकों की बड़ी इच्छा थी कि इस सभा की अध्यक्षता श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर करें, लेकिन वे यह निमन्त्रण स्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने महाराजा जगदीन्द्रनाथ का नाम सुझाया और उसके लिए आग्रह करते हुए स्वयं पत्र भी लिख दिया, लेकिन अन्त में अस्वस्थ हो जाने के कारण वे भी नहीं आ सके और इसीलिए प्रमथ चौधरी अध्यक्ष हुए।

गुरुदेव स्वयं तो नहीं आ सके थे, लेकिन उन्हें आशीर्वाद देते हुए एक पत्र उन्होंने अवश्य लिख भेजा, 'श्रीयुत शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय का सम्मान करने वाली सभा में बंगाल के सभी पाठकों के साथ मैं भी अपना अमिनन्दन जताता हूं। आज भी सशरीर पूछी पर हूं इससे समय-लंघन का अपराध प्रतिक्षण प्रबल होता है, यह याद दिलाने के लिए नाना उपलक्ष्य सदा ही होते रहते हैं। आज सभा में सशरीर उपस्थित होकर सबके आनन्द में योग न दे सकूंगा, यह भी उन्हीं में से एक है। वस्तुत: मैं आज अतीत से आकर इस प्रदोषाधक्यर में अपना दुर्बल हाथ फैलाकर उनको आशीर्वाद दिए जाता हूं जिन्होंने बंगला साहित्य के उदय शिखर पर अपनी प्रभा की ज्योति फैलाई है।'

अभिनन्दन का उनर देते हुए बहुत-सी बातों के अतिरिक्त शरत् बाबू ने कहा, -विभिन्न परिस्थितियों के विपर्यय के बीच एक दिन विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ा था । इससे कुछ नुकसान नहीं हुआ, ऐसा नहीं। लेकिन इस अवधि में जिन लोगों से साक्षाक्सर हुआ था, उन्होंने मेरे सारे नुकसानों को पूरा कर दिया है। वे मेरे मन पर यह अनुभूति छोड़ गये हैं कि त्रुटि-स्थलन, अपराध, अधर्म ही मनुष्य का सब कुछ नहीं है। उसके बीच जो वस्तु वास्तव में मनुष्य है, जिसे आत्मा भी क्का जा सकता है, वह उसके सब अभावों, सब अपराधों से बरी है। अपनी साहित्य-रचना में मैं इसका अपमान नहीं करूंगा, लेकिन बहुतों ने इसे मेरा अपराध मान लिया है। पापी का चित्र मेरी तूलिका से मनोहर हो उठा, मेरे विरुद्ध उनका सबसे बड़ा अभियोग यही है।

-यह भला है या बुरा मैं नहीं जानता। इससे मानव के कल्याण की अपेक्षा अकल्याण अधिक होता है या नहीं इस पर भी मैंने विचार नहीं किया है। उस दिन जिस चीज को सत्य

समझा था उसी को निष्कपट रूप से प्रकट किया था। वह सत्य चिरंतन और शाश्वत है या नहीं, यह मेरे सोचने की बात नहीं है । अगर यह बात मिथ्या भी हो जाती है, तो मैं किसी से लड़ने नहीं जाऊंगा।. प्रेसिडेंसी कालेज की बंकिम-शरत् समिति आदि और भी अनेक संस्थाओं नें उनका अभिनन्दन किया। उनके जन्मस्थान देवानन्दपुर में शरत्चन्द्र पाली पाठागार' ख्रई स्थापना हुई। इसके लिए उन्होंने स्वयं एक अलमारी, अपने सारे उपन्यास और अन्य पुस्तकें दीं। वे अपने जन्मस्थान को कभी भूल नहीं सके। जब-तब वहां जाकर पुराने घाटों को देख आते थे और दूर-दूर तक नदी किनारे एकाकी घूमते-घूमते शैशव में खो जाते थे। वे अपना पैतृक भवन भी खरीदना चाहते थे। परन्तु किसी कारणवश यह सम्भव नहीं हो सका।

चंकिम- शरत् समिति' इसके बाद प्रतिवर्ष उनका जन्मोत्सव मनाने लगी1 तरुणों से उन्हें विशेष स्नेह जो था। उनके प्र दें जन्मदिन के अवसर पर समिति ने कई अधिवेशनों में शरत् साहित्य की आलोचना की और एक पुस्तिका भी प्रकाशित की [5] तं् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बंगला उपन्यासों पर एक लेख विशष रूप से उस पुस्तिका के लिए लिखा था। उस विकस क्तई परिणति शरतचन्द्र के उपन्यासों में कैसे हुई इसकी समुचित आलोचना करते हुए कविगुरु ने कहा, विषवृक्ष' और कृष्णकान्त का वसीयतनामा' के बाद बहुत दिन बीत गये। फिर देखता हूं गल्प साहित्य में एक और युग आया अर्थात् एक और पर्दा उठ गया। उस दिन जिस प्रकार अनिमंत्रित लोर्गा का दल साहित्य के प्रांगण में आ जुटा था, वह आज भी वैसा ही है। वैसा ही उत्साह, वैसा ही आनन्द, वैसी ही जनता। इस बार निमन्त्रणकर्ता है शरत्चन्द्र। उन्होंने अपनी कहानियों में जिस रस की सघनता से सृष्टि की है, वह है सुपरिचय का रस । उनकी रचना पहले से और अधिक पाक्कों के पास आ गई है। उन्होंने अपने को देखा है विकृत करके, स्पष्ट करके और उसी प्रकार स्पष्ट करके दिखाया है। उन्होंने रंगमंच का पर्दा उठाकर बंगाली परिवार के जिस आलोकित स्टझा का उद्धाटन किया है, उसमें आधुनिक लेखकों का प्रवेश सहज हो गया है। एक दिन वे शायद इस बात को भूल जाएंगे किन्तु आशा करता हूं कि पाठक नहीं भूलेंगे। यदि भूल जाएंगे तो यह उनकी अकृतज्ञता होगी। यदि ऐसा भी होता है तो दुख की बात नहीं है। काम समाप्त हो गया है, यही यथेष्ट है। कृतज्ञता तो मात्र ऊपरी प्राप्ति है।.....लेखक की मृत्यु के बाद काल ही उसकी कृतियों की रक्षा करता है।.

अगले वर्ष 57 वीं जन्म-जयन्ती [6] के अवसर पर उनके मित्रों और भक्तों ने यह उत्सव बड़े पैमाने पर मनाने का प्रस्ताव किया। बंगाल की महिलाओं और छात्र-छात्राओं ने भी इस अवसर पर अलग-अलग उनका हार्दिक अभिनन्दन किया।

लेकिन जो मुख्य उत्सव टाउन हाल में होने वाला था वह ठीक समय पर एक कुचक्र के कारण भंग हो गया। बेहाला 'के जमींदार मणीन्द्रनाथ राय उनके परम भक्त थे। उन्होंने ही इस सभा का आयोजन किया। सभापति चुने गये इस बार फिर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टाकुर।

लेकिन इस बार भी वे नहीं आ सके। इस समय बंगाल कांग्रेस में दो दल थे। शरतचन्द्र सुभाषचन्द्र बसु के समर्थक थे। इसलिए उनका झुकाव फार्वर्ड दल की ओर था। अभिनन्दन समिति में संयोग से उन्ही का बहुमत था। इसी बात को लेकर उनके विरोधी एडवान्स दल के लोग नाराज हो गये और उन्होंने इस 6 को पंगु बनाने की पूरी कोशिश की। ऐसा करने का उन्हें अवसर भी मिल गया। संयोग से इम वर्ष शरतचन्द्र की जन्मतिथि जिस दिन पड़ी, उस दिन पिछले वर्ष हिजली जेल में पुलिस की गोली से दो बन्दियों की मृत्यु हो गई थी। इसी को उपलक्ष मानकर एडवान्स दल ने साहित्य के हीरो की अभ्यर्थना को धूमिल कर दिया।

जो उनके मित्र और प्रिय थे और बाद में फिर वैसे ही हो गये उन्हीं यतीन्द्रमोहन बागची, कालिदास राय और सावित्रीप्रसन्न चट्टोपाध्याय ने वक्तव्य दिया कि यह उत्सव नहीं होना चाहिए। उधर अमल होम इस उत्सव में विशेष रूप से रुचि ले रहे थे लेकिन अचानक वे बीमार हो गये। ठीक समय पर सभा का आयोजन हुआ और एडवान्स दल के लोगों ने वहां एक हंगामा खड़ा कर दिया। शरत्चन्द्र द्वार तक आकर लौट गये। शनिवारेर चिठि' के सजनीक्यन्त दास का इस हंगामे में प्रमुख हाथ था। पारस्परिक वैमनस्य और दलबन्दी के कारण यह उत्पात हुआ। अन्यथा जन्म-जयन्ती का उत्सव साधारण रूप से कही भी मनाया जा सकता था। या जैसा बाद में करना पड़ा, शुरू में ही स्थगित किया जा सकता था। राजनीतिक तनातनी के बीच में व्यक्तिगत उत्सव को इतना महत्व न् देना शायद उदारता ही होती। अन्ततः शरत् वन्दना समिति ने दो दिन बाद [7] यह उत्सव मनाया। उनके सम्मान में एक पुस्तक (शरत् वन्दना) प्रकाशित की और उन्हें अनेक बहूमूल्य उपहार भेंट में दिये।

इस दुर्धटना का एकमात्र कारण यही नहीं था। उन दिनों देश में साम्प्रदायिक निर्णय के कारण बहुत उत्तेजना फैली हुई थी। गांधीजी अश्वों के प्रश्त को लेकर आमरण अनशन करने का निश्चय कर चुके थे। इस निश्चय से देशवासियों का उद्विग्न होना स्वाभाविक था। यतीन्द्रमोहन बागची आदि के विरोध का मुख्य कारण भी यही था, अन्यथा 'शरत् वन्दना' में उनकी रचनाएं भी हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसीलिए शायद उस सभा में नहीं आ सके थे । उनक न आने का एक और भी कारण हो सकता है । कुछ ही दिन पूर्व जर्मनी में उनके दौहित्र का देहान्त हो गया था । अपने पद इं' उन्होंने जिस विशेष उद्वेगजनक सांसारिक घटना का जिक्र किया है, वह शायद यही थी। [8]

व्यक्तिगत पत्र के अतिरिक्त अपना आशीर्वाद एक सार्वजनिक पत्र के रूप में भेजते हुए उन्होंने लिखा -

विशेष उद्वेगजनक सांसाारक घटना के कारण तुम्हारे जन्मदिन के उत्सव में होनेवाली सभा में उपस्थित रहना संभव नहीं हो सका । मेरी आन्तरिक शुभकामना पत्र के रूप में तुम्हारे पास भेज रहा हूं । तुम्हारी उम्र अधिक नही है । तुम्हारी सृष्टि का क्षेत्र तुम्हारे सामने दूर-दूर तक फैला हुआ है । तुम्हारी जययात्रा की अभी समाप्ति नहीं हुई । उसी असमाप्त

यात्रापथ के बीच में अकस्मात् तुमकी खड़ा करके अर्ध्य देना मेरी दृष्टि में सोचता हूं असामयिक है । अभी तुम्हारे स्तब्ध होने का अवकाश नहीं आया। अभी तुम्हारा हरा-भरा सुदूर भविष्य तुम्हें पुकार रहा है ।

सत्तर वर्ष पूरे करके कर्म साधना के अन्तिम चरण में पहुंच गया हूं । कर्तव्यपथ की प्रदक्षिणा सम्पूर्ण कर देने पर भी यदि मुझे अब भी चलना पड़ता है तो केवल पुनरावर्तन-मात्र है । इसी कारण कुछ दिन पहले मेरे देश ने मेरे जीवन का शेष प्राप्य समारोह करके चुका दिया था । साधारण जन के सामने मेरा परिचय समाप्त हो गया है, यह कहकर शेषकृत संभव हो गया । आकाश के सावन के मेघ जब अपना दान पूर्ण कर देते है तभी धरती पर शरत् की पुष्पांजलि प्रस्तुत होती है । इसके बाद मेघ यदि सम्पूर्ण विश्राम नहीं करते तो वह वर्षा पुनरावृत्ति-मात्र है । यह तो ज्यादती है ।

तुम्हारा वह समय नहीं आया । अभी तो तुम्हें देश को, प्रतिदिन हुई नयी रचनाओं से, नया-नया आनन्द दान करना है और उसी उल्लास के साथ देश तुम्हारी सदा जयध्वनि करता रहेगा । पथ में पद-पद पर तुम प्रीति पाओगे, आदर पाओगे । पथ के दोनों ओर जो ये सब नये फूल खिल उठेंगे, यह सब तुम्हारे हैं । अन्त में सबके हाथों से तुम्हारे मुकुट के लिए तुम्हारी अन्तिम वर-माला गूंथी जाएगी । वह दिन अभी बहुत दूर है । आज देश की जनता तुम्हारे मार्ग की साथी है । दिन पर दिन वह तुमसे पाथेय का दावा करेगी । उनकी वही इच्छा तुम पूर्ण करो । पथ के अन्त में पहुंचा हुआ मैं यही कामना करता हूं । जनसाधारण जो सम्मान का या अनुष्ठान करके बीच में समाप्ति का शान्तिवाचन करते हैं, तुम्हारे लिए वह संगत नहीं है । यह बात तुम निश्चय मानो।

तुम्हारे जन्मदिन के उपलक्ष्य में 'काल-यात्रा' नाम की एक नाटिका तुम्हारे नाम उत्सर्ग करता हूं । आशा करता हूं, यह दान तुम्हारे अयोग्य नहीं होगा । इसका यह है कि रथ-यात्रा के उत्सव में हठात् सब-नर-नारी यह देखते हैं, महाकाल का रथ अचल है । मानवसमाज की सबसे बड़ी दुर्गति काल की यही गतिहीनता है । मनुष्य-मनुष्य मे जो संबंध-बन्धन देश-देश युग-युग में प्रसारित हो गये हैं, वे ही बंधन उस रथ को खींचने वाली रस्सी हैं । उन बंधनों में अनेक ग्रंथियां पड़ जाने पर मानव संबंध असत्य और असमान हो जाते हैं । उससे रथ नही चलता । इन्हीं संबंधों का असत्य इतने समय तक जिनको विशेष रूप से पीड़ित करता है, अपमानित करता है, सुधन के श्रेष्ठ अधिकार से वंचित करता है, आज महाकाल अपने रथ के वहन के रूप मे उनका ही आहान कर रहा है । उनका असम्मान नष्ट होने पर ही, संबंधों का असाम्य दूर होने पर ही रथ सामने की ओर चलेगा ।

काल की रथ-यात्रा की बाधा दूर करने के लिए जिस महामंत्र कई आवश्यक्ता है वह तुम्हारी प्रबल लेखनी द्वारा सार्थक हो, इसी आशीर्वाद के साथ तुम्हारे दीर्घ जीवन की कामना करता हूं । इति ।

इस आशीर्वाद में कवि ने कहा है, "तुम्हारी जययात्रा की अभी समाप्ति नहीं हुई है । उसी असमाप्त यात्रापथ के बीच में अकस्मात् तुमको खड़ा करके अर्ध्य देना मेरी दृष्टि में असामयिक है ।' इस वाक्य का बहुत-से लोगों ने गलत अर्थ लगाया । स्वयं शरत्चन्द्र भी मन ही मन बहुत प्रसन्न नहीं थे । एक मित्र से उन्होंने कहा भी था कि वीन्द्रनाटः उनका ठीक-ठीक आदर नहीं करते । उन्होंने काल-यात्रा' नाम की जो नाटिका उन्हें समर्पित की है, वह इतनी नगण्य है कि उसका नाम तक कोई नहीं जानता। "अगर वे मुझे कोई भी पुस्तक समर्पित न करते तो मुझे और भी खुशी होती। जो भी हो, वह दान मैंने गुरु का आशीर्वाद समझकर स्वीकार कर लिया है, किन्तु इससे मेरा क्षोभ कम नहीं होगा।"

लेकिन उन्होंने गुरुदेव को जो पत्र लिखा, उसमें इस बात का आभास तक नहीं है। उन्होंने लिखा, "समय की गति के साथ-साथ आपका जो आशीर्वाद मिला, वह मेरे लिए श्रेष्ठ पुरस्कार है। आपका तुच्छतम दान भी संसार में किसी भी साहित्यिक के लिए सम्पदा है। इस दान को सिर-माथे पर लेता हूं। मेरी तकदीर अच्छी है कि उस दिन आपका कलकत्ता आना संभव नहीं हुआ। आते तो उस दिन का अनाचार देखकर अल्ग्न्त ही साथित होते। सबमे बढ़कर दुग्झ की बात ग्ह हे कि प्राय: मेरे समवयस्क साहित्यिकों ने ही इस उपद्रव का सूत्रपात किया। सांत्वना की बात केवल यही है कि रसकी वे लोग पसन्द करते हैं। मैं उपलक्ष-मात्र हूं क्योंकि पिछले साल (आपकी) जयन्ती में भी (उन्होंने) कुछ कम दुख देने की चेष्टा नहीं की थी। मैं एक दिन आपको प्रणाम करने आना चाहता हूं लेकिन संकोचवश नहीं आ पाता हूं। कहीं कोई कुछ समझ न बैठे।"

इस पत्र का बहुत ही सुन्दर उत्तर दिया गुरुदेव ने। लिखा, "तुम्हारे प्रति जो अत्याचार हुआ उसका विवरण जानकर लज्जा आती है, किन्तु यह बात निस्सन्देह ठीक है कि देश की जनता के हृदय पर तुमने अधिकार कर लिया है। इस प्रेम से बढ्कर मूल्यवान अध्य और कुछ नहीं हो सकता, पर यह प्यार पाया है तो आघात भी सहना होगा। केवल यदि यश ही मिलता और उसको लेकर किसी के मन में कोई विरोध न होता तो उस यश का गौरव न रहता। तुम्हारी प्रतिष्ठा जितनी बढ़ेगी उतना ही दुख भी बढ़ेगा। इसके लिए मन को पक्का कर रखो.....।"

अपने आशीर्वाद में भी गुरुदेव ने जो भावना प्रकट की, उसमें कोई दुरभिसंधि नहीं है। सही बात को उन्होंने सही रूप में ही रखा है। इस प्रकार की आदर-अभ्यर्थना व्यक्ति को गतिहीन करने में अधिक समर्थ होती है, यह चरम सत्य है। गुरुदेव शरत् बाबू की रचनाओं के प्रशंसक थे। अनेक बार अनेक लेखों में उन्होंने इस बात का प्रमाण दिया है। पांच वर्ष पूर्व साहित्य में नवोनता' नाम के निबन्ध में उन्होंने लिखा था, "शरत् बाबू की कहानी बंगालियों की कहानी है, किन्तु उनका कहानी कहना एकांत रूप से बंगालियों का नहीं है। इसीलिए उनके क्या-साहित्य के जगन्नाथ क्षेत्र में जाति-विचार की बात नहीं उठ सकती। उनका कहानी कहने का सर्वजनीय आदर्श ही विस्तार के क्षेत्र में सब लोगों एा बुला लाता है। उस

आदर्श के छोटा होते ही निमंत्रण भी छोटा हो जाता हे। तब फिर वह भोजन परिवारिक हो सकता है, जातिभोज हो सक्ता है किन्तु वह उस साहित्यतीर्थ का महाभोज नहीं हो सकता, जिस तीर्थ में सब देश के यात्री आकर मिलते हैं।"

दो वर्ष बाद 'चाहित्य-विचार' निबन्ध में उन्होंने फिर लिखा, "शरत्चन्द्र की कहानियां 'बैताल पच्चीसी' हातिमताई' गुलबकावली' या कादम्बरी', 'वासवदत्ता' के समान नहीं हुई हैं, योरोपीय कथा माहित्य के ढंग की हैं। इससे अभारतीयत्व या रजोगुण प्रमाणित नहीं होता, इससे प्रमाणित होती है प्रतिभा की प्राणवत्ता। सत्य का जो प्रभाव हवा में उड़ता फिरता है, वह दूर से आये, चाहे निकट से, उसे सबसे पहले अनुभव करता है प्रतिभाशाली चित्त। जो प्रतीभाहीन होते है, वे उससे बचाव चाहते हैं और फूंइक प्रतिभाहीनों का दल जूरा भारी होता है और उसकी निस्पन्दता दूर होने में बहुत विलम्ब होता है, इसलिए प्रतिभा के भाग्य में दीर्घकालिक दुख भोगना बदा रहता है। इसी से मेरी राय है कि साहित्य का विचार करते समय विदेशी प्रभाव और विदेशी प्रकृति की चुटकी लेते हुए वर्णसंकरता या व्रात्यता का विवाद न उठाया जाये।"

शरत् बाबू की गल्प-रचना शक्ति को मुक्त मन से स्वीकार करते हुए एक बार कविगुरु ने उनसे कहा था, "इस बार यदि तुम्हें लखनऊ साहित्य सम्मेलन में जाना हो तो भाषण के बदले एक कहानी लिखकर ले जाना।"

शरतचन्द्र नारी जाति के मसीहा के रूप में जाने जाते हैं। कविगुरु ने भी अपनी एक प्रसिद्ध लम्बी कविता 'साधारण मेये' में कहा है कि साधारण नारी शरतचन्द्र को अपनी मनोवेदना प्रकट करने वाले लेखक के रूप में जानती है । जानती है कि यदि शरत् बाबू उसकी कथा लिख देंगे तो उसका उद्धार हो जाएगा । इसीलिए वह साधारण लड़की' उनसे विनती करती है, "पांव पड़ती हूं तुम्हारे, एक कहानी लिखो शरत् बाबू! नितान्त साधारण लड़की की कहानी ।"

पाये पड़ि तोमार, एकटा गल्प लेखो तूमि शरत् बाबू
नितान्त साधारण मेयेर गल्प

इसी नाम की एक कविता लिखी उनके मामा उपेन्द्रनाथ ने । उसमें भी वे शरत् से कहते हैं, "तुम अगर साधारण लड़की की कहानी नहीं लिखोगे तो मैं लिखूंगा । लेकिन वह इतनी असाधारण नहीं होगी और बंगाल की नारियां उसे पढ़कर शरत्चन्द्र को ही शाप देंगी ।"

इससे स्पष्ट है कि गुरुदेव ने उनकी प्रतिभा का वरण किया था और जहां तक शरत् बाबू का संबंध है वे जीवन-भर उनको अपना गुरुदेव मानते रहे । लेकिन फिर भी उनके जीवन में ऐसे अवसर आये जब उन दोनों मे अपरिचय की दूरी बड़ी और कुछ ही समय के लिए सही, मनोमालिन्य पैदा हुआ । कई वर्ष पूर्व [9] कविगुरु ने शरत्चन्द्र के और अपने,

दोनों के, परम भक्त संगीतज्ञ दिलीपकुमार राय को एक पत्र लिखा था । उसमें उन्होंने अपने और शरत् के बीच पैदा हो जाने वाले व्यवधान की चर्चा की है ।

"किसी पत्र-लेखक ने बताया है कि शरत्चन्द्र को विश्वास है कि मैं उसके ऊपर विरक्त हूं । जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं वे इतनी बड़ी भूल नहीं कर सकते । राष्ट्रनीति या किसी विषय में मत न मिलने को मैंने कभी भी फौजदारी दण्ड-विधान के अन्तर्गत नहीं माना । यदि मैं किसी दिन स्वराज्य सरकार का अधिनायक होता हूं ऐसा होने पर तुम पूर्ण रूप से निश्चित रह सकते हो कि मेरे साथ तुम्हारे संगीत का मेल न होने पर भी तुम्हारा धन और जीवन सुरक्षित रहेंगे । शरत् ने मेरे प्रति कोई अपराध नहीं किया । शायद तुम जानते हो कि शरत् के संबंध में मैंने कभी अश्रद्धा प्रकाशित नहीं की (साहित्य के संबंध में) । शुरू से ही मैं उनकी प्रशंसा करता आ रहा हूं । बहुत लोग कहानी लिखने में शरत् को मुझसे श्रेष्ठ मानते है । यह मेरे चिन्ता करने की बात इसलिए नहीं कि काव्यरचना में मैं शरत् से श्रेष्ठ हूं । इस बात को बड़े से बड़ा निंदक भी अस्वीकार नही कर सकता ।..... .तुम शायद जानते हो कि मैं बहुत दिन से होम्योपैथी की चर्चा करता आ रहा हूं ऐसा होने पर भी तुम्हारे स्वर्गीय नानाजी को जनसाधारण मुझसे बड़ा डाक्टर मानते हैं । तब मेरी एक यही सांत्वना है कि वे मेरे समान छोटी कहानी नहीं लिख सकते । सभी कहते हैं, मुझसे तुम्हारा कण्ठस्वर अच्छा है । उसको लेकर इया अश्रुपात न करके मैं कहता हूं कि मण्टू से मेरा हस्तलेख बहुत अच्छा है ।.....सभी विषयों में मेरी क्षमता यदि सबके समान नहीं है, इसलिए ही मैं क्षमताशाली लोगों के सींग मारता फिरता हूं तो फूटा कपाल और फूटकर चार खण्डों में बंट जाएगा । मेरे देश में कोई भी किसी भी विषय में श्रेष्ठता लाभ क्यों न करे, मैं उसके गौरव में सम्मिलित हूं । इस श्रेष्ठता को नामंजूर करके अपने को ही वंचित किया जाता है । मेरे देश में बहुतं-से लोग मुझसे अधिक बहुत-से विषयों में बड़े हैं । यह अहंकार मैं संसार के सामने कर सकता हूं । शरत् की एक समय की चर्खा-भक्ति को लेकर मैंने तुम्हारे सामने बार-बार हंसी की है । कभी नहीं हंसता, गम्भीर होकर बैठता, यदि मेरे मन में लेश-मात्र भी कांटे का घाव होता । कारण, व्यक्तिगत कारणों से जिनसे मेरी विमुखता है, उनकी निन्दा करने में मुझे बड़ी लज्जा आती है । जिसकी प्रशंसा नहीं कर सकता, उसकी निन्दा नहीं करना चाहता । जब मेरे हाथ में साधन पत्रिका थी, तब मैंने साहित्य को अच्छा-बुरा नहीं कहा था । बंकिम की एक-दो बार निन्दा की है । क्योंकि उनकी प्रशंसा करना मेरे लिए स्वाभाविक था ।.....उनका ठिकाना नहीं जानता । तुम निश्चय ही जानते हो, इसलिए उनसे मिलकर या पत्र द्वारा बता दो कि मैं सर्वान्तःकरण से उनकी कल्याण-कामना करता हूं । चरखा छोड़कर उन्होंने कलमपकड़ी है, इससे मैं खुश हुआ हूं । क्योंकि उनकी कलम से देश की उन्नति का जो सूत्रपात होगा, चर्खे से वह नहीं होगा । किन्तु यदि वे खामखाह चक्रधर बनते भी है, तो उनके विरुद्ध मैं कभी भी चकांत (षश्यन्य) नहीं करूंगा ।"

यद्यपि इस पत्र में कविगुरु की विनोदप्रियता ही मुखर हुई है, लेकिन उनकी भाषा के पीछे उनके मन में उठनेवाले अन्तर्द्वन्द्व की झांकी भी मिलती है । उन दोनों को लेकर उस काल कें साहित्यिक चेले-चांटे जो षड्यन्त्र रचते रहते थे, वह भी इस पत्र से स्पष्ट हो जाता है । यह मान लेना बहुत कठिन नहीं है कि कविगुरु के मन में शरत् के प्रति दुर्भावना नहीं थी । गिरिजा कुमार बसु को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने यह बात एक बार फिर स्पष्ट की है ।

"शरत् से कहो कि उनके ऊपर क्रुद्ध होना कष्टदायक है, क्योंकि स्वभाव के विरुद्ध है । जिसमें जो कुछ अच्छा है उसको अच्छा कहने के लिए मुझमें खूब छगकुलता है, इसलिए प्रतिकूलता होने पर भी मैं प्रतिकूल नहीं हो सकता । शरत् ने मेरे प्रति कोई अपराध किया हो मैं नही जानता । यदि मेरे साथ उनका किसी विषय में मत नहीं मिलता, उसको लेकर झगड़ा करना मेरे लिए संभव नहीं है । अपने बारे में भी मत-स्वातंन्य का दावा करता हूं । इस संबंध में दूसरों के दावे की भी रक्षा करता हूं । साहित्य में शरत् का गौरव चिरन्तन हो, परिव्याप्त हो, उनके गौरव से देश का गौरव बढ़े, यह मेरी आन्तरिक कामना है.....।.

किया हो मैं नही जानता । यदि मेरे साथ उनका किसी विषय में मत नहीं मिलता, उसको लेकर झगड़ा करना मेरे लिए संभव नहीं है । अपने बारे में भी मत-स्वातंन्य का दावा करता हूं । इस संबंध में दूसरों के दावे की भी रक्षा करता हूं । साहित्य में शरत् का गौरव चिरन्तन हो, परिव्याप्त हो, उनके गौरव से देश का गौरव बढ़े, यह मेरी आन्तरिक कामना है.....।.

गुरुदेव ने जो कामना व्यक्त की वह निरन्तर फलीभूत हो रही थी । उनके गौरव से देश का गौरव सचमुच बढ़ रहा था । देश के बाहर भी उनकी ख्याति पहुंच गई थी । 'श्रीकान्त' प्रथम पर्व का अनुवाद अंग्रेजी में हो चुका था । डा० कनाई गांगुली ने उसका अनुवाद इतालवी भाषा में भी किया था । इस अनुवाद को पढ़कर फ्रेंच मनीषी रोम्या रोलां ने प्रवासी के सम्पादक रामानन्द चट्टोपाध्याय से पूछा था, "शरत्चन्द्र प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार हैं । उन्होंने और कौन-कौन-सी किताबें लिखी हैं ।" [10]

'कल्लोल' के सम्पादक दिनेशचन्द्र दास को भी एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "हम कई योरोपवासी बन्धु भारतवर्ष के वर्तमान साहित्यिकों के साथ परिचय प्राप्त करना चाहते हैं । शरतचन्द्र की रचनाओं का परिचय पाकर हमें खुशी होगी । के० सी० सेन और टामसन द्वारा अनूदित उनके 'श्रीकान्त' प्रथम पर्व को पढ़कर उनके अभिनव व्यक्तित्व और लिपि-कुशलता पर मुग्ध हो गया हूं ।"

उस दिन लीग आफ नेशन्स के कार्यालय में कई बंगाली मित्रों से बातचीत करते हुए बंगाल सरकार के तत्कालीन अर्थ मन्त्री नलिनीरंजन सरकार ने बड़े दुख के साथ कहा था, "एक रवीन्द्रनाथ को छोड़कर पश्चिम के देशों में और किसी बंगाली का नाम नहीं सुना जाता ।"

पास ही एक विदेशी महिला बैठी हुई थीं । उन्होंने कहा, "शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय नाम के एक बंगाली लेखक के प्रति भी पाश्चात्य देश के रहनेवालों के मन में बड़ी श्रद्धा है । उनकी दो-एक किताबों का नाट्य रूपान्तर लैटिन आदि भाषाओं में भी हो चुका है । इतना ही नहीं, विदेशी रंगमंच पर उनका प्रदर्शन भी हुआ है ।"

स्वयं शरत्चन्द्र के पास पाश्चात्य विद्वानों के अनेक पत्र आते थे । एक इटालियन ने 'श्रीकान्त' की विस्तृत प्रशंसा करते हुए लिखा था – "यह रचना आज के विश्व साहित्य की चोटी की रचनाओं में गिने जाने योग्य है । मैंने मूल बंगला में उसे पढ़ा है और अब इटालियन भाषा में उसका अनुवाद करने जा रहा हूं ।" [11]

क्या यह किसी भी देश के लिए गर्व की बात नहीं है ?

---

1. फरवरी, 1929 ई०
2. नवम्बर 1930 ई० । इस पुस्तक मे कई स्थान पर इसकी चर्चा हुई है ।
3. प्रवर्तक संघ के विशिष्ट सज्जन
4. 16 सितम्बर, 1928 ई०
5. सन् 1931 ई०
6. सन् 1932 ई०
7. आश्विन (18 सितम्बर, 1932 ई०)
8. 6 अगस्त, 1932 ई०
9. विस्तृत विवेचन के लिए देखें अध्याय 21
10. सितम्बर, 1926 ई०
11. शरतचन्द्र : व्यक्ति और कलाकार -इलाचन्द्र जोशी, पृष्ठ 51

19

चन्दन नगर की गोष्ठी में उन्होंने कहा था, "राजनीति में भाग लिया था, किन्तु अब उससे छुट्टी ले ली हे । उस भीड़भाड़ में कुछ न हो सका । बहुत-सा समय भी नष्ट हुआ । इतना समय नष्ट न करने से भी तो चल सकता था । जो हुआ सो हुआ । कुछ अनुभव ही प्राप्त हुआ । आगे से अपनी साहित्य-साधना में ही लगा रहूंगा ।" [1]

इस समय देश में नमक सत्याग्रह का ज़ोर था । इसी गोष्ठी में एक बन्धु ने पूछा, "वर्तमान राजनीतिक आन्दोलन के संबंध में कुछ कहिए । कैसा चल रहा है और आपको कैसा लगता है?'

उन्होंने उत्तर दिया, "अच्छा ही चल रहा है । किन्तु मैं इस संबंध में कुछ न कह सकूंगा ।"

इससे स्पष्ट है कि अब उनका मन राजनीति से उचट रहा था और यह भी सत्य है कि उनके राजनीति में जाने से साहित्य की हानि हुई । परन्तु देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करना साहित्यकार का उतना ही अधिकार वे मानते थे, जितना राजनीतिज्ञ का । बल्कि उससे कुछ अधिक ही । इसलिए अहिंसा और चर्खे में विश्वास न रखते हुए भी उन्होंने अनुशासन के कारण उनका यथाशक्ति सम्मान किया । लेकिन ऐसा लगता है कि इस उदासी के बावजूद उन्हें शीघ्र ही मुक्ति नहीं मिल गई । कुछ दिन और वे उससे जुड़े रहे । उनकी राजनीतिक मान्यता क्या थी यह उनके कार्यों से और उनके उन विचारों से स्पष्ट हो जाता है जो 'पथेर दाबी' में उन्होंने प्रकट किये । उसके प्रकाशन-काल में एक दिन कई कांग्रेसजन उनसे मिलने आये । प्राय: सलाह-मशविरे के लिए आते रहते थे । उस दिन उन्होंने पूछा, "अहिंसक सत्याग्रह और हिंसक विप्लव, इन दोनों में आप किसका समर्थन करते हैं? आप हावड़ा कांग्रेस के सभापति हैं और कांग्रेस हाईकमांड का आपके प्रति स्थायी निर्देश है अहिंसात्मक सत्याग्रह, मगर आपके 'पथेर दाबी' उपन्यास में हिंसा का संकेत है ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मैं उसका (हिंसा का) समर्थन नहीं करता, यह सत्य है । फिर भी न जाने क्यों क्रान्तिकारियों के प्रति मेरे अन्दर यह एक कमजोरी रह गई है । इसलिए खतरा उठाकर भी इनसे सम्पर्क रखने और कभी-कभी यथासंभव आर्थिक मदद करने में मैं तनिक भी आगा-पीछा नहीं करता । तुम लोगों में शायद कोई नहीं जानता कि इनमें से कई गहरी रात के अंधेरे में मेरे पास आया करते हैं । अभी उस दिन दिन-दहाड़े सबकी आँखों में धूल झोंककर एक क्रांतिकारी मेरे घर पर कुछ घंटे काट गया ।

“उस दिन उसके एक आदमी ने आकर मुझे खबर दी कि दोपहर के समय आलू का टोकरा लिए 'आलू ले लो आलू ले लो ' चिल्लाता हुआ वह क्रांतिकारी घर के पास से गुज़रेगा । उसकी आवाज़ सुनकर आलू लेने के बहाने मैं उसे घर के अन्दर बुला लूं ।

'आवाज़ तो सुनी मगर अचानक उसे बुलाऊं कैसे? यहां आने के बाद कभी कोई चीज स्वयं नहीं खरीदी । आज अगर अचानक आलूवाने को बुलाने की बात की तो लोगों को शक होगा और उसकी गोपनीयता प्रकट हो जाएगी । बहुत सोच-विचारकर आखिर गृहस्वामिनी की शरण ली । बुलाकर कहा, 'बडी बहू, कोई आलूवाला पुकार रहा है, आलू लोगी क्या ?'

गृहस्वामिनी बोली, 'घर में ढेर सारे हैं । आज ही तो बाजार से आये हैं ।'

मैं बड़ी आतुरता से बोला, 'तो क्या बेचारा इस चिलचिलाती धूप में 'आलू आलू ' चिल्लाता खाली हाथ लौट जाएगा? शायद उसकी अभी तक बोहनी भी नहीं हुई । थोड़े ले लो । आलू ऐसी कोई खराब होने वाली चीज नहीं है । घर में पड़े रहने पर भी कोई नुकसान नहीं होगा । अहा, इस भरी दोपहरी में बेचारा चिल्लाता फिर रहा है । मुझे सचमुच उस पर बड़ी दया आती है ।’

“ 'तुम्हारी सनक बड़ी अनोखी है' कहकर गृहस्वामिनी ने आलूवाले को बुलाने के लिए ननी को आदेश दिया । उसके आने पर थोड़े-से आलू लिए भी । मैं दरवाजे के पास ही खड़ा था । सोच रहा था क्या करूं ? अन्त में बोला, 'दोपहर तो ढल गई, कुछ खाया-पीया भी है भाई ?'

“वह बोला, 'कैसे खाता-पीता बाबूजी ? आलू बेचकर कब घर लौटूंगा, इसका कोई ठिकाना हे क्या? शायद शाम तक कुछ मिल सके ।'

'मैं बोला, 'तो भाई एक काम करो, यहीं दो कौर क्यों नहीं खा लेते । इस भरी दोपहरी में ब्राह्मण के द्वार से बिना खाये तुम नहीं जा सकते ।'

“उसने कहा, 'बाबूजी, ब्राह्मण के यहां बहुत दिनों Word not readable हीं पाया, मिले तो मेरा परम सौभाग्य होगा ।'

“उधर गृहस्वामिनी कान में बुदबुदा रही थीं, 'तुम खामखाह झंझट मोल ले रहे हो । आया है आलू बेचने, उसे खिलाने की क्या जरूरत पड़ गई ? वह क्या अतिथि है या कोई भिखारी कि बुलाकर खिलाना होगा ? इसके अलावा चूल्हा-चौका भी तो उठ चुका है । मध्वी-वछली भी नहीं रह गई है ।'

मैं धीरे से बोला, जानती हो, इस भरी दोपहरी में बिना खाये क्खै -जायेगा तो गृहस्थ का अकल्याण होगा और मध्वी की बात कह रही हो, ननी को कहने से वह अभी जालं फेंककर तालाब से मछलियां ले आएगा ।'

“अक्माण की बात सुनकर गृहस्वामिनी तैयार हो गईं । इतनी गोपनीयता का एक कारण था । घर के लोगों को उससे असाधारण परिचय का पता यदि चल जाता तो बात धीरे- धीरे फूट जाती । फिर हमारे मकान के सामने ही चौकीदार का घर था । पता लगने पर

थाने में निश्चय ही रिपोर्ट लिखा आता । इसीलिए इतनी सावधानी बरतने को बाध्य हुआ था ।... देश के लिए जो काम करते हैं, उन सब पर मैं श्रद्धा रखता हूं । भले ही वे हिंसात्मक क्रांतिकारी हों या अहिंसात्मक सत्याग्रही । मेरे लिए वे दानों ही समान श्रद्धा के पात्र हैं । इस असमय में गृहस्वामिनी से रसोई करवाने में मुझे संकोच अवश्य हो रहा था, पर कोई चारा भी तो नहीं था । ननी जाल लेकर तालाब की ओर चला गया और बड़ी बहू अतिथि-सत्कार के लिए रसोई घर में व्यस्त हो गईं । इस एकान्त का लाभ उठाकर मैंने आलूवाले से उसकी कहानी सुनी । उसे कुछ रुपयों की आवश्यकता थी, वे दिये । यह बात कोई नहीं जान सका क्योंकि बीच-बीच में मैं ऊंची आवाज़ में आलूवाले से समय के अनुरूप बातें करता रहता था । आखिर रसोई तैयार हुई और खा-पीकर वह 'आलू ले लो आलू !' चिल्लाता हुआ चला गया ।"

हावड़ा डकैती में एक अभियुक्त था लालबिहारी । जेल से फरार होकर वह सीधा उनके पास आया । उस समय ब्रिटिश सरकार का इतना आतंक था कि कोई भी साधारण व्यक्ति इस तरह के फरार आदमी को अपने यहां आश्रय देने का साहस नहीं कर सकता था, पर शरत्चन्द्र कभी साधारण बनकर नहीं रहे । उन्होंने लालबिहारी को आश्रय ही नहीं दिया, अपना अनुचर बनाकर नियमित रूप से उसे वेतन भी देते रहे । आलूवाला, लालबिहारी, स्वदेशरंजन दास, शचीन्द्रनाथ सान्याल और विपिन बिहारी गांगुली कितने नाम लिए जायें । उम्र में छोटे होने पर भी विपिनबिहारी गांगुली रिश्ते में उनके मामा लगते थे । उन्हें शरत् बहुत प्यार करते थे । दुखी मन से उन्होंने एक दिन कहा था,
"कितनी अद्भुत हैं ये विप्लवी लोग ! उनका एक दृष्टान्त है हमारा विपिन । देश के लिए कितने कष्ट में उसने अपना सारा जीवन दिया है । आधा जीवन तो उसका जेल में कट गया । कितनी बार कहा कि बिस्तर पर सोओ, कुछ आदर और प्यार ग्रहण करो । लेकिन उसके पास समय ही नहीं, और समय आये कहां से ? देश की चिन्ता छोड़कर उसे कोई और चिन्ता नहीं है ।"

विपिन रहने के लिए तो नहीं लेकिन किसी न किसी प्रकार की सहायता के लिए आते ही रहते थे । एक बार वे स्त्री का वेश बनाकर आये । शरत् हंसकर कहते, "विपिन जब भी मेरे पास आता है पिस्तौल लेकर आता है । मानो उसके बूते पर वह पैसा वसूल करना चाहता है । उस दिन वह आया । सात सौ रुपये की उसे सख्त जरूरत थी । कुछ धंटे रहकर लौट गया । उसके पीछे पुलिस पड़ी है । पकड़ लेती तो मैं क्या करता ? लेकिन मैं जानता हूं पकड़े जाने पर भी वह यह न कहता कि उसने रुपया मुझसे पाया है । उस जैसे विप्लवी कम ही हैं ।"

क्रान्तिकारी शरत्-साहित्य के प्रशंसक थे , विशेषकर 'पथेर दाबी' के, और शरतचन्द्र प्रशंसक थे उनकी निर्भीक्ता के । वह सिद्धान्तवादी नहीं थे । सिद्धान्त यदि उनका कोई था

भी तो वह एक ही था - अन्याय का प्रतिकार । दासता से बड़ा और अन्याय क्या होगा । इसलिए देश की मुक्ति ही उनके लिए चरम सत्य थी । उस तक पहुंचने का मार्ग नहीं ।

असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भिक युग में भी उनकी यही मान्यता थी । तब भी अनेक कांग्रेसी कार्यका उनके पास विचार-विनिमय के लिए आते थे । उसी दिन एक सज्जन अहिंसात्मक प्रतिरोध की एक धटना का बड़े गर्व के साथ उल्लेख करने लगे । बोले, "स्कूल के बच्चों ने राष्ट्रीय झंडे के साथ एक जुलूस निकाला । पुलिस ने उस जुलूस को तितर-बितर करने के लिए लाठियां चलाईं । घर के लोगों को बहुत बुरी तरह से परेशान किया और घोर अमानुषिक बर्बरता के साथ महिलाओं का अपमान किया ।....."

सहसा शरत्चन्द्र का मुख भयंकर रूप से तमतमा आया । कुद्ध होकर बोले, "ऐसा कहते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती !"

उनका यह रूप देखकर वे तो अवाक् रह गये । किसी तरह साहस बटारकर पूछा, "किस बात के लिए लज्जित होने को आप कहते हैं ?"

शरत्चन्द्र ने उत्तर दिया, "इस बात के लिए कि महिलाओं पर अमानुषिक अत्याचार देखकर भी तुम लोग नपुंसकों की तरह केवल मूक दर्शक बनकर रह गये ! और उस पर तुम इस बात के लिए गर्व प्रदर्शित करते हो कि अहिंसा और संयम के सिद्धांतों की पूरी रक्षा हुई । चुन्न-भर पानी में डूब न मरे तुम लोग ?"

पददलित नारी को जिन्होंने मनुष्य के पद पर प्रतिष्ठित किया वह शरत्चन्द्र इस बर्बर बर्ताव को बात सुनकर कैसे शांत रह सकते थे। लेकिन वे सज्जन अब भी विभ्रांत हो रहे थे । समझ नहीं पा रहे थे कि उनकी प्रशंसा करने के बजाय शरतचन्द्र उन्हें डांट क्यों रहे हैं। भर्राये हुए स्वर में वे बोले, "आप यह कैसी बातें कर रहे हैं? हावड़ा जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष होकर क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हम लोग हिंसात्मक उपायों से पुलिस का सामना करते ?"

उसी आवेश के साथ शरवन ने उत्तर दिया, फा, मैं यही कहना चाहता हूं । मैं यदि वहां उपस्थित होता तो निश्चय ही ऐसा करता ।"

"पर, पर इस उपाय से क्या कस के अहिंसात्मक असहयोग, निफिय प्रतिरोध या सविनय अवज्ञा के सिद्धान्तों की हत्या न हुई होती ?"

"अवश्य हुई होती । पर उस हत्या को मैं महिलाओं की प्रतिष्ठा की हत्या की तुलना में नगण्य मानता हूं ।"

सब लोग अब भी अत्यन्त विस्मित थे । कई क्षण वहां सन्नाटा छाया रहा । कुछ देर बाद शरत्चन्द्र ही बोले "मैं आज आप लोगो के सामने एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं, असहयोग आन्दोलन का यह निकिय प्रतिरोध या सविनय अवज्ञा वाली नीति किसी प्रकार भी मेरी प्रकृति से मेल नहीं खाती । मानता हूं कि ब्रिटिश शासन सत्ता का संगठित विरोध करने के लिए इस समय केवल अहिंसामूलक आन्दोलन को ही नीति के तौर पर अपनाया

जा सकता है; क्योंकि सशस्त्र क्रांति के लिए वर्तमान परिस्थितियों में हम लोग सामूहिक रूप से संगठित होकर तैयार नहीं हो सकते; पर इसका अर्थ मै यह कदापि नहीं मान सकता कि हमारी वह अहिंसा हम लोगों को इस सीमा तक जड़ बना दे कि हम लोग अपनी बहू-बेटियों की मान-प्रतिष्ठा और इज्जत-आबरू की रक्षा न कर सकें । हर नियम के अपवाद होते हैं और हमारा वर्तमान अहिंसात्मक आन्दोलन भी अपवादों से रहित नहीं हो सकता । व्यक्तिगत रूप से मैं चुपचाप निरीह व्यक्तियों की तरह बिना प्रतिरोध के मार सहन् करने का आदी कभी नहीं रहा । अपने आवारा जीवन में कई अंग्रेजों को उनकी ज्यादती के कारण पीटने का सौभाग्य या दुर्भाग्य मुझे मिला है । जब मैंने बर्मा छोड़ा, तब जिस आफिस में मैं काम करता था वहां के अंग्रेज अफसर से मेरी बुरी तरह झड़प हो गई थी उसने भारतीय जाति को अपमानित करते हुए गाली दी थी । मेरी इस बात से तुम लोग यह न समझना कि मैं स्वभाव से ही हिंसावादी हूं । मेरे समान निरीह और अहिंसक भी कम लोग मिलेंगे । पर मेरे स्वभाव की यह अहिंसा कायरों की अहिंसा नहीं है ।"

इलाचन्द्र जोशी ने उपर्युक्त घटना की चर्चा करते हुए लिखा है, "उनके इस भाषण के बाद कुछ देर तक किसी को मुंह खोलने का साहस नहीं हुआ । अन्त में फिर उन्हीं सज्जन ने मौन भंग किया, कहा, 'तब क्या आप गांधीजी की नीति को कायरों की नीति मानते हैं?'

"स्पष्ट ही इस प्रश्न में व्यंग्य निहित था । शरतबाबू ने अपने एक-एक शब्द पर ज़ोर देते हुए उत्तर दिया, "मैं गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से इतना बड़ा वीर मानता हूं जिसकी तुलना आसानी से खोजे नहीं मिल सकी । मेरे मन में उनके प्रति आप लोगों से कहीं अधिक श्रद्धा है । उनके प्रति मेरे मन में यदि वह श्रद्धा नहीं होती तो आज मैं किसी के दबाव या आग्रह से हावड़ा जिला कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष पद कभी स्वीकार नहीं करता । पर उनके सिद्धान्तों से अक्षरश: सहमत होने की कसम मैंने नहीं खाई । मैं मनुष्य हूं । मिट्टी का जड़ पुतला नहीं हूं इसलिए किसी भी साधारण या महत्त्वपूर्ण विषय पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने की सामर्थ मुझ में है ।' " [2]

इसी स्वतन्त्र चिन्तन के कारण कांग्रेस में रहकर भी उन्होंने विप्लवियों से प्यार किया । नैष्ठिक गट्रिगनादी उनको भ्रांत कहकर उनके कार्ग को स्वाधीनता के लिाद्ा अहितकर मानते थे । शरत्चन्द्र इससे बहुत दुखी होते थे । उन्होंने कहा, त्रैंने अहिंसा को ग्रहण किया है किन्तु जो नहीं कर सके वे भ्रांत हैं -यह कैसे कहा जा सकता है? महात्माजी की बात और है । अहिंसा उनके अन्तर का ज्वलन्त विश्वास है, उनका आदर्श है । इससे बढ़कर ध्रुव और कोई नीति उनके जीवन में नहीं है । देश की स्वाधीनता से भी अहिंसा उनके लिए बड़ी है । मैं उनमें जितनी श्रद्धा रखता हूं वह सब उनकी इसी शक्ति और आन्तरिकता के लिए है । इसी तरह जिनके जीवन में सबसे बड़ा सत्य देश की स्वाधीनता है, समान आन्तरिकता के साथ जिन्होंने हिंसा का मार्ग ग्रहण किया है, फांसी पर लटककर जिन्होंने स्वाधीनता का

पथ प्रशस्त किया है उनके प्रति भी मैं उतनी ही श्रद्धा रखता हूं । उनको मैं नमस्कार करता हूं ।"

उनके इसी विश्वास को रूप मिला 'पथेर दाबी' में । तिल-तिल करके जैसे विधाता ने तिलोत्तमा की सृष्टि की थी वैसे ही अपने सम्पर्क में आने वाले विप्लवियों के गुणों के पुंज सव्यसाची की उन्होंने सृष्टि की । इसमें हिंसा-अहिंसा को लेकर पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है, वह उन्हीं के अन्तर के द्वन्द्व का चित्र है । कोई स्पष्ट समाधान उन्होंने नहीं दिया । देने की आवश्यकता उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की ।.....

लेकिन राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने इससे भी बड़ा एक और काम किया, वह था राजबंदियों का सार्वजनिक अभिनन्दन [3]। अनेक राजबंदी चार-चार, पांच-पांच वर्षो से जेल की सीकचों के पीछे बंद थे । राष्टीय महासभा ने उनको मुक्त कराने के लिए अनेक प्रयत्न किए । उसके परिणामस्वरूप सबसे पहले सुभाषचन्द्र बसु मुक्त हुए । चार वर्ष से वे मांडले जेल में थे । उनका स्वास्थ्य खराब हो चुका था । लाड लिटन उन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे । परन्तु जब उनके स्थान पर सर स्टेनले जैक्सन आये तो उन्होंने राजबन्दियों के प्रति नरम रुख अख्तियार किया । धीरे- धीरे सभी राजबंदी मुक्त हो गये । कुल मिलाकर दो सौ से अधिक राजबंदी कारागार से निकलकर फिर से कर्मक्षेत्र में आये ।

जिस समय ये सब लोग जेलों में थे तब से, विशेषकर देशबत्यु दास की मृत्यु के बाद से, शरत्चन्द्र बहुत अकेले पड़ गये थे । उदास और दुखी बस यंत्र के समान कांग्रेस का नेम पूरा करते थे । उनका मन कहीं और था । इनकी मुक्ति के बाद जैसे वह मन लौट आया और वे फुर्ती से भर उठे । राजबंदी मुक्त तो हो गये लेकिन उनमें से बहुतों की अवस्था अच्छी नहीं थी । जिनका घर-परिवार था वे अपेक्षाकृत सुखी थे । लेकिन अधिकांश का अपना कोई घरबार नहीं था । देश और समाज का द्वार उनके लिए बंद हो चुका था । किसी ने भी मुक्त मन से उनका स्वागत नहीं किया । परिजन, मित्रजन, मेस, बोर्डिंग, होटल कहीं भी वे हों, कोई भी उन्हें आश्रय दे, सी० आई० डी० वहां पहुंच जाती थी । सौभाग्य से किसी राजबंदी को नौकरी मिल जाती तो वहां भी सी० आई० डी० का आना-जाना शुरू हो जाता था । सरकार ने उन्हें मुक्त कर दिया था परन्तु इस बारे में वह पूरी तरह सचेत थी कि वे सुख और शांति से जी न सके । कांग्रेस उनसे सशंकित थी । नैष्ठिक गांधीवादियों का तो मतभेद था ही, स्वराज्य दल वाले भी उन्हें नहीं अपना रहे थे । सचमुच उनका जीवन दुर्वह हो उठा था ।

शरतचन्द्र ने इस त्रासदी को देखा, वे तड़फड़ा उठे । मानो कलाकार के अन्तर की वाणी ने उन्हें सचेत कर दिया हो । उन्होंने राजबंदियों की इस लांछना को धोने की प्रतिज्ञा की । उन्होंने अपने सभी संगी-साथियों और अनुचरों को बुलाया और कहा, "हावड़ा में समस्त मुक्त राजबंदियों का अभिनन्दन होगा । ऐसी शानदार सभा करनी होगी कि सब देखते रह जाएं । देश के लिए जिन्होंने अपने को शून्य कर दिया है, उन्हीं के प्रति आज देश

विमुख है । कांग्रेस का काम करते-करते जो पकड़े गये हैं, कांग्रेस आज उनका वरण क्यों नहीं करती? क्यों उनका अभिनन्दन नहीं करती? वे हिंसा में विश्वास करते हैं यही बात सरकार बाब-बार कहती है । क्या सरकार आज हमारी कांशसकीपर बन गई हे? हमारी नीति-बुद्धि लग सरकार की नीतिबुद्धि के समान है? एकदम नहीं । हमें उनका मुक्त हृदय से स्वागत करना चाहिए, उन्हें बधाई देनी चाहिए । प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी को यह काम करना चाहिए था । लेकिन जब ऐसा नहीं हुआ तो हम ही पहल करेंगे । तुम इसकी व्यवस्था करो ।"

और वह व्यवस्था हुई । चारों ओर यह समाचार फैल गया कि हावड़ा कांग्रेस कमेटी की ओर से शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय के सभापतित्व में हावड़ा में सभी मुक्त राजबंदियों का अभिनन्दन होगा । वे स्वभाव से सभा-भीरू थे । लेकिन चुनौती पाकर उनकी चेतना मानो मुखर हो उठी । हावड़ा के टाउन हाल में स्वयं उन्होंने राजबंदियों को अभिनन्दन करते हुए मानपत्र पढ़ा । इस सभा [4] में इतनी भीड़ थी कि तिल धरने को स्थान नही था । माला, चंदन आदि से राजबंदियों का पुरजोश स्वागत किया गया । जो अब तक उपेक्षित थे, लोग जिनसे भय खाते थे वे ही अब पूजित और प्रिय हो गये ।

वह एक साधारण सभा थी परन्तु उसका प्रभाव असाधारण हुआ । वह मानो उन सबके लिए चुनौती थी जो सरकार से डरते थे, जो नैष्ठिक गांधीवादी होने के कारण हिंसा की निन्दा करने का कोई अवसर नहीं चूकते थे । यह स्वराज्य दल वालों के लिए भी चुनौती थी, जिसमें अधिकतर अपने में डूबे हुए धनिक लोग थे । गद्‌गद स्वर में उस दिन शरतचन्द्र ने घोषणा की, "देश के लिए जिन्होंने अपना जीवन, अपना यौवन, अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया है वे ही देश की मुकित के अग्रदूत हें । सरकार इनसे डरती है, इसका कारण समझ में आता है क्योंकि इनकी तपस्या में ही उनके विनाश का मंत्र निर्मित हुआ है । सरकार सहम चेष्टा करने पर भी इनको ध्वंस नहीं कर सकती । ध्वंस नहीं कर सकती इनके मन की अपराजेय शक्ति को और इनके अन्तर में निर्मित स्वाधीनता के स्वप्न को । ये सब चिरतरुण, चिरचंचल और चिरजीवी हैं । देश के तरुणों से मैं कहता हूं कि तुम्हारे लिए इतना बड़ा जीवन्त आदर्श और इनसे अधिक अपना कोई नहीं है ।"

बंगाल की राजनैतिक परिस्थिति का चक्र उस दिन से फिर घूमने लगा । बंद हुआ भागीरथी का उत्स मानो खुल गया । बंगाल का युवक हृदय मानो सोने की काठी के जादू के स्पर्श से जग उठा । उसके मन से दूर हो गये पांच बड़े, दूर हो गये चरखा और तकली के भक्त नेता लोग, चारों ओर राजबंदियों की सम्बर्धना शुरू हो गई । जिला सम्मेलन, युवक सम्मेलन सबमें मानो होड़ लग गई कि वे किसी न किसी राजबंदी को सभापति बनाएं । इन सभी सम्मेलनों में मुक्त राजबंदी स्वाधीनता की अग्निमयी वाणी, देश की मुक्ति के लिए जीवन विसर्जन तथा सर्वस्व अपण करने के आदर्शवाद का प्रचार करने लगे । विप्लवी बंगाल एक बार फिर चिरन्तन प्राणशक्ति लेकर जाग उठा । अनेक नवयुवक प्राणों पर

खेलकर अंग्रेज़ अधिकारियों पर गोली चलाने लगे । चटगांव में उन्होंने अंग्रेजों के शस्त्रागार पर कक्षा कर लिया । स्वाधीनता के इस नान्दीपाठ में नारियां कैसे पीछे रह सकती थीं । बीनादास ने तो कलकत्ता विश्वविद्यालय के पदवीदान समारोह के अवसर पर स्वयं लाटसाहब पर गोली दाग दी । चारों ओर मानो अग्निलीला आरम्भ हो गयी । भयं के कारण अंग्रेजों के प्राण कांप उठे । शरत्चन्द्र हिंसा के पक्षपाती नहीं थे लेकिन मानते थे कि देश की मुक्ति का संग्राम हिंसा-अहिंसा के प्रश्न से निर्णीत नहीं होता ।

इन दिनों कांग्रेस की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी । सन् 1928 के अन्त में कलकत्ता में पण्डित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ । इस अधिवेशन में, कांग्रेस ने, सर्व दल समिति नेहरू कमेटी की रिपोर्ट में शासन विधान की जो तजवीज पेश की गयी थी उसकी स्वीकार करते हुए, कहा, .अगर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट इस विधान को ज्यों का त्यों 31 दिसम्बर, 1929 तक या उससे पहले स्वीकार कर ले, तो कांग्रेस इस विधान को अपना लेगी, बशर्ते कि राजनीतिक स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन न हो । लेकिन यदि ऐसा नहीं होता और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट इस विधान को नामंजूर कर देती है तो कांग्रेस देश को यह सलाह देकर कि वह करों का देना बन्द कर दे और उन अन्य तरीकों द्वारा जिनका बाद में निश्चय हो, अहिंसात्मक असहयोग का आन्दोलन संगठित करेगी । कांग्रेस के नाम पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रचार करने में ग्ह प्रस्तान कोई बामा नहीं डालेगा, यदि ऐसा कार्य प्रस्ताव के विरुद्ध न हो ।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती थे । उन्होंने इस प्रस्ताव में संशोधन पेश किये । परन्तु वे स्वीकृत नहीं हो सके । तब विरोधियों ने स्वाधीनता संघ' नाम की एक नयी संस्था का निर्माण किया । बंगाल इस संघ में शामिल नहीं हुआ । उसने सुभाषचन्द्र के नेतृत्व में एक अलग संघ बनाया । इन दिनों बंगाल कांग्रेस में दो दल थे । एक दल के नेता थे यामिनीमोहन सेनगुप्त, जो कलकत्ता अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे । उनका समर्थन करने वालों में अनुशीलन समिति, गौरांग प्रेस और सोशलिस्ट दल के लोग प्रमुख थे । उनके विरोध में पांच बड़ी का एक दल था । ये थे सर्वश्री विधानचन्द्र राय, नलिनीरंजन सरकार, निर्मलचन्द्र 'चन्द्र ' तुलसीचन्द गोस्वामी और शरतचन्द्र बोस । सुभाषचन्द्र बोस भी जो कलकत्ता अधिवेशन में जी० ओ० सी० थे, बाद में इसी दल में मिल गये और वे ही इसके नेता हुए । सरस्वती प्रेस और चटगांव दल के नेता भी इन्हीं के साथ थे । इसके अतिरिक्त कमुनिस्ट दल की पेजेण्ट एण्ड वर्कर्स सोसाइटी भी काफी सजग थी । वे सब एक-दूसरे के उग्र विरोधी थे । इस समय की स्थिति का बड़ा सही विश्लेषण, उत्तर कलकना में होने वाले जिला राष्टीय सम्मेलन के सभापति के पद से बोलते हुए, श्री उपेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय ने किया था । उन्होंने कहा था, आज बंगाल में किसी के भी अपने प्राण उसके अपने रहने का सुयोग नहीं रह गया है । सभी निकल पड़े हैं, सभी को कैप्चर करने । दादा लोग वयोज्येष्ठ कर्मी) निकल पड़े हैं लड़कों (अल्पायु कमी) को कैप्चर

करने, लड़के लोग निकल पड़े हैं दादा लोगों को कैच्चर करने । लीडर चेलों पर कड़ा करने निकल पड़े हैं और चेले लीडरों पर कब्जा करने । चारों ओर यही शोर है कैप्लर करो कैप्चर करो । कब्जा करो, कक्षा करो । ' '

इस विषाक्त वातावरण में शरत्चन्द्र की स्थिति बड़ी विचित्र थी । वह प्रकट रूप में नेता नहीं थे, न किसी दल विशेष से उनका संबंध था । दोनों ही दलों में उनके प्रियजन थे । उनके पास जो भी आता समान रूप से प्यार पाता, परन्तु वह देशबन्धु के कारण कांग्रेस में सक्रिय हुए थे और सुभाषचन्द्र देशबन्धु के प्रिय शिष्य थे । शरत् भी उन्हें अन्तमन से प्यार करते थे । वह कहते थे 'सबको छोड़ सकता हूं सुभाष को नहीं ।.

शचिनन्दन ने लिखा हे, 'उस बार हावड़ा जिला कर्मी सम्मेलन का शिवपुर में होना निश्चित हुआ । उनके प्रिय शिष्य और साथी प्रबोध बसु विजय. भट्टाचार्य, कानाई गांगुली, आमदन गुरदास दत्त, जीवन माइती, गुरुपद मुखोपाध्याय, विपिन गांगुली, भूपेन्द्रदन, अध्यापक ज्योतिष घोष आदि इस सम्मेलन के उद्योता थे । दलादली के कारण सुभाषचन्द्र बोस को इस सम्मेलन में निमंत्रित नहीं किया गया । जब ये लोग शरतचन्द्र को बुलाने आये तो वह बोले, 'मैं नहीं जाऊंगा । '

क्यों नहीं जाएंगे? हाबड़ा जिले का कर्मी सम्मेलन है !'

वहां सुभाष को नहीं बुलाया गया है । शिवहीन यज्ञ में मैं नहीं जा सकूंगा । '

'एक बन्धु कुद्ध होकर बोले, 'आपका सुभाष शिव नहीं है भूत है । '

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, 'भूत नहीं भाई, भूत नहीं । अनाथ कहो ।'

कई व्यक्ति एक साथ बोल उठे, 'वही आपके सब कुछ हैं हम आपके कुछ नहीं?'

"अवरुद्ध कण्ठ से वह बोले 'आप मेरे बहुत कुछ हैं कितने कुछ हैं इसकी कोई थाह नहीं दिशान्त ' २६९n

किन्तु फिर भी मैं नहीं जाऊंगा ।'

वह नहीं गये । जो उनको बुलाने. गये थे, वे भी उनके प्रिय थे और जिनको नहीं बुलाया गया था, वे भी प्रिय थे । दो बच्चों के विवाद में मां जैसे व्यथित हो उठती है उस दिन शरत्चन्द्र भी वैस ही व्यथित हुए । सुभाष बाबू ने उनसे कहा था, 'आप कुछ दिन कलकत्ता में रहें और कांग्रेस में पैदा हो गयी दलादली को खत्म करें ।' लेकिन ऐसा लगता है, यह काम उनके बूते का नहीं था । साहित्यिक राजनीति की चोटें नहीं सह सकता । कई वर्ष बाद [5] जब अपने असमाप्त उपन्यास 'आगामी कल' में वे उसके एक प्रमुख पात्र एक्कीड़ी का परिचय देते हें तो मानो वह इसी दलादली का वर्णन करते हैं, ' चन्देमातरम्' की निराट एवं कठोर वनि 'अपने कोटर से उसे हठात् बाहर खींच लाई । इसके बाद जेल गया, दलबन्दी के भंवर में पड़कर नाक-कान-मुंह में कीचड़ भर लिया, दैनिक और साप्ताहिक पत्रों द्वारा प्रदत्त विविध विलक्षण विशेषणों की माला शिरोभूषण मिली । जिनके लिए यह त्याग-तपस्या स्वीकार की थी, अन्त में एक दिन जत् उन्होंने ही चोर कहकर अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित की

तब बेचारे को असह्य लगा । राजनीति को तिलांजलि देकर एक्कीड़ी फिर अपनी लायब्रेरी में लौट आया..... ।' शरतचन्द्र अपने साहित्य के कारण ही लोकप्रिय हों ऐसी बात नहीं थी । राजनीतिक मान्यताओं को लेकर भी उनकी ख्याति कम नहीं थी । एक मुकदमे में प्रश्न उठा, विप्लव' शब्द का सही अर्थ क्या है? तुरन्त किसी ने सुझाव दिया कि शरत्चन्द्र को इसका अर्थ बताने के लिए गवाह के रूप में बुलाया जांए । लेकिन सरकारी वकील तारकनाथ साधु ने ऐसा करने से मना कर दिया । वे शरत् बाबू का बड़ा सम्मान करते थे । उनसे जिरह करने पर उन्हें दुख होता । शरत्चन्द्र वैसे किसी से डरते नहीं थे । अधिकारियों के सामने भी वह वैसे ही अडिग और निर्भीक बने रहते थे । उस दिन उनके घर एक परिचित मजिस्टेट का पत्र लेकर एक एस० डी० ओ० उनसे मिलने आये । दफादार निवारण घोषाल नाम के एक सज्जन शरत् के बड़े सुहृद थे और वहीं पडौस में रहते थे । एस० डी० ओ० साहब ने उन्हें देखा तो अधिकार के स्वर में कहा, ओरे निवारण पांव धोने को पानी तो ला ।. यह सुनकर भरतचन्द सहसा कुद्ध हो उठे । उन्होंने एस० डी० ओ० से कहा 'आपको इस तरह बात करने का क्या अधिकार है? यह मेरा घर है । आपका दफ्तर नहीं । यहां निवारण घोषाल मेरे पड़ोसी सुहद् हैं आपके दफादार नहीं । उनको इस तरह से पुकारना उनका अपमान है । और उनका अपमान करने वाला मेरे घर में नहीं रह सकता । आप इसी क्षण मेरे घर से चले जाएं, जाइए महाशय और मेरे विरुद्ध जो कर सकते हों कर लीजिए ।'

और वे ऊपर जाने को मुड़ गये । एस० डी० ओ० तो जैसे हतप्रभ रह गया । उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि उसके साथ कोई ऐसा व्यवहार कर सकेगा । लेकिन उस दिन उसे वहां से जाना ही पड़ा ।

जिस समय आपसी मतभेद और दलादली के कारण कांग्रेस के लोग तर्क-वितर्क में उलझे रहे थे उसी समय युवक वर्ग हिंसा के पथ पर चलता हुआ प्राणों का सौदा कर रहा था । यही प्राणशक्ति उन्हें आकर्षित करती थी । इसीलिए उनके चारों ओर युवकों का एक दल इकट्ठा हो गया था । उस बार बंगीय प्रादेशिक् युवक सम्मेलन का अधिवेशन दिनाजपुर में हुआ । उसके अध्यक्ष चुने गये शरत् बाबू । अपने इस भाषण में उन्होंने स्पष्ट रूप से महात्माजी की विचारधारा का विरोध किया । कहा, खिलाफत आन्दोलन को स्वराज्य के साथ मिलाना ठीक नहीं था । और केवल खद्दर पहनकर ही स्वराज्य नहीं लिया जा सकता ।'

प्रारम्भ से उनकी यही मान्यता रही थी परन्तु इस समय वह विशेष मुखर हो उठे । युवकों को जैसे अपना नेता मिल गया । प्रतिदिन बंगाली शिक्षित युवक दल के दल उनके पास आने लगे । साम्यवाद का स्वर उन दिनों धीरे- धीरे ऊपर आ रहा था । वे लोग पूंजीवाद और जमींदारी के प्रश्न को लेकर शरत् बाबू से विचार-विनिमय करते थे । उनका विश्वास था कि जमींदारी एक दिन समाप्त होकर रहेगी ।

यही विश्वास युवकों को बल देता था और वह आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे नये बंगाल को प्रबुद्ध कर रहे थे । इन्हीं चर्चाओं के फलस्वरूप सोशलिस्ट पार्टी के संगठन की नींव पड़ी और शीघ्र ही कंग्रेस के भीतर यह स्वर मुखर हो उठा ।

इन्हीं दिनों [6] हाबड़ा मुनिसिपल कमेटी के विरुद्ध मेहतरों ने हड़ताल कर दी । शरतचन्द्र कंग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे और खुनिसिपल कमेटी में कांग्रेस का बहुमत था । उन्होंने शरत्चन्द्र से कहा, जो व्यक्ति हड़ताल का संचालन कर रहे हैं वे आपके शिष्य हैं । आप उन्हें हड़ताल बंद करने के लिए कहिए ।.

भरतचन्द ने उत्तर दिया, मनही, मैं उनसे कुछ नहीं कहूंगा । गलती उनकी नही है । तुम लोग तुरन्त समझौता कर लो । नहीं तो मैं कमेटी की निन्दा करते हुए वक्तव्य दूंगा ।न

हड़ताल कई दिन तक चलती रही लेकिन अन्त में दोनों दलों ने दीनबन्धु सी!। एफ एण्हजू को मध्यस्थ के रूप में स्वीकार कर लिया । मेहतरों की लगभग सभी मांगें मान ली गईं । शरतचन्द्र श्रमिकों के संगठन के पक्षपाती थे, परन्तु साथ ही वे यह भी मानते थे कि उसका भार उन्हें स्वयं ही उठाना चाहिए । वे उठाने योग्य हो सकें इतनी-सी सेवा हम कर सकें तो वह सर्वोत्तम सेवा होगी ।

युवकों और विद्यार्थियों से उन्हें इतना प्रेम था कि वे साहित्य की चिन्ता नहीं करते थे । तीन वर्ष पूर्व [7] उन्होंने सिल्वर में सुरमा उपत्यका विद्यार्थी काग्रेस की अध्यक्षता करते हुए कहा था - 'विद्यार्थी कठिन से कठिन कर्तव्य पूरा करने के योग्य हैं । ' इस वर्ष [8] उन्हें रंगपुर में होने वाले बंगीय युवक सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया । उसी समय बंगीय साहित्य सम्मेलन माजू में हो रहा था । उसके अध्यक्ष भी वे ही चुने गये थे । पहले युवक सम्मेलन था । उनका विश्वास था कि वे युवक सम्मेलन से अगले दिन साहित्य सम्मेलन में पहुंच सकेंगे लेकिन उन्हे जाने नहीं दिया गया । इस अधिवेशन में उन्होंने महात्माजी की नीति का कड़ा विरोध किया । चेणु [9] पत्रिका में किशोरों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा, शुम लोग जानते हो, बंगाल में चुवसमिति' से नाम से एक समिति की स्थापना हुई है । इस समिति का वार्षिक सम्मेलन कल समाप्त हो गया हे । मैं बूढ़ा आदमी हूं तो भी लड़के-लड़कियां मुझे ही इस सम्मेलन का नेतृत्व करने के लिए बुला लाये । मैं उन लोगों के निमन्त्रण को स्वीकार करके आनन्द के साथ केवल यही बात उन्हें बताने के लिए दौड़ा आया था कि देश की सब भलाई-बुराई उन्हीं के हाथ में निर्भर है, इस सत्य को वे सन्दूर्ण हृदय से अनुभव करें, समझें । उनके इस परम सत्य को समझने की राह में न जाने कितनी बाधाएं खड़ी हैं उनकी नजर में यह सत्य न पड़ने देने के लिए न जाने कितने आवरण तैयार हुए है । और तुम लोगों के लिए तो, जिनकी अवस्था और भी छोटी है, बाधाएं अनन्त हैं । बाधा जो लोग देते हैं वे कहते हैं कि सभी सत्य जानने का सभी को अधिकार नहीं है..... ।

"तुम लोग भी इसी तरह जन्मभूमि के संबंध में अनेक तथ्यों, अनेक ज्ञानों से वंचित हो रहे हो । इस आशंका से कि सच्ची खबर पाने से तुम लोगों का मन न भटके, कहीं तुम्हारी स्कूल-कालेज की पढ़ाई में, कहीं तुम्हारी परीक्षा पास करने की परम वस्तु में धक्का न लगे, मिथ्या से भी तुम्हारी दृष्टि अवरुद्ध की गइ है. ।

युव समिति के सम्मेलन में यही बात मैंने सबसे अधिक कहनी चाही थी । कहना चाहा था कि पराधीन देश को विदेशी शासन से मुक्त करने के अभिप्राय से तुम लोगों के इस संघ का गठन हुआ है । स्कूल-कालेज के छात्रों को पढ़ने की अवस्था में भी देश के काम में योग देने का, दे श की स्वाधीनता-पराधीनता के बारे में सोचने- विचारने का अधिकार है और इस अधिकार की बात को भी मुक्त कण्ठ से घोषित करने का अधिकार है ।

'परीक्षा पास करने की आवश्यकता है किन्तु यह उससे भी अधिक आवश्यक है । बाल्यावस्था में इस सत्य-चिन्ता से अपने को अलग रखने से जिस टूटने की सृष्टि होती है, एक दिन अवस्था बढ़ने पर भी वह जुड़ना नहीं चाहता। इस अवस्था में सीखना बड़ी शिक्षा है। वह एकदम रक्त में पुल-मिल जाती है.....

अध्यक्ष पद से बोलते हुए [10] उन्होंने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा, 'कांग्रेस बहुत पुरानी है। मेरी तरह वह भी बूढ़ी है किन्तु युव संघ अभी नया है। उसकी शिराओं का रक्त अभी तक गर्म है, अभी तक निर्मल है। कांग्रेस देश के दिमाग वाले कानूनदां राजनीति-विशारदों का आश्रय केन्द्र है, ज्जि युव संध मातृ-हृदय के एकान्तिक आवेग और आग्रह से बना है। एक का संचालन करती है कूट विषय-बुद्धि किन्तु दूसरे को प्रेरित करता है जीवन का स्वाभाविक ग्मइ। इसी से विविश प्ररोचना और उत्तेजना के उपरांत मद्रास कांग्रेस ने जब देश की सर्वांगीण-समूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया था तो वह नहीं टिका। एक वर्ष बीतते न बीतते ही कलकत्ता कांग्रेस में वह प्रस्ताव रह हो गया। स्वाधीनता के बदले फिर उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य मांगा। किन्तु देश के नौजवानों ने इसको नहीं माना। इन दोनों प्रतिष्ठानों मे 'यही भेद है। पुरातन के विधि-निषेध की जकड़ में उसका दम पुटने लगता है। युव समिति के जन्म का यही इतिहास हे। यही कारण है।'

वह गांधीजी का विरोध क्यों करते थे, इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, 'सहसा एक दिन आया महात्माजी का अहिंसा-असहयोग और उसकी चोटी बंधी रही खादी-चरखे की डोरी में। स्वराज्य की तारीख 31 दिसम्बर निर्धारित हुई थी। आया जेल जाने का दिन, आई अत्याचार की बाढ़, मन्त्र आया बंगाल के बाहर से अथच जितना चरखा, जितनी खादी उस दिन बंगाल में तैयार हुई, जितने लोग बंगाल की जेलों में गए, जितने बंगाल के लड़कों ने जीवन का सर्वस्व बलिदान किया, उसकी जोड़ सारे भारतवर्ष में नहीं है। क्यों जानते हो? कारण यह है कि बंगाल के युवक जितना अपने देश को प्यार करते हैं उसका एक हिस्सा भी, शायद पंजाब को छोड्कर, भारत में और कहीं भी खोजे नहीं मिलेगा। इसी से वन्देमातरम् मन्त्र की सृष्टि इसी बंगाल में हुई। इसी बंगाल में पुण्यश्तोक स्वर्गीय देशबत्यु

दास ने जन्म लिया। इधर 31 दिसम्बर पार हो गई, स्वराज्य नहीं आया। कहीं किसी अज्ञात गांव चौरीचौरा में रक्तपात हो गया। महात्माजी ने डरकर सब आन्दोलन बन्द कर दिया। देश की सब आशा-आकांक्षा अकाल कुसुम की तरह एक घड़ी-भर में शून्य में मिला दी। किन्तु उस दिन एक ऐसा आदमी जीवित था जिसका भय के साथ परिचय ही नहीं था। वह थे देशबत्यु। वह उन दिनों जेल के भीतर थे। बंगाल के बाहर और भीतर के सबने मिलकर उनकी सारी कोशिश और सारी तैयारी को निष्फल कर दिया। कौन जाने भारत का भाग्यचक्र शायद इतने दिन में एक ओर धूम जाता, किन्तु जाने दो यह बात।

"फिर कुछ दिन चुप रहने के बाद धूम मच गई। लोग जग गये। उस बार इसका कारण था जलियांवाला बाग। इस बार है साइमन कमीशन। फिर वही चर्खा, वही खादी, वही बायकाट का अकारण गर्जन। वही ताड़ी की दुकानों पर धरना देने का प्रस्ताव, वही 31 दिसम्बर, और सबके ऊपर बंगाल के बाहर के नेताओं का दल फिर बंगाल की गर्दन पर सवार हो गया है। मैं जानता हूं इस बार भी वह 31 दिसम्बर ठीक उसी तरह पार हो जाएगी, केवल जरा-सा क्षीण आशा का प्रकाश है, बंगाल की इस यौवन-शक्ति का जागरण। बंग-भंग निश्चित तथ्य एक दिन अनिश्चित तथ्य होकर बदल गया था, सो इसी बंगाल में। उस दिन बाहर से कोई बोझ बंटाने को नहीं आया था। आन्दोलन कैसे चलाया जाये, यह परामर्श देने के लिए बाहर से किसी कर्ता या नेता को नहीं बुलाना पड़ा। बंगाल की सारी जिम्मेदारी उस दिन बंगाल के नेताओं ही के हाथ में थी।"

वक्तव्य काफी कडुवा है, भ्रामक भी। यह उन जैसे शिल्पी की भाषा नहीं है। किसी प्रान्तीय नेता का असंयत भाबुक आक्रोश जैसे बहा पड़ता है। आश्चर्य, ये वही शरतचन्द्र हैं जिन्होंने ठीक सात वर्ष पहले भहात्मा' लेख लिखा था! उन दिनों उनके प्रिय सुभाषचन्द्र बोस का भी यही स्वर था। सारे बंगाल में यही स्वर प्रमुख था। इसीलिए उन दिनों वे भी अत्यन्त उग्र हो उठे थे।

लेकिन यह उनका स्थायी भाव नहीं था। समग्र भारतवर्ष को ही वे प्यार करते रहे। 'शेष प्रश्न! में राजेन्द्र की मृत्यु का समाचार पाकर आशु बाबू के स्वर में वे ही तो कहते हैं, "इसकी मानी यह हैं कि सिवा देश के किसी आदमी को उसने अपना आत्मीय नहीं माना। सिर्फ देश, समग्र भारतवर्ष। भगवान, तुम अपने चरणों में उसे स्थान देना। तुम और चाहे जो भी करो पर इस राजेन्द्र की जाति को संसार से न मिटाना।"

उन्होंने विप्लव का समर्थन भी नहीं किया। उन्होंने कहा, "भारत के आकाश में आजकल एक नाक तैरता फिरता है, वह है निप्लव'। उसी से राजशक्ति ने तुम लोगों से डरना शुरू किग्ग है। किन्तु एक बात तुम लोग न भूलो, वह यह कि कभी किसी भी देश में केवल विप्लव के लिए ही विप्लव नही लाया जाता। अर्थहीन अकारण विप्लव की चेष्टा में केवल रक्तपात ही होता है और कोई फल नहीं प्राप्त होता। विप्लव की सृष्टि मनुष्य के मन में होती है, केवल रक्तपात में नहीं। इसी से धैर्य रखकर उसकी प्रतीक्षा करनी होती है।

क्षमाहीन समाज, प्रीतिहीन धर्म, जातिगत मृणा अर्थनीति की विषमता, स्त्री जाति के प्रति हृदयहीन कठोरता के आमूलचूल प्रतिकार के विप्लव-पथ में ही केवल राजनीतिक विप्लव सम्भव होगा। नहीं तो असहिष्णु अभिलाषा और कल्पना की अत्यन्त अधिकता तुम लोगों को व्यर्थता के सिवाय और कुछ न देगी। स्वाधीनता-संग्राम में विप्लव ही अपरिहार्य मार्ग नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि दुनिया में और सब कामों के लिए आयोजन का प्रयोजन है, केवल विप्लव ही ऐसा काम हैं जिसमें तैयारी की कोई जरूरत नहीं है, उसे शुरू कर देने से ही काम चल जाता हे, वे ओर चाहे कितना कुछ जानें, विप्लव के बारे में नहीं जानते। जो लोग विप्लवपंथी हैं वे मेरी इस बात से शायद प्रसन्न नहीं होंगे।"

एक दिन बारीसाल की राह में स्टीमर पर देर रात बीते शरत् बाबू ने देशबन्धु से पूछा था, 'अच्छा, इन क्रान्तिकारियों के बारे में आपका यथार्थ मत क्या हे?"

सामने का आकाश साफ होता आ रहा था। वह रेलिंग पकड़कर कुछ देर ऊपर ताकते रहे। फिर धीरे- धीरे बोले .इनमें से बहुतों को मैं प्यार करता हूं किन्तु इनका काम देश के लिए एकदम मारात्मक है। इस हरकत मे देश कम से कम पच्चीस वर्ष पिछड़ जाएगा। इसके सिवाय उसमें बहुत बड़ा दोष यह हे कि स्वराज्य मिलने के बाद भी यह चीज यहां से न जाएगी। तब इसकी स्पर्धा और बद जाएगी। साधारण से मतभेद में एक दिन गृह-युद्ध छिड़ जाएगा। खूनखराबी और मारकाट को मैं हृदय से पूणा करता हूं शरत् बाबू।"

शरत् बाबू ने लिखा, त्रैं निश्चित रूप से जानता हूं कि रात्रिशेष के झुटपुटे आकाश के नीचे, नदी की छाती पर खड़े होकर उनके मुंह से सत्य के सिवाय और कुछ भी नहीं निकला था।" देशबन्धु किसी भी रूप में राजनीतिक हत्याओं और हंसा-प्रयोग के सिद्धांत के विरोधी थे। शरत्चन्द्र का भी यही विश्वास था। लेकिन फिर भी जो हिंसा के पथ से देश की मुक्ति लाना चाहते थे उनसे पूणा करने की कल्पना भी वे नहीं कर सकते थे। अपने इस भाषण में उन्होंने युवकों का ध्यान दलबन्दी की ओर विशेष रूप से खींचा। उन्होंने कहा, "विश्व की सभी शक्तिशाली जातियों के इतिहास की छानबीन करने पर पता लगता है कि उनके बीच आत्मकलह न रहती हो यह बात नही है। किन्तु किसी बाहरी शत्रु का सामना होने पर वे लोग उसी आपसी विवाद और कलह को स्थगित रखना जानते हैं। लेकिन हम लोगें में ग्चन्द-पृथ्वीराज से लेकर सिराजुद्दौला और मीर जाफर तक भी यह अस्थि-मज्जागत अभिशाप बना ही रहा। इससे छुटकारा नहीं मिला। इस देश में वात्यों बौद्धों ने खुश होकर अपने धर्म-देवता का यश गाते हुए 'धर्म मंगल' नामक एक धार्मिक पुस्तक में लिखा-

धर्म होइला यवनरूपी
माथाय दिला काली सी
धमेर शत्रु करिते विनाश।

"धर्म के शत्रुओंका विनाश करने के लिए धर्म ने यवन-रूप धारण किया और माथे पर काली टोपी लगाई।

"अर्थात् विदेशी हमलावर मुसलमान जो हिन्दू-धर्मावलम्बी पड़ौसी बंगालियों को दुख देने लगे, इसीसे उन्हें परम आनन्द हुआ। अभी कल की ही बात है, अपने लोगों से लड़ते-झगड़ते ही इतने बड़े विराट पुरुष चितरंजन दास कई सारी उम्र बीत गई। और आज भी क्या वह बन्द है? यह जो युव संघ है, इसके भीतर ही पता लगाने से तेरह दल दीख पड़ेंगे। किसी का किसी से मेल नहीं है। इसके कितने ही प्रकार के मतभेद हैं, कितने प्रकार के मान-अभिमानों की अनबन है। इस तरह बाहर से इकट्ठा की गई भीड़ करने का नाम क्या ऑर्गेनाइजेशन (संगठन) है! आर्गनिक संगस्ति या यौगिक) देश-वस्तु की तरह क्या इसके पैर के नाखून में सुई चुभोने से सिर के केश तक सिहर उठते है? किन्तु जिस दिन ऐसा होगा -पैर की चोट का क्य सिर तक पहुंचेगा, उस दिन, कम से कम बंगाल में, उपायहीनता की शिकायत न सुन पड़ेगी।

वे ब्रिटिश माल के बहिष्कार के समर्थक थे, परन्तु खद्दर के प्रति अपनी अरुचि को वे कभी नहीं छिपा सके। उन्होंने कहा, "भारत की बीस लाख रुपये की खादी से अस्सी करोड़ रुपयों की कमी पूरी नहीं की जा सकती। काठ के चर्खे से लोहे की मशीन को हराया नहीं जा सकता और अगर ऐसा हो भी जाए तो उससे मनुष्य के कल्याण का मार्ग प्रशस्त नहीं होता।

गाल के देहात में मेरा घर है। बंगाल को मैं नहीं जानता, यह अपवाद शायद मेरा बड़े से बड़ा शत्रु भी मुझपर नहीं लगाएगा। मैंने धर-घर जाकर देखा है, यह बहिष्कार नहीं चलता वहां। दो-चार स्वदेशभक्त पुरुष इसका निर्वाह चाहे भले ही कर लें, लेकिन औरतों का काम तो चलता ही नहीं। अन्य प्रदेशों की बात मैं नहीं जानता, लेकिन इस देश की स्त्रियों को दिन के अन्त में कई वस्त्रों की जरूरत होती है। इस प्रदेश की सामाजिक रीति और इस देश का अस्थि-मज्जागत संस्कार ही यह है। सभा में खड़े होकर खद्दर की महिमा में गला फाड़ने पर भी वह चीत्कार जाकर किसी तरह भी देहात के एकान्त अन्तःपुर में नहीं पहुंचेगी। स्वख्स अर्थात् खाते-पीते गहस्थ की ही बात नहीं कहता गरीब खेतिहर मजूदूरों की बात ही मैं कहता हूं -यह मेरी बात सत्य है और इसे स्वीकार करना ही अच्छा है। बंगाल के किसी एक खास सब-डिवीजन में दो-एक मन चर्खे का कता सूत तैयार होने की नजीर दाखिल करके इसका जवाब नहीं दिया जाएगा। यह हुआ खद्दर का विवरण। चर्खे की भी यही दशा है। उधर हमारे किसान-मजूदूरों के गरीब घरों में औरतों को सवेरे से शाम तक मेहनत करनी पड़ती है। उसी में बीच-बीच में एक-आध घण्टे का समय अगर वे पा जाती हैं, तो महात्माजी के आदेश को जताकर चर्खे का हत्या उनके हाथ में थमा देने पर भी वे सो जाती हैं। में उनको दोष नहीं दे सकता। जान पड़ता है, सच्चा प्रयोजन न होने के कारण ही ऐसा होता है।"

इस समय 'परशुराम' के छद्म नाम से उन्होंने 'वेणु [11] पत्रिका में एक और लेख लिखा। उसमें उन्होंने सब आक्षेपों का उत्तर देते हुए चर्खे का तीव्र विरोध किया। कुछ वर्ष

पूर्व इसी प्रश्न को लेकर जिन रवीन्द्रनाथ का उन्होंने विरोध किया था, उन्हीं को उन्होंने इस लेख में अपने पक्ष में उद्धृत किया। चर्खे के अर्थशास्त्र से वे जरा भी सहमत नहीं थे। इसी कारण लोगों को यह विश्वास हो चला था कि वे महात्माजी के विरोधी हें। निश्चय ही वे थे और काफी उग्र थे। लेकिन फिर भी इस विरोध और उग्रता का क्षेत्र बहुत सीमित था। इन विचारों के रहते हुए भी महात्माजी के प्रति उनके प्रेम में कभी कमी नहीं आई। और व्यक्तिगत रूप से मुसलमानों से उनके जो स्नेहपूर्ण संबंध थे, उनमें भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। और अभी कुछ माह पूर्व ही [12] उन्होंने मालीकांदा के अभय आश्रम में विक्रमपुर युवक और छात्र सम्मिलनी के अध्यक्ष पद से प्रोग्राम की चिन्ता न करते हुए सत्य, निष्ठा का व्रत लेने को कहा था और कहा था निर्भयता की साधना करने को - -साहस का वरण और निर्भीकता का उपार्जन करना एक चीज नहीं हैं। एक देह की है दूसरी मन की। देह की शक्ति और कौशल बढ़ने से अपेक्षाकृत दुर्बल और कौशलहीन को हराया जा सकता है किन्तु निर्भयता की साधना से शक्तिशाली को परास्त किया जा सकता है। संसार में कोई उसे बाधा नहीं दे सकता है। वह अजेय होता है।"

प्राय: उनके ऐसे विचार तात्कालिक परिस्थितियों की तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र होते थे। जैसे, बारदोली की प्रशंसा सुनते-सुनते उनका प्रान्तीय अभिमान जाग उठा। उसी आवेश में उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं, जो उनके जैसे शिल्पी को नही कहनी चाहिए थीं। राजनीति तो काजर की कोठरी है। उसमें प्रवेश करने पर उसकी कालिख से कोई नहीं बच सकता। फिर बंगाल की उस समय की अवस्था भी बहुत अच्छी नहीं थी। दल ही दल थे। और किसी भी कारण से हो जब व्यक्ति किसी एक दल से संबद्ध हो जाता है, तो फिर वह पक्षधर हुए बिना नहीं रह सकता। वे हुगली जिले के रहनेवाले थे, लेकिन उस जिले के कांग्रेस कर्मियों ने उन्हें कभी निमन्त्रित नहीं किया। वह जिला खादी दल के हाथ में था। एक मित्र ने उनसे कहा, आपके जिले के लोग आपको नहीं बुलाते क्या यह बात अपमानजनक नहीं है?'

उन्होंने उत्तर दिया, 'अच्छा ही है जो नहीं बुलाते। मेरा शरीर बहुत खराब रहता है। बुलाने पर भी शायद मैं नहीं जा पाता, तब वे नाराज होते। मान लो मैं चला भी जाता तो वे मुझे भाषण देने के लिए कहते। भला कोई विश्वास कर सकता है कि जो व्यक्ति कहानियों की इतनी किताबें लिख लेता है, वह भाषण नहीं दे सकता? इसलिए मैं कहता हूं कि उन्होंने मुझे नहीं बुलाकर मुझपर उपकार ही किया है।'

कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेने के लिए वे अब भी जाते थे। रावी के तट पर पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस का जो महत्वपूर्ण अधिवेशन हुआ था और जिसमें पूर्ण स्वराजा की मांग की गई थी उसमें वे उपस्थित थे। इस अवसर पर प्रवासी बंगालियों ने अपने अपराजेय कथाशिल्पी का हार्दिक अभिनन्दन किया। उसी अमिनन्दन के उत्तर में उन्होंने घोषणा की थी, गर्व करने योग्य हमारे पास एक ही वस्तु है -यह भाषा।" पर

स्वास्थ्य उनका दिन पर दिन गिरता ही जा रहा था। श्री केदारनाथ बंदोपाध्याय को उन्होंने लिखा, [13] 'अच्छा हूं । रात-दिन इजीचेयर पर घिरे बरामदे में लेटा रहता हूं। दायां पैर लंगड़ा है, दाहिना कान बहरा है। बवासीर के बहाने बेकार खून नियमित रूप से निकलता रहता है। तंद्रा में आराम से क्षण- क्षण पर सो जाता हूं। स्वप्न देखता हूं जाग पड़ता हूं सामने बड़ी नदी दिखाई पड़ती है। पाल वाली नावों को गिनता हूं। न जाने कब अचानक आख बंद हो जाती है। सारी बातें भूल जाता हूं। दक्षिण से सूर्यदेव आकर तेज धूप से बदन गर्म कर देते हैं। आखें खोलने पर गुडाई की निगाली खींचकर देखता हूं कहता हूं कोई है, चिलम भर दे।' शायद भर भी देता है। पर खींचने पर देखता हूं कि धुआ नहीं है। डांटने पर कहता है कि आप सो रहे थे। चढ़ी चिलम जल गई। परीक्षा करने की शक्ति नहीं है, फिर भी ऊंची आवाज में डांटकर कहता हूं, हां, हां, सो रहा था और नहीं तो क्या! झूठा कहीं का, फिर भर दे दिल्ली से लाई उस बड़ी चिलम को जिससे जल्दी जल नहीं जाए।' उसके चले जाने पर मन ही मन कहता हूं 'भगवान, सचमुच ही हो तो मेरे अनुरोध को मान क्यों नहीं लेते? कोई तुम्हारी निन्दा नहीं करेगा। सिर की कसम बाबा आप मान लें।'

पक दिन मान लेंगे, जानता हूं, पर मेरी ही तरह समय बीत जाने पर। तब प्रसन्नतापूर्वक नहीं ले सकूंगा' बुलावा आ गया है। पाथेय मौजूद है। सोते- सोते और जागते-जागते पढ़ना श्हुरू कर देता हूं। बहुत दिनों की आदत है। बहुतेरी अफीम खून में मिली है। हारा हूं बहुतों से, पर हराया है बेटा आबकारीवालों को। इसलिए भरोसा है कि नींद में भी पाथेय का रस नीचे ही जा गिरेगा।

स्वास्थ्य चाहे जितना ही खराब हो उनके लिए प्रिय सुभाष' को छोड़ना अभी भी सम्भव नहीं हो पा रहा था, इसलिए अगले वर्ष हावड़ा जिला कांग्रेस कमेटी के चुनाव में काफी हल्लागुल्ला,

गाली-गलौज और लाठी पटकना हुआ। डंडे के डर से कांटेदार तार का घेरा मय इलेक्टिक्किएशन के तैयार रखा गया था। इसी कारण शायद दंगा नहीं हो सका और चुनाव निर्विस्त समाप्त हो गया। शरत् बाबू का दल अर्थात् सुभाष बाबू का दल फिर प्रतिष्ठित हो गया। साल से उनका आधिपत्य चला आ रहा था। इस निहित स्वार्थ को भला कैसे छोड़ा जा सकता था! उनके दल का तर्क था कि गलतियां कितनी ही क्यों न हों, तुम लोग बोलनेवाले कौन हो? देश की आजादी आती है तो हमारे ही द्वारा आएगी। तुम लोगों के द्वारा नहीं आएगी। तुम लोग हाथ डालने मत आओ।

लेकिन दूसरा दल भी आसानी से मानने वाला नहीं था। इसीलिए आवेश और आक्रोश था। एक पत्र में शरत् बाबू ने इस दलादली के स्वरूप का अपनी सहज विनोदप्रिय शैली में सुन्दर वर्णन [14] किया है -देशोद्धार करने के लिए सुभाष के दल ने मुझे जुबर्दस्ती कुमिल्ला चालान कर दिया था। रास्ते में एक दल ने शेम-शेम कहा। खिड़की के रास्ते से कोयले का चूरा सिर और बदन पर बिखेर कर प्रीति-ज्ञापन किया। दूसरे दल ने बारह घोड़ों की गाड़ी में

जुलूस निकालकर बता दिया कि कोयले का चूरा कुछ नहीं, वह माया है। जो कुछ भी हो, रूपनारायण के तीर पर वापस आ गया हूं। श्रीअरविन्द के मुक्त मनुष्य में व्यक्तिगत आशा नहीं रहती। इस शक्ति की उपलब्धि करने में मुझे अब देर नही हे। जय हो बारह घोड़े की गाड़ी की, जय हो, जय हो कोयले के चूरे की।'

कुमिल्ला में वह त्रिपुरा जिला राजनैतिक कमी सम्मेलन व जिला छात्र सम्मेलन में भाग लेने गए थे। साथ में सुभाष बोस थे। सारे रास्ते उन लोगों का इतना शानदार स्वागत हुआ कि वह विभोर हो उठे थे। सुभाष सम्मेलन के अध्यक्ष थे और शरत् थे उद्घाटनकर्ता। उन्होंने एक ही बात कही, येरे पास देन को एक ही सन्देश है और वह है स्वतन्त्रता का । मेरी कामना है कि बंगाल के नवयुवकों और विद्यार्थियों का उद्देश्य पूर्ण हो। वे सेवा और पीड़ा के द्वारा भारत को अपना लक्ष्य पाने में सहायता करें। मुझे दुख यही हे कि मैं इस आन्दोलन को सफल होते नहीं देख सकूंगा।.

लेकिन ऐसा लगता है कि इस परिहास वृत्ति के बावजूद यह राजनीतिक वितण्डावाद उन्हें बहुत देर तक बांधकर नहीं रख सका। अन्तत: वे अपने साहित्य-जगत् में पहुंच गए। जैसे उनकी वह गतिमय तटस्थ वृत्ति फिर लौट आई और वे पहले की तरह अपने मनुष्य को प्यार करने लगे।

और इसीलिए जब तीन वर्ष बाद महात्माजी ने कांग्रेस की सदस्यता से त्यागपत्र [15] दे दिया, तब शरत् बाबू ने एक शिल्पी की अन्तर्दृष्टि से लिखा, चरखे से देश की उन्नति हुई या नहीं? अद्रोह, असहयोग देश की राजनीतिक मुक्ति ला सका या नहीं? आईन अमान्य आन्दोलन का अन्तिम परिणाम क्या होगा? ये सब प्रश्न आज नहीं, किन्तु महात्मा का यह दावा सत्य स्वीकार करता हूं कि उनके बताये मार्ग से भारत क्षतिग्रस्त नहीं हुआ.....बाद में हो सकता है उनका मत व पथ दोनों बदल जायें, उनके आदर्श का चिह भी न रहे, तथापि वे जो कुछ दे गये हैं, सब कुछ परिवर्तन हो जाने पर भी वह अमर रहेगा। शृंखलामुक्त भारत को उनका यह ऋण किसी भी दिन विस्मृत न होगा। आज वे कांग्रेस से बाहर आये हैं, उसका त्याग नहीं किया है, करने का उपाय ही नहीं है। जिस शिशु को उन्होंने मानुष किया है वह आज बड़ा हो गया है। इसीलिए उसको अपने कठिन शासनपाश से महात्मा ने मुक्त किया है, स्वेच्छा से मुक्ति दी है। इसमें शोक करने का कोई कारण नहीं है । इस मुक्ति से दोनों का मंगल होगा, यही मेरी आशा है।'

---

1. नवम्बर, 1930 ई०

2. शरतचन्द्र : व्यक्ति और कलाकार -इलाचन्द्र जोशी

3. सन् 1928 ई०

4. सितम्बर, 1928 ई०

5. 'विचित्रा' चैत्र 1342 (मार्च- अप्रैल, 1935 ई०)

6. सन् 1928 ई०

7. जून, 1926 ई०

8. मार्च, 1929 ई० का अन्त

9. सम्पादक - श्री भूपेन्द्रकिशोर रक्षित राय

10. यह भाषण 'तरुणों का विद्रोह' नाम से 18 अप्रैल, 1929 ई० को सरस्वती लायब्रेरी से प्रकाशित हुआ।

11. 15 फरवरी, 1929 ई०

12. आश्विन, 1336 (सितम्बर, 1929 ई०)

13. 23 दिसम्बर, 1930 ई०

14. नवम्बर, 1931 ई०

15. अक्टूबर, 1934 ई०

20

साधारणतया साहित्यकार में कोई न कोई ऐसी विशेषता होती है, जो उसे जनसाधारण से अलग करती है। उसे सनक भी कहा जा सकता है। पशु-पक्षियों के प्रति शरत्बाबू का प्रेम इसी सनक तक पहुंच गया था। कई वर्ष पूर्व काशी में एक विद्यार्थी ने उनसे पूछ। था, "मैं आपके उपन्यासों में वर्णित मानवता सं बहुत प्रभावित हूं लेकिन कुत्तों पर आप जो इतना पेसा व्यय करते हैं, वह समझ मे नही आता।" शरत्चन्द्र मुस्कराये, बोले, "तुम ठीक कहते हो, पर शायद तुम नहीं जानते कि मनुष्यों पर मैंने इससे भी अधिक खर्च किया है।"

उन्होंने गलत नहीं कहा था। मानवीय करुणा का जो पाठ उन्होंने बचपन में राजू की पाठशाला में पढ़ा था, जीवन-भर वे उसी को आकार देते रहे। रंगून में भी सर्वहारा ही उनके सब कुछ थे। बंगाल लौटने के बाद उन्होंने गांववालों के लिए विद्यालय खोले, पथ-घाट बनवाये। उनकी ओर से मुकदमे लड़े। नाना प्रकार से नाना लोगों की आर्थिक सहायता की। उस दिन पौष के महीने में जब रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी तो छाता लेकर वे कवि नरेन्द्रदेव के साथ खरीदारी करने के लिए निकल पड़े। सहसा उनकी दृष्टि एक भिखारिन पर पड़ी। वर्षा से उसके सारे कपड़े भीग गये थे। वह शीत से थर- थर कांप रही थी। उन्होंने तुरन्त बटुआ निकालकर उसकी हथेली पर उलट दिया। नोट, रुपये, रेजगारी, काफी धन था। नरेन्द्रदेव ने आपत्ति की, "दादा, क्या करते हैं ?"

उनकी ज़रा भी चिन्ता न करते हुए शरत्बाबू ने भिखारिन से कहा, "ऐसे शीत में बाहर मत निकला करो। जब तक चले इनसे चलाओ, फिर और दूंगा।"

और उसे उन्होंने अपना पता लिखकर दे दिया।

एक और दिन इन्हीं कवि नरेन्द्रदेव के घर पर गपशप में बहुत रात बीत गई। कवि दम्पत्ति उन्हें छोड़ने दूर तक साथ आये। महानिर्वाण मठ तक पहुंचते- पहुंचते सहसा कानों में किसी शिशु का क्रन्दन पड़ा। वे ठिठक गये। तब न वहां पक्का घेरा था और न फुटपाथ। कीकर की बाड़ थी। उसी के पास शरत् बाबू खोज पाए एक पोटली में बंधे नवजात शिशु को। वहीं बैठ गये। खोलकर देखा, कोमल शरीर में असंख्य चींटियां चिपटी हुई थीं। करुण स्वर में 'मेरे बच्चे, मैं मर जाऊं' कहते हुए उसे साफ करने लगे। फिर राधारानी देवी की ओर देखकर बोले, "राधू, गर्म दूध और रुई की बत्ती बनाकर तो ले आओ ।"

तुरन्त सब कुछ आ गया। उसे दूध पिलाते- पिलाते वे बोले, "तुम थाने जाकर खबर तो करो । " राधानानी देवी ने कहा, "न, न, ऐसा न करो। मैं पाल लूंगी ।"

शरत् बोले, “नहीं, यह परित्यक्त शिशु है। इसके पीछे कोई करुण इतिहास छिपा है। हो सकता है हम किसी झगड़े में फंस जाए।”

रात का समय था। एक दुकान पर जाकर पहले अस्पताल में फोन किया। जवाब मिला, “इस प्रकार पाये गये अवांछित नवजात शिशु को सीधे अस्पताल में लेने का नियम है।”

फिर पुलिस को फोन किया। वह भी तत्काल आने को तैयार नहीं थी, लेकिन जब उनका नाम सुना तो तैयार हो गई। थोड़ी देर बाद दो सिपाही आये और बच्चे को लेकर चले गये, तब तक वे वहीं पर बैठे रहे। इतना ही नहीं, अगले दिन चिल-चिलाती धूप में दुकानदार को टेलीफोन के पैसे देने के लिए भी स्वयं आये।

कालान्तर में इस घटना के साथ जो अपवाद जुड गये थे, उनमें एक यह भी था कि वहां पर जो छोटी-सी भीड़ इकट्ठी हो गई थी, उसमें से एक व्यक्ति ने उन्हें बिना पहचाने कहा था, था, “जीते रहें शरत् बाबू बंगाल में घर-घर के आगे ऐसे ही बच्चे मिला करेंगे।"

पता नहीं इस अपवाद में कितनी सच्चाई है, लेकिन उनकी प्रसिद्धि का यह एक प्रबल प्रमाण है । लेकिन उस समय तो उस विद्यार्थी के प्रश्न का उत्तर देते हुए शरत् बाबू ने आगे यही कहा था, "इन्सान और कुत्ते में मैं कुछ अधिक भेद नहीं कर पाता। दोनों ही जानवर हैं। इन दोनों में से मैं कुत्ते को अधिक पसन्द करता हूं, क्योंकि वे तभी भौंकते-काटते हैं जब उन्हें क्रोध आता है। लेकिन मनुष्य जिस समय मन ही मन घृणा करता है, प्रकट में उस समय खूब हंसता है।"

भेलू की कहानी अपवाद नहीं है। कुत्तों को वे बचपन से ही बहुत प्यार करते थे। बर्मा से लौटने पर भागलपुर के एक वन्धु को उन्होंने एक कुत्ता दिया था। जव वे वहां जाते थे तो वह वहुत खुश होता था। वे भी उसे देखकर कहते, “क्यों पपी, कैसा है ? अब तक कहां था ? आ, आ, बीमार

है शायद। अहा, कितनी धूल है शरीर में ! ओह, यह कया ! घाव ? मारपीट की है शायद ? ना, कुछ नहीं देखा ! कितना बड़ा ज़ख्म है ! कितना कष्ट होता है ! कुत्ते का तुम कुछ ध्यान नहीं रखते।“ दोनों आखें भर आतीं। फिर सुश्रूषा चलती-गर्म जल, तेल, साबुन, औषध, बैंडेज। सब करके बांधकर सुला देते।

बच्चों को मिठाई खिलाते समय वे उसे नहीं भूलते थे। कहते, "लो, भूल ही गया, पपी को भी दो भाई।" रोज स्नान करके उसे अपने हाथ से दाल-भात खिलाते। इसी पपी को किसी कारण श्री शरत् मजूमदार के लड़के ने गोली से मार दिया। शायद वह उनके घर चला गया था। इस पर उन बंधु ने उसकी बंदूक छीन ली, उसे पीटा। झगड़ा यहां तक बढ़ा कि अदालत जाने की नौबत आ गई। उन्हीं दिनों अचानक शरत् बाबू भागलपुर आये। उन्होंने यह कहानी सुनी। क्य होकर बोले, "मैं होता तो रिवाल्वर से उसे भी मार देता। तुम डरो मत। यदि वह नालिश करेगा तो पैसा हम देंगे। उसने हमारे लड़के को मारा है।"

वे शरत् मजूमदार के मित्र थे। जब भी आते, उनसे मिलने जाते, लेकिन इस घटना के बाद वे कभी उधर नहीं गये। बुलाने पर भी नहीं गये। कहा, "उन्हें ही भेज दो। उनके लड़के ने पपी को मारा हे।"

काशी-प्रवास में उन्होंने शैलेश विशी से कहा, "काशी में आकर ब्राह्मण-भोज करना पड़ता है, लेकिन मैंने क्या निश्चय किया है जानते हो ? मैं कुत्तों का भोज करूंगा। काशी के कुत्ते बहुत दुखी हैं। छुआछूत का यहां बहुत विचार है। कुत्तों को छूने-मात्र से यहां स्नान करना होता है। बेचारे बिना खाये ही मर जाते हैं। उन्हें ही खिलाना चाहिए।"

और विशी महाशय प्रत्येक मोड़ पर कुत्तों की खोज करते फिरे। उनको इकट्ठा करके उन्हें भूरि भोजन खिलाया गया। उनकी आज्ञा थी कि जब तक कुत्तों का खाना-पीना नहीं हो जाता तब तक कोई मनुष्य नहीं खा सकता।

स्वास्थ्य सुधारने के लिए वे देवघर गये थे। वहां भी जब वे घूमने जाते थे, न जाने कहां से आकर एक कुत्ता उनके साथ हो लेता था। लेकिन घर के मालिक और नौकर के डर के कारण मकान के अन्दर प्रवेश नहीं कर पाता था। सारा खाना स्वयं पाने के लालच से मालिन उसे भगा देती थी। एक दिन शरत् बाबू ने न जाने कैसे उसकी आखों में आसू देख लिये और उन्होंने नौकरों से पूछताछ शुरु कर दी। शोर सुनकर मित्र वहां आए, जब उन्होंने यह कहानी सुनी तो मुसकराकर बोले, "दादा की बातें निराली होती हैं। आदमियों को तो खाने को मिलता नहीं और आप राह के कुत्ते को बुलाकर खिलाते हैं! खूब !"

लेकिन शरत् नहीं माने। उन्होंने उस कुत्ते को पेट-भर खाना खिलाया। उसके प्रेम के कारण वे दो दिन और रुके रहे। तीसरे दिन जब वे चले तो सचमुच ही वह कुत्ता उन्हें छोड़ने स्टेशन तक आया। उसकी स्मृति को अमर करते हुए उन्होंने लिखा है, "साथ में जो लोग सवार कराने आये थे, उन सबको मैंने इनाम दिया। कुछ पाया नहीं तो केवल मेरे अतिथि ने। गर्म हवा में धूल उड़कर सामने पर्दे की तरह छा गई। जाने के पहले इसी पर्दे के भीतर से मैंने अस्पष्ट देखा कि स्टेशन के फाटक के बाहर मेरा अतिथि खड़ा एकटक मेरी ओर ताक रहा है। ट्रेन सीटी देकर चल दी। घर लौटने का आग्रह या उत्साह मुझे अपने मन के भीतर कहीं ढूंढ़े नहीं मिला। केवल यही ख्याल आने लगा कि मेरा अतिथि आज लौटकर देखेगा कि घर का लोहे का फाटक बन्द है, उसके भीतर आने का कोई उपाय नहीं है। शायद रास्ते में खड़े होकर दो-तीन दिन मेरी राह देखेगा। शायद सन्नाटे की दोपहरी में किसी समय फाटक खुला पाकर चुपचाप ऊपर चढ़ जाएगा और मेरे रहने के कमरे को खोजेगा। मुझे न पाकर फिर राह का कुत्ता राह में ही आश्रय ग्रहण करेगा।"

श्रीकान्त भी संयोगवश जब अपने बचपन के गांव में पहुंच जाता है तो एक घर के टूटे छप्पर के नीचे एक कंकालशेष कुत्ते को देखता है। तब यही दर्द- उसे भी कचोटता है, "वह कुत्ता कुछ देर तक साथ-साथ आया और ठहर गया। जब तक दिखाई पड़ा तब तक बेचारा इस ओर टकटकी लगाये

खड़ा देखता रहा। उसके साथ का यह परिचय प्रथम भी है और अन्तिम भी। फिर भी वह कुछ आगे बढ़कर विदा देने आया है। मैं जा रहा हूं किसी बन्धुहीन, लक्ष्यहीन प्रवास के लिए और वह लौट जाएगा अपने अंधकारपूर्ण निराले टूटे हुए मकान में। दोनों के ही संसार में ऐसा कोई नहीं है जो राह देखते हुए प्रतीक्षा कर रहा हो। बगीचे के पार हो जाने पर वह आंखों से ओझल हो गया। परन्तु पांच ही मिनट के उस अभागे साथी के लिए हृदय के भीतर ही भीतर रो उठा। ऐसी दशा हो गई कि आँखों के आसू न रोक सका।"

कुछ महिलाएं उनका साहित्य पढ़कर इतनी प्रसन्न हुईं कि एक दिन उन्होंने उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रित किया। वहां जाकर शरत् बाबू ने देखा कि संगमरमर की मेज़ पर सुन्दर आसन लगा है। खाने का सामान इतना है मानो किसी दानव की दावत हो। सोचने लगे, क्या किया जाए। हठात् उनकी दृष्टि गली के कुत्तों पर गई। भूख से वे पंजर हो रहे थे। जैसे कई दिनों से पेट भर खाना न मिला हो। उन्होंने गृहस्वामी से कहा, 'महाशय, एक बड़ा गमला हो तो मंगवा दीजिए।"

गृहस्वामी को कुछ आश्चर्य तो हुआ, पर आग्रह अतिथि का था। उन्होंने गमला मंगवा दिया। शरत् बाबू ने उसमें दाल, भात, मांस, तरकारी, मिठाई और खीर, जो कुछ भी था सब भर दिया और फिर गली में ले जाकर कुत्तों के सामने रख दिया। अहा, उस दिन वे जी उठे। लेकिन गृहस्वामी तो अवाक् रह गये। कुछ देर बाद इतना ही कह सके, "इसको तो बाल-बच्चे भी खा सकते थे।' शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "वे तो रोज़ ही खाते है, लेकिन कुत्तों को तो आज ही मिला हे। बेचारे जी गये।"

एक बार न जाने कहां से आकर एक कुतिया उनके बाग में बच्चे दे गई। रोज़ समय पर आकर वह उन्हें दूध पिला जाती थी, लेकिन एक दिन वह समय पर नहीं आई। बस वे व्यस्त हो उठे। बच्चों को दूध पिलाया और फिर निकल पड़े उनकी मां की खोज करने। तीन दिन तक यह खोज जारी रही। उन्होंने घोषणा की, जो खोजेगा, उसे दस रुपये मिलेंगे।"

हांफते-हांफते दो व्यक्ति हाज़िर हुए। बोले, "मिल गई, एक सूखे कुएं में गिर पड़ी है। पर जिन्दा है।" शरत् बाबू बोले, "तो अभी ले आओ, और पांच रुपये मिलेंगे।"

कुछ देर बाद कुतिया वहां आ गई। मां को देखकर बच्चे कितने खुश हुए। 'कई-कुई' करने लगे। शरत् बाबू भी आनन्द से उल्लसित हो उठे।

सामताबेड़ में उन्होंने एक और लालरंग का देसी कुत्ता पाला था। नाम था उसका 'बाघा'। वह भेलू का स्थान तो न ले सका फिर भी उसके लिए आदर-सत्कार का अभाव न था। एक दिन उसे पागल गीदड़ ने काट लिया और चिकित्सा कराने पर भी वह बच नहीं सका। दर्द-भरे हृदय से अपने खाते में उन्होंने लिखा, "आज बाधा मर गया है। मोहिनी घोषाल के घर के सामने न जाने कब उसे पागल गीदड़ ने काट लिया था।"

ये कथाएं एक मुंह से दूसरे मुंह होती यात्रा करती हैं, इसीलिए अतिरंजना अनिवार्य है। रूप भी कहीं-कहीं बदल सकता है, पर इसी कारण वे मिथ्या नहीं हो जातीं। और कुत्ते ही

क्यों दूसरे पशु भी तो उन्हें इतने ही प्रिय थे। एक बार वे भागलपुर के एडवोकेट श्री चण्डीचरण घोष के साथ बिहार शरीफ देखने के लिए गए थे। उन्हें एक टण्डुम पर सवार होना था, लेकिन घोड़ा चलने को तैयार नहीं था। टण्डुम वाले ने उसे तीन-चार सांटे दे मारे। शरत् बाबू जैसे कांप उठे और बोले, "मारो मत, मारो मत। नहीं चलता तो नहीं सही। नहीं जाएंगे।"

टण्डुम वाले ने जवाब दिया, "अजी, यह तो ऐसे ही चलते हैं।"

और फिर तीन-चार सांटे मार दिये। शरत् बाबू तुरन्त नीचे उतर पड़े। बोले, "हम नहीं जाएंगे।" घोष बाबू ने बहुत समझाया। तब इस शर्त पर तैयार हुए कि टण्डुमवाला घोड़े को न मारने की प्रतिज्ञा करे। उसने ऐसा ही किया, तब कहीं जाकर वे उसमें बैठे। बोले, "ये बेचारे जानवर, हमारी तरह चीख-चिल्लाकर अत्याचार और अनाचार का विरोध तो कर नहीं सकते। इसलिए मेरी इनसे सहानुभूति है।"

यह सहानुभूति उनके लिए इतनी सहज हो गई थी कि जहां कहीं भी किसी प्राणी को कष्ट में देखते तो उनकी आत्मा चीख उठती। पड़ौसी की गाय एक बार सारी रात प्रसव वेदना से छटपटाती रही। उस रात वे सो नहीं सके। वे कुछ कर नहीं सकते थे, इसलिए भगवान को कोसते रहे कि क्यों उसने धरती पर इतनी पीड़ा पैदा की।

और गाय ही क्यों? विषधर भुजंग के प्रति भी उनकी ममता वैसी ही असीम थी। शीत ऋतु में दोपहर के समय सामताबेड़ के मकान के सामने बाग की घास के ऊपर बड़े-बड़े सांप धूप में जाकर लेटते थे। शरत् बाबू उस समय वहां बैठकर पहरा देते थे और बच्चों को रोकते थे, "तुम लोग उधर न जाओ अहा, वहां वे धूप खा रहे हैं। तुम्हारे जाने पर भाग जाएंगे।"

चिड़ियों के प्रति भी उनकी ममता कम नहीं थी। 'देवघर की स्मृति' नामक अपने निबन्ध में उन्होंने कुत्ते की कहानी के साथ-साथ पक्षियों का भी मनोहर वर्णन किया है, "मैं देखता था, उन चिड़ियों का गाना शुरू हो जाता है। उसके बाद एक-एक करके बुलबुल, श्यामा, सालिख और टुनटुन नाम की चिड़ियां आती हैं। पास के घर में जो आम का पेड़ था, मेरे घर के बकुल कुंज में, सड़क किनारे के पीपल की चोटी पर वे सब चिड़ियां जमा होती थीं। सबको मैं आंखों से देख नहीं पाता था, लेकिन हर रोज़ बोली सुनते-सुनते ऐसा अभ्यास हो गया था, जैसे उनमें से हरेक चिड़िया मेरी पहचानी हुई है।

"पीले रंग की बनबहू नाम की चिड़िया का एक जोड़ा ज़रा देर करके आता था। दीवार के किनारे युकलिप्टस नाम के विलायती वृक्ष की सबसे ऊंची डाल पर यह जोड़ा बैठता और अपनी हाज़िरी दे जाता था। एकाएक ऐसा हुआ कि न जाने क्यों वह जोड़ा दो दिन तक नहीं आया। यह देखकर मैं व्यस्त हो उठा। मन में सोचने लगा कि किसी ने उन्हें पकड़ तो नहीं लिया। इस तरफ चिड़ीमारों की कमी नहीं है। चिड़ियों को पकड़कर बाहर भेजना ही इन

चिड़ीमारों की जीविका है। लेकिन तीन दिन के बाद यह जोड़ा फिर आया। उसे देखकर जान पड़ा कि सचमुच एक भारी चिन्ता दूर हो गई।"

और उस दिन तो उनकी यह परदुखकातरता चरम सीमा पर पहुंच गई। एक बन्धु के साथ श्याम बाज़ार की ओर जा रहे थे कि सहसा कानों में काकातुआ की करुण चीत्कार सुनाई दी। वह चीत्कार एक विशाल भवन के अन्दर से आ रही थी। शरत् बाबू एकाएक व्यग्र होकर भीतर चले गये। क्रुद्ध दरबान भी उनको रोकने में समर्थ नहीं हो सका। जाकर देखा, काकातुआ का गला किसी तरह एक रस्सी में फंस गया है और फंदे से निकलने में असमर्थ हो आर्तनाद कर रहा है। वे तुरन्त गले से फंदा निकालने लगे। दरबान ने सोचा हो न हो यह चोर है। काकातुआ को ले जाना चाहता हे। वह उन्हें मारने के लिए दौड़ा। तभी शोर सुनकर घर के मालिक बाहर आ गये। शरत् बाबू को देखकर उन्होंने पूछा, "आप कौन हैं, और किसको चाहते हैं?"

उत्तर में शरत् बाबू ने प्रश्न किया, "यह पक्षी आपका है? पक्षी पालने का आपको बड़ा शौक हे?"

भद्र पुरुष अवाक् रह गये। बोले, "आप क्या कह रहे हैं?"

शरत् बाबू ने जवाब दिया, "जीव-जन्तु पालने के लिए हृदय में बड़ी ममता चाहिए। कब से पक्षी चिल्ला रहा था, किसी का ध्यान ही नहीं गया।"

भद्र पुरुष ने समझा कि निश्चय ही यह कोई पागल है। तब तक शरत् बाबू के बन्धु भी भीतर आ गये थे। उन्होंने भद्र पुरुष से कहा, "ये हैं शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय!"

सुनकर भद्र पुरुष बड़े व्यथित हुए। क्षमा मांगने लगे और शरत् बाबू भी सब कुछ भूलकर शान्त हो गये।

रंगून में उनके पास एक नूरी पक्षी था। वैसा पक्षी तो उन्हें फिर नहीं मिला। लेकिन उसीकी जाति का एक मिल गया उसका भी नाम उन्होंने 'बाटू बाबा' रखा। बेटे से अधिक वे उसे प्यार करते थे। एक दिन शैलेश विशी उनसे मिलने के लिए आये। देखा अमरूद के पेड़ पर बहुत अच्छे फल

लगे हुए हैं। तोड़कर खाने लगे। तभी आ गये शरत् बाबू। न जाने क्या हुआ, उन्होंने चिल्लाकर नौकर को पुकारा और कहा, "सब अमरूद तोड़कर मोहल्ले में बांट दो।"

विशी महोदय हतप्रभ अपराधी की तरह उनकी ओर देखने लगे। वही बोले, "तुमने बिना पूछे अमरूद क्यों तोड़े ? न हो, तुम्हीं अब इन सबको ले जाओ।"

यह कहकर वे विशी महोदय को घर के अन्दर ले गये। वहां आले में छोटी-छोटी चार-पांच कटोरियां रखी थीं। किसी में अनार के दाने थे, किसी में पिश्ता और बादाम और किसी में किशमिश। बोले, "ये सब बाटू बाबा का खाना है। प्रति घंटे बारी-बारी वह इनको खाता है। उसके खाने से पहले घर के फल कोई नहीं खा सकता, लेकिन तुमने खा लिये।"

एक दिन वही पाखी उड़ गया। तब वे शतरंज खेल रहे थे। अन्यमनस्क हो उठे। बीच-बीच में बाहर झांककर देख लेते। कोई उठता तो कहते, "न, न, चिन्ता मत करो, आ जाएगा। कई बार चला जाता है।"
लेकिन वे स्वयं न बैठे रह सके। बार-बार बाहर जाकर देखने लगे। संध्या हो आई। मित्र लौट चले। लेकिन कुछ ही दूर गये होंगे कि शरत् बाबू का उल्लसित स्वर कानों में पड़ा, "पाखी आ गया। यहीं पेड़ पर बैठा था।"
उसकी मृत्यु पर अपने खाते में उन्होंने जो कुछ लिखा, उससे उसके प्रति उनके प्रेम का पता लगता है, "आज रात 10-45 पर बाटू की मृत्यु हुई - मंगलवार, 24 फाल्गुन, 1338 (सन् 1931 ई०) सामताबेड़, हावड़ा। उसने बन्धन से स्वयं ही मुक्ति नहीं पाई, मुझे भी एक बड़ी मुक्ति दे गया। प्रभास के पास ही उसे समाधिस्थ किया। अब बाकी केवल एक और रह गया है।"
उन्होंने बाकी एक और रहने की बात लिखी है। शायद उनके पास वैसा ही एक और पक्षी हो या शायद उनका इशारा अपनी ओर हो। पक्षी उनके पास कम नहीं थे। मोर था, मैना थी। बडे मियां, छोटे मियां नाम के दो बकरे थे। और स्वामीजी की कहानी भी कम रोचक नहीं है। यह भी उनके एक बकरे का नाम था। कसाई की छुरी से बचाकर वे उसे खरीद लाये थे। उसके प्रति भी उनका प्रेम वैसा ही असीम था। उसकी मृत्यु का सम्बाद भी उनके खाते में लिखा है, "13 माघ, 1339 (1932 ई०), वेला 11 -3, बृहस्पतिवार, स्वामीजी की मृत्यु। एक और भावना समाप्त हो गई। - सामताबेड़, हावड़ा।"
अक्षयकुमार मित्र ने अपनी डायरी में लिखा है, "एक भैंसा हावड़ा पुल पर गाडी खींच रहा था। गाड़ी भारी थी। भैंसा गिर पड़ा। उसकी नाक से खून बहने लगा। तब भी गाडीवान उसे निर्दयता से पीटता रहा। शरत् बाबू उधर से जा रहे थे। यह दृश्य देखकर स्तब्ध-अवाक् खड़े रह गये। वेदना से चेहरा विवर्ण हो उठा।"
पूजा के लिए पशुबलि देने के वे सदा विरुद्ध थे। उस बार उनके बीमार हो जाने पर हिरण्मयी देवी ने काली मन्दिर में दो बकरे बलि देने की मानता मानी थी। उन्हें जब पता लगा तो उन्होंने दो बकरों का मूल्य भिजवा दिया। बलि देना वे नहीं सह सकते थे। 'लालू' कहानी में उन्होंने अपनी इस वेदना को व्यक्त किया है। इन घटनाओं का कोई अन्त नहीं है। प्रत्येक घटना एक ही कहानी कहती है, मज्जागत सहज करुणा की कहानी। यह जितनी असीम है उतनी ही अतलस्पर्शी। इसमें न ढोंग है न प्रदर्शन। इसी असीम करुणा के भीतर से इस कथाशिल्पी का जो चित्र उभरता है, वह क्या सचमुच ही किसी कुगढ़-कुमार्गी का चित्र है? क्या यह स्नेह केवल इसीलिए था कि जीवन में उन्हें घोर उपेक्षा मिली थी? या उनकी अपनी कोई संतान नहीं थी इसलिए?
ऐसा होना बहुत सम्भव है, लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह करुणाधारा उनकी सहज मानवता का एक अंग-मात्र है।

एस०पी०सी०ए० जानवरों के प्रति निर्दयता रोकने वाली सुप्रसिद्ध संस्था है। वर्षो तक वे इसके अध्यक्ष रहे। उनके कार्यकाल में इस संस्था के अधिकारियों के विरुद्ध कलकत्ता के गाड़ीवालों ने सत्याग्रह किया था। एक समय तो यह इतना हिंसक हो उठा था कि गोली चलानी पड़ी थी। चार व्यक्ति मार गये थे। हावड़ा में भी दंगा होते-होते बचा था। अध्यक्ष होने के नाते शरत् बाबू को बहुत कुछ सहना और करना पड़ा था। लेकिन निरीह पशुओं के प्रति निर्दयता वे किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर सकते थे।

21

जब कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर सत्तर वर्ष के हुए तो देश-भर में उनकी जन्म-जयन्ती [1] मनाई गई। उस दिन यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट, कलकत्ता में जो उद्‌बोधन सभा हुई उसके सभापति थे महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री। उस सभा में श्री चन्द्रशेखर वेंकटरमन ने एक प्रस्ताव रखा कि सभी देशवासियों की ओर से कलकत्ता में इस शुभ घटना के उपलक्ष्य में उनकी यथोचित सम्बर्द्धना और आनन्दोत्सव का अनुष्ठान करना चाहिए।

इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए शरत्‌चन्द्र ने कहा, "मैं जानता हूं मेरे देश के अनेक व्यक्ति विश्वभारती को कल्पना-मात्र समझते हैं। मैं कहता हूं, होने दो कल्पना, किन्तु किसकी कल्पना है? कितनी बड़ी कल्पना है? यह भूलने से कैसे चलेगा! इसीलिए कहता हूं कि अनुष्ठान करो, आनन्दोत्सव करो, सब कुछ करो, किन्तु अब कुछ धन संग्रह करके हम सब उनके हाथ में दे दें.। वे इस वृद्धावस्था में देश-विदेश में विश्वभारती के लिए भिक्षा की झोली पसारे घूमते है। यह हमारे लिए लज्जा की बात हे।"

इसी सभा में जयन्ती-उत्सव समिति का गठन हुआ। इसके सभापति निर्वाचित हुए आचार्य जगदीशचन्द्र बसु। सहकारी सभापति अनेक गण्यमान्य व्यक्ति थे और उन्हीं में एक थे शरत्‌चन्द्र। उसके बाद इस संबंध में होने वाली सभी सभा-समितियों में उन्होंने उत्साहपूर्वक भाग लिया। दुर्भाग्य से उस समय उत्तर बंगाल में वन्या का प्रकोप हुआ। ऐसी स्थिति में कविगुरु ने भरतचन्द को पत्र लिखा, "सुनता हूं, तुमने मेरी पूजा के लिए कुछ धन इकट्‌ठा करने का निश्चय किया है। देश में आज जो दुर्दिन है, उसको देखते हुए किसी और काम के लिए धन-संग्रह का दावा करना उचित नहीं है। यदि मेरे हाथ में कुछ देना ही है तो वह उनके दुखों को दूर करने के लिए हो जो इस दुर्गति का शिकार हुए हैं।" [2]

इसलिए विश्वभारती के उद्देश्य से धन-संग्रह करने का शरत् बाबू का वह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हो सका। इसका उन्हें बराबर क्षोभ रहा। उत्सव में प्रवेश पाने के लिए शुल्क की व्यवस्था थी। उससे जो धन प्राप्त हुआ वह कविगुरु ने वन्या के प्रकोप से पीड़ित जनता के लिए दे दिया था। यह अभिनन्दन समारोह [3] वास्तविक जन्मतिथि के सात महीने बाद हुआ था। मानपत्र लिखा था स्वयं शरत्‌चन्द्र ने। समिति में इस प्रन को लेकर काफी मतभेद थे, लेकिन श्री अमल होम ने श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी से सलाह करके यह काम चुपचाप शरत्‌चन्द्र को सौंप दिया था। वे नहीं चाहते थे कि किसी को इस बात का पता लगे, लेकिन किसी तरह यह बात प्रकट हो गई। मानपत्र कौन पड़े, इस पर भी काफी मतभेद था। आचार्य जगदीशचन्द्रबसु उसे पढ़ने वाले थे, परन्तु सहसा अस्वस्थ हो जाने के कारण

अन्तत: श्री कामिनी राय ने इसे पढ़ा। उस समय शरत्चन्द्र संकोचवश सिर नीचा किये बैठे रहे। उस मानपत्र की प्रथम पंक्ति किसी को भुलाये नही भूलती-"क्विगुरु, आपकी ओर देखने पर हमारे विस्मय की सीमा नहीं।"

चार वर्ष पूर्व? [4] भी श्री अमल होम की विवाह सभा में उन्हें देखकर शरत् बाबू उसी तरह विस्मित हो उठे थे। "बहुत दिन बाद उस दिन विवाह सभा में रवीन्द्रनाथ को देखा। कैसा आश्चर्यमय सुन्दर! औख हटाये नहीं हटती थी। उम्र जितनी बढ़ती है, रूप उतना ही क्या पड़ता है। रूप नहीं सौन्दर्य। संसार में इतना बड़ा विस्मय नहीं जानता।"

इस सभा के पश्चात् रवीन्द्र-साहित्य की आलोचना के लिए टाउन हाल में रक्त और सम्मेलन हुआ। उसके अध्यक्ष चुने गये - शरत्चन्द्र। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने अपने साहित्य में प्रवेश की चर्चा करते हुए कविगुरु के ऋण को स्पष्ट स्वीकार किया और उनके प्रति अपनी एकान्त श्रद्धा प्रकट की। कहा, "कवि के जीवन के सत्तर वर्ष पूरे हुए। विधाता के आशीर्वाद ने केवल हम लोगों क्के ही नहीं समग्र मानव जाति को धन्य किया। सौभाग्य की इस पति को मधुर और उज्जवल करके हम लोग आने वाले समय के लिए रख जाना चाहते हैं और उसी के साथ अपना भी यह परिचय आने वाली पीढ़ियों को दे जाएंगे कि कवि के केवल काव्य से ही हमारा परिचय नहीं रहा, हमने उनको आंखों से देखा है, उनकी बातें कानों से सुनी हैं, उनके आसन को चारों ओर से घेरकर बैठने का सौभाग्य भी हमें प्राप्त हुआ।

.....हम यहां वयोवृद्ध कवि को श्रद्धा-अर्थ देने के लिए, उनसे सहज भाव से यह कहने के लिए एकत्र हुए हैं कि कवि, तुमने बहुत अ दिया है, इस लम्बे समय में हमने तुमसे बहुत कुछ पाया है। सुन्दर, सबल, सर्वसिद्धिदायिनी भाषा तुमने दी है, विचित्र छन्दों में बंधा काव्य दिया है, अनुरूप साहित्य दिया है, जगत् को बंगला भाषा और भाव-सम्पदा का श्रेष्ठ परिचय दिया है, और सबसे बड़ा दान तुम्हारा यह है कि तुमने हमारे मन को बड़ा बना दिया है। तुम्हारी सृष्टि का सूक्ष्म विचार करना मेरे बूते से बाहर है - यह मेरे धर्म के विरुद्ध है। जो लोग प्रज्ञावान हैं, वे यथासमय यह विचार करेंगे, किन्तु तुमसे मैंने स्वयं क्या पाया है, इसी बात को संक्षिप्त करके कहने के लिए यह निमन्त्रण स्वीकार किया है।....."

फिर अपने बचपन क्की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि कैसे उनका रवीन्द्र साहित्य से परिचय हुआ और उससे वह कितने प्रभावित हुए। उन्होंने कहा, "म्सके बाद आया 'बंगदर्शन' के नवीन संस्करण क्त युग। उसमें उन दिनों रवीन्द्रनाथ की 'चोखेर बाली' (आंख की किरकिरी) धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थी। उसमें भाषा और भाव प्रकाशन की शैली का एक नया प्रकाश देख पड़ा। उस दिन की वह गहरी और सुतीक्षा आनन्द की अनुभूति मैं कभी नहीं भूलूंगा।.....दूसरे की कल्पना के चित्र में पाठक अपने मन को इस तरह आंखों से देखना चाहता है, यह बात इससे पहले कभी सपने में भी नहीं सोची थी। इतने दिनों में केवल साहित्य का नहीं, अपना भी जैसे एक परिचय पाया। बहुत पढ़ने से

बहुत पाया जाता है-यह बात सत्य नहीं है। वह थोड़े-से ही तो पन्ने हैं, उन्हीं के बीच में जिन्होंने इतनी बड़ी सम्पत्ति उस दिन हम लोगों के हाथ में पहुंचा दी, उनके प्रति कृतज्ञता जताने की भाषा कहां मिलेगी?

"डसके बाद ही साहित्य के साथ मेरा संबंध टूट गया। मैं भूल ही गया कि जीवन में एक लाइन भी मैंने किसी दिन लिखी है। बहुत-सा समय प्रवास में बीता। इस बीच में कवि को केन्द्र करके किस तरह नवीन बंगला साहित्य तेजी के साथ समृद्धि से भर उठा, उसकी कोई खबर मुझे नहीं है। कवि के साथ किसी दिन भी मुझे घनिष्ठ होने क्त सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ । उनके पास बैठकर साहित्य की शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग भी नहीं मिला। मैं एकदम ही बिछुड़ा रहा। यह है बाहर का सत्य, किन्तु भीतर की बात इससे बिलकुल उलटी है। उस विदेश में मेरे साथ कवि की कुछ पुस्तकें थीं, काव्य और कथा साहित्य, और मन के भीतर परम श्रद्धा और विश्वास। तब धूम-फिरकर इन कई एक पुस्तकों को ही मैं बार-बार पड़ता था। क्या उनका स्थ्य है, कितने अक्षर हैं, आर्ट किसे कहते है, उसकी संज्ञा क्या है, वजून मिलाने में क्की कोई त्रुटि हुई है या नहीं, ये सब बड़ी बातें सोचीं भी नहीं। यह सब मेरे लिए फिजूल था। सार्थक था केवल यही सुदृढ़ विश्वास कि इससे बढ़कर परिपूर्ण सृष्टि और हो ही नहीं सकी। क्या काव्य में और क्या साहित्य में, यही मेरी पूंजी थी।

एक दिन अप्रत्याशित भाव से अचानक जब साहित्य-सेवा की पुकार हुई तब यौवन का दावा समाप्त करके प्रीदुत्व के हलके में मैं पैर रख चुका था। देह थकी हुई थी, उद्यम सीमा में बंध गया था, सीखने की अवस्था पार हो गई थी। रहता था प्रवास में, सबसे अलग, सबसे अपरिचित। किन

ु

पुकार का मैंने उत्तर दिया। भय की बात मन में ही नहीं आई। और कहीं न हो, पर साहित्य में गुरुवाद को मैं मानता हूं।

"रवीन्द्र-साहित्य की व्याख्या मैं नहीं कर सक्ता। किन्तु ऐकांतिक श्रद्धा ने उसके मर्म का पता मुझे दे दिया है। पडितों के तत्त्व-विचार में उसमें अगर कोई भूल-चूक हो तो रहे, किन्तु मेरे निकट वही सत्य है।

".....मनुष्य रवीन्द्रनाथ के संस्पर्श में मैं साधारण ही आया हूं। एक दिन कवि के पास गया था। बंगला साहित्य में समालोचना की धारा प्रवर्तित करने का प्रस्ताव लेकर। अनेक कारणों से कवि उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सके। उसका एक कारण उन्होंने यह बताया था कि जिसकी प्रशंसा करने में वे असमर्थ हैं, उसकी निन्दा करने में वे वैसे ही अक्षम हैं। यह भी उन्होंने कहा था कि तुम लोग यदि यह काम करो तो यह कभी न भूली कि अक्षमता और अपराध एक ही वस्तु नहीं हैं। मैं सोचता हूं, साहित्य के विचार में यदि इस सत्य को सभी याद रखते।"

यह वह युग था जिस पर रवीन्द्रनाथ छाये हुए थे। बरगद के उस पेड़ के नीचे शरतचन्द्र ने न केवल अपने लिए जगह बनाई बल्कि प्रान्त और देश के जनमानस क्त ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया। इसके लिए भी उन्होंने कविगुरु से ही प्रेरणा पाई, इस सत्य को उन्होंने कभी अस्वीकार नहीं किया। उनके समान प्रतिभाशाली लेखक जो, अपने लिए एक स्वतन्त्र रास्ता बनाने और नई ज़मीन तैयार करने में पूर्ण समर्थ हो, अपनी उस समर्थता का झूठा प्रदर्शन न करके यदि अपने एक पूर्वज और सम-सामयिक साहित्यकार से प्रेरणा ग्रहण करते हुए इस बात को स्वीकार करे तो यह सचमुच उनकी बड़ी विशेषता है। खासकर उस हालत में जब हम जीवन में इस बात के अनेक उदाहरण पाते हैं कि रक ही युग के विभिन्न प्रतिभाशाली लेखक, कवि और कलाकार परस्पर ईर्ष्या रखते हुए केवल विरोध के लिए एक-दूसरे का विरोध करते रहते हैं। इसके विपरीत शरत्चन्द्र विभिन्न विषयों में उनकी प्रतिभा की महानता प्रमाणित करते हुए कभी थकते नहीं थे। उनकी कविताओं का प्राय: नित्य ही पारायण करते थे। उनकी लगभग सभी पुस्तकों को शरत् बाबू ने विशेष रूप से चमड़े की बढ़िया जिल्द में सजाकर रखा था, जिसके बाहर सुनहरे अक्षरों में पुस्तक और लेखक का नाम अंकित था। रवीन्द्रनाथ की कोई न कोई पुस्तक उनकी मेज पर पड़ी रहती थी।

एक बार बेपून कोलेज के एक प्रोफेसर उनसे मिलने के लिए आये। बातों ही बातों में वे बोले, "आप जितना सुन्दर लिखते हैं, उतना ही स्पष्ट भी। आपकी रचनाएं हम लोगों की समझ में अच्छी तरह आ जाती हैं। फ रवीन्द्रनाथ ऐसी अस्पष्ट और उलझी हुई शैली में लिखते हैं कि कुछ भी ठीक से समझ में नहीं आता। वे बड़े कवि हो सकते हैं, परन्तु मैं रहस्यवादी कवि की कोई रचना नहीं समझ सकता। उनके जीवन-देवता का रहस्य अभी भी अभेद्य है।"

भरतचन्द ने तत्काल उत्तर दिया, "क्षेफेसर महाशय, मैं आप लोगों के लिए लिखता हूं, आप ही मेरे पाठक है, किन्तु रवीन्द्रनाथ हमारे लिए लिखते है, हम उनके पाठक हैं। हमें कहीं अस्पष्टता दिखाई नहीं देती।"

रवीन्द्र-साहित्य की निन्दा वे नहीं सह सकते थे। विशेषकर जब वह निन्दा काव्य और कला के गम्भीर और निगूढ़ तत्वों से अपरिचित निन्दकों द्वारा की जाती थी। उन्होंने बार-बार स्वीकार किया है कि वे विद्यासागर और बंकिमचन्द्र के भी ऋणी हैं, परन्तु बंकिमचन्द्र ने जिस प्रकार रोहिणी को गोली से मार दिया था, उसकी आज ज़रूरत नही है। युग बदल गया है। मूल्य बदल गये है और इस मोहान्यता को भंग करने के लिए हम जिसके कणी हैं, मैं भी उसी का ऋणी हूं। वे हैं कविगुरु रवीन्द्रनाथ। बंकिमचन्द्र अपने युग के संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके। पाप-पुण्य के जय के बंधन में बंधे रहे। उनमें 'आख की किरकिरी' लिखने का साहस नहीं था। उनमें विचार-बोध था, पर संस्कार-बोध नही था। वे अपने साहित्य में समाज की संकीर्णता से ऊपर नहीं उठ सके।

कविगुरु की चर्चा चलने पर एक बार उन्होंने सत्येन्द्रनाथ बसु से बड़े दुःख के साथ उनको मिले अपमान, अवमानना और लांगा की बात कही थी। बोले, "रक दिन कविगुरु ने कहा था, 'आर खान
े

पर क्या उसकी चोट नहीं लगती? लेकिन सहने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है?' देखते हो कैसी संस्कृति, कैसी शिक्षा-दीक्षा, कैसी असाधारण सहिष्णुता है! किसी दिन मुंह खोलकर जरा भी प्रतिवाद नहीं किया। ऋषितुल्य इन महापुरुष ने, सौम्य, शान्तमुख कवि ने, सब कुछ चुपचाप सहा, सहन किया। उनके समान धैर्य क्या मुझमें है? मैंने तो न जाने तुमसे अपनी कितनी बातें कही हैं। आलोचक कहते हैं कि रवीन्द्रनाथ इब्सन और मेटरलिंक का अनुसरण करते हैं। इब्सन और मेटरलिंक क्या 'णीतांजलि', 'नैवैद्य' और 'चलाका' जैसी सम्पद की सृष्टि कर सकते हैं? वे जाते उनका अनुकरण करने? जहां जरा भाव या विचार मिला कह उठे अनुकरण है। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था, 'मेरी कविता के दो सौ पाठक भी नहीं हैं।' मैंने उत्तर दिया, 'आप क्या कहते हैं? आजकल क्या आप एक भी ऐसी कविता देख सकते हैं, जिस पर आपका प्रभाव नहीं है? मैं उसे अनुकरण नहीं कहूंगा। किन्तु काव्य की जो धारा आपने बहा दी है, उसी धारा का अनुसरण करती हुई बाद की सारी कविता चल रही हे।"

"और कविता क्यों? उपन्यास के क्षेत्र में, भाषा में, क्या उन्होंने यही काम नहीं किया? आजकल कोई क्या बंकिम बाबू की भाषा लिखता है? या उस तरह के उपन्यास लिखता है? वे मेरे गुरु हैं, मेरे गुरु।"

कविगुरु के इस अभिनन्दन के बाद उनका मन बहुत प्रसन्न था। अपने एक पत्र में उन्होंने अमल होम को लिखा -

"अमल, मुझे कितनी खुशी हुई कि तुमने टाउन हाल में सभापति के पद पर मुझे पकड़ बिठाया, मेरे गले में माला डाली, मेरा लिखा मानपत्र कवि के हाथों में दिया। जिस प्रकार यह विराट व्यापार सम्पन्न हुआ, यह अनुष्ठान जिस निष्ठा और श्रम और श्रद्धा से सार्थक हुआ, उससे मुझको बड़ा निष्कपट आनन्द हुआ। कवि के संबंध में मैंने इधर-उधर कभी-कभी क्रोध में आकर बुरी-बुरी बातें कहीं हैं। जिस तरह यह सत्य है उसी तरह यह भी सत्य है कि मरे से बड़ा उनका भक्त कोई नहीं। मुझसे बढ्कर कोई उनको अपना गुरु नहीं मानता। मुझसे बढ्कर कोई उनकी रचनाओं का अध्ययन नहीं करता। उनकी कविताओं की बात नहीं क्कता, लेकिन मुझसे अधिक उनके उपन्यास किसी ने नहीं पड़े। उनकी 'आंख की किरकिरी', उनका 'गोरा', उनका 'गल्प गुच्छ'। आजकल जो इतने लोग मेरी रचनाएं पढ़कर अच्छा कहते हैं, वे उसी कारण हैं। मैं जानता हूं कि यह परम सत्य है। और कोई इसको कहता है या नहीं कहता, मानता है या नहीं मानता, इससे कुछ आता-जाता नहीं है। इसलिए मैंने अपने समस्त अन्तःकरण से उस जयन्ती में योग दिया। दिए बिना रह भी नहीं

सकता था। तुमने बहुत बड़ा काम किया। अन्तःकरण से आशीवाद देता हूं। सुनता हूं कि तुमने यह जयन्ती करके कलकत्ता का घर बेच दिया, गाड़ी बेच दी। तुम्हारे-हमारे मित्र लोग इस बात का बड़े उत्साह से प्रचार करते हैं। जयन्ती के लिए, सुनता हूं स्वयं कवि ने तुमकी खड़ा किया था। तुम केवल उनके शिखण्डी थे, उन्होंने ही सब कुछ कराया है। अमल, यह बंगाल है, सोने का बंगाल। तब भी कहना होगा कि मैं तुमकी प्यार करता हूं। मन में कोई क्षोभ न रखना। जिसके जो जी में आये कहने दो। मैं जानता हूं, तुम्हारा घर भी नहीं है, गाड़ी भी नहीं है। जिस गाड़ी में चढ़कर घूमते हो, वह कापरिशन की है। बस इतना ही। तुम्हारा भला होगा। तुमने देश की लाज रखी है। समस्त अन्त. करण से फिर तुमकी आशीर्वाद देता हूं।"

भरतचन्द की रवीन्द्र-भक्ति के संबंध में प्रमाणों का कोई अभाव नहीं है। उनके समकालीन सभी व्यक्ति जानते हैं, शरत्चन्द्र ने रवीन्द्र-साहित्य का बड़े मनोयोग से मनन किया है। एक दिन किसी लेखक ने उनसे पूछा, "क्या आपने 'ाएारा' पढ़ा है?

उन्होंने तुरन्त स्वभाव-सुलभ चंचलता से उत्तर दिया, "योारा'! चौंसठ बार! हां, चौसठ बार पढ़ा ईं।" ढाका जाने पर वे अपने प्रिय मित्र चारुचन्द्र बन्दोपाध्याय के घर पर ही ठहरते थे। उस बार वे अचानक बीमार हो गये। चारु बाबू क्या देखते हैं कि ज्वर के आवेश में शरत्चन्द्र 'बलाका' की कविता पर कविता का पाठ करते जा रहे हैं। प्रत्येक कविता उन्हें पूर्ण रूप से कण्ठस्थ है।

सचमुच रवीन्द्रनाथ की बड़ी-बड़ी कविताएं उन्हें विस्मयजनक रूप से कण्ठस्थ थीं। पुस्तक कई सहायता के बिना एक भी भूल न करके उन कविताओं की आवृत्ति करते अनेक व्यक्तियों ने उन्हें देखा था। इलाचन्द्र जोशी से उन्होंने कहा था, "यैं हर तीसरे-चौथे रोज़ उनकी कोई कविता-पुस्तक लेकर बैठ जाता हूं। इतना बड़ा कवि आज संसार में खोजे न मिलेगा।"

समय-असमय, कारण-अकारण रवीन्द्र-काव्य की आवृत्ति करने में उन्हें जितना आनन्द आता था उतने ही उलूक वे उनके नाटकों का अभिनय देखने को भी रहते थे। 'कल्लोल' पत्रिका के कर्मियों को अपना चित्र भेंट करते हुए उन्होंने कहा था, किन्तु यह जान लो हम सब रवीन्द्रनाथ के हैं। गंगा की तरंगें होती हैं। तरंगों से कभी गंगा नहीं बनती।"

उस दिन कविता-पाठ की एक प्रतियोगिता परीक्षा थी। कविता चुनी गई कविगुरु की- 'ए बार फिराओ मोरे।' लेकिन उसमें से वह अंश निकाल दिया गया जिसमें देश की दुर्दशा का वर्णन था। जो कर्ता-धर्ता थे उनका तर्क था कि उसे पढ़ना राजद्रोह होगा। फसाद खड़ा हो सकता है।

शरत्चन्द्र ने लिखा, "जो देश के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, जो निष्पाप और निर्मल हैं, उनके हृदय के भीतर से स्वदेश की भलाई के लिए जो कविता निकली है प्रकाश्य सभा में उसका

पढ़ना राज्यद्रोह है, अपराध है। इस सभ्य देश के लड़के आज यही सीखने के लिए बाध्य होते हैं.....।"

एक ओर ऐसी अनन्य भक्ति थी तो दूसरी ओर यह भी उतना ही सत्य है कि समय-समय पर उनका कविगुरु से कटु संघर्ष भी हुआ है। वह संघर्ष सदा ही सैद्धान्तिक रहा। भावुक हृदय शटरत्चन्द्र जब कभी भी कविगुरु की किसी बात से अप्रसन्न होते थे तो उन पर तीव्र प्रतिक्रिया होती थी और वे तुरन्त ही उस प्रतिक्रिया को व्यक्त कर देते थे। मन से शायद वह ऐसा नहीं चाहते थे, परन्तु अन्तर का कृतिकार जैसे उफन उठता था और वे विवश हो जाते थे। चार वर्ष पूर्व' [5] विचित्रा' में कविगुरु का एक लेख प्रकाशित हुआ था। नाम था 'जाहित्यधर्म'। उस लेख को लेकर बंगाल के साहित्य जगत् में काफी तूफान उठा। डा० नरेशचन्द्र सेनगुप्त ने उक्त धर्म की सीमा या चौहद्दी का निर्देश करके अत्यन्त श्रद्धा के साथ कवि के उदाहरणों को, रूपक और युक्तियों को रस-रचना की संज्ञा दी। श्री सजनीकान्त दास की इस लेख के संबंध में शरतचन्द्र से काफी बातें हुईं। उन्हीं बातों का उन्होंने एक लेख में उल्लेख कर दिया। लेकिन वह उल्लेख कुछ इस प्रकार हुआ कि उससे गलतफहमी हो सकी थी, अर्थात् वे बातें शरतचन्द्र के वास्तविक मत से भिन्न थीं। इसी गलतफहमी के कारण कुछ लोगों ने उन पर आक्रमण भी किये, इसलिए शरत् बाबू ने 'साहित्य की रीति और नीति' [6] शीर्षक से एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने अपना मत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। बड़ी विनम्रता से कवि के आक्षेपों का निराकरण करते हुए उन्होंने लिखा, "उनके 'जाहित्य-धर्म' प्रबन्ध के अन्तिम अंश में भाषा जैसी तीक्षा है, श्लेष भी वैसा ही निष्ठुर है। यह बात कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि तिरस्कार करने का अधिकार एकमात्र उन्हीं को है, किन्तु क्या सचमुच ही आधुनिक बंगला साहित्यकार रास्ते की भूल-कीचड़ उठाकर परस्पर एक-दूसरे पर फेंकने को साहित्य-साधना समझता है? शायद कभी कहीं पर भूल हो गई है किन्तु इसी से क्या समस्त आधुनिक साहित्य के प्रति इतना बड़ा दण्ड कोई सुविचार है?

"कवि ने कहा है, 'उस देश का साहित्य कम से क्य विज्ञान की दुहाई देकर इस दौराल्य या ऊधम की कैफियत दे सकता है। किन्तु जिस देश में, भीतर और बाहर, बुद्धि में और व्यवहार में, किसी भी जगह विज्ञान ने प्रवेश का अधिकार नहीं पाया.....।'

"अगर यही सच है तो भारत के लिए दुग्ब्र की बात है, दुर्भाग्य की बात है। विज्ञान ने शायद प्रवेश का अधिकार नहीं पाया, शायद यह वस्तु सचमुच ही भारत में नहीं थी, किन्तु कोई एक चीज़ केवल न होने के कारण ही क्या सदैव वर्जित होकर रहेगी? यही क्या कवि का आदेश है?

"आगे की लाइन में कवि ने कहा है – 'उस देश के (अर्थात् बंगाल के) साहित्य में उधार ली हुई नकल निर्लज्जता को किसकी दोहाई. देकर ष्णिवेंगी

रोहाई देने का प्रयोजन नहीं है, छिपाना भी अन्याय है, किन्तु भक्तों के मुख से उधार लिये हुए अभिमत को ही संशयहीन सत्य मानकर विश्वास कर लेने से क्या न्याय की मर्यादा

खण्डित नहीं होती?

-रवीन्द्रनाथ के साहित्य-धर्म' का जवाब नरेशचन्द्र ने दिया है । उनकी धारणा है कि, और अनेक लोगों की तरह शायद, वह भी कवि के एक लक्ष्य हैं । इस धारणा का कारण क्या है, मैं नहीं जानता । उनकी सब पुस्तकें मैंने नहीं पड़ी । मासिक पत्रों के पन्नों में जो कुछ प्रकाशित होता है, वही केवल देखा है । अनेक स्थानों पर उनसे मेरा मत मिलता नहीं जान पड़ा कभी-कभी जान पड़ा है, नर-नारी के प्रेम के मामले में वह प्रचलित सुनिर्दिष्ट रास्ते क्के लांघ गये हैं, किन्तु वहां पर भी मैंने अपने मत को ही अप्रान्त नहीं समझा । यह मैं जानता हूं कि नरेशचन्द्र से बहुत-से लोग प्रसन्न नहीं है, किन्तु मत्तता की आत्मविस्मृति में माधुर्यहीन रुखाई को ही शक्ति का लक्षण मानकर पहलवानी ख्रई धींगामुश्ती करने के लिए ही वे पुस्तक लिखते है ऐसा अपवाद मैं नहीं फैला सक्ता । पाण्डित्य में, ज्ञान में, भाषा पर अधिकार में, चिन्तन. के विस्तार में, स्वाधीन अभिमत को अकुंक्ति भाव से प्रकट करने में उनके समकक्ष लेखक बंगला-साहित्य में थोड़े ही है । बंगला-साहित्य के अविसंवादी (सर्वसम्मत) विचारक के हिसाब से कवि का यह कर्त्तव्य है कि नरेश बाबू की सब पुस्तकों को पढ़े, यह स्पष्ट करके दिखावें कि उनके उपन्यासों में कहां पर शीलता का अभाव है, कहां पर ये काव्य-लक्ष्मी के वस्त्रहरण में लगे है । किन्तु ऐसा भी हो सक्ता है कि कवि का लक्ष्य नरेशचन्द्र नहीं, कोई और हो । तब भी मैं समझता हूं कि उन्हें उस 'और क्सिईा' की भी सब पुस्तकें पढ़कर देखनी चाहिए ।' फम लोगों का जमाना तो अब बीतने ही वाला है । अब साहित्यव्रतियो का एक नया दल साहित्य-सेवा का भार ग्रहण कर रहा है । मैं सम्पूर्ण अन्तःकरण से उनको आशीर्वाद देता हूं ।..... . .किन्तु कुछ दिनों से देखता हूं इन नवीन् लेखकों के विरुद्ध एक प्रचण्ड धावा शुरू हो गया है । क्षमा नहीं हे, धैर्य नहीं है, मित्रभाव से भ्रम-संशोधन की वासना नहीं है, है केवल कटूक्ति, है केवल सुतीव्र वाक्य-बाण-वर्षा से घायल करने का संकल्प, है केवल देश के आगे, दस आदमियों के आगे इनको हेय सिद्ध करने की निर्दय प्रवृत्ति । केवल मत न मिलने से ही, वाणी के मन्दिर में, सेवकों के इस आत्मघाती कलह में न गौरव है, न कल्याण है ।

-विश्वकवि के इस 'साहित्य- धर्म ' के अन्तिम अंश का मैं सविनय प्रतिवाद करता हूं । भाग्य के दोष से वह मेरे प्रति विरूप हैं -मेरी बात का शायद वह विश्वास न कर सकें, किन्तु मैं उनसे सच-सच निवेदन करता हूं कि बंगला के साहित्यसेवियों के बीच ऐसा कोई नही है, जिसने मन ही मन उनको गुरु के आसन पर प्रतिष्ठित नहीं किया । आधुनिक साहित्य के अमंगल की आशंका से जो लोग उनके कानों के पास गुरुदेव' कहकर रोज-रोज विलाप करते हैं, उनमें से किसी की भी अपेक्षा ये (आधुनिक लेखक) कम श्रद्धा नहीं रखते । '

इस लेख का आरम्भ कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है । कविगुरु और डा० नरेशचन्द्र के मतभेद की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा, परेशचन्द्र के विरुद्ध दल के सजनीकान्त दास ने शनिवारेर चिठि (मासिक) में मेरा मतोमत ऐसा प्रांजल और स्पष्ट करके प्रकट कर दिया है

कि मेरे पूक फूटकर माथा खुजाकर, हां' और बा' एक ही साथ उच्चारण करके पीछे हटकर भागने के लिए राह ही नहीं रक्सी । एकदम बाघ के मुंह में ठेल दिया है ।

डधर विपत्ति यह हुई है कि धीरे- धीरे मेरे भी दो-चार भक्त आ जुटे हैं । वे यह कहकर मुझे उत्तेजित करते हैं कि तुम्हीं कौन कम हो? अपना अभिमत प्रचारित कर दो न!

ये कहता हूं वह मेंने जैसे कर दिया, लेकिन उसके बाद ए मैं ठीक किस दल में हूं यह आप ही नहीं जानता, इसके सिवा उस ओर नरेश बाबू जो हैं । वह केवल बहुत बड़े पण्डित ही नहीं हैं, बड़े भारी वकील भी हैं । उनकी जिस जिरह के जोर से कवि के युक्ति-तर्क रस-रचना हो गये, उस जिरह के पेंच में पड़कर मैं तो एक घड़ी भी नहीं ठहर सकूंगा । कवि तो भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दिशान्त आn

के कोठे में पहुंच गये हैं, लेकिन मैं तो शायद व्याप्ति-अव्याप्ति किसी तक भी नहीं पहुंचूंगा, त्रिशंकु की तरह शून्य में झूलता रहूंगा । तब? प

ग्यक्तगण कहते हें, 'आप डरपोक है ।'

न्यै कहता हूं नहीं ।'

गूँक्त लोग कहते हैं, -तो इसे प्रमाणित कीजिए ।'

यैं कहता हूं प्रमाणित करना क्या सहज मामला है? रस-सृष्टि, रसोद्बोधन आदि शब्दों की रस-वस्तु के बराबर धुंधली चीज संसार में क्या कोई और है? यह केवल रस-रचना के ही द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है, लेकिन फिलहाल वह समय मेरे हाथ में नहीं है ।'

रह तो हुई मेरी ओर की बात । उस ओर की बात ठीक-ठीक नहीं जानता, किन्तु अनुमान कर सकता हूं ।

-प्रियपात्रों ने जाकर कवि को पकड़ा, महाशय, हम लोग तो अब पार नहीं पाते, अबकी आप ही अस्त्र धारण कीजिए । ना-ना धनुषबाण नहीं, गदा घुमाकर फेंक दीजिए इस अति आधुनिक साहित्यिक बस्ती की ओर । लक्ष्य? कोई जरूरत नहीं । वहां एक साथ बहुत-से रहते हैं । '

गई की वह गदा ही अन्धकार में आकाश से गिरी है । इससे ईप्सित-लाभ भले ही न हो, शब्द और धूल बहुत उठी है । नरेशचन्द्र चौंककर जाग उठे हैं और विनीत-कुछ काठ से बारम्बार प्रश्न करते हैं कि किसको लस्य किया है, बताइए? क्यों किया है, बोलिए? हां या ना कहिए ।

-किन्तु यह प्रश्न ही अवैध है । कारण, कवि तो रहते हैं बारह महीने में तेरह महीने विलायत । क्या जानें वह कि कौन हैं तुम लोगों की खड्गहस्ता, श्1चिधर्मी अनुरूपा [7] और कौन है तुम्हारा वंशीधारी अशुचिधर्मी शैलजा, प्रेमेन्द्र, नजरुल इस्ताम -कल्लोल, काली-कलम का दल [8]? वह कैसे जान सकते है कि कब किस महीयसी जननी ने अति आधुनिक साहित्यिकों का दलन करने के लिए भविष्यत् माताओं को सौर में ही सन्तानों को मार डालने का सदुपदेश देकर नैतिक उच्छवास की पराकाष्ठा दिखाई है और कब शैलजानन्द

कुली-मजदूरों की नैतिक हीनता की कहानियां लिखकर अपनी कुलीनता (अभिजात्य) खो बैठे हैं? इन सब बातों को पढ़ने का समय, धैर्य और प्रवृत्ति, कुछ भी तो कवि के पास नहीं है, उन्हें बहुत-से काम हैं । दैव संयोग से कभी एकाध टुकड़ा लेख जो उनकी नजर में पड़ गया है, उसी से उनकी धारणा हो गई है कि आधुनिक बंगला साहित्य की आबरू और आभिजात्य, दोनों ही जाते रहे हैं । ' श्1रू हुआ है चितपुर रोड के खचखच-खचाक शब्द के साथ एक ही तरह के पद का पुनः-पुन: चक्कर मारता हुआ गर्जन । आधुनिक साहित्यिकों के प्रति कवि के इतने बड़े अविचार से केवल नरेशचन्द्र के ही नहीं, मेरे भी विस्मय और दुख की सीमा नहीं है ।'

शरत्चन्द्र के इस लेख से काफी हलचल मची । शनिवारेर चिठि' के सम्पादक सजनीकान्त दास ने उन पर तीव्र आक्रमण किया । वे ऐसा अवसर कभी नहीं चूकते थे जब शरत् बाबू पर आक्रमण किया जा सके । लेकिन इस बार और भी बहुत-से लोगों ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की । उनका यह आक्षेप था कि शरतचन्द्र ने रवीन्द्रनाथ के प्रति अनुचित कटूक्ति की है । बाद में शरत् बाबू ने भी स्वीकार किया है कि शायद लिखने की त्रुटि के कारण वह जो कहना चाहते थे नहीं कह पाये और दूसरा ही अर्थ हो गया । लेकिन यह अक्षमता का दोष है, हृदय का नहीं ।

शरतचन्द्र नये लेखकों के प्रति सदय ही नहीं थे, उनके प्रति आन्तरिक स्नेह भी रखते थे । कई वर्ष पूर्व [9] शिवपुर इंस्टीट्यूट की साहित्य सभा में रवीन्द्रनाथ अध्यक्ष होकर आये थे । उस सभा में भी आधुनिक लेखकों का बचाव करते हुए उन्होंने कहा था, भला ओर बुरा ससार में चिरकाल से है । शायद चिरकाल तक रहेगा । भले को भला, बुरे को बुरा आधुनिक लेखक भी कहता है । बुरे की वकालत करने के लिए कोई साहित्यिक कभी किसी दिन साहित्य सभा में खडा नहीं होता, किन्तु बहलाकर नीति शिक्षा देना भी वह अपना कर्त्तव्य नहीं समझता, दुर्नीति का भी प्रचार नहीं करता । थोड़ा-सा लाकर देखने से उनकी सभी दुर्नीति के मूल में शायद यही एक एकता मिलेगी कि वह मनुष्य का मनुष्य सिद्ध करना चाहता है । '

व्यक्तिगत रूप से भी वे उन्हें बड़ा प्यार करते थे । कवि नजरुल इस्ताम जेल में थे । किसी प्रल को लेकर उन्होंने अनशन कर दिया । उस समय शरत् बाबू उनसे अनशन तोड़ने का अनुरोध करने के लिए जेल गये थे । एक पत्र में उन्होंने लिखा है, हुबली जेल में हमारे कवि काजी नजरुल इस्ताम अनशन करके मरणासन्न हैं । एक बजे की गाड़ी से आ रहा हूं । देखूं, यदि मुलाकात करने दें और करने देने पर मेरे अनुरोध से वे फिर खाने को राजी हो जायें, न होने से उनके लिए आशा नहीं देखता । वे सच्चे कवि हैं । रवि बाबू को छोड्कर शायद इस समय दूसरा कोई और नहीं है।" [10]

शरत् बाबू मानते थे कि आधुनिक लेखक गलतियां करते हैं, परन्तु जब उन्हें समाज में अश्रद्धेय प्रतिपादित किया जाता था तो उन्हें बहुत दुख होता था । उन्हें यह बात भी बहुत

पीड़ा देती थी कि आशुनइक लेखक गरीब हें और इस कारण गन्दी बातों में पड़कर रुपया कमाना चाहते हैं । उनकी रचनाओं में वे संशोधन करते रहते थे । वे उन्हें विश्वास में लेते, तर्क करते, झगड़ू भी पडते, पर कभी यह प्रकट नही होने देते या ऐसा व्यवहार नहीं करते जिससे लगे कि आधुनिक लेखक छोटे हैं।

लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि उन्होंने आधुनिक लेखकों को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया था । रवीन्द्रनाथ से संघर्ष के बाद साल-भर तक उन्होंने आधुनिक लेखकों की रचनाएं पड़ीं और इस निर्णय पर पहुंचे कि सचमुच उनमें रस का अभाव है । जो अति आधुनिक साहित्य के नाम पर उन्हंखलता का प्रचार करते हैं, वे और जो कुछ भी करें साहित्य की सृष्टि नहीं करते । उस दिन कविगुरु ने जो कहा था वह बहुत गलत नहीं था । तीन वर्ष बाद 'शेष प्रश्न' को लेकर आधुनिक लेखकों ने उन पर जो आक्रमण किये उससे भी सम्बन्धों में कुछ अस्थायी तनाव आ गया था । इसमें अस्वाभाविक कुछ नहीं है । युगसन्धि के अवसर पर ऐसा होता ही है । नये लेखकों को प्यार करने पर भी उनकी अपनी साहित्यिक मान्यताएं थीं । वे मानते थे कि लेखन का असंयम साहित्य की मर्यादा नष्ट कर देता है । श्री केदारनाथ की एक पुस्तक की खूब प्रशंसा करने के बाद उन्होंने लिखा, भगवान आपको लिखने की असीम शक्ति दे, किन्तु यह बात नहीं भूली जा सकती कि ऐश्वर्यवान को ही मितव्ययी होने का प्रयोजन है । कंगाल के लिए यह आवश्यक नहीं । केवल लिखते जाना ही नहीं, रुकने की बात भी मन में होनी चाहिए ।.

लेकिन शरतचन्द्र गुरुदेव से केवल इसी कारण नाराज नहीं थे कि वे आधुनिक लेखकों के प्रति कूर हो उठे थे बल्कि 'पथेर दाबी' की घटना के कारण जो उत्तेजना हुई थी वह भी अभी शान्त नहीं हुई थी । इसके अतिरिक्त 'षोडशी' नाटक के गाने भी कविगुरु नहीं लिख पाये थे । 'साहित्य की रीति-नीति' लिखते समय ये सभी बातें उनके मन में थीं । इसी कारण लेख में कहीं-कहीं व्यर्थ ही तीव्रता का समावेश हो गया हे ।

रवीन्द्रनाथ ने दिलीपकुमार राय को कुछ पत्र लिखे थे । उन्हीं के संबंध में एक बार [11] फिर उनका कविगुरु से संघर्ष हुआ । इन पत्रों के संबंध में श्री अतुलानन्द राय ने उनकी राय जाननी चाही थी । उत्तर में उन्होंने राय महाशय को एक बहुत लम्बा पत्र लिखा ।

घूमने परिचय' पत्रिका में श्री दिलीपकुमर राय को लिखित रवीन्द्रनाथ के पत्र साहित्य की

मात्रा' के संबंध में मेरी राय जाननी चाही है। यद्यपि यह पत्र व्यक्तिगत है फिर भी जब यह प्रकाशित हुआ है तो ऐसा अनुरोध शायद किया जा सकता है।

".....कविवर ने जिन लोगों के संबंध में निराशा के कारण पतवार छोड़ दी है तुम लोगों का सन्देह यह है किए उन लोगों में मेरी भी गिनती है। असम्भव नहीं है। इस निबन्ध में कविवर का अभियोग है कि वे (दूसरे लोग) प्रमत्त हाथी हैं, वे बकवास करते है,

पहलवानी दिखाते हैं, कसरत करामात करने पर आमादा हैं, 'प्राब्लेम साल्व' करते हैं, इसलिए उनकी.....इत्यादि, इत्यादि।

"बातें चाहे जिनके संबंध में कही गई हों, न तो ये सुन्दर हैं और न कानों को अच्छी लगती हैं। श्लेष और विदूप के वातावरण के कारण मन में एक इरिटेशन पैदा होता है। इससे कला का उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है और श्रोता का मन भी खिन्न होता है। इसके साथ ही जैसे क्षोभ प्रकट करना बेकार है, प्रतिवाद करना भी वैसे ही व्यर्थ है। मैंने किसकी बोली तोते की तरह रटी, कब मैंने पहलवानी दिखलाई, कहां खेल दिखाया, क्य कविवर के निकट यह जिज्ञासा अवान्तर है। मुझे अपने बचपन की याद आती है। खेल के मैदान में किसी ने यह क्ट दिया कि फलाने ने टट्टी पर पैर रख दिया, बस फिर क्या है, कहां पैर रख दिया, किसने कहा, किसने देखा, वह टट्टी नहीं थी, गोबर था, यह सब कहना व्यर्थ होता था। धर आने पर मां आदि बिना नहलाये तथा बिना सिर पर गंगाजल का छींटा दिये घर में दाखिल नहीं होने देती थीं। मेरी भी इस समय वही हालत है। ' 'साहित्य की मात्रा' ही क्यों, कविवर के ऐसे निबन्धों में से अधिकांश को समझने की मुझमें बुद्धि नहीं है। उनके उपमा-उदाहरण में कलकके, हाट-बाजार, हाथी-घोड़ा, जन्तु-हैवान सब आते हैं, पर यह समझ में नहीं आता है कि मनुष्य की सामाजिक समस्याओं और नर-नारी के परस्पर संबंध पर विचार करते हुए ये क्यों आते हैं और इनसे क्या प्रमाणित होता है? सुनने में अच्छी लगने पर भी वह युक्ति तो नहीं होती।

यक उदाहरण देता हूं। कुछ दिन पहले हरिजनों के प्रति होने वाले अन्याय से दुखी होकर उन्होंने प्रवर्तक संघ के मति बाबू को रक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने यह शिकायत की थी कि ब्राह्मणी की पाली हुई बिल्ली जूठे मुंह से उसकी गोद में जाकर बैठ जाती है, इससे उसकी पवित्रता नष्ट नहीं होती और वह इस पर आपत्ति नहीं करती। बहुत सम्भव है कि वह आपत्ति नहीं करती, पर इससे हरिजनों को कोई सुविधा हुई? इससे क्या प्रमाणित हुआ? बिल्ली की युक्ति पर ऐसा तो ब्राह्मणी से नहीं कहा जा सकता कि फूंकइ अत्यन्त निकृष्ट जीव बिल्ली जाकर तुम्हारी गोद में बैठी है और तुमने कोई आपत्ति नहीं की, इसलिए अत्यन्त उकृष्ट जीव मैं भी आकर तुम्हारी गोद में बैला और तुम आपत्ति नहीं कर सकतीं। बिल्ली क्यों गोद में बैठती है, चींटे क्यों थाली पर चढ़ते हैं, इन सब तकी से मनुष्य के साथ मनुष्य के न्याय या अन्याय का विवेचन नहीं हो सकता। ये सब उपमाएं सुनने में अच्छी लगती हैं, चटकीली हैं, पर कसौटी पर कसने पर बहुत ही तुच्छ प्रमाणित होती हैं।..... आधुनिक काल के कल-कारखानों की विभिन्न कारणों से बहुत से लोग निन्दा करते हैं। रवीन्द्रनाथ भी करते हैं। इसमें कोई दोष की बात नहीं है, बल्कि यह फैशन हो गया है, पर इस अतिनिन्दित वस्तु के सम्पर्क में जो लोग इच्छा या अनिच्छा से आते रहते हैं, उनके सुख-दुखों के कारण भी जटिल हो गये हैं,-उनकी जीवन-यात्रा के तरीके भी बदल गये हैं। और किसानों के जीवन से उनका जीवन हुबहू नहीं मिलता, इस पर भले ही कोई अफसोस

करे, पर यदि कोई इन लोगों के जीवन की विचित्र घटनाओं पर कहानी लिखे तो वह साहित्य क्यों नहीं होगा? हां, कविवर भी ऐसा नहीं कहते कि वह साहित्य नहीं होगा। वे केवल इस बात पर आपत्ति करते हैं कि साहित्य की मात्रा का लंघन न किया ये, पर इस मात्रा का निर्णय किस प्रकार होगा? कलह से होगा या कटु वाक्यों से होगा? कविवर का कहना है कि इसका निर्णय साहित्य की चिरन्तन मूल नीति र्का कसौटी से होगा, पर यह मूल नीति लेखक की बुद्धि की अभिज्ञता और रसोपलब्धि के आदर्श के अलावा कोई और वस्तु है क्या? चिरन्तन की दुहाई जबर्दस्ती ही दी जा सकती है। असल में वह मरीचिका-मात्र है।

-कविवर कहते हैं कि उपन्यास-साहित्य की भी यही दशा है। मनुष्य के प्राण का रूप चिन्तन

के स्तूप के नीचे दब गया है। पर उसके जवाब में यदि कोई कहे कि उपन्यास-साहित्य की यह दशा नहीं हे। मनुष्य के प्राण का रूप चिन्तन के स्तुप के नीचे दबा नहीं है, वह विचार के सूर्यलोक में ओर उज्जल हो गया है तो उसे किस तर्क से रोका जा सकता है? इसी के साथ-साथ एक और बात आजकल प्राय: सुनने में आती है । उसमें रवीन्द्रनाथ ने भी हाथ बटाया है। वह यह कि यदि कोई मनुष्य कहानी कई मजलिस में आये तो वह कहानी ही सुनना चाहेगा, बशर्ते कि वह सही दिमाग हो । इस वचन को स्वीकार करते हुए भी यदि पाठक कहें कि हां, हम सही दिमाग हैं, पर ज़माना बदल गया है और हमारी उग्र भी बड़ी है, इसलिए राजकुमार और मेढ़क-मेढकी की कहानी से हमारा पेट नहीं भरता, तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह उत्तर बहुत गुस्ताखी भरा है । वे. अनायास ही ऐसा क्क सकते हैं कि कहानी में चिन्तनशक्ति की छाप रहने पर यह परित्याज्य नही होती, यह विशुद्ध कहानी लिखने के लिए लेखक को चिन्तनशक्ति विसर्जित करने की जरूरत नहीं है।गईवर ने महाभारत और रामायण का उल्लेख करते हुए भीष्म और राम के चरित्रों की आलोचना करके यह दिखलाया है कि रटी-रटाई बोली के कारण दोनों चरित्र उभर नहीं पाये । इस पर मैं आलोचना नहीं करूंगा क्योंकि वे दोनों न केवल काव्य-ग्रन्य हैं, बल्कि धर्म-पुस्तकें भी. हैं, और शायद कुछ इतिहास भी है । महज साधारण उपन्यास के बनाए हुए चरित्र नहीं भी हो सकते हैं । इसलिए उन्हें साधारण कव्य-उपन्यास के गज से नापते हुए मैं हिचकिचाता हूं।

फदिवर के पत्र में इण्टलेक्ट' ज्ञन्द क्त बार-बार प्रयोग हुआ है । ऐसा मालूम होता है, जैसे कविवर विद्या और बुद्धि दोनों ही अर्थो में इस शब्द को ले रहे है । प्रास्तेम' शब्द का भी यही हाल है । उपन्यास में तरह-तरह की प्रान्सेम' रहती है; व्यक्तिगत, नीतिगत, सामाजिक, सांसारिक । इसके अलावा कहानी की अपनी प्रान्तेम होती है, वह प्लाट की प्रास्तेम है, इसी की गांठ सबसे जटिल होती है। इमारसम्भव की प्राब्लेम, उत्तरकाण्ष में राम की प्रास्तेम, डाल्स हाउस' में नोरा की प्रान्तम, योगायोग' में कुमु की प्राक्लेम एक तरह की नहीं है। जब

चोगायोग उपन्यास विचित्रा' में धारावाहिक स्म से प्रकाशित हो रहा था और अध्याय के बाद अध्याय में कुमु जो हंगामा मचाती जा रही थी तो मैं यह सोच ही नहीं पा सका था कि दुर्घर्ह-प्रबल-पराक्रान्त मधुसूदन के साथ उसके टग-आफ बार क अन्त किस प्रकार होगा? पर कौन जानता था कि समस्या इतनी मामूली थी और लेडी डाक्टर एक मिनट में आकर उसकी मीमांसा कर देगी। हमारे जलधर दादा को भी प्राब्लेम फूटी आखों नहीं भाती। उनकी एक पुस्तक में इसी तरह एक आदमी ने बहुत भारी समस्या की सृष्टि की थी, पर उसकी मीमांसा एक दूसरे ही उपाय से हो गई । एक असली नाग ने आकर फनफना कर उसे काट लिया। मैंने दादा से पूछा कि भई, यह क्या हुआ? इस पर उन्होंने कहा, एां इसमें क्या बात है, क्या सांप कभी किसी को नहीं काटता?".

"अन्त में एक बात और कहनी है । रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, एक जमाने में इन्सन के नाटकों ख़ई बड़ी कद्र थी, पर उसी बीच में क्या उनका रंग फीका नहीं पड़ गया? बाद को क्या वे आखों से बिलकुल ओझल नहीं हो जाएंगे ?. .... ' ओझल हो सकते है, पर एक अनुमान-मात्र है, प्रमाण नहीं। बाद में किसी समय ऐसा भी हो सकता है कि इअन का पुराना आदर फिर लौट आये। वर्तमान कल ही साहित्य का चरम हाईकोर्ट नही है।.

इस पत्र के कारण शरत् के क्र्य भक्त और मित्र अप्रसन्न हो उठे। कवि भी कम सुब्ध नहीं ख। उन्होंने प्रतिवाद करते हुए शरत् को लिखा कि उस लेख में उनका इशारा शरत् की ओर नही था- "विश्वास करो मैंने ऐसा नही किया । तुमने बार-बार मुझ पर तीक्षा कठोर भाषा में आक्रमण किया है। लेकिन मैंने कभी खुले आम या गुप्त स्म से निन्दा करके बदला नहीं लिय। इस रचना ने उस फैरिस्त में एक अंक और जोड़ दिया है।.

स्वयं शरत् बाबू के दुख की कोई सीमा नही थी। उन्हें लगा जैसे कवि से उनका संबंध अब पूरी तरह टूट गया है – "जो लिख गया वह अब वापस नहीं लिया जा सकता। कवि से मेरा विच्छेद शायद पूर्ण हो गया है।..... त्.. ..लेकिन न जाने क्या हो गया, चरिचय' की रचना को पढ़ते ही सारे बदन

में आग लग गई। तब कागज़-कलम लेकर चिट्ठी लिख डाली।" [12]

इसके बाद भी कविगुरु के प्रति उनका आक्रोश शान्त नहीं हुआ। दिलीपकुमार राय को एक पत्र [13] में उन्होंने फिर लिखा, "उपमा या उदाहरण कुछ भी रवीन्द्रनाथ की तरह निरर्थक और असम्बद्ध न हों। और तर्क किसी बात से भी वाष्पाच्छादित न हो जाएं। मनुष्य को अलंकारों से सुसज्जित करने की रुचि और है और सुनार की दुकान में शो-केस को अलंकारों से सुसज्जित करने की रुचि और है। यह बात हर समय याद रखनी चाहिए। अलंकृत वाक्य का बोझ कितना पीड़ादायक है, यह बात सिर्फ पाठक ही समझ सकते हैं।"

कविगुरु के साथ उनके ये संघर्ष कभी-कभी उग्र रूप अवश्य धारण कर लेते थे, लेकिन जैसे ही आवेश-आक्रोश की तीव्रता समाप्त होती वे पश्चात्ताप की आग में जलने

लगते। मित्रों को पत्र लिखकर बार-बार स्पष्टीकरण देने की चेष्टा करते। एक पत्र [14] में उन्होंने लिखा-

"इसके अलावा मेरे मन में इस संबंध में कोई अफसोस सचमुच ही इस बात का नहीं है और न उद्वेग है कि मुझसे कौन बड़ा और कौन छोटा है। यदि रवीन्द्रनाथ यह कह देते कि मेरी कोई भी रचना उपन्यास पद वाक्य नहीं है, तो उससे सामयिक रूप से वेदना पहुंचने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। शायद यह विश्वास करना कठिन है, और शायद ऐसा जंचे कि मैं बहुत अधिक दीनता दिखला रहा हूं, पर यही साधना मैंने सारी जिन्दगी की। इसलिए किसी आक्रमण का भी प्रतिवाद मैं नहीं करता। यौवन में (प्रौढ़ावस्था में भी) एकाध बार रवीन्द्रनाथ के विरुद्ध मैंने कुछ कहा था, पर वह मेरी प्रकृति नहीं, विकृति थी। बहुत-से कारण थे, शायद इसीलिए मैंने यह गलती की।" बार-बार उन्होंने दिलीपकुमार से कहा, "विश्वास करो, वह सचमुच ही विराट् पुरुष हैं। उन जैसे स्वांग सुन्दर मनुष्य का आविर्भाव हुआ है, इसीलिए सोचता हूं कि हमारी जाति की अकाल मृत्यु न होगी। इसी युग में दो महाप्राण पुरुषों ने इस देश का मुख उज्जवल किया है, वे हैं रवीन्द्रनाथ और देशबन्धु.....।"

कविगुरु ने कई बार शरत् बाबू की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, परन्तु शरत् बाबू को यह क्षोभ बराबर बना रहा कि गुरुदेव ने कभी उनको सहज भाव स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने पत्र में छोटा-बड़ा होने की बात कही है। ठीक ऐसी ही बात रवीन्द्रनाथ ने दिलीपकुमार को लिखे अपने एक पत्र में कही थी। [15] ये प्रश्न इन महारथियों को क्यों परेशान करते थे, इस पर कविगुरु का यह पत्र प्रकाश डालता है, जो उन्होंने शरत् बाबू की मृत्यु के बाद प्रबोधकुमार सान्याल को लिखा था– "शरत् की मृत्यु पर एक चौपदी सार्वजनिक रूप से भेज देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सका। मुझसे शरत् जो प्रशस्ति पा सकते थे, वह मैंने बिना सोचे-समझे उनकी मृत्यु से पूर्व ही अकृपण भाव से दे दी थी। मेरी मृत्यु पर शरत् इस बात को कृतज्ञता के साथ याद करते। जान पड़ता है, मेरे मन में यही लालच था, लेकिन भाग्य में उल्टी बात हो गई। मेरे जीते रहते ही अकारण असहिष्णु होकर शरत् ने मेरे प्रति अविचार किया। यदि ठीक समय पर मृत्यु होती तो निस्सन्देह ही वह यथोचित भाव से उस ग्लानि के लिए पश्चात्ताप कर जाते।

"मेरे जीवनकाल में बंगला साहित्य के तीन पर्व दिखाई दिए। जब मैं सभा में जाजम के एक कोने पर बैठा था, तब कवि के उंचे आसन पर थे हेमचन्द्र और नवीनचन्द्र। सिंहासन पर बैठे थे बंकिमचन्द्र। मधुसूदन विदा हो चुके थे। उनके चले जाने से कुछ पहले ही दूसरा पर्व आरम्भ हो गया। पहले पर्व में मैं सबसे छोटा था और दूसरे पर्व में सबसे बड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यिकों के साथ उम्र की दृष्टि से मेरा संबंध स्थापित नहीं हो सका। अकेला पड़ गया। सौभाग्य से अकृत्रित श्रद्धा के कारण आयु की बाधा पार करके सत्येन्द्र मेरे पास आ सका था। दोनों के इस मिलन से जो रस पाया उससे मुझे जान पड़ता

है, बहुत लाभ हुआ। मेरा विश्वास है कि मनुष्य के रूप में मेरे पास आने पर उन्होंने मुझको कवि के रूप में ही वास्तविक रूप से प्राप्त किया।

"तीसरा पर्व आरम्भ हुआ शरत् को लेकर। नयों के साथ उनका जितना सामीप्य संबंध स्थापित हो सका, अपने से पहलों के साथ वैसा न हो सका। वे पूरी तरह अपने देश और अपने काल के हैं। यह सहज बात नहीं है। सुनने पर यह स्वत: विरोधी लगता है, किन्तु देखा जाए तो कृत्रिम होना सहज है, पर स्वाभाविक होना सहज नहीं है। इस प्रकार अपने देश-काल के साथ घनिष्ट भाव से मिल जाना सबके भाग्य में नहीं होता। सभी अपने देश और काल में जन्म ग्रहण करते हैं, ऐसा नहीं है। जन्म-विधाता पैदा होने वाले के स्थान निर्णय करने के उपलक्ष्य में सब समय वर्तमान समय का निर्णय करके नहीं चलते। साहित्य में उसका फल विचित्र होता है। यथोचित देश-काल के चिर निर्वासन में जिन्होंने जन्म लिया है उन लोगों का अभाव भी नहीं है। सृष्टि-वैचित्र्य के लिए उनका भी प्रयोजन है। कहना व्यर्थ है कि शरत् अचानक ही बंगला साहित्य की मण्डली में आ पहुंचे। अपरिचय से परिचय क्षेत्र में आते देर नहीं हुई। जान-पहचान होने से पहले ही वे परिचित मनुष्य हो गये। द्वारपाल ने उन्हें रोका नहीं। साहित्य में जहां पाठकों का चित्त-परिचय और लेखक का आत्म-परिचय बिना किसी व्यवधान के एक साथ हो जाता है, वहां ऐसा ही होता है। पूर्वराग और अनुराग के बीच में समय नष्ट नहीं होता। उसी समय से, कर्म और आयु के भेद से, मैं दूर पड़ गया। कलकत्ता का निवास-स्थान भी छोड़ दिया। मेरे संबंध में नाना प्रकार की बातें चल निकलीं। उनमें से अधिकांश न सत्य थीं न प्रिय। उससे मेरा मन और भी दूर चला गया। उसी समय शरत् का उदय हुआ। शान्ति के लिए जिस एकान्त में आश्रय लेकर अपने काम में लग गया वहां से शरत् के साथ पास से मिलने का सुयोग नहीं हुआ।

"कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनके प्रत्यक्ष परिचय से परोक्ष परिचय अधिक सुगम होता है। शरत् उस जाति के मनुष्य नहीं हैं। उनके पास जाकर ही उनको पाया जा सकता था। मेरी वह हानि हो गई। फिर भी उनसे मिलना-जुलना या बातचीत नहीं हुई, ऐसा नहीं है। केवल मात्र मिलना नहीं, यदि पहचान हो सकती तभी अच्छा होता। समकालीन होने का सुयोग सार्थक होता। हुआ नहीं, किन्तु उसी समय विस्मयजनक आनन्द से भरकर दूर से ही मैंने उनकी रचना 'बिन्दो का लल्ला', 'विराज बहू', 'राम की सुमति', 'बड़ी दीदी' पढ़ ली है। सोचा है, मन का मनुष्य पा लिया। मनुष्य को प्यार करने के लिए इतना ही काफी है।"

परन्तु यह काफी नहीं हो सका। मनुष्य शरत्चन्द्र और मनुष्य रवीन्द्रनाथ घनिष्ठ भाव से एक-दूसरे के पास नहीं आ सके और इसी कारण संघर्ष के अवसर आते रहे और जो व्यक्ति इन दो प्रतिभाओं को आपस में टकराते देखकर प्रसन्न होना चाहते थे, वे उस संघर्ष को बढ़ाने में योग देते रहे। शरत् की दृष्टि वर्तमान काल पर थी। रवीन्द्र शाश्वत मानव के विराट चितेरे थे। शरत् मात्र अन्याय का विरोध करते थे और वे किसी भी तरह मनुष्य को छोटा करके नहीं मानते थे। पतिताओं मे निहित नारीत्व को उन्होंने प्रकट किया है। यही

उनका जीवन-दर्शन था, परन्तु उनके नर-नारी इसी देश के अधिक थे। इसके विपरीत कविगुरु चिरकाल के सत्य को आदर्श के रूप में बार- बार देश और समाज के सामने स्थापित करते रहते थे। बंकिम दैव के उपासक थे, वे विश्व मानव थे, उनकी अनुभूति अतीन्द्रिय थी, परन्तु शरत्चन्द्र ने धरती की धूल को महिमान्वित किया। उन्होंने बंगाल की अपनी भाषा का प्रयोग किया। बंगाल के नर-नारियों के (मानव के) प्रेम की चर्चा की। उनके यथार्थवाद में, यदि वह यथार्थवाद है, सम्वेदन और करुणापूर्ण चित्त का स्पर्श है। दोनों में यही मौलिक अन्तर था।

एक और भी अन्तर था और वह बहुत महत्वपूर्ण था। कविगुरु अभिजात वर्ग के थे, शरत् थे चिर व्रात्य। यही अन्तर अनजाने ही उत्तेजना के क्षणों को और भी कटु बना देता था। अन्यथा कविगुरु ने शरत् बाबू की प्रतिभा का सम्मान करने का कोई अवसर नही चूकने दिया। शरत्चन्द्र भी कविगुरु को सदा ही गुरु-स्थानीय और वेदव्यास के बाद सर्वोत्तम कवि मानते रहे तथा मन की सारी श्रद्धा के साथ प्यार करते रहे। मानते रहे कि वे कविगुरु के समान कभी नहीं लिख सकते।

मृत्यु से चार माह पूर्व, 62वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर रेडियो द्वारा आयोजित 'शरत् शर्वरी'

में अभिनन्दन का उत्तर देते हुए सर्वप्रथम उन्होंने कविगुरु को ही प्रणाम किया था और उनका आशीर्वाद चाहा था।

यही आशीर्वाद उनके लिए सत्य था। शेष सब क्षणिक उत्तेजना का उफान था। जो महान हैं वे सदा महान रहते हैं। उनकी रुष्टता भादों के बादल के समान होती है जो बरसकर दूसरे ही क्षण अन्तर्धान हो जाती है। रवीन्द्र-जयन्ती समारोह में दिया गया शत्तू बाबू का व्याख्यान बंगला-साहित्य के इतिहास की सम्पदा है।

और यह भी सत्य है कि विश्व- साहित्य में महान सृष्टा-शिल्पियों के ऐसे संघर्षों के उदाहरण कम नहीं हैं। तुर्गनेव ने ताल्स्ताय की प्रतिभा को सबसे पहले स्वीकार किया, लेकिन शीघ्र ही किन्हीं कारणों से वह प्रशंसा अप्रिय संघर्ष में बदल गई। दोनों ने बार-बार एक-दूसरे पर आक्रमण किए, बार-बार क्षमा मांगी। मृत्युशय्या पर लेटे तुर्गनेव ने दर्द-भरे शब्दों में लिखा, "मैं कितना प्रसन्न हूं कि मैं तुम्हारा समकालीन हूं। मेरे मित्र, मेरी अन्तिम प्रार्थना स्वीकार करो। अपनी सृजनात्मक गतिविधियों की ओर फिर ध्यान दो।.....मेरे मित्र, मेरे देश रूस के महान लेखक, मेरी प्रार्थना पर अवश्य ही ध्यान दो, आज्ञा दो कि मैं तुम्हारा एक बार फिर स्नेह से आलिंगन करूं.....मैं और नहीं लिख सकता, मैं थक गया हूं।"

सचमुच दो महीने बाद ही तुर्गनेव की मृत्यु हो गई और ताल्स्ताय ने एक बार फिर तुर्गनेव की रचनाओं का अध्ययन शुरू कर दिया।.....

1. 16 मई, 1931 ई०

2. 29 दिसम्बर, 1931 ई०

3. दिसम्बर, 1931 ई०

4. 27 दिसम्बर, 1927 ई०

5. सन् 1927 ई०

6. 'बगंवाणी', सितम्बर 1927 ई०

7. प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका अनुरूपा देवी ।

8. शैलजानन्द, प्रेमेन्द्र मित्र आधुनिक रुचि के उपन्यास और कहानी लिखनेवाले है । नजरुल इस्लाम प्रसिद्ध ओजस्वी भाषा-भाव बाले कवि है। इनकी गणना प्रथम श्रेणी के कवियों में की जाती है । 'कल्लोल' और 'काली कलम' आधुनिक दृष्टिकोण के मासिक पत्र है।

9. 1 जुलाई, 1932 ई०

10. 17 मई, 1923 ई०

11. श्रावण, 1340 (जुलाई-अगस्त, 1933 ई०)

12. जनवरी, 1934 ई०

13. 3 फरवरी, 1934 ई०

14. जनवरी, 1936 ई०

15. देखिए अध्याय 18

22

शरत्चन्द्र 60 वर्ष के भी नहीं हुए थे, लेकिन स्वास्थ्य उनका बहुत खराब हो चुका था। हर पत्र में वे इसी बात की शिकायत करते दिखाई देते हैं, "म सरें दर्द रहता है। खून का दबाव ठीक नहीं है। लिखना पढ़ना बहुत कठिनता से होता है। इत्यादि.....।"

दो-ढाई वर्ष पूर्व [1] जब उनके बहनोई की मृत्यु हुई थी तो उन्होंने अपनै खाते में लिखा था, "मूखूज्जे मोशाई की मृत्यु हो गई।

"10 अग्रहायण, 1340, रविवार, रात्रि साढ़े तीन बजे। एक वर्ष से वे एकांत मन से मृत्यु को पुकार रहे थे। आज उनकी प्रार्थना मंजूर हुई। क्या जाने मेरी प्रार्थना कब स्वीकार्य होगी?"

उन्हें खूनी बवासीर का पुराना रोग था। कमज़ोरी बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। एक दिन अचानक जेठ के महीने में कहीं से लौटते हुए लू लग गई। दर्द और बढ़ गया। अखबार पढ़ना तक मुश्किल हो गया। एक पत्र में उन्होनें लिखा. [2] "लिखना-पढ़ना सब बन्द है। अखबार तक। इस जीवन के लिए लिखना पढ़ना समाप्त हो गया तो शिकायत नहीं करूंगा। जितनी सामर्थ्य और शक्ति थी, किया है। उससे अधिक न कर सकूं तो क्षुब्ध क्यों होऊं? अन्तर में मैं सदा वैरागी हूं, आगे भी वैसा ही रह सकूंगा।"

लगता है कि आनेवाली मृत्यु का बोध हो चला था। कलकत्ता से एक मित्र को उन्होंने लिखा, [3] "इस बीच मैं गांव गया था। गांव के मिट्टी के घर ओर रूपनारायण नद, इन दोनों का मोह तोड़कर मैं कहीं रह नहीं पाता। फिर यह भी सत्य है कि इनकी माया का फंदा काटकर जाने के अधिक दिन बाकी नहीं हैं। कई पुराने मित्र पहले ही चले गए हैं। उनको मैं नित्य स्मरण करता हूं। अभी- अभी अध्यापक विपिन गुप्त की श्राद्ध सभा में जाने का निमंत्रण मिला। शिवपुर में कितने दिनों तक हम शाम को वाद-विवाद करते रहे। पुराने ज़माने के मित्रों में एक तुम ही हो। आशा करता हूं कि कम से कम तूमसे पहले जा सकूं। इस संसार में अब एक दिन भी दिल नहीं लगता। हमेशा पीछे ही की बातें सोचता हूं। सामने की तरफ एक बार भी आंख नहीं जाती। पर जाने दो इन बातों को। तुम्हार चिंता दुखी करने से कोई फायदा नही।"

चित्त दुखी करने से कोई फायदा नही।"

निराशा का स्वर उनके पत्रों गे सदा प्रमुख रहा है, लेकिन इधर विशेष रूप से सघन हो उठा था। साहित्य के क्षेत्र में उनका योगदान अब बहुत कम हो गया था। 'भारतवर्ष' के सम्पादक रामबहादुर जलधर सेन भी कई बार हारकर लौट जाते थे। फिर भी 'विप्रदास'

उन्होंने पूरा कर ही डाला। [4] लेकिन 'शेष परिचय' के केवान 15 परिच्छेद ही वे लिख सके। [5]

इस उपन्यास को प्रारम्भ करते समय उन्होंने हरिदास बाबू को विश्वास दिलाया था कि इसे वे नियमित रूप से लिखेंगे। पर यह वचन वे पूरा नहीं कर सके। लिखने का मन फिर लौटकर नहीं आया। यद्यपि मृत्युशय्या पर उन्होंने कई बार कहा था, 'शेष परिचय' को समाप्त करने का समय दो। मुझे छोडकर उसे और कोई पूरा न कर सकेगा।"

लेकिन उनकी प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई। उसको पूरा करने का भार पड़ा राधारानी देवी पर। मामा सुरेन्द्रनाथ और कवयित्री राधारानी के साथ अनेक बार इसको लेकर चर्चा हुई थी। इसका आधार भागलपुर की एक सत्य घटना थी। इसकी नायिका सविता पति में पूर्ण रूप से अनुरक्त है, फिर भी एक दिन एक दूर के नातेदार के साथ वह क्षण-भर में पति और पुत्री की मर्यादा की चिन्ता न करके घोर कलंक को सहज भाव मे स्वीकार करके चली जाती है। जिस व्यक्ति के साथ वह जाती है उसको रंचमात्र भी वह प्यार नहीं करती। कभी किया भी नहीं, न पहले न बाद में। फिर भी पदस्खलन क्यों हुआ? 'शेष परिचय' की यही समस्या है। शरत् बाबू समस्या उठाने में विश्वास करते थे, समाधान देन मे नहीं। इस अधूरे उपन्यास में समस्या सामने आ जाती है लेकिन ठीक मे समझ में नहीं आती। एक स्थान पर सविता कहती है, "वह एकाएक सम्पूर्ण अकारण निरर्थकता में हो जाता है।" इस कथन में मचाई है, लेकिन उपन्यास पूरा नहीं हुआ इसलिए इस समाधान को शरत् बाबू का अन्तिम निर्णय नहीं माना जा सकता।

'अंतगागी कल' के केवल चार परिच्छेद ही लिखे जा सके। राजनाति मे जो गतिरोध पैदा हो गया था शरत् उससे ऊब उठे थें। इस उपन्यास में उसी ऊब का आ१गस है। समाज कल्याण की आर अधिक रुचि दिखाई देती है।

इसी समय दो ऐसे उपन्यास प्रकशित इरए जिनके लेखक एक से अधिक व्यक्ति थे। इस प्रकार के एक वारोयारी उपन्यास 'रसचक्र' के उन्होंने लगभग दस पृष्ठ लिखे। उनकी इच्छा चाड्रिकती' नाना से उपन्यास लिखने की थी, लेकिन अब वे कोई लम्बा काम करने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए इस बारोयारी त्पन्नगस के रूप में पूरा करने का निश्चय किया गया। सोलह वर्ष पूर्व यह अंश श्री केदारनाथ बन्दोपाधगय द्वारा सम्पादित 'प्रवास ज्योति' काशी में प्रकाशित हुआ था। बाद में वहीं ाई १उत्तरा मे पारोयगि उपन्यास के रूप में छपा। [6] 'रसचक्र' साहित्यिक संस्था के तत्त्वावधान में प्रकाशित होने के कारण नाम भों यही हुआ। इसी प्रकार एक और बारोयारी उपन्यास था 'भालोमन्द'। इसके पहले नौ पृष्ठ शरत् बात ने लिखे। उनके जीवन की यह अन्तिम रचना थी। [7] यह श्रीअविनाश घोषाल द्वारा सम्पादित तातायन' की शारदीया संख्या में प्रकाशित हुई थी। ऐसा एक और उपन्यास भारती में सोलह वर्ष पूर्व छपा था। शरत् बाबू ने इसके अन्तिम अंश लिखे थे।

उनके साहित्यिक जीवन का अन्तिम पर्व भी समाप्त हो रहा था। उन्होंने स्वयं ही कहा था कि मेरे साहित्यिक जीवन के चार पर्व हैं। प्रथम पर्व में मैंने बडी दीदी' और 'देवदास' आदि लिखे। वह युग था यौवन के उच्छवास और भीषण भावुकता का।

दूसरे पव में असंयत भीषण भावुकता संयत सम्बेदन में बदल जाती है। पारकता', रामेर सुमति', 'चरित्रहीन', 'श्रीकान्त' आदि उनकी रचनाएं जीवन की अनुभूति से परिव्याप्त हैं। तीसरे पर्व में कला प्रौढ़ हो चुकी ह। 'दत्ता' ओर गृहदाह' जैसी कृतियां इसी युग की देन हें।

अन्तिम पर्व में मानो वे नवयुग की चुनौती स्वीकार करते हैं। उनमें शक्ति है। विचार भी उनक पास हैं, पर इस काल की रचनाओं में अनुभूति की सहजता नहीं है। है विचारों की सायासता, जो कला को पीछे धकेलकर प्रमुख हो उठी है। 'पथेर दाबी' और 'शेष प्रश्न' इसी पर्व की रचनाएं हैं।

शरत्चन्द्र बच्चों को बहुत प्यार करते थे। लेकिन अभी तक उन्होंने उनके लिए कुछ नहीं लिखा था। यह आश्चर्यजनक बात है कि इस अन्तिम पर्व में उन्होंने बच्चों के लिए भी कुछ कहानियां लिखीं। उनमें प्रसिद्ध हैं: लालू-1 लालू-2 कलकत्ता के नख दा, पचास वर्ष पहले के एक दिन की कहानी, छेलेधरा और लालू-3। 'कलकत्ता के नल दा' 'श्रीकान्त' के प्रथम पर्व के प्रथम परिच्छेद से उद्धृत की गई है। इन कहानियां का जो संग्रह प्रकाशित हुआ, उसकी भूमिका में उन्होंने कहा है:

डससे पहले तुम्हारे लिए कभी नहीं लिखा है। जो तुम लोगों के प्रिय लेखक हैं, उनसे सुना हे कि तुम्हें खुश करना बहुत मुस्किल है। फिर भी सम्पादकों ने कुछ कहानियां लिखने का अनुरोध किया है। यह मानो कुम्हार से कुन्हाड़ी बनाने के लिए कहना था। इसी विपत्ति में पड़ा था कि बचपन के एक साथी की याद आ गश्। सोचा, आज उसी की दो-एक बातें कह दूं। सुनकर खुशी होगी। अच्छा ही है।" [8]

इस भूमिका में शरत्चन्द्र ने अपने जिस बाल्यबन्धु का उल्लेख किया है कहानियों में उसका नाम है लालू। हिन्दी में 'लालू' शब्द का अर्थ होता है 'प्रिय'। उन्होंने लिखा, "यह नाम उसे किसने दिया पता नहीं। किन्तु मनुष्य के साथ नाम की इससे अच्छी संगति कभी नहीं हुई। वह सभी का प्रिय था।"

यह लालू 'श्रीकान्त' का इन्द्रनाथ है और है शरत्चन्द्र के बचपन का प्रिय साथी राजेन्द्रनाथ। लालू' शीर्षकवाली इन तीनों कहानियों में राजेन्द्रनाथ की ही कहानी है। ये कहानियां लिखकर मानो उन्होंने बचपन के अपने प्रिय सखा और गुरु का ऋणशोध करने की चेष्टा की है।

इन दिनों पैसे की बहुत तंगी थी और चिकित्सा बिना पैसे के कैसे होती! इसलिए इन कहानियों के प्रकाशन का अधिकार उन्होंने एक हज़ार रुपये में सुधीरचन्द्र सरकार को दे दिया था।

जीवनसंध्या में बचपन की याद हो आना बहुत स्वाभाविक है। परन्तु बचपन की अपनी एक दूसरी रचना को उन्होंने अपने जीते जी प्रकाशित नहीं होने दिया। वह थी 'शुभदा'। इसकी रचना उन्होंने बाईस वर्ष की आयु में की थी। [9] इस संबंध में चाल्यस्मृति' प्रबन्ध में उन्होंने लिखा, "बचपन में लिखी हुई मेरी कई पुस्तकें अनेक कारणों से इधर-उधर हो गईं। सबके नाम भी मुझे याद नहीं हैं। केवल दो पुस्तकों के नष्ट हो जाने का विवरण जानता हूं। एक का नाम था 'अभिमान'। काफी मोटी पुस्तक थी। अनेक मित्रों के पास होती हुई अन्त में वह बचपन के साथी केदार सिंह के पास पहुंच गई। बहुत दिन तक वह बहुत प्रकार की बातें कहते रहे, लेकिन पुस्तक फिर वापिस नहीं मिली।.....दूसरी पुस्तक का नाम था श्1भदा'। प्रथम पर्व में लिखी गई मेरी पुस्तकों में वह अन्तिम थी, अर्थात् चडी दीदी', चन्द्रनाथ', रेवदास' आदि के बाद।"

शरत् बाबू ने 'अभिमान' के खो जाने का तो कारण दिया है, लेकिन 'शुभदा' कैसे और कहां खो गई इसका कोई विवरण नहीं दिया। कुछ लोगों ने इसके खो जाने की बात पर विश्वास कर भी लिया था, लेकिन यह सत्य नहीं है। 'शुभदा' की पाण्डुलिपि हमेशा उनके पास रही। एक बार उन्होंने रामकृष्ण [10] को यह आदेश दिया था कि वह उसे जला दे, लकिन उसने ऐसा नहीं किया। उनसे झूठमूठ क्क दिया और पुस्तक को छिपाकर रख दिया। इसका कारण था। उसने शरत्चन्द्र से पूछा था, "आप इसे क्यों जला देना चाहते हैं?"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया था, "इसे जला ही देना होगा। मेरी यह पुस्तक निकली तो एक व्यक्ति मृणापरस्त हो जायेंगे।"

रामकृष्ण इस रहस्य को नहीं जान सका, लेकिन इतना अवश्य समझ गया कि पुस्तक जलाने योग्य नहीं है। शरत् बाबू ने एक दिन अचानक ही कुछ खोजते हुए पाण्डुलिपि को देख भी लिय था, लेकिन न जाने क्या सोचकर वे फिर उसे नष्ट नहीं कर सके।

उनकी इस पुस्तक के संबंध में उनके कई मित्र भी जानते थे और अक्सर वे उनको इस संबंध में परेशान करते रहते थे। विशेषकर अविनाशचन्द्र घोषाल उसको पढ़ने के लिए बहुत उत्युक थे। अनेक बार आग्रह करने पर शरत् बाबू वह पाण्डुलिपि अविनाश बाबू को पढ़ने के लिए देने को सहमत हो गये, लेकिन जब निश्चित समय पर वे उनके पास पहुंचे तो बड़े उदास होकर शरत् बाबू ने कहा, "अविनाश, सब स्म समाप्त हो गया।"

उस समय उनकी भाव-भंगी से ऐसा लगता था जैसे वे किसी को अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार दे रहे हें। वे अन्दर गये और एक टिन में भरी हुई कागज़ों की राख लाकर अविनाश बाबू को दिखाई। कहा, वृम अविश्वास करोगे, इसलिए मैंने इसे रख छोड़ा है।"

आखिर इस सबके पीछे क्या रहस्य था? क्या सचमुच, जैसा कि उन्होंने रामकृष्ण से कहा था, उसके प्रकाशित होने से किसी व्यक्ति के कृपापात्र होने की सम्भावना थी? या किसी और कारणवश वे उसे प्रकाशित् नहीं होने देना चाहते थे। उसमें उन्होंने गरीबी का

मार्मिक चित्रण किया है। वह चित्रण मात्र कल्पना कई ' सृष्टि नहीं है। भले ही उसमें प्रौढ़ कलाकार की परिपक्व दृष्टि न हो, पर उनके प्रारम्भिक जीवन की सहज अनुभूति निश्चय ही है। उस अनुभूति का आधार है परिवार का दैनन्दिन कष्ट-भोग। शरत्-साहित्य की सभी विशेषताओं के बीज उसमें हैं। मूक नारी को स्वर देना और पतिता (कात्यायिनी) के अन्तर में छिपे मनुष्य को खोज लेना, सभी कुछ उसमें है। उसके पात्रों में उनके माता-पिता को खोजने की चेष्टा भी की जा सकती है। चरम दारिद्रय के साथ-साथ पिता ख़ई अकर्मण्यता और मां की वेदना का चित्रण करना भी वे नहीं भूले, लेकिन जिस प्रकार श्रीकान्त शरत् नहीं है, उसी प्रकार 'शुभदा' के हारान बाबू भी मोतीलाल नहीं हो सकते। न स्वयं शुभदा भुवनमोहिनी हो सक्ती है। इसलिए इस पुस्तक को प्रकाशित न होने देने के पीछे यही एकमात्र प्रबल कारण नहीं हो सक्ता।

लेकिन फिर वह व्यक्ति कौन है। जिसके घृणापात्र होने की सम्भावना उन्हें दिखाई देती थी? उस व्यक्ति का नाम अब प्रकट हो चुका है, वह है निरुपमा देवी। इस नाम को लेकर शरत्चन्द्र के जीवन में नाना प्रकार के अपवाद जुड़ गए है। लेकिन यह सत्य है कि निरुपमा देवी ने अपने प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन में शरत् बाबू की सभी रचनाएं पड़ी थीं, उनमें 'शुभदा' भी थी। उनकी प्रारम्भिक कृति 'अन्नपूर्णा का मन्दिर' पर 'शुभदा' क्त प्रभाव दिखाई देता है, इस बात को निरुपमा देवी ने स्वयं स्वीकर किया है [11]- "दीदी', 'अन्नपूर्णा का मन्दिर' आदि के प्रकाशित होने पर एवं शरतचन्द्र के उदय होने पर अनेक बार अनेक युवक नाना स्थानों से यह जानने के लिए मेरे पास आते रहे हैं कि मैंने शरत्चन्द्र से कितना ग्रहण किया है? कौन-कौन सी पुस्तक मैंने उनकी सहायता से लिखी है? उनके साथ मेरा किस रूप में कितना संबंध है, इस बारे में भी वे बहुत कुछ कहते रहते है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वे हमारे प्रारम्भिक जीवन की साहित्यिक साधना के उत्साहदाता गुरु हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि साहित्यसम्राट बंकिमचन्द्र एवं कविसम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना. का पाठ बचपन से मज्जा में समाया होने पर भी अपने शरत् दा के लेखों की प्रेरणा मुझ पर विशेष प्रभाव डाल सकी है। अनेक स्थानों से इस संबंध में अनेक बातें सुनी गई हैं। उनमें मैं केवल 'अन्नपूर्णा क्त मन्दिर' का ही उल्लेख करना चाहती हूं। 'दीदी' के कई साल बाद उसकी रचना हुई। मुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसे लिखते समय अपरोक्ष रूप से शरत् दा अई तुमदा क्यई भाषा उसमें आ गई है। यह बात खूब सत्य है। जिस प्रकार कविता लिखते समय जो असाधारण प्रतिभाशाली नहीं हैं वे रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से मुक्ति नहीं पा सकते, उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में मुझ पर शरत् दा का प्रभाव रहा है। जिन्होंने उस दिन अर्द्धलिखित 'शुभदा' पड़ी थी, वे जानते हैं कि शरत् दादा ख़ई ललना-अलना के साथ सती-सावित्री का कितना अन्तर है। शरत् दा की शिष्या-स्थानीय होकर भी उनकी प्रतिभा का अनुसरण और अनुकरण कुछ भी करने की क्षमता मुझमें नहीं है। यह मेरी रचनाओं से प्रमाणित हो जाता है।"

इस पर टिप्पणी करते हुए शरत्चन्द्र ने लिखा, चौन कितना ऋणी है, यह मुझसे भी पूछा गया है। कोई किसी का ऋणी नही है। बचपन में सभा हुई, एक-दूसरे को उत्साहित किया, प्रशंसा की, इसमें त्रण कैसा? अच्छा लगा, अच्छा कहा, पुरा लगा, फिर लिखने को कहा। कभी संशोधन नहीं किया। इतने दिन बाद यह इसलिए लिख रहा हूं कि लिपिबद्ध रहे।"

शरत् बाबू कुछ भी कहें पर निरुपमादेबी के इस वक्तव्य के आधार पर यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा कि वे जिन कारणों से 'शुभदा' क्तें प्रकाशित नहीं होने देना चाहते थे, उनमें एक कारण निरुपमा देवी भी थीं। शायद बाद में उन्होंने यह भी सोचा होगा कि किसी समय उसमें यथेष्ट परिवर्तन करने के बाद छापना उचित होगा। इसलिए उन्होंने दुबारा पाण्डुलिपि मिल जाने पर उसे नष्ट नही किया।

शरत्चन्द्र के जीवन में निरुपमा देवी का क्या स्थान था, इसका राई-रत्ती विवरण न मिलने पर भी यह सत्य है कि वे उन्हें कभी भूल नहीं पाए। माना जाता रहा है कि बर्मा जाने के बाद वे अंधकार में रहे, लेकिन वह अंधकार यदि सचमुच में था भी तो 'बड़ी दीदी' के प्रकाशन के समय समाप्त हो चुका था। उसके बाद किसी न किसी स्म में, आधे-अधूरे मय से ही सही, उनका संबंध बचपन के मित्रों से जुड़ गया था। चडी दीदी' के प्रकाज्ञित होने के एक वर्ष बाद [12] पुरानी बातें याद करते ह्म उन्होंने विभू।तइभूबण को लिखा, चूड़ी की खबर भी मिलती है। मन ही मन कितना आशीर्वाद देता हूं क्तिना गौरव अनुभव करता हूं यह मैं ही जानता हूं। वह जो कुछ लिखती है, उसका थोड़ा-सा अंश मन ही मन याद करके नदी किनारे जेटी के अन्दर बैठकर हजम करता हूं और कामना करता हूं कि जीवित रहा तो एक अच्छी वस्तु का स्वाद ग्रहण कर सकूंगा। न जाने छी (निरुपमा) का खाता कितना मोटा हो गया है! एक बार पढ़ने की इच्छा होती है। क्या उसकी कटी-फटी रफ कापी नहीं है? चुपचाप चोरी करके यदि एक बार उसे मुझे भेज सकी तो मैं तीन-चार दिन के भीतर ही पढ़कर रजिस्ट्री द्वारा लौड़ा दूंगा। यदि वह बहुत ढूंढ़े तो क्क देना एक व्यक्ति पढ़ने के लिए ले गया है, बेचारा भलामानस है। यह जानकर शायद वह बहुत परेशान नहीं होगी।"

इसी पत्र में उन्होंने अपनी एक प्रणय कहानी की चर्चा की है। उस कहानी का कोई आधार नहीं है। ऐसी बातें प्रचारित करना उनका स्वभाव बन गया था। ऐसा भी हो सक्ता है कि वह कहानी निरुपमा देवी के कानों तक पहुंचाने के लिए लिखी गई हो। शायद वे उन्हें बताना चाहते ही कि तुम्हारे कारण ही मेरी यह दशा हो गई है।

शायद ऐसा नहीं भी हो सकता, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय-समय पर लिखे गये अपने पत्रों में उन्होंने बारचार निरुपमा देवी क्तई साधिकार और मेहपूरित चर्चा क्तई है। अपनी एक शिष्या लीलारानी गंगोपाध्याय क्ते उन्होंने लिखा, द्ह मेरी सच्ची शिष्या और सहोदरा से अधिक है। उसका नाम है निरुपमा। आज के साहित्य जगत् में शायद आपसे अपरिचित न हो। 'दीदी', 'अन्नपूर्णा क्त मन्दिर' और बिधि लिपि' आदि उसी की

रचनाएं हैं। पर यही लड़की एक दिन जय 16 साल क्कई उप्र में अकस्मात् विधवा होकर सन्त रह गई तो मैंने उसे बार-बार यही बात समझाई कि विधवा होना ही नारी-जीवन की चरम हानि और सधवा होना ही सार्थक्ता है, इन दोनों में कोई भी सत्य नहीं है। तब से उसे समग्र चित्त से साहित्य में नियोजित कर दिया। उसकी सभी रचनाओं क्क संशोधन करता [13] और हाथ पकड़कर लिखना सिखाता था। इसीलिए आज वह आदमी बनी है, खेल नारी होकर नहीं। यह मेरे लिए बड़े गर्व की वस्तु है।" [14]

"तुम्हारी बिन्दी और लेख लिखने का ढंग तथा भंगिमा देखकर मुझे बारम्बार बूढ़ी (निरुपमा) क्कई याद आती है। तुम लोगों क्कई लिखावट तक मानो एक है...। तुम्हारी कापी पढ़ने का अवकाश मिला। पढ़ते-पढ़ते कैसा लगा, जानती हो! एक कीमती चीज़ों की दुकान में बेसिलसिले बिखरी पड़ी चीज़ों को देखकर, उन चीजों अई कीमत जो जानता है, उसे जैसा कष्ट होता है ठीक बैसा ही। ठीक उसी हालत मैं एत्रू दिन बूड़ी (निरुपमा) की रचनाए भी मिली थी। तुम्हारे पास बहुत कीमती माल-मसाला मौजूद है पर वह बहुत ही विशृंखल है। मेरा पेशा भी यही है, इससे बारम्बार यही लगता है कि उसकी तरह तुप्यें भी यदि हाथ पकड़कर सिखा सकता तो इससे पहले मैंने तुम्हें जो आशीर्वाद दिया था उसकी डालियों को फूल-फलों से भर उठने में अधिक देर नहीं लगती और 'दीदी' की कोटि की एक और पुस्तक लोगों की नज़र में आने में बहुत विलम्ब न होता।" [15]

".....बूड़ी से मुझे बड़ी आशा थी, लेकिन वह 'दीदी' के अलावा और कुछ नहीं लिख सकी। क्यों, जानती हो? वार-व्रत, जप-तप इत्यादि के पचड़े की आग में उसके अन्दर जो मधुर था वह उम्र के साथ ही सूख गया। अवश्य अतिरेक के कारण ही ऐसा हुआ। नहीं तो हमारे घरों की कौन स्त्री है, जो इन बातों को थोड़ा-बहुत न करती हो?" [16]

उस दिन विभूतिभूषण मिलने आए। भागलपुर की बातों का कोई अन्त नहीं था। सहसा शरत् बाबू ने पूछा, " अच्छा पुंटु, बूड़ी क्या अभी भी पूजा-पाठ में लगी रहती है?"

विभूति ने उत्तर दिया, "क्या करे शरत् दा, ब्राह्मण विधवा? बच्चे नहीं हैं। मेरे बच्चों ओर ठाकुर देवता का लेकर ही दिन काट देती है। भूले रहना तो होगा ही।"

शरत् बाबू ने कहा, "नहीं, नहीं, मैं यह नहीं कहता। मैं नास्तिक नहीं हूँ लेकिन उसमें साहित्य को बहुत कुछ देने की क्षमता थी। अब ऐसा लगता है कि ठाकुर देवता के डर से वह सच नहीं बोल पाती। उसमें अन्तदृष्टि है। मनुष्य को असली रूप में देखने की क्षमता है। लेकिन साहस भी तो होना चाहिए।"

फर्णान्द्रनाथ को भी बार-बार लिखा था, "निरुपमा को अपने दल में खींचने की चेष्टा करना। यह सचमुच ही अच्छा लिखती है और बाज़ार में नाम भी है। अधिकांश में उसकी रचनाएं मुझसे अच्छी होती हैं-ऐसी मेरी धारणा है।" [17]

"अब बूड़ी को चिट्ठी लिख दी है कि 'यमुना' की विशेष सहायता करनी होगी। त्ह मेरा हुक्म किसी भी तरह नहीं टाल सकती, यह भरोसा है।" [18]

स्वयं निरुपमा देवी को लिखा उनका जो एक पत्र [19] मिलता है, उससे भी इन बातों की पुष्टि होती है। उन्होंने लिखता था, "धर्म-कर्म में व्यस्त रहने के कारण तुम साहित्य की लीक तक नहीं खोज पाओगी। इसलिए सोचता हूं कि इस प्रकार बाध्य करके सब से प्रतिमास कुछ न कुछ लिखवा लूंगा.....मेरी बात सुनने में कड़वी लग सकती है किन्तु वास्तव में मैं तुम्हारा हित चाहने वाला हूं, इसमें तुम्हें सन्देह नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त तुम्हें मनुष्य बनाया है, मन ही मन इस पर गव करता हूं। किन्तु बात ठीक नही है, यह नहीं जानता, ऐसा नहीं फिर भी बड़प्पन दिखाने का लोभ छोड़ नहीं सकता। सख्त-सुस्त कह बैठता हूं.....।"

अपनी दूसरी शिष्या सुपरिचित कवयित्री राधारानी को लिखे पत्रों में उन्होंने अपने एक गार्जियन की चर्चा की है और चर्चा की है एक गुप्त वेदना की। उन्होंने लिखा, प्पेरे समान आलसी मनुष्य संसार मे दूसरा नहीं है। अत्यन्त बाध्य न होने पर मैं कभी भी कोई काम नहीं कर सकता। फिर भी इतनी पुस्तकें कैसे लिख डालीं, इसी का इतिहास बताता हूं। मेरी एक गार्जियन थी, उसका परिचय जानने की इच्छा मत करो। केवल इतना ही जान लो कि उसके समान सख्त तकाज़ा करनेवाली पूध्वी पर शायद ही कोई हो। वही मेरी रचनाओं की सबसे कठोर समालोचक भी थी। उसके तीक्षा तिरस्कार के कारण न तो मैं आलस्य कर सक्ता था और न मैं अपनी रचनाओं में मिलावट करके घिस्सा-पट्टी दे सकता था। एक भी लाइन उसकी आखों से बचती नहीं थी, लेकिन अब वह सब कुछ छोड़कर धर्म-कर्म में व्यस्त है। गीता-उपनिषद् छोड़कर और किसी से उसका वास्ता नहीं है। कभी कुछ खोज-खबर नहीं लेती और मैं भी उसकी ताड़ना से मुक्ति पाकर बच गया हूं। बीच-बीच में बाहर के धक्के खाकर स्वाभाविक जड़ता यदि कुछ देर के लिए टूट जाती है तब भी मन में यह होता है, बहुत कुछ लिख लिया, और किसलिए?

".....लिखने के लिए कितना अलिखित रह गया, परलोक में वाणी का देवता यदि इस गलती के लिए कैफियत तलब करेगा तो एक व्यक्ति की ओर इशारा कर सकूंगा। यही सांत्वना मुझे हे।"

अपनी गुप्त वेदना की चर्चा उन्होंने लीलारानी गंगोपाध्याय से भी की है, "मेरे मानसिक परिवर्तन के संबंध में बहुत दिन से तुम एक प्रश्न पूछ रही हो और मैं मौन हूं। किन्तु मेरे समान जब तुम्हारी उम्र होगी तब शायद तुम समझ सकोगी कि इस संसार में मनुष्य की ऐसी बात भी होती है जिसे वह किसी के सामने नहीं कह सकता। कहे जाने पर कल्याण की अपेक्षा अकल्याण ही अधिक होता है। इसलिए इस मौन की सज़ा बहुत कठिन है। भीष्म एक दिन स्तब्ध होकर तीरों की वर्षा सह सके थे, यह बात हमेशा-हमेशा के लिए महाभारत में लिख दी गई है, लेकिन कितनी अलिखित महाभारतों में इस प्रकार की कितनी

शरशष्याएं हमेशा चुपचाप रचित होती रहती हैं, उनके संबंध में कहीं एक लाइन भी नहीं लिखी गई। संसार में ऐसा ही होता है। तुम्हारे दादा की बहुत उम्र हो गई। उसका यह उपदेश कभी भुलाना नहीं कि पृथ्वी पर कौतूहल की वस्तुओं का मूल्य ज्ञान-विज्ञान के हिसाब से जितना बड़ा हो उसे दमन करने का पुण्य भी कम नहीं है। जिस वेदना का कोई प्रतिकार नहीं उसकी नालिश करने पर नीचे की कीचड़ ही ज़ोर करके ऊपर आ सकती है। उसे यदि बचाया जा सके तो अच्छा है।"

शरतचन्द्र के नारी-चरित्रों में जहां उनके बचपन की साथिन का चित्र उभरता है, वहां, विशेषकर विधवाओं के चरित्र में क्या निरुपमा देवी का चरित्र नहीं दिखाई देता? 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी क्या निरुपमा देवी की तरह ही जप-तप-वार-व्रत में नही लगी रहती? कट्टर हिन्दू संस्कारों के कारण ही विधवा राजलक्ष्मी श्रीकान्त का वरण नहीं कर सकी। रमेश भी रमा को इसी कारण नहीं प्राप्त कर सका। क्या इसके पीछे शरतचन्द्र की अपनी अनुभूति नहीं थी? विधवा होने के कारण ही तो वे निरुपमा देवी को नहीं पा सके थे। कारण और भी खोजे जा सकते हैं। जैसे, दोनों परिवारों में आर्थिक विषमता, उपजातीय विभिन्नता तथा शरतचन्द्र की चरित्र-सम्बन्धी धारणा। लेकिन ये सब गौण हैं। मुख्य है विधवा-विवाह। लीलारानी को उन्होंने लिखा था, "मेरी सब पुस्तकें तुमने पड़ी हैं या नहीं? पढ़ने पर तुम्हें यह बात दिखाई देगी कि बहुत-से महान और सुन्दर जीवन केवल इसीलिए, कि समाज को विधवा विवाह मान्य नहीं है, हमेशा के लिए व्यर्थ और निष्फल हो गये।"

क्या यह अपने जीवन को निष्फलता की ओर इशारा नहीं है? क्या वे बार-बार अपने पत्रों और अपनी रचनाओं में इस निज्जता की बात दोहराते नहीं रहे हैं? स्पष्ट न कहकर भी परोक्ष रूप से उन्होंने अपनी वेदना की चर्चा की है। अपने मित्र हरिदास शास्त्री से भी संभवत: उन्होंने अपने कैशार्य के इसी असफल प्रेम की बात कही थी। कहा था, "नारी जाति के सम्बन्ध में मैं कभी उकृंखल नहीं था और अब भी नहीं हूं। मैंने खूब नशा किया है, बुरी जगहों पर भी गया हूं लेकिन अगर तुम पता लगाओगे तो वे सब मेरे प्रति श्रद्धा रखती थीं। कुछ मुझे 'दादा ठाकुर' कहती थीं, कुछ 'बाबा ठाकुर' कहकर पुकारती थीं। क्योंकि अत्यन्त बेहोश होने पर भी मैंने कभी उनके शरीर के प्रति लालच नहीं किया। उसका कारण यह नहीं था कि मैं संयमी था, साधु या नीतिज्ञ था। उसका कारण तो यही था कि ऐसा करना मेरी चिर दिन की रुचि के विरुद्ध था। जिसको मैं प्यार नहीं कर सकता था उसका उपभोग करने की लालसा मेरे शरीर में कभी नहीं जागी। और कोई बात नहीं।.

शास्त्रीजी ने पूछा, "और कुछ?"

शरत् बोले, "विश्वकवि का वह गाना तुम्हें याद है?

"कखनो कुपथे यदि अमिते चाहे हे हदी।

अमनि ओं मुख स्मरि सरमेते होई सारा।।"

शास्त्रीजी ने पूछ, "न्दुसका अर्थ?"

"इसका अर्थ भी जानना चाहते हो? अच्छा सुनो, यौवन की प्रथम वेला में मैंने एक लड़की को प्यार किया था। वह प्यार व्यर्थ गया। लेकिन समस्त उच्छृंखलताओं के बीच वह हमेशा के लिए

मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। लेकिन जिसका कोई स्वरूप नहीं, उसके बारे में मैं तुम्हें समझा न सकूंगा।"

शास्त्रीजी बोले, "नहीं समझा सकोगे, उसके बाद?"

शरत् बोले, "ब्दुसके बाद उस लड़की का परिचय चाहते हो न, वह नहीं दूंगा। एक और बात तुमसे कहता हूं कि इस सबको लेकर तुम किसी और से चर्चा न करना। यह मेरा आदेश है।"

शरत्चन्द्र के मन की व्यथा कैसे भी हो अनेक मार्गों से होकर प्रचारित हुई। बर्मा के उनके मित्र गिरीन्द्रनाथ सरकार ने भी अपनी पुस्तक में कैशौर्य के इस असफल प्रेम की चर्चा की है और सीरीन्द्रमोहन ने भी।

सुना तो यह भी गया कि शरत्चन्द्र ने निरुपमा देवी को ऐसा कोई पत्र भी लिखा था। कई व्यक्ति इस पत्र के बारे में जानते है। अन्धकार से बाहर आने के बाद एक बार वह बहरामपुर गये थे तो कई दिन तक वहां ठहरे भी थे। उस समय क्या उन दोनों मे इस बात को लेकर चर्चा हुई होगी? क्या कभी निरुपमा देवी ने भी अपने मन की व्यथा को प्रकट किया? शरत्चन्द्र के सम्बन्ध में उन्हें कई बार लिखना पड़ा। कई बातों का स्पष्टीकरण भी उन्होंने दिया। 'शुभदा' का प्रभाव उन्होंने मुक्त काट से अपनी पुस्तक पर स्वीकार किया है। यहे स्नेह और आदर के साथ उनके सम्मान में उन्होंने कविताएं लिखी हैं। उनके एक गीत का आरम्भ कितना अर्थबोधक है!

तुमि जे मधुकर कमल बने

आहरि आन मधु आपन मने।

लेकिन एक बार उन्होंने भी स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार किया है। वे प्राय: तीर्थयात्रा पर जाती थी। मांदार यात्रा उन्होंने प्रभूपाद श्री हरिदास गोस्वामी के साथ की थी। [20] मृलू से कुछ दिन पहले वे वृन्दावन जाकर रहने लगी थीं। उस समय कवि नरेन्द्रदेव और श्रीमती राधारानी देवी वहीं जाकर उनसे मिले थे। तब भाववि? होकर निस्ममा देवी ने राधारानी को छाती में भरते हुए कहा था, झूमि आमार शरखार राधू! तूमि आमार शरखार राष्ट्र !. अर्थात् तुम मेरे शरत् दा की राधू हो, तुम मेरे शरत् दा की राधू हो। उसके बाद किसी बातचीत के प्रसंग में यह भी क्का था, "शरद दादा की जो दुर्दशा हुई वह मेरे कारण ही हुई।" [21]

और उन दोनों के संबंधों पर विचार करने पर इसे असत्य स्वीकार करने को मन करता भी नही। उनकी सखी अनुरूपा देवी, जो स्पद सुधिका के रूप में प्रसिद्ध हैं, शरत् बार से इस बात के लिए बड़ी नाराज़ थीं कि वे एक क्लीन षर की विधवा को लेकर अपना बड़प्पन

जताने के लिए न जाने क्या-क्या लिखते रहते हैं। आज के सम्मानित पर एक समय के आश्रयहीन और आवारा व्यक्ति क्त इस प्रकार चर्चा करना उस धर्मप्राण महिला को बहुत बुरा लगा।..... "वे अपने मित्र अई छोटी बहन का रही' कहकर उल्लेख कर सकते है। इसमें कोई विचित्र बात नहीं है, किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि पचास वर्ष पहले एक अत्यन्त रक्षणशील घर की बाल विष्मा ज्ञरत्चन्द्र जैसे चरित्रके एक अनात्मीय तरुण के साथ अन्तरंग भाव से मिलती-जुलती थी।"

अंतरंग भाव से न सही मिलना-जुलना तो होता ही था। स्वयं निरुपमा देवी ने इस बात को स्वीकार किया है। जय चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में विधवा होकर वे पिता के घर आकर रहने लगी थीं, तब तक शरत्चन्द उनके परिवार से सूद परिचित हो चुके थे। प्रथम श्राद्ध के अवसर पर अगले वर्ष जद किशोरी निरुपमा पास ही नदी के किनारे पति ख्रे पिण्डदान करने गई, तब विधवा भाभी के अतिरिक्त छोटा भाई विभूति और शरत्-ये तीन व्यक्ति ही उनके साथ थे। शरत् केवल साथ ही नहीं गये थे, उस कर्मकाण्ड में उन्होंने सक्रिय भाग भी लिया था। उस समय न जाने कहां से आकर एक मिरड़ ने निरुपमा को ख्रट लिया था। शायद शहद के आकर्षण से ही वह वहां आ गई थी। तय शरखन्द्र अत्यन्त व्यस्त हो उठे थे। व्याकृत भाव से कभी दही लगाने का अनुरोध करत

े

१५. सर १९३ ई० 2 यह बात लेटक ने ष्ण्ब बीमती राधारानी देनी के मुख से सुनी बो।

तो कभी शहद।

इतना ही नहीं, जब श्राद्ध के अन्त में निरुपमा लौट रही थीं, तब वे उनके घर जाकर पहनने के लिए एक किनारी वाली धोती और हाथ का सोने का गहना वहीं ले आये थे। श्राद्ध के समय ये नीजें नहीं पहनी जातीं। उस समय बहुत करुणाजनक दृश्य उपस्थित हो गया था। सभी रो पडे थे और उन रोने वालों में शरत् भी थे।

इस घटना का वर्णन स्वयं निरुपमा देवी ने ही किया है । अन्त में लिखा है, 'शरत् दादा के मित्र उनके मन को अत्यन्त कोमल और पर-दुख-कातर बताते थे । उस दिन मुझे भी इस बात का प्रमाण मिल गया।"

क्या अब भी अनुरूपा देवी के इस कथन पर विश्वास किया जा सकता है कि शरत् तब ऐसे-वैसे चरित्र के एक -अनात्मीय तरुण-मात्र थे ? वास्तव में अनुरूपा देवी अत्यन्त धर्मप्राण महिला थी और धम मन के व्यापार को समझने की दृष्टि नहीं देता। इसके अतिरिक्त एक समय शरत् बाबू ने अनुरूपा देवी के एक उपन्यास की बड़ी कटु आलोचना की थी। सम्भवत: उस कारण भी वे अप्रसन्न थीं। इसलिए उनको दोष देना व्यर्थ है, और इस बात को निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है कि शरत्चन्द्र प्रारम्भ से ही निरुपमा देवी के प्रति अनुरक्त रहे। इसमें विचित्र कुछ भी नहीं है। यह और बात है कि किन्हीं कारणों से वह प्रेम फल-फूल नहीं सका। यह अपूर्णता ही गुप्त वेदना के रूप में उनके मन में सदा के लिए

बस गई और उनके सृजन की शक्ति बनी। जब प्रेमी के हृदय पर प्रेमिका के वियोग का वजाघात होता है तब या तो प्रेमी पागल हो जाता है या फिर एक महान कलाकार बन जाता है । तृप्ति मनुष्य के पथ को रोकी है। प्रगति का मार्ग अतृप्ति के भीतर से ही होकर आगे बढ़ता है।

राधारानी देवी को लिखे एक और पत्र से जान पड़ता है कि शरतचन्द्र निरुपमा देवी के मन की व्यथा से परिचित थे। उस पत्र में उन्होंने लिखा, हम स्त्रियों को मैं आज भी ठीक-ठीक पहचान नहीं पाया। जीवन में बहुत दुख उठाकर मात्र यही अभिज्ञता संचित कर पाया हूँ। जाने- अनजाने यही बार-बार मेरे साहित्य में ध्वनित हुई है..... .और केवल मैं ही नहीं तुम्हें पहचाना पाया, तुम लोग भी अपने को नहीं पहचान पाईं या पहचानने से डरती रहीं । यह भी हो सकता है कि तुमने अपने- को पहचान लिया हो, लेकिन उस बात को स्वीकार करना नहीं चाहती। यह मात्र मेरा कल्पना- विलास नहीं है वास्तविक अभिज्ञता से उत्पन्न धारणा है। इसलिए इस बात को यूं ही नहीं उड़ाया जा सकता।" और यह पत्र भी उन्होंने राधारानी देवी को ही लिखा था । इसके बाद क्या कुछ कहने को रह जाता है?

".....सच्चे प्रेम की परख त्याग की प्रवृत्ति से होती हैं। जिस प्यार में जितनी अधिक कल्याण बुद्धि, जितनी आत्मोत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है, त्याग की प्रवृत्ति अपने आप ही अधिक गम्भीर और दृढ़ होती जाती है। वह प्यार श्1द्ध प्यार हे।

"प्यार जब हृदय में पैदा हो जाता है तो उसे आधार या आश्रय चाहिए। वह आधार सब कहीं उपयुक्त या सुन्दर नहीं होता। प्यार अपने-आप ही अपने हृदय के रस में अपने पात्र की रचना कर लेता है।

रडा प्यार स्वभाव से ही निःस्वार्थ होता है। यह केवल उपलब्धि की वस्तु है, राधू ! हृदय की महत् वृत्तियों की सहायता से उपलब्धि के द्वारा ही उसे छुआ जा सकता है, बुद्धि-विचार-ज्ञान-तर्क या युक्ति से नहीं। यह मेरी अपनी धारणा है।

संसार में ऐसा प्रेम है जो सारा जीवन, जिसको प्यार किया, उससे बहुत दूर रहना चाहता है। उसका प्यार ही उसमें दूर जाने की प्रवृत्ति पैदा करता है। पास रहने पर आखों से देखने की आकांक्षा स्वाभाविक है। उस व्याकुल और तीव्र प्रवृत्ति का सम्बरण करने की शक्ति भी वहीं श्1द्ध प्रेम पैदा करता है। सच्चा प्रेम प्रेमिका या प्रेमी को स्वस्थ व सुखी देखना चाहता है, सार्थक और ग्लानिहीन देखना चाहता है। यहीं तो उसकी आत्म-परितृप्ति है।

"यदि कोई मिलन प्रेमिका का अगौरव के बीच सिर नीचा करने को विवश करता है, उसे जीवन के कर्त्तव्य से विस्तृत कर देता है, जरा भी सजा, दुख या अनुताप-अनुशोचन का कारण बनता है तो वह मिलन कभी भी कल्याणकार नहीं हो सकता । इसलिए वांछनीय नहीं है ।

जम्भीर प्रेम को सबसे अधिक मन की शक्ति की आवश्यक्ता है । मिलन और विच्छेद दोनों में ही कठिन संयम एव दृढ़ शक्ति की आवश्यक्ला है.....केवल आत्मदान में ही प्रेम की सार्थकता नहीं है, आत्मसम्बरण में भी है ।

"मेरे साहित्य में तुम लोगों ने जो पाया है उसे मैं यदि अपने जीवन में न पाता तो क्या यह साहित्य सम्भव होता.....तुम्हारे बूढ़े दादा का जीवन एकदम ही झांसेपट्टी के आधार पर नही खड़ा है । कभी यदि सम्भव हुआ तो तुमकी एक कहानी सुनाऊंगा । सुनने में गल्परुपन्यास की तरह अस्वाभाविक लगेगी, किन्तु उससे अधिक वास्तविक सत्य मेरे जीवन में और कुछ नहीं घटा ।.

लेकिन अपने को गोपन रखने की जो प्रवृत्ति उनमें थी उसके कारण वह कहानी सुनाने का अवसर कभी नहीं आया, आ ही नहीं सकता था ।

---

1. नवम्बर, 1933 ई० (10 अग्रहायण, 1340)

2. 17 जनवरी, 1936 ई०

3. 11 फरवरी, 1936 ई०

4. 1 फरवरी, 1935 ई०

5. अन्तिम किस्त फरवरी, 1935 में प्रकशित हुई।

6. 11 वैशाख, 1343 (अप्रैल, 1936 ई०)

7. 1 अक्टूबर, 1937 ई० (15 आश्विन, 1344)

8. ये कहानियां अधिकर सन् 1937 में ही लिखी गई थीं। संग्रह उनकी मृत्यु के बाद अप्रैल, 1938 में प्रकाशित हुआ।

9. 20 जून से 26 सितम्बर, 1898 ई०

10. अनिला देवी के देवर के पुत्र, जो उनके पास रहते थे।

11. पुरातन कथार आलोचना-निरुपमा देवी (जयश्री)

12. 22 फरवरी, 1908 ई०

13. संशोधन करने की बात से बाद में उन्होंने इनकार किया। देखें पिछला पृष्ट।

14. 24 जुलाई, 1919 ई०

15. 5 अगस्त, 1919 ई०

16. 6 भाद्र, 1326 (22 अगस्त, 1919 ई०)

17. चैत्र, 1319 (मार्च-अप्रैल, 1913 ई०)

18. 30 सितम्बर, 1913 ई०

19. 27 अप्रैल, 1917 ई०

20. सन् 1939 ई०

21. यह बात लेखक ने स्वयं श्रीमति राधारानी देवी के मुख से सुनी थी

23

शरत् बाबू की रचनाओं के आधार पर लिखे गये दो नाटक इसी युग में प्रकाशित हुए । ‘विराजबहू' उपन्यास का नाट्य रूपान्तर इसी नाम से प्रकाशित हुआ । [1] लेकिन दत्ता' का नाट्य रूपान्तर प्रकाशित हुआ ‘विजया ' के नाम से । [2]

‘विराजबहू ' का रूपान्तर शिशिर भादुड़ी ने किया था और उन्होंने ही इसे अपने सुन्दर अभिनय सहित मंच पर प्रस्तुत किया । लेकिन जो रूपान्तर बाजार में है वह किया या कानाई बसु ने । ‘विजया' का नाट्य रूपान्तर भी स्टार रंगमंच पर नव नाट्य मन्दिर ने प्रस्तुत [3] किया । शिशिर उसमें नरेन्द्र का अभिनय करना चाहते थे, परन्तु इस बात को लेकर पत्रों में बड़ी चर्चा हुई और अन्तत: उन्होंने रासबिहारी का अभिनय किया ।

शिशिर बाबू ने ‘नवविधान' और ‘गृहदाह' का नाट्य रूपान्तर करने का भी अनुरोध किया था । लेकिन उनके अचानक अधिक बीमार हो जाने और शरत् बाबू के योरोप जाने की चर्चा चल पड़ने के कारण यह सम्भव नहीं हो सका । ‘गृहदाह' के दो अंक उन्होंने स्वयं लिखे थे । शेष रूपान्तर बाद में बंगला माप्ताहिक के यतीन्द्रनाथ राय ने पूरा किया, लेकिन वह अच्छा नहीं हो सका । मंच पर भी उसे सफलता नहीं मिली ।

इन्हीं दिनों न्यू थियेटर्स ने उनके उपन्यासों को रजतपट पर उतारना आरम्भ किया । न्यू थियेटर्स ने आपनी स्थापनत्नं [4] के बाद उसी वर्ष के उत्तरार्द्ध में प्रेमांकुर आतर्थी के दिग्दर्शन में देना-पावना' का निर्माण करके अपनी यात्रा आरम्भ की । इस चित्र से वीरेन्द्रनाथ सरकार को न केवल पर्याप्त अर्थ ही मिला, एक रोमांचक अनुभूति भी प्राप्त हुई । शरत् बाबू को इसके लिए मिले केवल एक हजार रूपये । 'देवदास ' के लिए दो हजार रुपये मिले ।

सरकार से उनके संबंध बहुत अच्छे थे । उनके सिनेमागृह ‘न्यू सिनेमा ' का उद्घाटन भी उन्होंने ही किया था । 'विजया ' का चित्रपट उन्हें बहुत पसन्द आया और उसकी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की' [5] लेकिन जो सफलता ‘देवदास' का सवाक् चित्रपट तैयार करने में प्रमथेश बरुआ को मिली वह किसी और को नहीं मिली । गौरीपुर के राजकुमार प्रमथेश बरुआ जब 'देवदास' के चित्रपट की योजना लेकर शरत् बाबू के पास गये तो उन्होंने अनुमति देने से साफ इनकार कर दिया । कहा, “मेरा देवदास' र्भासपग भाबुक है । उसे रजतपट पर चित्रांकित करना सहज नहीं है । मैं किसी भी प्रकार तुम्हें अनुमति नहीं दे सकता । मेरे और भी उपन्यास है, उनमे से कोई एक चुन लो । 'देवदास ' मैं तुमका छूने भी नहीं दूंगा । बहुत इमोशनल हे मेरा ‘देवदास ' ।"

बरुआ उदास तो हुए, लेकिन हताश नहीं । इसीलिए अन्त में शरत् बाबू को उनसे समझौता करना पड़ा उन्हें कहना पड़ा, "मैं तुम्हें 'देवदास' फिल्म बनाने की अनुमति देता हूं, किन्तु रजतपट पर उसे वास्तविक रूप देना ही होगा । मुझे पूर्ण आशा है कि देवदास की भूमिका में तुम खरे उतरोगे । किन्तु पारो और चुन्नीलाल की भूमिकाएं भी तो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । उन पर भी विशेष ध्यान देना होगा ।"

प्रारम्भ में शरत् बाबू शूइटैग के समय स्वयं सेट पर मौजूद रहते थे । परन्तु शीघ्र ही जब उन्हें विश्वास हो गया कि बरुआ ईमानदारी के साथ प्रयत्न कर रहे हैं तो फिर उन्होंने जाना छोड़ दिया । उन्होंने देख लिया था कि निर्देशक और अभिनेता दोनों को ही हैसियत से बरुआ चित्र के मार्मिक और भावुकतापूर्ण स्थलों पर संयम और सतर्कता से काम ले रहे हैं ।

आखिर देवदास' बनकर तैयार हो गया । बड़े अरमान के साथ बरुआ शरत् बाबू को दिखाने के लिए लाये । पूरी फिल्म देखने के बाद शरत् बाबू बहुत संतुष्ट हुए । उन्होंने बरुआ को अन्तर्मन से आशीर्वाद दिया । जनता ने भी मुक्त मन से 'देवदास' का स्वागत किया ।

न्यू थियेटर्स को उन्होंने अपनी और भी रचनाओं के सिने-अधिकार बेच दिये थे । बाद में इन्हीं से छाया सिनेमा के श्री शचीन्द्रनाथ वारिक ने 1500 रुपये देकर 'चन्द्रनाथ ' के अधिकार खरीद लिये थे । [6] उनकी बहुत-सी रचनाओं के आधार पर बहुत-से चित्रपट तैयार हुए, लेकिन भीषण भावुक 'देवदास' ने उन्हें जो यश दिया, वह अभूतपूर्व था ।

शरत् ग्रन्यावली का छठा [7] और सातवां [8] भाग तथा उनके लेखों का एक संग्रह भी इसी युग में प्रकाशित हुए । अभी भी वे अपनी पुरानी रचनाओं में हेरफेर करते रहते थे । 'चन्द्रनाथ ' के १४वें संस्करण की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है, " 'चन्द्रनाथ ' मेरी बचपन की रचना है । उन दिनों कहानी और उपन्यासों में जिस भाषा का उपयोग किया जाता था, इस पुस्तक में वही भाषा थी । वर्तमान संस्करण में केवल इसी में परिवर्तन कर दिया है । ' [9]

लेकिन इस काल की एक उल्लेखनीय घटना है 'निष्कृति' का अंग्रेजी में अनुवाद । यह अनुवाद दिलीपकुमार राय ने किया हे । [10] वे शरत् बाबू की तीन सर्वश्रेष्ठ गल्पों में इसकी गणना करते थे । शेष दो गल्पें थीं [11] 'रामेर सुमति', और बिदूर छेले' । इन तीनों का ही अनुवाद वे करना चाहते थे । शरत् बाबू के प्रति उनकी श्रद्धा अपार थी । उनसे भी उन्होंने गहरी आत्मीयता और अगाध स्नेह पाया था । उसका प्रतिदान चुकाने के लिए ही मानो वे यह काम करने के लिए तैयार हुए थे । उन्होंने श्रीअरविन्द से कहा, "मैं निष्कृति' का अनुवाद करना चाहता हूं, आपको इसे देखना होगा ।"

वे सहमत हो गये । शरत् बाबू का आशीर्वाद तो उन्हें प्राप्त था ही । बड़े उत्साह से वे अनुवाद करने लगे । श्रीअरविन्द साथ-साथ संशोधन करते जाते थे । अनुवाद पूरा होने पर उसकी प्रशंसा में उन्होंने कुछ पंक्तियां भी लिख दी थीं -

"श्री शरत्चन्द्र की रचनाओं में, उनकी विशाल मेधा, मानवों तथा वस्तुओं के सूक्ष्म तथा सही पर्यवेक्षण और दुख तथा पीड़ा के प्रति सहानुभूति से भरे हृदय की अमिट छाप है । वह इतने अधिक संवेदनशील हैं कि उन्हें इस संसार से चैन कैसे प्राप्त हो सकता हे । उनकी दृष्टि भी सम्भवत: उतनी ही अधिक पैनी है । उनका मन बहुत निर्मल है और उनकी प्राणिक प्रकृति बहुत उदात्त है ।"

इस अनुवाद की भूमिका के लिए दिलीपकुमार राय ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ से प्रार्थना की । उस समय रवीन्द्रनाथ और शरतचन्: क बीच मनावन गहन हो त्रठा था । इसलिए उन्हे आशा नहीं था कि कवि उनके अनुरोध की रक्षा कर सकेंगे । लेकिन उन्होने अपने लम्बे पत्र में बडे विस्तार से शरत्चन्द्र की मनोव्यथा की चर्चा की । अन्तत: कवि ने शरत्छान्द्र की प्रतिभा का वरण करते हुए 'निष्कृति' की छोटी-सी भूमिका लिख भेजी, चह नवीनतम नेता, जिसने मुक्ति के मार्ग के द्वारा बंगाली उपन्यास को धुएं, विश्व साहित्य की भावना के पास लाने का कार्य किया है, शरतचन्द्र है । उन्होंने हमारी भाषा को नइ शक्ति दी है । अपनी कहानियों में उन्होने बंगाली हृदय को नई दृष्टि के प्रकाश से आलोकित किया है । उन्होंने जनता के व्यक्तित्व की छिपी हुई साधारण बातों के जीवन्त महत्व को प्रकट किया है । उन्होंने एक उपन्यासकार के लिए जो सर्वोत्तम पारितोषिक हो सकता है पा लिया है । उन्होंने सम्पूर्ण रूप से बंगाली पाठकों का हृदय जीत लिया है । '

जब शरतचन्द्र को यह पता लगा कि श्रीअरविन्द उस अनुवाद में संशोधन कर रहे हैं तो उन्होंन दिलीपकुमार को एक पत्र लिखा । वह पत्र कई दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है :

पी ५५६६ मनोहर पुकुर कलकत्ता
3 माघ, 1341

परम कल्याणयेषु मण्टू

क्त रात को गांव के घर से यहां आ गया हूं । तुम्हारी चिट्ठियां मिलीं एक-एक करके काम की बातों का जवाब दूं ।

(1) तुम्हारी निशिकान्त की तसवीर अच्छी बनी है । बहुत दिनों के बाद फिर तुम्हारा मुंह देखा, बड़ी प्रसन्नता हुई । अब सचमुच ही देखने की बड़ी इच्छा होती है । लेकिन आशा छोड़ दी है । सोचा है, इस जीवन में अब नहीं देख सकूंगा ।

(2) टाइपराइटर सही-सलामत पहुंच गया हे, यह संतोष की बात है । डर था कि कहीं विकलांग होकर तुम्हारे आश्रम में न जा पहुंचेर । उस दिन हीरेने ने आकर कहा कि मण्टू दादा का अपना टाइपराइटर पुराना हो गया है, उन्हें एक नइ मशीन चाहिए । कहा, जरा दौड़- धूप कर भेज दो न हीरेन । ' वह उसीने किया है । मैं । मुझसे भी नहीं होता । मैंने केवल राजी हुआ । यह सब कुछ जड़ वस्तु हूं कुछ रुपये का चेक लिख दिया था । तुम्हें

पसंद आया है, इससे 'बढ्कर मेरे लिए आनन्द की बात नहीं । जिस आदमी ने अपना सब कुछ दे दिया, उसे देना, देना नहीं है, पाना है । मुझे बहुत कुछ मिला, तुमसे बहुत अधिक ।

(3) श्रीअरविन्द के हाथ की लिखी चिदमई संभालकर रख दी है । यह एक रत्न है ।

(4) निष्कृति का अच्छा अनुवाद करने के लिए तुम यथासाध्य प्रयत्न करोगे, इसे मैं जानता था । तुम मुझे सचमुच प्यार करते हो, इसलिए नहीं, बल्कि जो यथार्थ में साधु का व्रत ग्रहण करते हैं यह उनका स्वभाव है । ऐसा किये, बगैर उनसे नहीं रहा जाता । या तो करते नहीं है, पर करने पर बेगार नहीं करते ।

(5) जब श्रीअरविन्द ने स्वयं देख देने का संकल्प किया है तो अनुवाद अच्छा ही होगा । लेकिन मण्टू पुस्तक में अपना कौन-सा गुण है, श्रीअरविन्द को क्यों अच्छी लगी, नहीं जानता । कम से कम अच्छी नहीं लगती तो अचरज नहीं होता, खिन्न भी नहीं होता । तुम जब 'श्रीकान्त ' का प्रचार कर सकोगे, तभी आशा करूंगा कि एक बंगाली कहानीकार को पश्चिम वाले कुछ श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं । तुम्हारा उद्यम और श्रीअरविन्द का आशीर्वाद रहा तो यह असम्भव भी एक दिन संभव होगा । इसकी मुझे उम्मीद हे ।

(6) अनुवाद के मामले में तुम्हारी पूर्ण स्वतन्त्रता मैंने स्वीकार की है । इसका कारण यह है कि तुम तो केवल अनुवादक हीं नहीं हो, खुद भी बड़े लेखक ही । तुम्हें अकिचितकर साबित करने वाले लोगों की कमी नहीं ।..... .लेकिन उनकी समवेत चेष्टा से तुम्हारी प्रतिभा और एकाग्र साधना कहीं बड़ी है । तुम्हारे गुरु की शुभाकांक्षा तो सब कुछ के पीछे है ही । उनकी सारी कुचेष्टायें सफल होंगी और तुम्हारे अंतर की जाग्रत शक्ति सार्थक नहीं होगी, ऐसा हो ही नहीं सकता मण्टू

(7) रवीन्द्रनाथ मुझे इण्टोइयूस करना चाहेंगे इसका भरोसा नहीं करता । मेरे प्रति तो वह प्रसन्न नहीं हैं । इसके अलावा उनके पास समय ही कहां है! साहित्य- सेवा के काम के बारे में वह मेरे गुरुकल हैं उनका क्या मैं कभी चुका नहीं सकूंगा । मन ही मन उन पर इतनी श्रद्धा-भक्ति रखता हूं । लेकिन भाग्य ने गवाही नहीं दी । मेरे प्रति उनकी विमुखता का अंत नहीं । अतएव इसकी चेष्टा करना बेकार है ।

(8) हीरेन शायद आजकल में ही आवेगा । उसे तुम्हारे कागज भेज देने के लिए कहूंगा ।

(9) बाकी रही तुम्हारी बात । मैं तुम्हारा बहुत ही कुरत हूं मण्टू इससे अधिक क्या कहूं! चिट्ठी लिखने की बात सदा से मेरे लिए जटिल रही है । संभालकर लिख ही नहीं पाता । इसलिए मुझे जो बातें कहनी चाहिए थीं कह नहीं सका था । वह मेरी अक्षमता है, अनिच्छा कभी नहीं । इस पर विश्वासकरना ।

मेरा स्नेहाशीर्वाद लेना और सौरीन को कहना । लड़के की बात याद नहीं आ रही है । स्वर्गीय दादा महाशय के यहां या तक्र के यहां शायद देखा होगा ।

(10) श्रीअरविन्द की नववर्ष की प्रार्थना सचमुच ही बहुत अच्छी लगी । यथार्थ में वह बहुत बड़े कवि हैं ।

शुभाकांक्षी

श्री शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय

इस पत्र को दिलीपकुमार ने श्रीअरविन्द के पास भेज दिया । लिखा, 'मनुष्य की प्राणशक्ति की लीला ही इस जीवन के मूल को सरस और बसन्त को रंगीन रखती है ।.

इसका जो उत्तर श्रीअरविन्द ने दिया, वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, शरत्चन्द्र के पत्र की महिमा उसकी प्राणवन्तता के कारण नहीं है । यद्यपि वह प्राणशक्ति के बीच से ही प्रकट हुई है, किन्तु प्राणशक्ति उसकी मूल प्रेरणा नहीं है । उसकी प्रत्येक पंक्ति में अन्तरात्मा का प्रकाश फूटा पड़ता है । यदि कोई मुझसे पूछे कि भनुष्य के भीतर यह प्रकाश किस तरह सक्रिय होता है तो मैं अकुण्ठ भाव से कहूंगा कि इस चिट्ठी की तरह । यह अन्तरात्मा हमारी असली सत्ता है । वस्तु, प्राण और मन को यही जीवन्त शक्ति से भरती है और इसी के माध्यम से अपने को प्रकाशित और विकसित करती है - लावण्य और सौकुमार्य के रसायन में । मनुष्य से निम्न स्तर के जीव-जगत् में भी यह काम करती है -उनको धीरे- धीरे मानवता की ओर लाते हुए । केवल मनुष्यों में ही यह शक्ति और स्वतन्त्रता से काम करती है । यद्यपि बहुत अज्ञान दुर्बलता 'और कर्कशता और काठिन्य का बोझा इसे उठाना पडता है । योग की भूमिका मे यह अन्त: शक्ति अपने लक्ष्य के संबंध में सचेतन होकर भीतर ही भीतर भगवत्मुखी होती है । यह पीछे और ऊपर देखती है । यही इसमें अन्तर है । [12]

शरत् बाबू के पत्र की यह व्याख्या बहुतों को विस्मित कर सकती है । परन्तु यह 'है बहुत सही । शरत् बाबू की भक्ति श्रीअरविन्द के प्रति कम नहीं थी । यद्यपि वे उनके दर्शन को पूर्णरूप से हृदयंगम नहीं कर सके थे, फिर भी उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता को उन्होंने बार-बार स्वीकार किया है ।

और मतभेद को भी बडे सहज भाव से प्रकट कर दिया है, 'श्रीअरविन्द जो छोटे-छोटे सन्देश तथा तुम लोगों के प्रश्नों के उत्तर देते हैं, जिन्हें तुम यत्न से मेरे पास भेजते हो, उन्हें पड़ता हूं सोचता हूं और फिर पड़ता हूं । हां यह मानता हूं कि अधिकांश को समझ नहीं पाता । कभी-कभी वे मन, चेतना या कांशसनेस के इतने भिन्न-भिन्न और सूक्ष्मातीत सूक्ष्म पर्याय या स्तर बतलाते हैं कि वे मेरी बुद्धि से परे हैं । कविता के संबंध में भी उनके विचारों को सर्वदा नहीं मान पाता हूं..... [13]

श्रीअरविन्द के प्रति श्रद्धानत होते हुए भी उनके शिष्यों के प्रति वे उस सीमा तक कभी श्रद्धावान नही हो सके । दिलीपकुमार के साधु का बाना धारण कर लेने पर वे अत्यन्त व्यथित हो उठे थे । इस बात को उन्होंनं कभी छिपाया नहीं । बहुत पहले दिलीपकुमार को उन्होने स्पष्ट लिखा था [14]

तुम्हारे नाम से तो वारण्ट नहीं था, जो तुम साधु बनने गये। बस, अब आगे नही। इस पत्र क्तें पाते ही चले आना। न हो तो ख दिनों के बाद फिर चले जाना। इससे कोई क्षति नहीं होगी। मैं अनुभवी व्यक्ति हूं मेरी बात सुनो। तुम्हारी उम्र में मैं चार-चार बार संन्यासी बना था। उस ओर शायद मक्खियां और मच्छर कम्र हैं, नहीं तो हिन्दुस्तानियों की पीठ के चमड़े के सिवा उनके दंशन क्ते सहना किसके बूते की बात है! भैया, यह बंगाली का पेशा नहीं है, बात सुनो, चले आओ! तुम्हारे आने पर इस बार बरसात के बाद एक साथ हम उत्तर और दक्षिण भारत बूमने चलेंगे। तुम्हारे साथ न होने पर खातिरदारी नहीं मिलेगी, खाने-पीने का भी उतना सुभीता नहीं रहेगा। कब आ रहे हो, पत्र पाते ही लिखना। मैं स्टेशन पर जाऊंगा।

एक बात और। सुना है बारीन (श्रीअरविन्द के छोटे भाई बारीन्द्रकुमार घोष) किसी भी पेड़ क्य पत्ता तुम्हारी नाक पर रगड़कर किसी भी फूल की सुगन्धि सुधा सकता है। उपेन बन्दोपाध्याय बता है कि उसने इस चीज को कर्ता (श्रीअरविन्द घोष) से हथिया लिया है। आते समय तुम इसे सीख लेना। वह एकएक नहीं मानेगा, मगर तुम छोड़ना मत। कुछ दिनों तक उसकी अण्डमन की वंशी' की खूब तारीफ करते रहना और पुस्तक को हमेशा साथ लेकर घूमना, और डप्त पुस्तक को इतने दिनों तक नहीं पड़ा', यह ककर बीच-बीच में उसके सामने अफसोस जाहिर करना। बहुत सम्भव है कि इतने से ही विभूति को हथिया ले सकोगे। उत्तर भारत घूमते समय वह खास काम में आयेगी।

सुना है, अनिलवरण धूल को चीनी बना सक्ता है, यद्यपि ज्यादा देर तक वह नहीं टिकती है, मगर पांच-सात घण्टे तक देखने और खाने में चीनी ही लगती है। इसे अवश्य ही सीख आने अई चेष्टा करना। अनिलवरण सरल और भला आदमी है। अगर सिखाने में आपत्ति करे तो भूतों और चुड़ैलों की खूब कहानियां कहना। शपथ खाकर कहना कि तुमने चुड़ैल अपनी आखों से देखी है। फिर आगे चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी-अनायास ही अऐशल' को हथिया लोगे। और अगर इन दोनों को सचमुच ही सीख लेते हो तो वहां कष्ट उठाकर रहने की कौन-सी जरूरत है?

बहुत दिनों सें तुम्हें नहीं देखा। देखने की बड़ी इच्छा होती है, गाना सुनने की साध होती है। क्म उद्यओगे, लिखना। मेरा स्नेहाशीर्वाद लेना।

-श्री शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय

पुनश्च: विशतइयो' को लाना ही होगा। समय-कुसमय बड़े काम आती हैं। जो भी हो, शीघ्र चले आओ। संन्यासी होना बहुत खराब है मण्टू। मेरी बात पर विस्वास करो। आजकल के जुमाने में इसमें कुछ भी मजा नहीं है। कब आ रहे हो, ठीक-ठीक लिखना।.....

दो वर्ष बाद फिर एक पत्र में लिखा, [15] त से शीघ्र ही एक दिन मुलाकात करूंगा। यह नहीं बतलाऊंगा कि तुमने उसके बारे में कुछ लिखा है। लेकिन तुमने मुझे जो कुछ सूचित किया है, उसी पर जिरह करके सत्य का आविष्कार करने की चेष्टा करूंगा। देखूं ऊ क्या

कहता है? श्रीअरविन्द के संबंध में कहीं भी तो मैंने वह बात नहीं कहीं है। देश के सारे लोग उनपर गहरी श्रद्धा रखते है। क्या केवल मैं ही नहीं रखता? लेकिन आश्रमवासियों के प्रति मेरा मन बहुत प्रसन्न नहीं है। कारण हैं कुछ झ' की बातें और कुछ दूसरे आश्रमवासियों के संबंध में मेरी कुछ जानकारी। इसके अलावा, तुम्हारा चले जाना मुझे बहुत खटका है। जब आई० सी० एस० या कानून नही पढ़ा तब दुख हुआ था, मगर जब गाने-बजाने और उसके साथ ही साहित्य को तुमने अपनाया तब वह क्षोभ दूर हो गया था। सोचा था, सभी नौकरी करेंगे और अपने देश के लोगों को, हाकिम या बैरिस्टर बनकर, जेल भेजेंगे, ऐसा क्यों हो? मण्टू को खाने-पहनने की चिन्ता नहीं है। वह अगर भारत के क्लाशिल्प को विदेशियों की नजरों में बड़ा बना सके बुद्धि से, इसके पिटे-पिटाए पथ से, एक नया मार्ग निकाल सके तो क्या इससे देश को क्य गौरव होगा हैं..इसके बाद एक दिन सुना कि तुम बस सब कुछ क्षेडूकर बैरागी बनने चले गये हो। तब अचानक ही लगा कि मेरी अपनी ही कोई बहुत बड़ी क्षति हो गई है। इस जीवन में शायद तुम्हें फिर नहीं देख पाऊंगा। क्या तुम समझते हो कि यह मेरे लिए कोई छोटा दुख है? और कोई भले ही विश्वास न करे, मगर तुम तो जानते हो। यह बात मुझे चिर दिन घोर दुख देगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं।.....

"सुना है, तुम्हारा अनिलवरण धूल को चीनी बना सकता है। कहा जाता है, आश्रम को सारी चीनी वही सप्लाई करता हे। क्या यह सच है? मैं विश्वास नहीं करता। क्योंकि तब तो वह आश्रम में क्यों रहने जाता? कलकत्ता आकर अनायास ही एक चीनी की दुकन खोल सकता।

"बारीन से अक्सर मुलाकात होती है। वह कहता है कि अब वह उधर कभी नहीं जाएगा। उतनी भीषण सख्ती में उसकी आत्मा पिंजड़े को छोड्कर नहीं निकल गई, यह बड़े सौभाग्य की बात है। लेकिन तुम्हारी 'मदर' के बारे में उसके दिल में गहरी भक्ति है। कहता है, उस प्रकार की अद्भुत व्यक्ति देखने में नहीं आती। कहता है कि उनकी सूक्ष्म दृष्टि एक अद्मुत वस्तु है। जितनी काम करने की शक्ति है, जितना अनुशासन है, बुद्धि भी उतनी ही प्रखर है। प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक मामला उनकी नज़रों के सामने रहता है। उनके आदेश और उपदेश के अतिरिक्त वहां कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग बाहर. से अचानक जाते हैं, वे उनके संबंध में तरह-तरह की उलटी-सीधी धारणाएं लेकर लौटते हैं।....."

'निष्कृति' के अनुवाद को लेकर उनके मन में बड़ी आशाएं पैदा हो गई थी —" 'निष्कृति' के फ्रांसीसी अनुवाद की कल्पना भी तुम्हारे मन में है। मुझे तो विश्वास नहीं होता, पर श्रीअरविन्द के आशीर्वाद से अघटित भी घट सकता है।"

दिलीपकुमार ने अनुवाद किया है और श्रीअरविन्द ने उसे देखा है, यह जानकर और भी बहुत-से लोग उसके प्रकाशन में रुचि लेने लगे। एक अमरीकन महिला जो कभी 'एशिया' पत्रिका की सम्पादिक रही थीं और अब जिन्होंने एक बंगाली भद्रलोक से विवाह

कर लिया था, उस अनुवाद को अमरीका में प्रकाशित करने के लिए उत्सुक हो उठीं। लेकिन शरत् बाबू का अब भी यही विचार था कि 'निष्कृति' के स्थान पर 'श्रीकान्त' का अनुवाद होना चाहिए था, होना चाहिए। उस देश में 'निष्कृति' किस गुण के आधार पर आदर पा सकती है? बार-बार उन्होंने दिलीपकुमार को लिखा..... 'तुम 'श्रीकान्त' का अनुवाद करते हुए झिझकते क्यों हो? अगर होगा तो तुम्हारे द्वारा ही होगा.....।" [16]

".....इस बार तुम 'श्रीकान्त' लो। जीते जी उसका अनुवाद देख जाना चाहता हूं...।" [17]

लेकिन उनकी यह कामना पूरी नहीं हो सकी। दिलीपकुमार 'श्रीकान्त' का अनुवाद नहीं कर सके। कुछ दूसरे लोगों ने प्रयत्न किया, पर व्यर्थ ही प्रमाणित हुआ।

अपवादों ने अभी भी उनका पीछा नही छोड़ा था। इसी समय एक अपवाद उठा कि उन्हें नोबेल पुरस्कार मिलने वाला है। दिलीपकुमार राय तथा उनके अन्य शुभाकांक्षियों ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ से उनके नाम का प्रस्ताव करने के लिए प्रार्थना की है, पर किसी अज्ञात कारण से कवि ऐसा नहीं कर सके।

बात वास्तव में यह थी कि डा० कानाई गांगुली और दिलीपकुमार राय के विशेष आग्रह पर शरत्चन्द्र योरोप की यात्रा करने के लिए तैयार हो गये थे। उसी को लेकर 'आनन्द बाजार पत्रिका' ने उड़ा दिया कि शरत् बाबू नोबेल पुरस्कार के लिए प्रयत्न करने योरोप जा रहे है।

यह सब आपसी ईर्ष्या और ईर्ष्य क परिणाम था। राजनीति में उन दिनों शरत्चन्द्र सत्याग्रह और चर्खे के विरुद्ध थे। इसी कारण दूसरे दल के लोग नाना प्रकार के अपवाद प्रचारित करते रहते थे। कभी-कभी तो वे हास्यस्पद स्तर पर उतर आते थे। किसी अभिनेता का नाम भी शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय था। कुछ दिन पूर्व शनिवारेर चिठि' में नटराज की वेशभूषा में उसका एक चित्र छपा था। उसके नीचे केवल इतना लिखा था, "शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय।" [18]

लेकिन ये अपवाद उनके सन्तुलन को जरा भी डिगा नहीं पाते थे । आक्रमण जितना तीव्र होता उतने ही वे निर्भीक होते। इसी समय उन्होंने एक नया उपन्यास लिखना शुरू किया था। उसका नाम था 'अनागत'। 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' ने उनकी पगड़ी उछाली थी, परन्तु उसके एक सम्पादक प्रफुल्लकुमार सरकार का भी इसी नाम का एक उपन्यास था। उनका यह भय स्वाभाविक ही था कि शरत्चन्द्र के उपन्यास के सामने उनके उपन्यास को कोई नहीं पूछेगा। उन्होंने डरते-डरते श्री अविनाशचन्द्र घोषाल के माध्यम से शरत् बाबू से अपने उपन्यास का नाम बदल देने की प्रार्थना की। शरत् बाबू तुरन्त तैयार हो गये। उसका दूसरा परिच्छेद 'आगामी कल' के नाम से छपा। यह दूसरी बात है कि वह उपन्यास उनके असमाप्त उपन्यासों में एक संख्या और बढ़ाकर ही रह गया।

यूरोप जाने की बात काफी आगे बढ़ गई थी। यह समाचार पाकर लन्दन में एक अभ्यर्थना समिति का गठन करने का निर्णय किया गया था और चेष्टा की जा रही थी कि सर्वश्री बनाई शा, एच० जी० बेल्स और आल्डुअस हक्सले उसमें आ सकें, परन्तु स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण शरत् बाबू ने जाने का विचार ही स्थगित कर दिया।

---

1. 18 अगस्त, 1934 ई०

2. 24 दिसम्बर, 1934 ई०

3. 6 पोष, 1341 (दिसम्बर, 1934 ई०)

4. 10 फरवरी, 1931 ई०

5. 20 कार्तिक 1343 (6 नवम्बर, 1936 ई०)

6. 22 अगस्त, 1936 ई०

7. 25-9-1934 ई०

8. 27-9-1935 ई०

9. 4-10-1937 ई०

10. 21-3-1935 ई०

11. इनका अनुवाद उनकी मृत्यु के बाद दिलीपकुमार राय ने ही किया। 'मदर्स एण्ड सन्स' में वे दोनों नोवलेट संकलित हैं ।

12. जनवरी, 1935 ई०

13. 6 भाद्रपद 1338 (23-8-1931 ई०)

14. 13 जून, 1929 ई०

15. 4 कार्तिक, 1338 (21 अखूबर, 1931 ई०)

16. 6 ज्येष्ठ, 1342 (21 मई, 1935 ई०)

17. 7 चैत्र, 1341 (21 मार्च, 1935 ई०)

18. क्या यह आश्यर्चजनक बात नहीं है कि श्मशान में भी एक अन्य शरतचन्द्र उनके सामने सोये हुए हैं?

24

गांव में रहते हुए शरत् बाबू को काफी वर्ष बीत गये थे। उस जीवन का अपना आनन्द था। लेकिन असुविधाएं भी कम नहीं थीं। बार-बार फौज़दारी और दीवानी मुकदमों में उलझना पड़ता था। गांव वालों की समस्याएं सुलझाते-सुलझाते वे परेशान हो उठते थे। तब मन होता था कि वहां से भाग चलें।

बार-बार उन्हें कलकत्ता जाना पड़ता था। उनकी सभी पुस्तकें वहीं से प्रकाशित हो रही थीं। सभा-सोसाइटियों के निमन्त्रण भी कम नहीं आते थे, लेकिन वहां तक पहुंचने में उन्हें बडी असुविधा होती थी। स्टेशन लगभग दो मील दूर था और रास्ता था नितान्त कच्चा। वर्षा ऋतु में वहां दलदल उफन उठती थी। उसकी चर्चा करते हुए एक बार उन्होंने अपनी सहज शैली में लिखा था, "वर्षा के दिनों में स्टेशन की ओर जानेवाला जो एकमात्र पथ है, उससे यात्रा करने की कल्पना से ही डर लगता है। पालकीवाले डरते हैं कि कहीं पांव फिसल जाने पर बांध से एकदम नीचे नहर में ही डूबना होगा। अच्छी जगह आ पड़ा हूं। यहां के लोगों को एक सुविधा है, वर्षा ऋतु में उनके पैरों में खुर उग आते हैं, इसीसे वे खट-खट करते चले जाते हैं। फिसलने का डर नहीं रहता। मेरे अभी तक खुर नहीं उगे हैं, लेकिन यह भरोसा है कि दो-एक वर्ष और रहने पर उग आएंगे। असम्भव कुछ नहीं है, किन्तु मैं कहता हूं, मुझे खुरों से क्या लेना? मैं जहां था वहीं वापस लौट जाऊंगा। [1]

उनका मन जैसे अब वहां नहीं रहा था। स्वास्थ्य उनका कभी भी अच्छा नहीं रहा। आयु के बढ़ने के साथ-साथ विकार बढ़ता ही गया। इन नाना कारणों से उन्होंने निश्चय किया कि वे शहर में भी एक मकान बनायेंगे। हिरण्मयी देवी बराबर यही अनुरोध करती आ रही थीं, लेकिन मकान के लिए तो रुपयों की आवश्यकता होती है। उन्होंने लिखने की ओर मन देने का प्रयत्न किया। प्रकाशकों से भी रुपयों की मांग की। एक पत्र में उन्होंने लिखा-

"मेरा कलकत्ता का मकान बन चुका है। इस समय मुझे यदि आप पांच हज़ार रुपये दें तो चिन्ता दूर हो। जो तीन पुस्तकें समाप्त होने को हैं, आशा करता हूं, उनसे एक साल में ही यह कर्ज चुकता हो जाएगा। मकान का तखमीना चौदह हज़ार रुपये का था। जिन लोगों मे बातचीत की थी, उनसे तय था कि आधे रुपये इस साल दूंगा और बाकी आधे अगले साल। पर घटनाचक्र से खर्च बढ़ गया और तीन हज़ार रुपये ज्यादा लग गये। नहीं तो रुपयों की ज़रूरत नहीं होती। कर्ज़ बिना लिए भुगतान कर देता। यहां गांव के मकान पर सोलह-सत्रह हज़ार रुपये खर्च कर चुका हूं। कलकत्ता के मकान पर भी जान पड़ता है तीस हज़ार रुपये खर्च होंगे। [2]

उनकी आय अच्छी-खासी थी, फिर यह कर्ज़ पर कर्ज़ क्यों? उनका स्वभाव था कि आवश्यक हो या अनावश्यक, बाज़ार जाकर कुछ न कुछ खरीदारी करेंगे ही। एक रुपये की आवश्यक वस्तु लेते तो पच्चीस रुपये की अनावश्यक वस्तुएं भी खरीद लेते। कोई कहता, "दादा, इनकी तो दरकार नहीं थी! क्यों खरीद रहे हैं?"

उत्तर मिलता, "अरे, तुम समझते नहीं, फिर भी तो कभी दरकार हो सकती है।"

उस दिन एक सिगरेट केस देखा। सचमुच सुन्दर था। ले लिया। साथ में जो मित्र थे उन्होंने पूछा, "दादा आप तो हुक्का या पाइप पीते हैं। बेकार यह सिगरेट केस क्यों ले लिया?"

उत्तर दिया, "तुम समझोगे नहीं जी! कितना सुन्दर डिज़ाइन है! चीज़ बनी रहेगी। हो सकता है कभी सिगरेट पीना शुरू कर दूं।"

इसी तरह सुन्दर नोटबुक, खूबसूरत विलायती मनीबैग, कांच की प्यारी-सी दवात, न जाने क्या-क्या खरीद लेते। पैसे जमा करने से जैसे नफ़रत थी। गम्भीर होकर अक्सर कहते, "छोड़ो, जीवन-भर धन के लिए कष्ट उठाया। अब मरते वक्त भगवान ने वह चीज़ मुझे दी है। अब मुझे इसकी आवश्यकता क्या है?"

उन्होंने मॉरिस गाड़ी भी खरीद ली थी। मित्रों की सहायता करने के लिए वे सदा तत्पर रहते ही थे। बाज़ार में सात रुपये की चीज़ खरीदते और दुकानदार को दस का नोट दे देते। शेष लौटाने की चिन्ता उन्हें कभी नहीं रहती। याद दिलाने पर कहते, "छोड़ो भी, शायद भूल गया होगा, दे देगा।"

दवाएं तक थोक में खरीद लेते। सरदर्द की दवा सोने के कमरे की तिपाई पर एक शीशी, बरामदे की मेज़ पर दूसरी शीशी, शौचालय के कार्निस पर तीसरी शीशी और नीचे की बैठक में चौथी शीशी। ऐसी बातों का कोई अन्त नहीं था। और पैसा इसी तरह मुक्त होकर बहता रहता था।

चार महीने बाद आखिर कलकत्ते का यह मकान भी बनकर तैयार हो गया। जिस समय उन्होंने इस मकान में प्रवेश [3] किया, उस समय अनेक गण्यमान्य अतिथियों के बीच में कविगुरु रवीन्द्रनाथ भी उपस्थित थे। मात्र उपस्थित ही नहीं थे, इस अवसर पर उन्होंने अपनी दो कविताएं भी पढ़ी थी। कैसी मादक स्तब्धता छा गई होगी उस वातावरण में, जब कविगुरु के गहन-गम्भीर स्वर में यह कविता गूंजी होगी-

यदि ओ संध्या आसिछे मन्द मन्थरे
सब संगीत गेछे इंगिते थामिया।
यदि ओ संगी नाहि अनन्त अम्बरे.
यदि ओ क्लान्ति आसिछे अंगे नामिया।
महा आशंका जपिछे मौन मन्तरे,
दिग-दिगन्त अवगुण्ठने ढाका।

तबु बिहंग, ओर बिहंग मोर

एखनि अन्ध, बन्ध कोरी ना पाखा।

इस मकान के बन जाने से उन्हें बहुत सुविधा हो गई। अब उनका इलाज आसानी से हो सकता था। जो लोग इतनी दूर गांव में उनसे मिलने-जुलने जाते थे वे भी उस परिश्रम से बच गये। नये-नये लेखक मन में अजस्र भक्ति और श्रद्धा लिए उनके पास आते और उनकी प्रत्येक गतिविधि का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते। देखते कि शरत्चन्द्र बैठक में आरामकुर्सी पर बैठे हुए हैं। दोनों तरफ छोटी-छोटी मेज़ें हैं। उन पर एक जैसी सामग्री सजी हुई है। कटिंग पेपर, सुन्दर पैड, बहुमूल्य फाउंटेन पेन, पेंसिलें। जिस तरफ उनका मन होता है उसी तरफ से सामान लेकर लिखना शुरू कर देते हैं। रुपयों की गड्डीनुमा एक डिबिया मे अफीम रहती हे, पर वह एक ही है। लम्बी सटक की मुंह गाल उनके हाथ में रहती। जब चिलम बुझ जाती तो नौकर को आवाज़ देते, "वृन्दावन!"

पुराने मित्रों का आना भी बढ़ गया था। मिलने-जुलने और अड्डा जमाने की यह आदत जीवन- भर बनी रही। वही खाना-पीना और गपशप। समय किधर से आकर किधर चला जाता था किसी को पता ही नहीं लगता था। उस दिन ऐसे ही सवेरे से रात हो गई, हरिदास बाबू थे, दिलीपकुमार थे, और भी अनेक लेखक थे। सहसा हरिदास बोल उठे, "रात बहुत हो गई है, अब चलो। नहीं तो शरत् दा नौकर से वसीयतनामा लाने को कहेंगे।"

शरत् बाबू ने हंसकर पूछा, "वसीयतनामा क्यों?"

हरिदास बोले, "आपकी ही तरह एक भला ब्राह्मण था। सरस्वती पूजा के दिन उसने अनेक व्यक्तियों को आमन्त्रित किया। खाना-पीना हुआ पर कोई जाने का नाम ही नहीं ले रहा था। तब उसने नौकर को पुकारकर कहा, देखो, यह चाबी लो और लोहे का संदूक खोलकर पिताजी का वसीयतनामा ले आओ।'

"बेचारे मेहमान अवाक्। नौकर ने अचकचाकर कहा, 'वसीयतनामा?'

"गृहस्वामी बोले, 'हां, हां, देखना है कि बाबा ने यह मकान मुझको दिया है या इन सबको।" उससे बाद जो प्राणों को उन्मुक्त कर देने वाला अट्टहास उठा उसकी कल्पना ही की जा सकती है। प्रसिद्ध भाषाविद् सुनीतिकुमार चटर्जी शरत् बाबू से परिचित तो हो चुके थे, लकिन गांव में उनका जाना नहीं हो पाता था। सभा-समितियों में ही मिल पाते थे, लेकिन अब शरत् बाबू का मकान उनके पास ही बन गया था। अक्सर आ जाते थे। एक दिन ऐसी ही एक भेंट में शरत् बाबू ने उनके सामने एक ऐसी मनोवैज्ञानिक समस्या रखी जिसका समाधान ढूंढ पाना आसान नहीं था। शरत् बाबू ने पूछा, "अच्छा बताओ तो सुनीति, तुम्हारा क्या खयाल है? प्रबल कौन है—संस्कार जो हम अपने पूर्वजों और सामाजिक वातावरण से ग्रहण करते हैं अथवा मनुष्य की मूल प्रकृति?"

सुनीति बाबू सहसा कुछ उत्तर नहीं दे पाए। बोले, "आपके मन में यह प्रश्न कैसे उठा?" शरत् बाबू ने उत्तर दिया, तुम्हें देखकर न जाने क्यों मुझे बर्मा की एक घटना याद हो

आई! सुनाता हूं। शायद मेरे प्रश्न को समझने में तुम्हें सुविधा होगी। रंगून में रहते हुए मुझे कई वर्ष बीत चुके थे। एक दिन एक परिचित बंगाली सज्जन मेरे पास आए और बोले, 'शरत् बाबू, मेरे एक परिचित ब्राह्मण का लड़का चटगांव से यहां आया है। नौकरी की तलाश है। आप उसके लिए कुछ व्यवस्था कर सकें तो अच्छा हो।'

"मेरे एक मित्र का सागवान की लकड़ी का काफी बड़ा व्यापार था। उन्हीं के यहां उसे किराए के रूप में रखवा दिया, लेकिन कुछ महीने बाद अचानक उससे भेंट हुई, तो उसका रूप कुछ और ही था। शरीर पर धोती, कमीज और चप्पल नहीं थी। बस एक रामनामधारी चादर थी और थी सिर पर लम्बी-चौड़ी चुटिया, ललाट पर चन्दन। पक्का पुरोहित बना हुआ था। मुझे देखकर उसने नमस्कार किया। मैंने पूछा, यह क्या भाई, पुरोहिती शुरू कर दी है क्या?'

"उसने बड़े विनीत भाव से उत्तर दिया, क्या करता जी, वहां जो कुछ मिलता था, उससे गुजारा नहीं होता था। सोचा, यहां बहुत-से बंगाली हिन्दू रहते हैं, पूजा-पाठ के लिए उन्हें ब्राह्मण की जरूरत होती ही है और मैं ब्राह्मण का लड़का हूं, क्यों न पुरोहित का काम ही शुरू कर दूं। आपके आशीर्वाद से नौकरी से अधिक कमा लेता हूं।"

इसके बाद फिर कई वर्ष बीत गये। मैं जैसे उसको भूल ही गया, लेकिन अचानक एक बार मुझे उत्तरी बर्मा के मेमियो नगर में जाना पड़ा। यह पहाड़ी प्रदेश बहुत सुन्दर है। एक दिन एक सार्वजनिक उद्यान में अकेला टहल रहा था कि सहसा कानों में आवाज़ आई, 'शरत् बाबू! ओ शरत् बाबू!' मैं घूमकर देखता हूं, यहां कोई परिचित व्यक्ति नहीं है। बस एक मुसलमान मेरी ओर बढ़ा चला आ रहा है। पास आकर उसने कहा, 'मुझे पहचान नहीं पा रहे हो क्या?"

मैंने उत्तर दिया, 'हां भाई, तुमसे कभी मिला हूं, ऐसा याद नहीं आता।'

"सुनकर वह हंस पड़ा और बोला, 'मैं वही चक्रवर्ती ब्राह्मण हूं, जिसे आपने लकड़ी गोदाम में नौकरी दिलाई थी।'

"मैंने अब ध्यान से उसकी ओर देखा। बोला, 'लेकिन तुमने यह रूप क्यों धारण किया है?'"उसने उत्तर दिया, 'मैंने अब मुस्लिम धर्म अपना लिया है। क्या करता शरत् बाबू? पुरोहित का काम तो शुरू किया था, लेकिन कुछ ही समय बाद आमदनी कम हो गई। अंग्रेज़ी जानता नहीं था, इसलिए अच्छी नौकरी भी नहीं मिल सकी। यहां मेमियों में आने पर कई बंगाली मुसलमानों से परिचय हुआ। उन्हीं में से एक ने मुझे अपने घर में आश्रय दिया। वह मांस का व्यापार करता था और व्यापार में उसे काफी लाभ था। धीरे- धीरे मैं उसी के साथ काम करने लगा और एक दिन मैंने धर्म-परिवर्तन भी कर लिया। अचानक वह व्यक्ति बीमार होकर मर गया। उसके कुछ दिन बाद उसकी बीवी ने मेरे साथ शादी कर ली। उसका सारा कारबार, धन-सम्पत्ति मेरी हो गई। मैं धनवान हो गया।'

मैंने बड़े आश्चर्य से उसकी कहानी सुन रहा था। पूछ बैठा, 'किन-किन जानवरों का मांस बेचते हो?'

"सहज भाव से उसने उत्तर दिया, 'यही भेड़, बकरी और गाय का। सभी जाति के लोग आते हैं। सभी का ध्यान हमें रखना पड़ता है।"

मैंने फिर पूछा, 'और जानवरों को काटता कौन है?'

"उसने उत्तर दिया, 'पहले तो दूसरे लोग काटत थे। उन्हें पैसा देना पड़ता था। वह पैसा बचाने के लिए धीरे-धीरे मैंने ही यह काम करना शुरू कर दिया। केवल गाय काटते समय कुछ आदमियों की सहायता लेनी पड़ती है।'

"सुनकर मैं हतप्रभ रह गया। वह ब्राह्मण का लड़का था। उसके रक्त में ब्राह्मण की संस्कृति थी। फिर यह सब कैसे हो गया? शिक्षा, सामाजिक वातावरण और पूर्वजों से जो संस्कार हम ग्रहण करते हैं, वे क्या हमारे ऊपर केवल एक पतली चादर की तरह फैले रहते हैं कि जब मन में आया उतारकर फेंक दिया?"

यह कहकर शरत् बाबू ने पूछा, "अब तो तुम मेरा प्रश्न समझ गये न? क्या विचार है तुम्हारा?"

सुनीति बाबू ने उत्तर दिया, "इसका कोई और पहलू भी तो हो सकता है। ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं, जो प्राण दे देंगे पर जीवहत्या नहीं करेंगे। कैसी भी बाधा आने पर अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ेंगे। वास्तव में यह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति अपने संस्कारों को किस मात्रा में ग्रहण करता है। लेकिन आप भी तो बताइये, आप किस निष्कर्ष पर पहुंचे थे?"

भैं भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सका था। मनुष्य की प्रवृत्ति पर बहुत कुछ निर्भर करता हे, लेकिन मेरे मन में यह बात अवश्य आती है कि संस्कार ऊपरी वस्तु है। संकट का सामना होने पर मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट हो जाता है।"

इस प्रकार शरत् बाबू मित्र-गोष्ठियों में समस्याएं भी उठाते थे और उनका समाधान भी खोजते थे। केवल गप्प ही नहीं हांकते थे। यही समस्याएं उनके उपन्यासों में नाना रूपों में प्रकट होती थीं। 'विलासी' गल्प में उन्होंने लिखा है-

"एक अच्छे घराने के कायस्थ पुत्र को कसाई की लड़की के साथ विवाह करके कसाई होते भी मैंने देखा है। आज वह अपने हाथ से गाय काटकर बेचता है। उसे देखकर किसकी ताकत है जो कहे कि वह किसी समय कसाई के सिवा और भी कुछ था।"

केवल गोष्ठियों में ही नहीं, अधिकारी जनों के सामने भी वे अपनी समस्याएं रखते थे। उनकी एक समस्या इसी प्रकार महात्मा गांधी तक पहुंच गई थी। अपने एक पत्र [4] में प्रवर्तक संघ के मति बाबू से उन्होंने पूछा था, "आचार्य लोग कह गये हैं कि कला-साधना का मूलसूत्र सत्य, शिव एवं सुन्दर है। अर्थात् साधना सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है, सुन्दर के ऊपर प्रतिष्ठित है और उसका फल होता है कल्याण। लेकिन जो वैज्ञानिक हैं- (तत्त्वज्ञानी

नहीं, साधारण अर्थों में वैज्ञानिक) उनका एकमात्र मन्त्र है 'सत्य'। साधना का फल सुन्दर-असुन्दर, कल्याण-अकल्याण कैसा भी हो, उन्हें कोई गरज नहीं। हो तो अच्छा, न हो तो कोई अपराध नहीं।

"बहुत दिन से साहित्य-सेवा का व्रती होने के कारण, निरन्तर अनुभव किया है कि सत्य एवं सुन्दर में पद-पद पर विरोध होता है। जगत् में जो घटनाएं सत्य हैं, हो सकता है साहित्य में वे सुन्दर न हों, एवं जो सुन्दर हैं वे साहित्य में सर्वथा मिथ्या हो सकती हैं। जिसको मैं सत्य कहकर जानता हूं, उसको रूप देने पर देखता हूं कि वह वीभत्स हो उठा है। असत्य का वर्जन करने पर भी उसका सुन्दर रूप नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार मंगल और अमंगल की बात है.....। मैं जानना चाहता हूं कि सत्य यदि सुन्दर का परिपन्थी है, कल्याण-अकल्याण का प्रश्न गौण हो जाता है, तो साहित्य-साधना में इस समस्या की मीमांसा किस मार्ग से हो सकती है?"

मति बाबू के संबंध गांधीजी से काफी घनिष्ठ थे। उन्होंने शरत् बाबू के प्रश्न का स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया। उनकी चिट्ठी गांधीजी को भेज दी।

गांधीजी ने इस पत्र [5] का उत्तर देते हुए लिखा-

"जहां तक शरत् बाबू के पत्र क संबंध है, हमेशा यह राय रही हे कि वास्तविक सौंदर्य और सत्य में कोई विरोध नहीं है। इसलिए सत्य सर्वदा सुन्दर है। इसलिये मेरी राय में सत्य ही सम्पूर्ण कला है। सत्यविहीन कला कला नहीं है और सत्यविहीन सौन्दर्य एकदम कुरूपता है। इस संसार में बहुत-सी कुरूप वस्तुएं सुन्दर मान ली जाती हैं, यह भी सत्य है। यह इसीलिए होता है क्योंकि हम हमेशा सत्य को महत्त्व नहीं देते।"

लिखना कम हो गया था, लेकिन चिन्तन से उन्हें मुक्ति नहीं मिली थी। अनेक प्रश्न उन्हें घेरे रहते थे। उन दिनों यह प्रश्न बहुत तेजी से उभर रहा था कि क्यों कहानी-उपन्यास ही अधिक लिखे जाते हें? ज्ञान-विज्ञान को लेकर दूसरा साहित्य क्यों प्रकाशित नहीं होता? कोन्नगर पाठकचक्र की बैठक के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए उन्होंने स्वयं इस समस्या का समाधान करने की चेष्टा की है। [6] उन्होंने कहा, "कहानी-उपन्यास लिखनेवालों के विरुद्ध अभियोग करने से क्या होगा? धन के अभाव में कितनी बड़ी-बड़ी प्रतिभाएं नष्ट हो जाती हैं, इसकी खबर कौन रखता है? जवानी में मेरी एक कल्पना थी। आशा की थी कि 'द्वादश मूल्य' नाम देकर एक पुस्तकमाला तैयार करूंगा। जैसे, सत्य का मूल्य, मिथ्या का मूल्य, दुख का मूल्य, नर का मूल्य, नारी का मूल्य, इसी तरह के मूल्यों का विचार उसमें होगा। उसी की भूमिका स्वरूप मैंने 'नारी का मूल्य' लिखा था। वह बहुत दिन तक अप्रकाशित पड़ा रहा। बाद में 'यमुना' पत्रिका में प्रकाशित अवश्य हुआ, किन्तु फिर वे 'द्वादश मूल्य' नहीं लिख सका। उसका कारण धन का अभाव ही था। मेरी ज़मींदारी नहीं है। रुपये नहीं थे। यहां तक कि उन दिनों दो बेला भोजन पाने के लिए भी पैसे नहीं थे। प्रकाशकों ने उपदेश दिया—यह सब नहीं चलेगा। तुम इसकी अपेक्षा किसी तरह जोड़-

जाड़कर दो-चार कहानियां लिख दो। उनकी हजार कापियां बिक जाएंगी।.....हमारी जाति की विशेषता कहिए या दुर्भाग्य ही कहिए, पुस्तक खरीदकर हम लेखक की सहायता नहीं करते। जो धनी हैं, खरीद सकते हैं, वे भी नहीं खरीदते। बल्कि अभियोग करते हैं कि कहानी-उपन्यास लिखकर क्या होगा? अथच आज अन्तःपुर में जो थोडा-बहुत स्त्री- शिक्षा का प्रचार हुआ है, वह इन कहानी-उपन्यासों के द्वारा.....। हमारे बड़े लोग यदि कम से कम सामाजिक कर्तव्य समझकर भी पुस्तकें खरीदें, अर्थात् जिससे देश के लेखकों की सहायता हो ऐसी चेष्टा को तो उससे साहित्य की उन्नति भी होगी। लेखक लोग उत्साह पाकर पेट भर खाने को पावेंगे और उन्हें खुद तरह-तरह की पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिलेगा। इसके फलस्वरूप उनके ज्ञान की वृद्धि होगी। तभी तो वे ज्ञानगर्भ पुस्तकें लिख सकेंगे।"

उनके पास आनेवाले साहित्यिकों में तरुणों की संख्या काफी रहती थी। वे उनको प्यार भी खूब करते थे। बंगीय साहित्य परिषद ने अभी तक उनको अपना सदस्य नहीं बनाया था। जब-जब भी उन्हें विशिष्ट सदस्य बनाने का प्रश्न उठता, तब-तब ही प्राचीन दल वाले उस प्रस्ताव का घोर विरोध करते। उन्होंने उन्हें दुर्नीतिमूलक साहित्य की रचना करने वाला घोषित कर दिया था। ऐसे व्यक्ति को परिषद का सभ्य कैसे चुना जा सकता है? लेकिन तरुणों ने हर युग में विद्रोह किया है। उस दिन भी उन्होंने विद्रोह कर दिया और उनको परिषद का विशिष्ट सभ्य निर्वाचित कराकर ही रहे। गृहप्रवेश के दो महीने बाद उनका जन्मदिन आया। उस दिन गौरीनाथ मुकर्जी के घर पर विशेष अनुष्ठान किया गया। एक उपहार पुस्तिका उन्हें भेंट की गई और प्रशस्ति उच्चारण किया स्वयं आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने।

यद्यपि कलकत्ता में रहने में अनेक सुविधाएं थी, लेकिन ऐसा लगता है वह भी उन्हें पूरी तरह बांध नहीं सका। बहुत जल्दी वे नागरिक जीवन से भी ऊब गये। इसीलिए अवसर पाते ही वे गांव चले जाते थे। जैसे वह घर उनको पुकारता रहता हो। जैसे एकान्तप्रियता और अपने में खो जाने की प्रवृत्ति उन्हें यहां से धकेलती रहती हो। बारीन्द्रकुमार घोष को लिखे एक पत्र से उनकी यह मनःस्थिति प्रकट होती है- देश का घर छोड़कर मैं कभी शहर में आ बसूंगा अर्थात् गांववासी होने के बदले नागरिक बनूंगा, यह काम तुम्हारे विवाह के समान ही है। (बारीन्द्रकुमार ने 53 वर्ष की आयु में कई बच्चों की मां एक विधवा से विवाह किया था। उसी ओर शरत् बाबू का इशारा है।) मैं उसके लिए आसानी से तैयार नहीं हो सकता। चाहे मुझे कितना ही उत्साहित किया जाए। यहां रोज दाढ़ी बनानी पड़ती है। यह कितनी बड़ी यंत्रणा का व्यापार है! मैं सोच भी नहीं सकता।

"बहुत दिनों से तुमसे भेंट नहीं हुई। किसी दिन दोपहर को आओ। उस समय भीड़ कुछ कम होती है। चार-पांच दिन और यहां हूं। उसके बाद भाग जाऊंगा और बहुत दिनों तक नहीं लौटूंगा।" [7]

उनके जीवन के ये अन्तिम तीन-साढ़े तीन वर्ष कलकत्ता और सामताबेड़ के बीच भागते-दौड़ते ही गुजरे। उनका जन्मदिन प्रतिवर्ष मनाया जाता था, पर इस वर्ष उसका महत्त्व और भी बढ़ गया। उनके जीवन के साठ वर्ष पूरे हो रहे थे। इसीलिए स्वयं गुरुदेव उत्सुक थे। उन्होंने शरत् बाबू को लिखा, [8] "अगले रविवार को तुम्हारी प्रौढ़ आयु के आरम्भ होने के उपलक्ष्य में तुम्हारा अभिनन्दन करने का संकल्प किया है। उस दिन आशुतोष कालेज भवानीपुर के हाल में एक नाट्यगीत का अभिनय करने का आयोजन है। वहीं तुम्हारा सम्मान होगा। और कहीं, और किसी समय ऐसा करना सम्भव नहीं हुआ।

मै कल बृहस्पतिवार दोपहर बाद कलकत्ता पहुंचूंगा। तब यदि तुम्हारी सम्मति मिल गई तो बात पक्की कर दूंगा।"

उनकी षष्टिपूर्ति पर 'रविवासर' का विशेष उत्सव गौरीपुर दमदम में श्री सुशील मुखोपाध्याय की वाटिका 'अलका' में सम्पन्न हो चुका था [9]। कविगुरु उसमें नहीं आ सके थे, इसीलिए उन्होंने यह विशेष उत्सव आयोजित करने का प्रस्ताव किया। उनके जन्मदिन के दो सप्ताह बाद यह सभा 'रविवासर' के तत्वावधान में 'प्रफुल्ल कानन' बेलियाघाट में हुई। [10] उस दिन नौ बजे से ही सदस्य आने लगे थे। कविगुरु जलपान के बाद साढ़े दस बजे पधारे। जलधर सेन ने उनका स्वागत किया। रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र, साहित्य के सूर्य और चन्द्र, साथ-साथ बैठे। उस आनन्द और उल्लास के बीच कवि ने अपना आशीर्वाद पढ़ा-

"कल्याणायेष शरत्चन्द्र, तुम जीवन के निर्दिष्ट पथ पर प्राय: दो बटा तीन उत्तीर्ण हो गये हो। इस उपलक्ष्य में तुमको अभिनंदित करने के लिए तुम्हारे बंधुओं ने यह आमन्त्रण सभा बुलाई है। वय बढती है। आयु का क्षय होता है। उसको लेकर आनन्द मनाने का कोई कारण नहीं है। आनन्द इसलिए मानता हूं क्योंकि देखता हूं कि जीवन की परिणति के साथ-साथ जीवन के दान के परिमाण का क्षय नहीं है। तुम्हारे साहित्य-रस-सत्र का निमन्त्रण आज भी उन्मुक्त है। अकृपण दाक्षिण्य से भर उठा है तुम्हारा परिवेषण पात्र। [11] इसलिए जयध्वनी करने को तुम्हारे देशवासो तुम्हारे द्वार पर आये हैं।

"आज शरत्चन्द्र के अभिनन्दन का मूल्य यह है कि देश के लोग केवल उनके दान की मनोहारिता का भोग ही नहीं करते, उसकी अक्षयता को भी अनुभव करते हैं जिस रचना में प्राण होते है, विरोध होने पर भी उसके यश का मूल्य उसके वास्तविक मूल्य को बढ़ा देता है। यह विरोधी काम जिनका है, वे दूसरे मार्ग के भक्त हैं। जैसे रावण राम का भयंकर भक्त है।

"ज्योतिषी असीम आकाश में डूबकर नाना रश्मियों के समूहों से निर्मित नाना जगतों का आविष्कार करता है, जो अनेक कक्षाओं के मार्ग में बड़ी तेजी से उतर रहे है। शरत्चन्द्र की दृष्टि बंगाली हृदय के रहस्य में डूब गई। सुख में, दुख में, मिलन-विछोह में संगठित

विचित्र शक्ति का उन्होंने इस प्रकार परिचय दिया है, जिससे बंगाली अपने को प्रत्यक्ष पहचान सके हैं.....दूसरे लेखकों ने बहुतों की प्रशंसा पाई है, किन्तु सार्वजनिक हृदय का ऐसा आतिथ्य नहीं पाया। यह अद्‌भुत वस्तु नहीं है, यह प्यार है। अनायास ही जो प्रचुर सफलता उन्होंने पाई है, इससे वे मेरे ईर्ष्या-भाजन हो गये हैं।

"आज शरत्‌चन्द्र के अभिनन्दन में विशेष गर्व अनुभव करता यदि मैं उनको यह कह सकता कि तुम नितान्त मेरे द्वारा अविकृत हो। किन्तु उन्होंने किसी के हस्ताक्षरित परिचय-पत्र की अपेक्षा नहीं की। आज उनका अभिनन्दन देश के घर-घर में स्वत: ही उच्छवासित हुआ है।.....उन्होंने बंगाली वेदना के केन्द्र में अपनी वाणी का स्पन्दन पैदा किया है। साहित्य में उपदेष्टा से स्रष्टा का आसन बहुत ऊंचा है। चिन्ताशक्ति का वितर्क नहीं, कल्पनाशक्ति की पूर्ण दृष्टि ही साहित्य में शाश्वत मर्यादा के पद पर प्रतिष्ठित है। कवि के आसन से मैं विशेष रूप से उसी स्रष्टा, शरत्‌चन्द्र को माल्यार्पण करता हूं। वे शतायु होकर बंगला साहित्य को समृद्ध करें! अपने पाठकों को मनुष्य को सत्य रूप में देखने की शिक्षा दें। अपने दोष-गुणों, अच्छे-बुरे के साथ मनुष्य को प्रकाशित करें। चमत्कारजनक, शिक्षाजनक किसी दृष्टान्त को नहीं, अपनी स्वच्छ-प्रांजल भाषा में मनुष्य की चिरन्तन अभिज्ञता को प्रतिष्ठित करें.....।"

इस लिखित भाषण के बाद आलोचना के प्रसंग मे कवि ने फिर कहा, "अपने बचपन में बंकिमचन्द्र के अष्णुदय में बंगला साहित्य में मैंने एक नये भाव का प्लावन देखा था। बंकिमचन्द्र भगीरथ के समान जिस नये साहित्य को लेकर आये, उसने बंगला देश के सर्वसाधारण के अन्तर को छुआ। उन्होंने उनको सादर अपना कहकर ग्रहण किया। केवल उस समय के तरुण और युवकों में ही नहीं, अन्त:पुर तक में बांकेम-साहित्य की नयी हवा प्रवेश कर गई थी। विरोधियों ने निन्दा और प्रतिवाद करने में कोई कसर नहीं रखी, क्योंकि बंकिम-साहित्य उस सबको लीलकर अपने को प्रतिष्ठित कर सका.....। अपनी वृद्धावस्था में शरत्‌चन्द्र के अभुदय में मैंने फिर वही व्यापार देखा। शरत्‌चन्द्र कथा-साहित्य में एक ऐसी वस्तु लेकर आए जिसने बंगला देश के सर्व-साधारण के अन्तर को स्पर्श किया। उसके निगूढ़तम वेदना के स्तर, पर आघात किया। इसीलिए तो बंगला देश के सभी लोगों ने शरत्‌चन्द्र के साहित्य को अपना कहकर वरण किया। शरत्‌चन्द्र ने अपनी प्रतिभा के बल पर ही बंगला देश के हृदय को जीत लिया है। उन्हें किसी का प्रमाण-पत्र लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी।"

उस दिन शरत् बाबू कवि के इस आशीर्वाद से बहुत प्रसन्न हुए। स्वीकार किया कि कवि ने अकृपण भाषा में दिल खोलकर मंगल कामनाएं की है। उनके मन में अब किसी प्रकार का क्षोभ नहीं रह गया। इससे अधिक और प्रशंसा उन्हें मिलती भी क्या, और कवि भी इससे सुन्दर शब्द और कहां से लाते?

इस उत्सव से लगभग तीन माह पूर्व [12] रवीन्द्रनाथ 'रविवासर' की एक और सभा में आये थे। शरत्चन्द्र के लिए उस सभा का महत्व इसीलिए था कि वह उनके कलकत्ता वाले मकान पर हुई थी। कवि गिरिजाकुमार बसु और अपनी भतीजी के साथ शरत् बाबू स्वयं कवि को लेने गये थे। कवि के आग्रह पर उनके आन की सूचना पहले से ही प्रचारित नही की गई थी। जब वे आये तो सदस्यों में उत्साह की सीमा नहीं थी। स्वयं कवि भी अनेक परिचितों और तरुण साहित्यकारों को एक स्थान पर देखकर बहुत प्रसन्न हुए। एक दीर्घ भाषण में उन्होंने अपनी और अपने साहित्य कई रचनाप्रक्रिया की चर्चा की। 'बलाका' से 'छवि' कविता का पाठ किया- तूमि कि केवलि छवि शुधु पटे लिखा।"

उन्होंने 'रविवासर' में अधिनायक का पद भी ग्रहण करना स्वीकार किया।

शरत् ने मर्मस्पर्शी बातों द्वारा एक बार फिर कविगुरु में अपनी श्रद्धा प्रकट की। सभा रात में देर तक चलती रही, पर कवि चले गये। इन दिनों मान-अभिमान सब समाप्त हो गया था। दोनों एक-दूसरे के बहुत पास आ गये थे।

अगले वर्ष उनकी बासठवीं जन्म-जयन्ती जितने स्थानों पर मनाई गई, उतने स्थानों पर पहले कभी नहीं मनाई गई थी। इधर कई वर्षों से आकाशवाणी के कलकत्ता केन्द्र से 'शरत्-शर्वरी' नाम से एक आयोजन [13] किया जाता था। इस वर्ष यह आयोजन' असामान्य सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में उनके अनेक प्रशंसक और प्रियजन उपस्थित थे- नाटौर के महाराजा, कासिम बाजार के महाराजा, रायबहादुर जलधर सेन, रायबहादुर एन० के० सेन, सर्वश्री कालिदास राय, गिरिजाकुमार बसु, काजी नजरुल इस्ताम, वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, नरेन्द्र देव, मुकुन्दचन्द्र देव, हेमेन्द्रकुमार राय, अविनाशचन्द्र घोषाल और असमंजस मुखोपाध्याय इत्यादि। शरत्चन्द्र की कहानी 'सती' का नाट्य रूपान्तर प्रस्तुत किया गया जो अत्यन्त सफल रहा।

सभा में उपस्थित सभी व्यक्तियों ने अपने अन्तर्तम से उनके दीर्घ जीवन की कामना की, लेकिन हेमेन्द्रकुमार राय ने मानो भविष्य को पहचान लिया था। उन्होंने कहा, "मैं मनुष्य शरत्चन्द्र के दीर्घ जीवन की कामना नहीं करता। मैं साहित्यिक शरत्चन्द्र के दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।"

इन कामनाओं का हृदयस्पर्शी भाषा में उत्तर देते हुए शरत्चन्द्र ने कहा, बासठवें वर्ष में प्रवेश करते हुए अपनी जन्म-जयन्ती के उपलब्ध में सबसे आशीर्वाद चाहने से पहले रवीन्द्रनाथ को, जो रोगशय्या पर हैं, प्रणाम करता हूं। इस संसार में साहित्य-साधना के लिए उनका आशीर्वाद केवल मेरी ही नही हर साहित्यकार की सम्पदा है। वही आशीर्वाद आज के दिन मैंने मांग लिया है। अपनी साहित्य-साधना के बारे में अपने मुंह से कुछ नही कहा जा सकता। केवल इतना ही कह सकता हूं कि बहुत-से दुखों के बीच से होकर यह साधना धीरे-धीरे आगे बड़ी है। किसी दिन यह नहीं सोचा था कि मैं साहित्यिक हो सकूंगा या किसी दिन मेरी कोई पुस्तक छपेगी। जो कुछ लिखा वह संकोच और दुविधा के कारण दूसरों के

नाम से लिखा। उसका कोई मूल्य है, यह सोच भी नहीं सका। उसके बाद बहुत दिनों तक, जान पड़ता है पन्द्रह-सोलह साल तक, साहित्य-चर्चा के पास भी नहीं फटका। भूलकर भी मन में नहीं होता थ। कि किसी दिन लिखूंगा। उसके बाद नाना कारणों से फिर यह जीवन.....। शायद यही मेरा सच्चा जीवन है। जान पड़ता है अन्ततः भगवान ने मेरे लिए यही जीवन निर्दिष्ट कर रखा था, इसलिए इच्छा न होने पर भी घूम-फिरकर फिर इसी के बीच में मुझे इकसठ वर्ष काटने पड़े। आप लोगों के बीच में बहुत दिन रहूं या न रहूं यह बात आपको बीच-बीच में याद आयेगी कि वे कह गये थे, अनेक दुखों के बीच में उनकी साहित्य-साधना धीरे-धीरे बाधाओं को ठेलकर चलती रही थी।"

उन्होंने हेमेन्द्रकुमार राय के भाषण का समर्थन करते हुए यह भी कहा था कि दीर्घ जीवन की कामना तभी अच्छी है जब स्वास्थ्य और कर्मशक्ति अटूट हो। देश की सेवा करने की अपनी क्षमता हो। यदि ऐसा नहीं होता, यदि रोगी और पंगु होकर जीना पड़ता है तो वह जीवन किसी के लिए काम्य नहीं हो सकता, विशेषकर साहित्यिक के लिए तो कभी नहीं।

जैसे वे समझ गये थे कि अब उस पार से राजदूत निमन्त्रण लेकर आने ही वाला है, क्योंकि स्काटिश चर्च कालेज की बांग्ला साहित्य समिति के अभिनन्दन के उत्तर में वे बोल, "शायद 31 भाद्र फिर नहीं आयेगा, इसलिए आना पड़ा। तुम्हारी पुकार की उपेक्षा नहीं कर सका। इकसठ वर्ष बीत गये। कुछ नही कर सका। नहीं जानता बासठवां कैसे बीतेगा। यदि 31 भाद्र का दिन फिर आया तो निश्चय ही तुम्हारे पास आऊंगा।"

एक और स्थान पर उन्होंने कहा, "31 भाद्र प्रतिवर्ष बार-बार आएगा, किन्तु एक दिन मैं नहीं होऊंगा। उस दिन यह कथा किसी के मन में व्यथा के साथ याद आएगी, कोई दूसरे कामों में लगा होने से भूल जाएगा। आज इसीलिए कृतज चित्त से सबको याद करता हूं। फिर यदि 31 भाद्र आएगा तो आपसे मिलना होगा, नहीं तो विदा।"

और सचमुच यह विदा थी, क्योंकि फिर 31 भाद्र तो आया, लेकिन वे नहीं रहे थे।

इससे लगभग एक वर्ष पूर्व [14] ढाका विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट० की उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया। उन्हीं के साथ सम्मानित किये गये थे आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय और सर यदुनाथ सरकार। सदा की तरह इस बार भी एक पक्ष ने मुक्त मन से उनका समर्थन किया तो दूसरे दल ने उतना ही प्रबल विरोध भी। लेकिन अन्ततः डा० रमेशचन्द्र मजूमदार विश्वविद्यालय के अधिकारियों को कायल करने में सफल हो गये। जब वे यह उपाधि ग्रहण करने के लिए ढाका गये तो वहां उनका आतिथ्य करने की होड़-सी लग गई। मुस्लिम साहित्य सम्मेलन के दसवें वार्षिक अधिवेशन [15] की उन्होंने अध्यक्षता की। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय की विभिन्न छात्र समितियां, कमरुन्निसा गर्ल्स कालेज, मिलन परिषद, शान्ति साहित्य सम्मिलनी ने भी उनका अभिनन्दन किया। बारी-बारी वे अपने कई मित्रों के घर ठहरे। अध्यापक चारुचन्द्र बन्दोपाध्याय के घर पर बंकिम-साहित्य को लेकर श्री मोहितलाल मजूमदार से उनकी बहुत लम्बी चर्चा हुई। उन्होंने अनेक बार बंकिम-साहित्य

का विरोध किया है। उस विरोध को न्यायोचित ठहराते हुए उन्होंने देवानन्दपुर की बाल विधवा नीरू दीदी की कथा सुनाई थी। उस पर-दुख-कातर नारी का बत्तीस वर्ष की आयु में पदस्खलन हो गया था। तब धर्मधुरीण समाज ने उसे तिल-तिलकर मरने को विवश कर दिया था। [16] यह कथा कहते-कहते उनका गला भर आया। कुछ देर वे चुप बैठे रहे। फिर धीरे-धीरे बोले, "मनुष्य में जो देवता है, इसी तरह से हम उसका अपमान करते हैं। रोहिणी का कलंक और उसकी सज़ा इसी तरह की है। एक ऐसे नारी-चरित्र की न जाने कितनी दुर्गति बंकिमचन्द्र ने की है।"

लेकिन वे बंकिमचन्द्र की सीमाएं न समझते हों, यह बात नहीं। पर उनकी शिकायत यही थी कि बंकिमचन्द्र रवीन्द्रनाथ की तरह युग के संस्कारों से ऊपर उठकर 'आंख की किरकिरी' क्यों न लिख सके? यहीं वे भूलते थे। हर व्यक्ति की क्षमता होती है और अक्षमता अपराध नहीं है। यह बात स्वयं उन्होंने बार-बार घोषित की है। इसके अतिरिक्त बंकिमचन्द्र ने भी अपने युग से विद्रोह किया था। एक सीमा पर आकर वे अक्षम हो उठे या ऐसे होते दिखाई दिये तो क्या स्वयं शरत् भी उसी अक्षमता का शिकार नहीं हुए थे? युग को देखते हुए बंकिमचन्द्र प्रगतिशील ही थे। उन्होंने गतानुगतिकता के स्थान पर बुद्धिवाद को मानने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है, "तीन-चार हजार वर्ष पहले भारतवर्ष के लिए जो कायदे कानून बने थे आज उनको हरफ-ब-हरफ मानकर चलना असम्भव है।"

इसी वर्ष [17] वे शान्तिपुर में साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन के मूल सभापति हुए। उन्हें सम्मान मिलना ही चाहिए था। मिल भी रहा था, परन्तु जिस प्रकार वे कभी-कभी अपनी आलोचना सुनकर उद्विग्न हो उठते थे उसी प्रकार अपनी प्रशंसा सुनकर भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उस दिन एक युवक ने आकर घोषणा की कि वे सबसे अच्छा लिखते हैं। आरामकुर्सी पर लेटे वे हुक्का गुडूगुडाते रहे और बीच-बीच में हां-हूं करते रहे। युवक ने अन्त में कहा 'बहुत-से विदेशी उपन्यास पढे हैं, पर आपकी रचनाओं में जो दर्द है वह कहीं नहीं मिला। उनकी रचनाएं पढकर आंखें भीगतीं ही नही। आपकी रचनाएं पढ़कर कितना रोया हू!"

शरत्चन्द्र एकदम बोल उठे, "ना, ना, इतना रोना ठीक नहीं। आंखें खराब हो जाएंगी। बीच-बीच में हास्य कथाएं पढ़ा करो।"

उसके बाद वह युवक क्षमा मांगकर चला गया। वे बोले, "अपनी प्रशंसा सुनते-सुनते तम्बाकू तक खराब हो गया।"

एक और दिन एक और युवक ने घोषणा की, "आपकी कहानी 'सती' पढ़ी। ऐसी कहानी आप ही लिख सकते हैं। बंगला साहित्य में ऐसी कहानी दुर्लभ है।"

शरत्चन्द्र ने पूछा, "रवीन्द्रनाथ की कहानियां पढ़ी हैं?"

पढ़ी हैं, किन्तु वे इतनी अच्छी नहीं हैं। '

'अच्छी तरह पढ़ो। पाओगे कि ऐसी कहानियां विश्व साहित्य में दुर्लभ हैं।"

प्रशंसा और निन्दा शरत्चन्द्र जैसे व्यक्ति के जीवन में सहज सुलभ हैं। विशेषकर निन्दा उनके लिए कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। लेकिन जो मृत्युलोक के द्वार पर पहुंच रहे होते हैं, उनके लिए इसका कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। उनके साथ भी यही हुआ। मृत्यु जब द्वार खटाखटा रही थी, तब प्रबोधकुमार सान्याल ने उन पर तीव्र आक्रमण किया। कुछ. वर्ष पूर्व [18] इन्हीं प्रबोधकुमार ने शरत्-साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उनके सहज चरित्र-चित्रण, उनकी विपुल अभिज्ञता, उनकी मधुर-कोमल भाषा और शब्द-निर्वाचन की दक्षता पर जैसे वे मुग्ध हो उठे थे। उन्हीं प्रबोधकुमार ने अब न केवल उनके साहित्य की कटु आलोचना की, बल्कि उनके व्यक्तित्व पर भी गहरी चोट की। कहा, "शरत् बाबू के पास कहने का ढंग-भाव है। भविष्य के लिए कोई सन्देश उनके पास नहीं है। उनके वचन और व्यवहार, चरित्र और आचरण में कोई संगति नहीं हैं।"

इस प्रकार के उनके दो लेख 'श्रीहर्ष' पत्रिका में प्रकाशित हुए। जैसे तूफान आ गया हो। देखते-देखते पक्ष और विपक्ष में प्रतिवादों की बाढ़ आ गई। भरतचन्द के मित्रों ने कहा कि यह सब ईर्ष्या का परिणाम है। प्रबोध बाबू के एक समर्थक ने तो शरत्चन्द्र के एक प्रशंसक के नाम से ही लेख लिख डाला। लिखा- बंकिम, माइकेल और रवीन्द्र ने जिस बंग भाषा की सेवा की, उसके पवित्र अंगों में बर्मा में पले आवारा शरत्चन्द्र की लेखनी ने भयंकर घाव कर दिये हैं। उससे उसका सारा शरीर गल उठा है।"

वे लेखक बन्धु शरत् बाबू के पास पहुंचे। बोले, "मैं इसका प्रतिवाद करना चाहता हूं।" शरत्चन्द्र ने उत्तर दिया, "न, यह सब न करो। मैं यह सब नहीं सह सकता। मुझे लेकर अब यह वाद-प्रतिवाद क्यों? मेरी बात सुनो, चुप होकर बैठ जाओ।"

प्रबोधकुमार ने यह भी लिखा था कि शरत्चन्द्र ने विदेशी भावधारा दिलीपकुमार राय से ली है, राजनीति श्री किरणशंकर राय से सीखी है और व्याकरण सीखा है कालिदास राय से।

कालिदास राय ने इसके प्रतिवाद में एक लेख लिखा और उसे लेकर शरत् बाबू के पास आये। उन्होंने इस लेख को सुना। उसकी प्रशंसा की और फिर उसे अपने हाथ में लेकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। इतना ही नहीं उन टुकड़ों को जलती हुई चिलम पर रख दिया। क्षण-भर में सब कुछ राख हो गया। बोले, "कालिदास, युवकों पर यदि तीव्र आक्रमण किया जाए तो उसका कुछ परिणाम निकल सकता है। -वे आघात सह सकते हैं, सुधार भी कर सकते हैं, लेकिन मेरे जैसे मृत्युपथ के राही पर ऐसे आक्रमण करने से क्या लाभ? दो दिन बाद ही पछताना होगा। मेरे तो दिन बीत गए हैं। जाने से पहले अब किसी के साथ विरोध करने की इच्छा नहीं है। जो जिसकी इच्छा हो कहे, तुम लोग कोई प्रतिवाद मत करो। [19]

प्रबोधकुमार सहसा इतने कटु क्यों हो उठे थे? क्या इसका एकमात्र कारण यौवन का आवेश और पीड़ितों का संघर्ष ही था? उनके नाम शरत् बाबू के एक पत्र [20] से पता लगता है

कि उन्होंने शरत् बाबू से अपनी पुस्तक 'महाप्रस्थानेरे पथ' की भूमिका लिखने की प्रार्थना की थी लेकिन, किसी भी कारण से हो, शरत् बाबू ऐसा नहीं कर सके थे। क्या प्रबोध बाबू की असंयत कटुता का यह एक कारण नहीं हो सकता?

ताल्स्ताय जीवन-भर अन्याय के विरुद्ध और अपने विरुद्ध लड़ते रहे, पर अन्त में उन्होंने कहा, "आप कल्पना नहीं कर सकते कि जैसे-जैसे मनुष्य बुढ़ापे अर्थात् मृत्यु के पास आता है वैसे-वैसे उसका जीवन बदलने लगता है। अब मुझे सबसे अच्छा यही लगता है कि ज़ार हो या भिखारी हो, सबके साथ स्नेह का व्यवहार करूं।"

शरत्चन्द्र की आन्तरिक इच्छा भी यही थी। मृत्यु से लगभग छः माह पूर्व [21] ऐसे ही एक आक्रमण के उत्तर में उन्होंने कहा, "जाने का दिन आ गया है। नालिश करके और अशान्ति मोल लेना नहीं चाहता - यह संकल्प कर रखा है। जानता हूं, जो मुझे सचमुच प्यार करते हैं उन्हें दुख होगा, पर सहन करने के अतिरिक्त प्रतिकार का और मार्ग भी तो नहीं है।"

सचमुच उनके पथ का भी अंत आ पहुंचा था। बहुत दिन पहले से ही सृजनशक्ति जैसे प्राणहीन हो चुकी थी। नौका मानो डांडों के बल से नहीं, रस्सी के बल से खींची जा रही हो। उस दिन हेमेन्द्र उनसे लेख मांगने के लिए आये तो बड़े दुख से उन्होंने कहा, मै और लेख न दे सकूंगा। सिर में बेहद पीड़ा है। कलम पकड़ना असम्भव है।"

हेमेन्द्र ने फिर प्रार्थना की तो वे कातर हो उठे। बोले, "विश्वास करो हेमेन्द्र, मैं और नहीं लिख सकता। तुम मेरे शरीर की अवस्था नहीं जानते। मुझसे लिखा ही नहीं जा सकता।

---

1. लेखक ने मार्च, 1973 ई० में इस स्थान को देखा तो खुरों की आवश्यकता तब भी थी।

2. 28 मार्च, 1934 ई०

3. जुलाई. 1934 ई ०

4. 17 आश्विन, 1341 (अक्टूबर, 1934 ई०)

5. 12 नवम्बर, 1934 ई०

6. सितम्बर, 1935 ई०

7. 29 आषाढ़, 1341 (13-7-1934 ई०)

8. 1 अक्टूबर, 1936 ई०

9. 28 सितम्बर, 1936 ई०

10. 11 अक्टूबर, 1934 ई०

11. परोसने का बर्तन

12. 19 जुलाई, 1936 ई०

13. 17 सितम्बर, 1937, शुक्रवार, संध्या। (बेतार ज गत्,1-10-1937 ई०) 'बेतार जगत्' की रिपोर्ट असमंजस मुखोपाध्याय ने उद्धृत की है।

14. जुलाई 1936 ई०

15. अगला अध्याय देखें।

16. प्रथम पर्व, पृष्ठ 46-47

17. 8 जून, 1936 ई०

18. सन् 1932 ई०

19. कुछ माह बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। उस दिन उनकी विराट शवयात्रा में प्रबोध बाबू कंधा देने के लिए सबसे आगे थे। इतना ही नहीं, उनकी स्मृति में प्रकाशित 'भारतवर्ष' के दो अंकों का सम्पादन उन्होंने स्वेच्छ से किया था। उन्होंने लेखक से कहा था कि वे शरत् बाबू को बहुत प्यार करते थे।

20. सन् 1933 का अप्रकाशित पत्र

21. 6 जुलाई, 1937 ई०

25

राजनीति के क्षेत्र में भी अब उनका कोई सक्रिय योग नहीं रह गया था, लेकिन साम्प्रदायिक प्रश्न को लेकर उन्हें कई बार स्पष्ट रूप से अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला। उन्होंने बार-बार नेताओं की आलोचना की, पर अशिष्ट वे कभी नही हुए। अपने एक प्रियजन से उन्होंने कहा था, "विशिष्ट व्यक्तियों के कामों की आलोचना करने में कोई हानि नहीं है, लेकिन जो कहना हो ऐसे कहो जिससे श्रद्धा कम न हो।"

जिस समय [1] साम्प्रदायिक प्रश्न को लेकर पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा श्री अणे ने कांग्रेस से अलग एक दल का निर्माण किया तो उन्हें यह अच्छा नहीं लगा। वे कांग्रेस के भीतर पक्षधर हो सकते थे, लेकिन उसको दुर्बल करने के लिए वे कदापि तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा, 'जो लोग इस नये आन्दोलन के अगुआ है, उन पर एकनिष्ठ प्रवीण कर्मी के हिसाब से मैं श्रद्धा रखता हूं। देश के राजनीतिक साधना के इतिहास में उनकी देन भी मैं कम नहीं मानता। किन्तु देश के लिए दुख का बोझ उनमें कांग्रेस की अपेक्षा भी अधिक है, इस बात को प्रमाणित करने के लिए मेरी समझ में कोई नया दल खड़ा करने का प्रयोजन नहीं था। कांग्रेस देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था है। साम्प्रदायिक भेदभाव के विरुद्ध चिरकाल से लड़ती आई है। आज उसे छोटा प्रमाणित करने की चेष्टा से किसी का व्यक्तिगत गौरव कुछ बढ़ा है या नहीं, यह मैं नहीं जानता, किन्तु देश का गौरव तनिक भी नहीं बढ़ा।

"देशसेवा जब तक धर्म का रूप नहीं ले लेती, तब तक उसमें थोड़ी-सी धोखाधड़ी रह जाती है, यह बात मैं प्रतिदिन मर्म-मर्म में अनुभव करता हूं। और धर्म जब देश से भी ऊंचा हो जाता है, तब भी विपत्ति घटित होती है। महात्माजी जानते हैं और वर्किंग कमेटी भी जानती है कि उन्होंने गलती नहीं की। मालवीयजी और अणे का विरुद्ध आचरण भी महात्माजी को विचलित नहीं कर पाया।

अतएव अगर कांग्रेस से संबंध त्याग भी दें, तो इसके साथ इस गड़बड़ का कोई संबंध नहीं रहेगा।

"एक बात मैं जानता हूं, बंगाल के मुसलमानों ने भी ज्वाइंट एलेक्टोरेल अर्थात् संयुक्त निर्वाचन मांगना शुरू कर दिया है। यह न होने पर दोष कहां पर है, इस बात को वे अच्छी तरह जानते हैं। यह भूलने से काम न चलेगा कि अधिकांश धनी मुसलमान ही नायब, गोमाश्ता, वकील और डाक्टर के कामों में अपनी जाति की अपेक्षा हिन्दुओं पर अधिक विश्वास करते हैं। साथ ही साथ मैं यह भी कहता हूं कि प्रत्येक हिन्दू मन से, हृदय से

राष्ट्रवादी है। धर्म-विश्वास में भी वे किसी से कम या छोटे नहीं हैं। उनके वेद-उपनिषद् बहुत-से लोगों की बड़ी तपस्या के फल हैं। तपस्या का अर्थ ही है चिन्तन। बहुत लोगों के बहुतेरे चिंतन के फलस्वरूप जो धर्म गठित हुआ है, उसे विधान सभा में कुछ सीटें कम होने की आशंका से सर्वनाश का भय दिखाने का प्रयोजन नहीं था।"

लेकिन दो वर्ष बाद जब यह साम्प्रदायिक बंटवारा सामने आया तो उन्होंने उसके विरुद्ध अपना स्वर ऊंचा करने में संकोच नहीं किया। उससे बंगाल के हिन्दुओं की जो क्षति हुई, उसके विरोध में कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सभापतित्व में टाउन हाल में एक सभा हुई। [2] उस समय स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा था, "यह नई शासन व्यवस्था आदि से अन्त तक बुरी है। उस अपरिसीम बुराई से बंगाल के हिन्दुओं की ही सबसे अधिक क्षति हुई है। आईन की कील ठोककर उनको हमेशा के लिए छोटा किया गया है। तथापि यह बात सत्य है कि देश के मुसलमान भाइयों ने दस-पन्द्रह जगहें अधिक पाई हैं। इसलिए मैं उनसे कहना चाहता हूं कि अन्याय और अविचार एक आदमी के साथ भी होता है, तो उससे अकल्याण ही होता है। उससे अन्त तक न मुसलमानों का, न हिन्दुओं का और न जन्मभूमि का, किसी का भी मंगल नही होता।"

उसी दिन इसी प्रकार की एक और सभा एलबर्ट हाल में हुई। उसके अध्यक्ष पद पर आसीन हुए स्वयं शरत्चन्द्र। वहां भी उन्होंने यही कहा, "इसके बाद इतना बड़ा अविचार जो हम लोगों के, हिन्दुओं के, ऊपर हुआ उसे जानकर भी वे चुप रहे, यही सबसे बड़े दुख की बात है। यह क्या वे नही समझते कि यह जो विष, यह जो क्षोभ हिन्दुओं के मन में जमा हो रहा है, वह एक न एक दिन रूप पावेगा ही? इस तरह से तो कोई देश चल नहीं सकता, कोई जाति जीवित रह नहीं सकती। यह उनकी भी तो जन्मभूमि है। केवल देने से ही नहीं होता, ग्रहण करने की शक्ति भी तो एक शक्ति है। आज अगर वे यह सोचें कि ब्रिटिश गवर्नमेंट के देने से ही उनका पाना हो गया तो एक दिन उन्हें पता चलेगा कि इतनी बड़ी भूल और नहीं है। मैं अपने मुसलमान भाइयों से कहता हूं कि तुम संस्कृति के ऊपर नज़र रखो, साहित्य के ऊपर नज़र रखो और छोटे बच्चों की तरह धारदार छुरों को हाथ में लेकर पागल होकर सब कुछ काटते मत फिरो।"

दस वर्ष पूर्व कलकत्ते में साम्प्रदायिक दंगा [3] हो जाने पर उन्होंने एक लेख लिखा था - वर्तमान हिन्दू-मुसलमान समस्या'। उसमें उन्होंने कहा था, ".....भारत की स्वतन्त्रता से मुसलमानों को भी स्वतन्त्रता मिल सकती है, इस सत्य पर वे किसी दिन निष्कपट भाव से विश्वास नहीं कर सकेंगे। कर सकेंगे केवल तभी, जब उनका अपने धर्म के प्रति मोह कम होगा, जब वे समझेंगे कि कोई भी धर्म हो, उसके कट्टरपन को लेकर गर्व करने के बराबर मनुष्य के लिए ऐसी लज्जा की बात, इतनी बड़ी बर्बरता और दूसरी नहीं है। किन्तु उनके यह समझने में अभी बहुत देर है, और दुनिया-भर के लोग मिलकर मुसलमानों की शिक्षा की व्यवस्था न करें तो इनकी आंखें किसी दिन खुलेंगी या नहीं, इसमें सन्देह है। और क्या

देश की स्वतन्त्रता के संग्राम में देश-भर के सभी लोग कमर बांधकर लग जाते हैं? अमेरिका ने जब स्वाधीनता के लिए युद्ध छेड़ा, तब उस देश के आधे से अधिक लोग अंग्रेजों के ही पक्षपाती थे। आयरलैंड के मुक्तियज्ञ में वहां के कै जने शामिल हुए थे? जो बोल्शेविक (साम्यवादी या कम्युनिस्ट) सरकार आज रूस का शासन चला रही है, उस देश की जनसंख्या के अनुपात में वह तो एक प्रतिशत भी नहीं पड़ती। केवल मात्र भीड़ का परिणाम देखकर ही सत्य-असत्य का निर्धारण नहीं होता, होता है केवल उनकी तपस्या का, उनकी लगन का विचार करके। इस एकाग्र तपस्या का भार देश के युवकों के ऊपर है। हिन्दू -मुस्लिम एकता के बारे में सोचना भी उनका काम नहीं है, और जो सब प्रधान राजनीतिक दल इसी युक्ति या कूटकौशल को भारत की मुक्ति का एकमात्र उपाय कहकर चिल्लाते फिरते हैं, उनके पीछे जयजनि करने में समय नष्ट करके घूमना भी उनका काम नहीं है। संसार में बहुत-सी ऐसी चीजें हैं, जिन्हें छोड़ने पर ही उनको पाया जाता है। हिन्दू-मुस्लिम एकता भी इसी तरह की चीज़ है। जान पड़ता है, इसकी आशा बिलकुल छोड़कर काम में लग जा सकने पर ही शायद एक दिन इस अत्यन्त दुष्प्राय निधि के दर्शन मिलेंगे। कारण, तब मिलन केवल एक की ही चेष्टा से नहीं होगा, वह होगा दोनों की हार्दिक और सपूर्ण इच्छा का फल।"

ढाका में मुस्लिम साहित्य समाज के दशम वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व करते हुए [4] उन्होंने एक बार फिर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया। कहा-"वाज़िदअली साहब ने सबसे अधिक हृदयविदारक बात यहां पर कही है, 'वास्तव में दो विषम-अनात्मीय संस्कृतियों के संघर्ष का ही यह फल विक्षोभ है। इसके लिए आक्षेप या दुख करना वृथा है। हिन्दू मुसलमान को नहीं समझता, इसलिए चारों ओर दुख का विलाप गूंज रहा है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि उसके भारतीय कर्म, समाज और संस्कृति ने उसके मन को तंग बना दिया हो, दृष्टि को ढक लिया हो। अपने घेरे को लांघकर वह चल नहीं सकता। जो अपने आभिजात्य या श्रेष्ठता के गर्व में चिरकाल से डूबा हुआ हे, पराजय का प्राचीन रोष जिसका आज भी दुर्जय है, बिना युद्ध के सुई की नोक-भर स्थान देने में भी जिसकी आपत्ति का अन्त नहीं है, उसकी बुद्धि को मुक्त कहना कठिन है। जो मुक्त है वह नहीं चलता, चल नहीं सकता। वह जड़ है। इस आत्मकेन्द्रित-परविमुख जड़ बुद्धि के परिवेश ने मुसलमान को अपनी वास भूमि में परवासी बना रखा है। भारत की मिट्टी के रस से रसायित होकर भी उसका मन जैसे भीगता नहीं।'

यह जो कहा है कि दो विषम-अनात्मीय संस्कृतियों के फल से यह विक्षोभ है, सो उसके लिए आक्षेप वृथा है। हम दोनों के पड़ोसी हैं। हम लोगों का आकाश, हवा, जल एक ही हैं। मातृभाषा का एक होना भी हम स्वीकार करते हैं, तो भी संघर्ष इतना बड़ा कठोर है कि उसके लिए आक्षेप तक करना वृथा है -यही मनोभाव यदि सचमुच समस्त हिन्दू-मुसलमानों का हो तो मैं यही कहूंगा कि मनुष्य की इससे बढ्कर और दुर्गति नहीं हो

सकती। मैं पूछता हूं कि रवीन्द्रनाथ की बुद्धि भी क्या जड़ बुद्धि है? उनका मन मुक्त नहीं हुआ? यदि यह सत्य है तो वाज़िदअली साहब की यह भाषा कहां से आई? सहज-सुन्दर ढंग से अनायास अपने मन का भाव प्रकट करने की शक्ति उन्हें किसने दी? इस युग में ऐसा लेखक, ऐसा साहित्यसेवी कौन है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष में रवीन्द्रनाथ का ऋणी नहीं है? साहित्य धर्म-पुस्तक नहीं, नीति सिखाने की पोथी भी नहीं है। उसने अपनी विशाल परिधि के भीतर अपने माधुर्य से सब कुछ को ही अपना कर रखा है। इसी से किसी ने आज भी इसका सत्य निर्देश नहीं पाया कि साहित्य क्या है, रसवस्तु क्या है? इस विषय में कितना ही तर्क, कितना ही मतभेद है। इस अवांछित व्यवधान के संबंध में मिज़ातुर्ररहमान साहब ने 'बुलबुल ' मासिक पत्र की ज्येष्ठ संख्या में अपने लेख में एक जगह निष्करुण होकर कहा है कि शरत् बाबू ने अपने ढेर के ढेर उपन्यासों के भीतर जगह-जगह मुसलमान समाज के जो चित्र अंकित किए हैं, वे मुसलमान समाज के ख़ूब ऊंचे दर्ज़े के लोगों के नहीं हैं। किन्तु मैं पूछता हूं ऊंचे-नीचे दर्ज़े के पात्र-पात्रियों के ऊपर ही क्या उपन्यास की उच्चता-नीचता, भलाई-बुराई निर्भर करती है? अगर यही उनका अभिमत हो तो मेरे साथ उनका मत मेल नही खायेगा। न मेल खायें, किन्तु उपसंहार में जो उन्होंने कहा है कि शरत्चन्द्र ने हिन्दू समाज के विविध दोषों और समस्याओं को लेकर जो सब कहानियां और उपन्यास लिखे हैं और प्रतिकर के उद्देश्य से अपने समाज को जो चाबुक मारे हैं, उन सदिच्छा-प्रणोंदित निर्मम कशाघातों को भी मुस्लिम समाज अम्लान वदन होकर ग्रहण करेगा। यह मैं ज़ोर देकर कह सकता हूं। मैं बंगाल के कथा-साहित्य-सम्राट से एक बार परीक्षा करके देखने का अनुरोध करता हूं।

"उस दिन जगन्नाथ हाल में अपने अभिनन्दन के प्रतिभाषण में इस बात का उत्तर मैंने दिया है। हार्दिक शुभकामना को ये लोग कैसे ग्रहण करते हैं, यह इस संसार से विदा होने से पहले मैं देख जाऊंगा। खैर, वह चाहे जो हो, मनुष्य केवल अपनी इच्छा ही प्रकट कर सकता है, किन्तु उसके परिपूर्ण होने का भार एक और जन के ऊपर रहता है, जो वाक्य और मन के अगोचर है। उस दिन भोजन करते समय हिज एक्सेलेंसी गवर्नर ने मुझसे यही प्रश्न किया था। मैंने उत्तर दिया था कि मैं दोनों समाजों के आशीर्वादों के साथ अपने इरादे को कार्यरूप में परिणत करना चाहता हूं। ठीक समाजों का नहीं, चाहता हूं दोनों समाजों के साहित्य-सेवकों का आशीर्वाद। जिस भाषा में, जिस साहित्य की इतने दिन तक सेवा की है, उसके ऊपर अकारण अनाचार मुझसे सहा नहीं जाता। मेरे मन में पूर्ण विश्वास है कि मेरी तरह जिन्होंने साहित्य की यथार्थ साधना की है, वे हिन्दू या मुसलमान जो भी हों, किसी से यह अनाचार सहा नहीं जायेगा। सौंदर्य और माधुर्य के लिए अगर कुछ परिवर्तन का प्रयोजन हो, ऐसा तो कितनी ही बार हुआ है, तो यह काम धीरे- धीरे यही लोग करेंगे और कोई नहीं। वह हिन्दूपन के कल्याण के लिए नहीं, मुसलमानियत के भी कल्याण के

लिए नहीं, केवल मातृभाषा और साहित्य के कल्याण के लिए ही। साधारणतया यही मेरी एकमात्र प्रार्थना है।"

इस भाषण में उन्होंने लाट साहब से वार्तालाप की चर्चा की है। उसको लेकर कलकत्ता में बड़ा अपवाद फैला। साम्प्रदायिक बंटवारे के दिनों में इस निर्दोष घटना ने विद्वेष का रूप धारण कर लिया। समाचार फैल गया कि ढाका में समावर्तन संस्कार के समय शरत्चन्द्र ने कहा कि अब वे मुस्लिम समाज को लेकर साहित्य की सृष्टि करेंगे। पत्रों ने व्यंग्य-विद्रूप से लिखा कि केवल उपन्यास लिखकर जब बहुवांछित डाक्टर की उपाधि मिल गई, वह भी रहमान साहब के हाथ से, तब इस ब्राह्मण वटुक ने आवेश में आकर कह डाला कि अब से वह मुसलमान भाइयों को लेकर उपन्यास लिखेगा। हाय शरत्चन्द्र तुम्हारी प्राणशक्ति की यह दरिद्रता देखकर सचमुच तुम पर दया करने का मन होता है।"

'शनिवारेर चिठि' ने तीव्र आक्रमण करते हुए लिखा, शरत्चन्द्र के साहित्य की विशेषता है उनकी अभिज्ञता। बालीगंज के घर की दीवार फांदकर बंगाल के मुस्लिम समाज के बारे में अभिज्ञता प्राप्त करना बागबाज़ार में बैठकर लन्दन का सम्वाददाता बनने से कठिन काम है। शरत्चन्द्र ऐसा नहीं कर सकते, उनकी वह आयु नही है।'

इतना ही नहीं, उसने उन पर भाषा बदल देने का दोष भी लगाया।

लेकिन शरत्चन्द्र पर, जैसा कि हो सकता था, इन अपवादों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अपने 61 वें जन्मदिन पर इन अपवादों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "मुसलमान हमारे पड़ौसी हैं, बंगला भाषा उनकी मातृभाषा है। सचमुच ही यदि हम सहानुभूतिपूर्वक उनसे बात करेंगे तो वे सुनने को बाध्य होंगे। वे भी मनुष्य हैं। 'मुस्लिमद्वेषी वे कभी नहीं थे। साहित्य में जातिवाद का उन्होंने एकस्वर में निरन्तर विरोध किया। उन्होंने कहा, "मेरी महेश' कहानी को मुसलमान कितना प्यार करते हैं! परन्तु मैंने क्या वह उनकी बात सोचकर लिखी थी? अब भी क्या उनका प्रचार करने के लिए उपन्यास लिखूंगा? साहित्य मनुष्य को लेकर है, वह किसी भी समाज का हो सकता है। सभी समाजों के मनुष्यों को लेकर लिखना चाहिए। लेकिन अब शरीर इतना ख़राब हो गया हे कि नहीं जानता क्या कुछ कर सकूंगा। हां, मैं किसी से डरता नहीं। स्वस्थ रहा तो जो वचन दिया है उसे पूरा करूंगा।"

उन्होंने एक जनसभा में एक मुस्लिम भद्रलोक के कहने पर भी प्रतिज्ञा की थी, त्रैंने ठीक किया है कि इस बार मुसलमान समाज को लेकर उपन्यास लिखूंगा।" उन्होंने काज़ी अब्दुल वदूद जैसे कई मुसलमान साहित्यकारों से विचार-विनिमय भी किया। लिखने से पूर्व वे मुस्लिम समाज के जीवन से भली भांति परिचित होना चाहते थे। काशी साहब से सहयोग का वचन पाकर उन्होंने कुछ नोट्स भी तैयार किये थे, ढाका में रहते समय ही उन्होंने आदि से अन्त तक पूरे प्लाट की परिकल्पना कर ली थी।

चारू वाबू ने तब कहा था, तुम्हारे अतिरिक्त इस काम को और कोई नहीं कर सकता। शीघ्र स्वस्थ होकर हमारे साहित्य के इस अभाव को दूर करो, यह हम चाहते हैं।.

परन्तु मृत्यु के पदचाप बहुत पास सुनाई देने लगे थे। वे अपना वचन पूरा न कर सके। यदि जीवन ने उनका साथ दिया होता तो कला की दृष्टि से भले ही न हो, 'शेष प्रश्न' के समान, विचार की दृष्टि से वे एक और सुन्दर रचना दे जाते। उनका यह संकल्प ओढ़ा हुआ नहीं था, अन्तर के विश्वास का ही फल था। बहुत दिन पहले वे बिहार शरीफ गये थे। भागलपुर के एडवोकेट चण्डीचरण घोष उनके साथ थे। दोनों वहां की बड़ी मस्जिद देखने गये। अन्दर पहुंचते ही विनोदप्रिय शरत् बाबू सहसा गम्भीर हो उठे और बार-बार 'अल्लाह-अल्लाह' पुकारने लगे। चण्डी बाबू ने मुस्कराकर पूछा, "क्या मुसलमान हो गये हैं?"

उत्तर मिला, देखो चण्डी, सभी भगवान को याद करते है। किसी नाम से पुकारो। अल्लाह कहो या कुछ और कहो। अन्दर आकर हमें बहुत अच्छा लग रहा है।"

उस दिन दो मुसलमान राहगीर उनके पाणित्रास वाले मकान के पास से जा रहे थे कि सहसा नमाज़ का समय हो गया। वे वहीं ठहर गये और वजू करने के लिए उन्होंने शरत् बाबू से एक लोटा जल मांगा। शरत् बाबू ने समझा कि शायद वे लोग पानी पीना चाहते हैं। उन्होंने पानी दे दिया, लेकिन जब वे दोनों उस पानी से वजू करके एक पेड़ के नीचे नमाज़ पढ़ने की तैयारी करने लगे तब उन्हें भीतर बुलाकर शरत् ने कहा कि वे उनके पश्चिमवाले बरामदे में नमाज़ पढ़ें। उन्होंने वहां एक कालीन भी बिछवा दिया। इतना ही नहीं, नमाज़ समाप्त हो जाने के बाद उनका अन्य अतिथियों की तरह आदर-सत्कार किया। उन्हें खिलाया-पिलाया और रात में वहीं रह जाने के लिए भी कहा।

इस संबंध में श्रीमती जहानआरा चौधरी को लिखा उनका पत्र भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।[5] बंगाल में मुसलमान साहित्यकार कम नहीं हुए, पर जिस अनुपात से हिन्दू इस क्षेत्र में आये उस अनुपात से मुसलमान नहीं आये। इस समस्या के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा, "कुछ दिन पहले मेरे एक नये मुसलमान मित्र ने इस बात पर क्षोभ प्रकट किया था। स्वयं भी वे साहित्यसेवी है, पण्डित अध्यापक हैं। साम्प्रदायिक मलीनता ने अभी उनके हृदय को और उनकी दृष्टि को कलुषित नहीं किया है। उन्होंने कहा, हिन्दू और मुसलमान, ये दो सम्प्रदाय एक ही देश में एक ही आबोहवा में, आसपास पड़ोसी की तरह रहते हैं। जन्म से एक ही भाषा बोलते है। फिर भी इतने विच्छिन्न, इतने पराये बने हुए हैं कि सोचकर अचरज होता है। संसार और जीवन-धारण के प्रयोजन से यह एक बाहरी लेन-देन है, लेकिन आन्तरिक लेन-देन बिलकुल नहीं है, ऐसा कहना झूठ नहीं होगा। क्यों ऐसा हुआ, इसकी गवेषणा की आवश्यकता नहीं, लेकिन आज विच्छेद का अर्थ? इस दुखमय अन्तर का खात्मा करना ही पड़ेगा। नहीं तो किसी का भी मंगल नही होगा।"

मैंने कहा, 'इस बात को मानता हूं, लेकिन इस दुस्साध्य के साधन का कौन-सा उपाय सोचा?'

"उन्होंने कहा, एक मात्र साहित्य। आप लोग हमें खींच लें। स्नेह के साथ, सहानुभूति के साथ हमारी बातें लिखें। लेकिन हिन्दुओं के लिए हिन्दू साहित्य का सृजन मत कीजिए।

मुसलमान पाठ की बात भी ज़रा याद रखिए। देखेंगे बाहरी अन्तर कितना ही बड़ा क्यों न दिखाई पड़े, फिर भी एक ही आनन्द, एक ही वेदना दोनों ही नसों में प्रवाहित होती है।'

मैंने कहा, 'इस बात को मैं जानता हूं। लेकिन अनुराग के साथ विराग, प्रशंसा के साथ तिरस्कार, अच्छी बातों के साथ बुरी बातें भी गल्प-साहित्य का अपरिहार्य अंग हैं। लेकिन इसपर तो तुम लोग न करोगे विचार, न करोगे क्षमा। शायद ऐसे दण्ड की व्यवस्था करोगे, जिसे सोचने पर भी शरीर थर्रा उठता है। इससे जो है वही निरापद है।"

उसके बाद दोनों ही चुप रहे। अन्त में मैं बोला, 'तुम लोगों में से कोई-कोई शायद कहेंगे कि हम क़ायर हैं, तुम लोग वीर हो। तुम लोग हिन्दुओं की कलम से निन्दा बर्दाश्त नहीं करते और जो प्रतिशोध लेते हो वह भी चरम है। यह भी मानता हूं और तुम लोगों को वीर कहने में व्यक्तिगत

रूप से मुझे कोई आपत्ति नहीं, लेकिन यह भी कहता हूं कि तुम्हारी यह वीरता की धारणा अगर कभी बदलती है तो देखोगे कि तुम्हीं सबसे अधिक क्षतिग्रस्त हुए हो ।"

"तरुणा मित्र का चेहरा विषण्ण हो उठा । बोले, 'क्या तब इसी तरह का असहयोग चिरकाल तक चलेगा ?'

"मैं बोला, 'नहीं, चिरकाल तक नहीं चलेगा । क्योंकि जो साहित्यसेवक हैं, उनकी जाति, उनका सम्प्रदाय अलग नहीं है । मूल में, हृदय में वे एक हैं । उसी सत्य की उपलब्धि करके इस अवांछित सामयिक अन्तर को आज तुम्हीं लोगों को खत्म करना होगा ।'

"मित्र ने कहा, 'अब इसकी चेष्टा करूंगा ।'

"मैं बोला, 'करना । अपनी चेष्टा के बाद भगवान के आशीर्वाद का प्रतिदिन अनुभव करोगे ।'

---

1. जुलाई, 1934 ई०-'वर्तमान राजनीतिक प्रसंग'-शारदीया नागरिक पत्रिका
2. 15 जुलाई, 1936 ई०
3. सन् 1926 ई०
4. 31 जुलाई, 1936 ई०
5. 26 जनवरी, 1936 ई०

26

सर दर्द बहुत परेशान कर रहा था । परीक्षा करने पर डाक्टरों ने बताया कि 'न्यूरालाजिक' दर्द है । इसके लिए 'अल्ट्रावायलेट रश्मियां' दी गई, लेकिन सब व्यर्थ । सोचा, सम्भवत: चश्मे के कारण यह पीड़ा है, परन्तु उसके बदलने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ । ज्वर रहने लगा । प्रयत्न करने पर भी वह टूटा नहीं, बढ़ता ही चला गया । आखिर शय्या ग्रहण करनी पड़ी । कलकत्ता के बड़े-बड़े डाक्टर परीक्षा करने के लिए आये । उन्होंने बताया, "यह सब मलेरिया का उपद्रव है ।"

अब मलेरिया की चिकित्सा शुरू हुई । कुनैन खानी पड़ी । इंजेक्शन भी लगे । उसकी पीड़ा की चर्चा करते हुए उन्होंने एक पत्र में लिखा, "कल विधान डाक्टर ने इंजेक्शन दिया है । शरीर के जिस अंश पर भार देकर आराम से बैठा जाता है, वहीं पर। ओह, कैसी पीड़ा है ! नमक की पोटली और टूटी हरीकेन लालटेन लिये सवेरे से बैठा हूं ।" [1]

ज्वर फिर भी टस से मस नहीं हुआ । हालत दिन पर दिन गिरती चली गई । डाक्टरों का एक दल फिर परीक्षा करने लगा । इस बार उन्होंने निर्णय लिया कि 'वीकोलाई' है।

और इलाज करने पर ज्वर भी टूट गया । धीरे- धीरे स्वास्थ्य भी सुधरने लगा । डाक्टरों, मित्रों और परिजनों ने अनुरोध किया कि ऐसी अवस्था में वायु-परिवर्तन लाभदायक होगा । लेकिन वह कहीं जा पाते इससे पूर्व ही ज्वर ने फिर आ घेरा । हमेशा 99 डिग्री पर रहता । उन्होंने डाक्टर रमेशचन्द्र मजूमदार को अपनी चिरपरिचित सहज-परिहास-प्रिय भाषा में लिखा [2] – "इधर मेरा बुखार अच्छा होने में नहीं आता । डाक्टर विधानचन्द्र राय आदि रोग नही समझ पा रहे हैं -

विभिन्न छाप की शीशियां हुईं जमा
विभिन्न नाप के डिब्बों का लग गया ढेर
व्याधि से आधि अधिक बढ़ गई
और अस्थिजर्जर हो गया
तब डाक्टरों ने कहा, मरीज की हवा दो बदल ।

"डसलिए दो-तीन दिन में ही स्थान-त्याग करने की इच्छा है अपनी नहीं दूसरों की। मन ही मन कहता हूं -हे संध्याकालीन नित्य सहचर 99 डिग्री के बुखार, तुम और ज़रा प्रसन्न हो जाओ और तुमने जिस काम की नींव डाली है उसे जल्दी-जल्दी ख़तम कर डालो । मुझे छुट्टी मिले ।" आखिर वे देवघर गये । मामा सुरेन्द्रनाथ के छोटे भाई सत्येन्द्रनाथ वहां सिविल सर्जन थे । हरिदास चट्टोपाध्याय ने उन्हें अपना मकान रहने

के लिए दे दिया था । कई महीने वहां रहे । लौटे तो काफी स्वस्थ हो चुके थे ।
अपने इस प्रवास के आधार पर उन्होंने 'देवघर की यादगार' नाम से एक निबन्ध लिखा है । उसमें जैसे उनका कविमन बोलता है । उनके विपुल साहित्य में पशुपक्षियों के प्रति उनके उत्कट प्रेम का बहुत कम परिचय मिलता है। [3] इस लेख में वह प्रेम जैसे साकार हो उठा है।
राजनीतिक जगत् में यह वह समय था, जब कांग्रेस ने 1935 के विधान के अन्तर्गत पदग्रहरण करना स्वीकार कर लिया था। उस समय पदों को लेकर जो आपाधापी मची थी उसकी चर्चा भी इस लेख में मिलती है, "अनमना होकर मन में यह सोच रहा था कि कांग्रेस के जो पण्डे या महन्त हैं, उनकी मंत्री होने की कैसी उत्कट आकांक्षा है, कैसी पदलोलुपता है, अथवा निमूहता के आवरण में उसे छिपाने के लिए कितने कौशल से काम लेते हैं! जिन्होंने कानून बना दिया, एक नहीं सुनी, उन्हीं के साथ कानून की व्याख्या को लेकर कैसी झपट, कैसी लड़ाई ठाने हुए हैं! यह बात निःसन्देह प्रमाणित कर देना चाहते हैं वे कांग्रेसी कि कानून के विधाताओं का इरादा अच्छा नहीं है। विडम्बना और किसे कहते हें!"
लिखना प्राय: समाप्त हो चुका था, लेकिन प्रकाशक आग्रह कर रहे थे कि वे अपनी आत्मकथा लिख दें । उन्होंने कहा, मैं आत्मकथा नहीं लिख सकता, क्योंकि न तो मैं इतना सत्यवादी हूं और न इतना बहादुर ही, जितना कि एक आत्मकथा के लेखक को होना चाहिए।"
सुना कि कविगुरु ने भी एक दिन उनसे कहा था, "शरत्, तुम अपनी आत्मकथा लिखो!" उनका उत्तर था, गुरुदेव, यदि मैं जानता कि मैं इतना बड़ा आदमी बनूंगा तो मैं किसी और प्रकार का जीवन जीता।"
काश उन्होंने ताल्स्ताय की तरह अपनी डायरी रखी होती। शायद वह होती उनकी सब रचनाओं से श्रेष्ठ, मनुष्य के रहस्यमय अन्धकूपों में उतरने का मार्ग दिखाने वाली प्रकाश-किरण।.....जीवन-संध्या में क्या सचमुच उन्हें इस बात का दुख था कि उन्होंने आवारगी का जीवन बिताया, शराब पी, वेश्याओं के बीच में जाकर रहे और नाना प्रकार के वास्तविक और अवास्तविक प्रेम-प्रपंच किये? लेकिन उनसे निर्लिप्त रहने की बात भी उन्होंने लिख दी थी। 'श्रीकान्त' के द्वितीय पर्व में गुरुदेव राजलक्ष्मी से कहते हैं, "जो अपराध एक आदमी को मिट्टी में मिला देता हे, उसी अपराध में दूसरा आदमी स्वच्छन्दता से पार हो जाता है। इसीलिए सब विधिनिषेध सभी को एक डोरी में नहीं बांध सकते।.
एक बार उन्होंने यह भी कहा था कि उन्होंने सब कुछ किया है, परन्तु छोटा काम नही किया। जो छोटा काम करता है अर्थात् मन को मैला करता है, वह क्या अपनी कृति के माध्यम से दूसरे के मन को इतना प्रभावित कर सकता है? तब वे क्यों डरते थे? इसका जवाब दिया था श्रीकान्त ने राजलक्ष्मी को। उसको छोड्कर चले जाने का कारण बताते हुए उसने कहा था, "दुनिया तो मनसा पण्डित की पाठशाला की उस राजलक्ष्मी को पहचानेगी

नही। वह तो पहचानेगी सिर्फ़ पटना की प्रसिद्ध प्यारी बाई को। तब दुनिया की नज़रों में मैं कितना छोटा हो जाऊंगा सो तुम क्या नहीं देख सकतीं।?"
"किन्तु उसे तो सचमुच छोटा होना नहीं कहते।"
"भगवान की नज़र में न हो, किन्तु संसार की आंखें भी तो उपेक्षा करने की चीज़ नहीं हैं, लक्ष्मी।" इन्हीं संसार की आंखों से वे डरते थे। क्योंकि वे मानते थे कि जो दृष्टि संसार में दस आदमियों के भीतर से प्रकाश पाती है वह भी तो भगवान की दृष्टि है। इसे भी तो अस्वीकार करना अन्याय है। इसीलिए वे डरते थे। ताल्स्ताय अभिजात वर्ग के थे, अमीर थे। उन्होंने भी यौवन में वही कुछ किया, जो निर्धन आवारा शरत्चन्द्र ने किया था। वह भी बड़े होकर अपने यौवन की चर्चा करना पसन्द नहीं करते थे। कोई पूछता तो अन्तर की पीड़ा से वे कराह-से उठते। शरत्चन्द्र भी प्राय: ऐसे प्रश्नों से उत्तेजित हो उठते थे। एक बार उन्होंने अविनाश घोषाल से कहा था, देखो, लेखक के व्यक्तिगत जीवन को लेकर परेशान होने से क्या लाभ? वह लेखक है इसलिए अपने जीवन की सब बातें सबको बतानी होंगी, इसका आख़िर क्या अर्थ है? उसकी रचनाओं के माध्यम से उसका जितना परिचय मिल सकता है, उसी को लेकर संतुष्ट होना उचित है। यही लेखक का सच्चा परिचय हे। इसीलिए में कहता हूं लेखक का व्यक्तिगत जीवन और उसका लेखक जीवन दोनों एक ही नहीं होते। किसी भी कारण से इन दोनों को मिला देना उचित नहीं है। मैं अपनी रचनाओं में जितना अपने का व्यक्त कर सका हूं उतना ही मैं हूं। पाठकों के लिए मेरा उतना ही परिचय काफ़ी है।" फिर भी उनको लेकर न जाने क्या-क्या लिखा जाता था। सत्य और मिथ्या के बीच कहीं कोई अन्तर नहीं रह गया था, परन्तु उन्होंने कभी उसका प्रतिवाद नहीं किया। इसी संदर्भ में एक स्थान पर उन्होंने कहा, 'अपने विगत जीवन के इतिवृत्त के संबंध से मैं एकदम उदासीन हूं। मैं जानता हूं कि इसको लेकर बहुत कुछ कल्पनाएं की जाती है और नाना प्रकार की किंवदंतियां प्रचलित हो गई हैं, लेकिन मेरे आलस्य पर इसका रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। शुभचिन्तक बीच-बीच में आकर कहते हैं कि आपके संबंध में झूठ-सच बातें प्रचलित की जा रही है, उनका आप प्रतिवाद क्यों नही करते? मैं कहता हूं कि यदि वह सब मिथ्या है तो मैंने तो उसका प्रचार नहीं किया। इसलिए उसक प्रतिवाद भी करने का दायित्व मुझ पर नहीं है; उन्हीं पर है जिन्होंने प्रचार किया है। उन्हीं से जाकर कहो।"
वे औरतों के पीछे दौड़ते हैं, उन्होंने उस नायिका को प्रेमपत्र लिखा-अफ़वाहों और अपवादों के घेरे में घिरा उनका व्यक्तित्व इस कारण और भी जटिल हो उठता है कि वे स्वयं उन अफ़वाहों में अपना योगदान करने से ज़रा भी नहीं हिचकते थे। अपने को छिपाने की प्रवृति से वे कभी मुक्ति नही पा सके। अद्भुत विरोधाभास था उनके स्वभाव में। एक ओर वैरागी का मन, दूसरी ओर ऐसी विनोदप्रियता जो उजड्डपन की सीमा तक पहुंच गई थी। जैसे एक साथ कई शरत् अन्तर में समाये रहते हों। इसीलिये कई बार कई लोग ऐसे संस्कारहीन, अभद्र, अशिष्ट व्यक्ति को देखते थे जो महानता से बहुत दूर था, जिसे सभ्य

सोसायटी नहीं मिली थी। परन्तु ऐसे भी व्यक्ति थे जो उनके कृतिकार की विशेषता को खोज निकालते थे। उनके प्रभावहीन व्यक्तित्व में एक खुरदरापन था, परन्तु उसके नीचे मानवीय सम्वेदना का जो स्रोत बहता था उसने उनके असंख्य प्रशंसक पैदा कर दिये थे। वह ईमानदारी और गम्भीर सूझ-बूझ से पूर्ण थे। मनुष्य को समझने की अद्‌भुत क्षमता उनमें पैदा हो गई थी। अपनी सफलता, प्रतिष्ठा, कीर्ति किसी की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। विनोदप्रियता जितनी मुखर थी उदासीनता भी उतनी ही सत्य थी। नहीं होती तो वे अपनी दीदी के गांव के पास जाकर न रहते। वहां के समाज में वे जाति-बहिष्कृत थे समाज के ठेकेदारों ने इस बात को लेकर उन्हें परेशान करने का जी तोड़ प्रयत्न किया। नाना प्रकार के प्रस्ताव उनके पास आने लगे, पर उन्होंने जाति में फिर से प्रवेश की ज़रा भी चेष्टा नहीं की। अपने प्रयलों के इस प्रकार विफल हो जाने पर समाज के ठेकेदारों ने अपने-आपको अपमानित अनुभव किया और वे बदला लेने का अवसर ढूंढने लगे। तभी अचानक पास के गांव में रहने वाले आशुतोष चट्टोपाध्याय नाम के एक सज्जन की मां की मृत्यु हो गई। ऐसे ही अवसर की वे राह देख रहे थे। समाज के उन ठेकेदारों ने उन सज्जन से कहा कि उन्हें अपनी मां का श्राद्ध धूमधाम से करना चाहिए, अर्थात् पांच गांवों के ब्राह्मणों, स्त्री-पुरुषों, सबको भोज देना चाहिए, ऐसा करने से उनकी मां की आत्मा को शान्ति मिलेगी।
आशुतोष बाबू सम्पन्न व्यक्ति थे, इसके लिए तैयार हो गये। तब समाज के उन ठेकेदारों ने उनसे कहा शरत्‌चन्द्र के घर आप स्वयं जाइए और सभी लोगों को भोज में आने के लिए निमंत्रित कर आइए।“
ऐसा करने के पीछे उनका एक उद्देश्य था। यदि शरत् बाबू निमन्त्रण स्वीकार करके भोज करने के लिए आते हैं तो उन्हें जाति-बहिष्कृत कहकर पंगत से उठा दिया जाएगा। यदि नहीं आते हैं तो निमंत्रण अस्वीकार करने का दोष लगाकर अपमानित किया जाएगा।
शरत् बाबू स्वयं तो क्या जाते, उनके घर से कोई भी व्यक्ति उस भोज में शामिल नहीं हुआ। कई दिन तक समाज में इसी बात को लेकर हो-हल्ला होता रहा। लेकिन शरत् बाबू को वह ज़रा भी विचलित नहीं कर सका। इतनी बड़ी पराजय समाज के ठेकेदार कैसे स्वीकार कर सकते थे। उन्होंने उनको अपमानित करने का एक और मार्ग ढूंढ निकाला। अदालत में उन पर अभियोग लगाया कि उन्होंने नदी का बांध तोड़कर गांव के लोगों के धान के खेतों को नष्ट करने की चेष्टा की है। सामता तथा गोविन्दपुर आदि सभी गांव ठीक रूपनारायण के तीर पर बसे हुए है। एक समय रूपनारायण नद किनारे तोड़कर इन गांवों में घुस आया था। उस समय सरकार ने वहां एक बांध बनवा दिया था, लेकिन समय पाकर रूपनारायण ने उस बांध को भी स्थान-स्थान पर तोड़ दिया। इसके बाद सरकार ने कुछ दूर पर एक और ऊंचा बांध बनवा दिया। समाज के ठेकेदारों ने शरत् बाबू पर टूटे हुए पुराने बांध को तोड़ने का अभियोग लगाया। इस मिथ्या अपवाद से वे बहुत दुखी हुए और अपना बचाव करने के लिए उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध वकील को नियुक्त किया, लेकिन उनके बहनोई पंचानन

मुकर्जी के प्रयत्नों से यह मामला मध्यस्थता के लिए पंचों के सुपुर्द कर दिया गया। छानबीन करने के बाद उन्होंने पाया कि बांध तो स्वयं ही टूट गया है। शरत् बाबू का उससे कोई संबंध नही है। वे निर्दोष हे।

---

1. 18-9-1936 ई०

2. 26 दिसम्बर, 1936 ई० (11 पौष, 1343)

3. देखें, अध्याय 20

27

हिरण्मयी देवी लोगों की दृष्टि में शरत्चन्द्र की पत्नी थीं या मात्र जीवनसंगिनी, इस प्रश्न का उत्तर होने पर भी किसी ने उसे स्वीकार करना नहीं चाहा। लेकिन इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि उनके प्रति शरत् बाबू का प्रेम सचमुच हार्दिक था। अल्पशिक्षिता, अनेक बातों से अनभिज्ञ, सरलप्राणा ग्रामीण महिला हिरण्मयी शरत्चन्द्र की प्रतिभा की तुलना में कहीं नहीं ठहरती थीं। जब भी कोई उनसे शरत्-साहित्य के अमर नारी पात्रों की चर्चा करता तो हंस पड़ती, कहतीं, "मैं मूर्ख भला उनको क्या जानूं। तुम्हारे दादू ही जानते हैं।"

पार्वती की बातें चलने पर एक दिन बोलीं, "रहने दो अपने दादू की बात। 'देवदास' चित्र के आते ही दो लड़के-लड़की झील में डूब मरे।"

और एक दिन वे जलधर सेन की एक पुस्तक पढ़ रही थीं। आखों से झर-झर बह रहा था पानी कि शरत्चन्द्र आ गये। बोलीं "तुम यह सब क्या छाईपाश (कूड़ा करकट) लिखते रहते हो? ऐसी किताब लिखो न!"

कितनी भोली थीं वे, परन्तु अपने अन्तर के ऐश्वर्य और निश्छल प्रेम से उन्होंने उस सर्वजन-चित्तजयी कथाशिल्पी के चित्त को जीत लिया था। वह जितनी धर्मशीला थीं उतनी ही कोमल हृदया और सेवापरायणा थीं। लेकिन वे शरत्चन्द्र के साथ कभी किसी मित्र या नातेदार के घर नहीं जाती थीं।

सुना गया था कि उनका अभियोग था - शरत्चन्द्र ने उनसे विधिवत् विवाह करके उन्हें अभी भी पत्नी की संज्ञा नहीं दी हैं। कहते हैं इसीलिए उन्होंने सामताबेड़ में वैदिक रीति से विवाह करके उन्हें विधिवत् पत्नी की संज्ञा दे दी। फिर भी वे कभी उनके साथ कहीं नही गई। हां, शरत् बाबू के रिश्तेदार और मित्र-प्रशंसक जो भी उनके घर आते थे उनका वे बड़े स्नेह से स्वागत-सत्कार करती थीं। खूब खिलातीं-पिलातीं, घर-गिरस्ती की मीठी-मीठी बातें करती। उनके प्यार की सीमा नहीं थी। घर पर उनका एकछत्र शासन था।

लेकिन यह बात भी क्या आश्चर्यजनक नहीं है कि उन दोनों का एक भी चित्र ऐसा नहीं है, जिसमें वे दोनों साथ ही। स्वयं हिरण्मयी देवी का अकेले भी कोई चित्र नहीं मिलता। बर्मा में एक बार उन्होंने ऐसा करने का प्रयत्न किया था तो ठीक समय पर उनके पेट में तीव्र दर्द होने लगा था और वह चित्र नहीं खिंच सका था। ऐसा लगता है कि उन्हें चित्र खिंचवाने से तीव्र अरुचि थी। इसीलिए शरत् बाबू ने फिर कभी उनसे आग्रह नहीं किया। उस दिन उनके एक नाटक की मंच पर पचासवीं रात्रि थी। उनके प्रशंसकों ने आग्रह किया कि वे

हिरण्मयी देवी के साथ मंच पर आएं और फोटा खिंचवाएं। तब शरत् बाबू ने उत्तेजित होकर कहा था, "नाटक मैंने लिखा है, हिरण्मयी देवी ने नहीं।"

उस उत्तेजना के पीछे वही तथ्य था। समाज ने उन्हें स्वीकार नहीं किया था। न किया हो, शरत्चन्द्र ने तो सम्पूर्ण मन से उनका वरण किया था। धार्मिक कर्मकाण्ड में उनका विश्वास नहीं था, लेकिन हिरण्मयी देवी के अनुष्ठानों में वे बराबर योग देते थे। काशी की असाध्य गरमी भी उन्हें इस कार्य से विरत नहीं कर सकी थी। कलकत्ता में उन्हें प्रतिदिन गंगास्नान के लिए ले जाते थे। उनके स्वास्थ्य के प्रति उनकी चिन्ता असीम थी। उस बार जब निमोनिया होने पर मणीन्द्रनाथ राय उन्हें देखने आये तो करुण स्वर से शरत् बाबू ने कहा था, "डबल निमोनिया है। ऐसा लगता है इस बार बचा न पाऊंगा। छाती-पीठ सब कहीं सर्दी जम गई है। ज्वर ख़ूब तेज है। अचेतन अवस्था में हैं..... ।"

और कहते-कहते आखें जल से भर उठीं। बाहर जाने पर यह चिन्ता और भी मुखर हो उठती थी। अपने देवघर-प्रवास में उन्होंने रामकृष्ण मुखोपाध्याय (पुकारने का नाम होंदल) को एक पत्र लिखा था। उससे हिरण्मयी देवी के प्रति उनकी चिन्ता स्पष्ट हो जाती है।

"होंदल, आठ-दस दिन में केवल एक चिट्ठी द्वारा ही घर की ख़बर मिली है। अस्वस्थ देह होने पर सबकी बड़ी चिन्ता हो जाती है। तुम्हारी मामी चिट्ठी लिखना नहीं जानतीं, इसलिए अनुग्रह करके यदि तुम ही रोज नहीं तो दो-एक दिन बाद एक पोस्टकार्ड लिख दो तो चिन्ता कम हो।" [1]

देवघर पहुंचते ही उन्होंने स्वयं हिरण्मयी देवी को एक पत्र लिखा था। पत्नी को लिखे गये उनके केवल दो ही पत्र मिलते हैं, उनमें एक यह है -

कल्याणियाशु बड़ी बऊ,

कल साढ़े तीन बजे यहां आ पहुंचा। स्टेशन पर सत्य मामा और मृत्युंजय मोटर लेकर आ गये थे। रास्ते में ज़रा भी कष्ट नहीं हुआ। हरिदास का यह 'मालंच' भवन चमत्कार है। बहुत सुन्दर है, जगह भी बहुत है। पाख़ाना नीचे है लेकिन सुन्दर है। आज सवेरे चाय के लिए बकरी का दूध मिल गया। बता दिया है कि क्रमश: एक सेर दूध तक की मुझे आवश्यकता होगी। मच्छर बहुत हैं। कल रात मसहरी नहीं लगाई। सोचा मच्छर नहीं हैं, लेकिन तीन-साढ़े तीन बजे रात को मच्छरों ने काटना शुरू कर दिया। किसी तरह लिहाफ में मुंह दबाकर पड़ा रहा। जाड़ा है इसलिए रक्षा हो गई। सभी कहते हैं कि एक-दो महीने रहने पर शरीर पूरी तरह ठीक हो जाएगा । देखता हूं कितने दिन रह सकता हूं। चिन्ता मुझे तुम्हारी है। असावधानी बरतने के कारण तुम बीमार हो सकती हो। तुम्हारी बीमारी का समाचार जिस दिन भी मिलेगा उसी दिन देवघर छोड़कर कलकत्ता चला आऊंगा।

यहां का तेल और घी अच्छा नहीं है, इसलिए सत्य मामा ने कहा है कि ये दोनों चीजे वे ला देंगे। गेहूं खरीदकर उनके घर भेजने होंगे। वे जेलखाने में उनके पिसवाने का प्रबन्ध कर देंगे। ऐसा लगता है, यहां कोई खास कष्ट नहीं होगा। घूमने की आवश्यकता है। मोटर

चाहिए। पैदल घूमने की शक्ति नहीं है। शायद काली को गाड़ी लेकर यहां आना हो। छह-सात दिन बाद ठीक निश्चित करके लिखूंगा।

बूड़ी, बाघा [2] कहीं अत्याचार करके बीमार न पड़ जाएं। दीदी घर चली गई होगी। अगर रह सकें तो तुम सबको सुविधा होगी। रसोइया मिल गया कि नहीं? मुझे चिन्ता है। जिस तरह हो, जितने पैसे देने पड़े, कोई आदमी रख लो। नहीं तो घर में सबको कष्ट होगा।

प्रकाश को यह पत्र दिखा देना और कहना कि अब उसी के ऊपर सब भार है। कोई बीमार हो तो मुझे तुरन्त सूचना दे। आज या कल डा० कुमुदशंकर को चिट्ठी लिखूंगा। प्रकाश उन्हें मेरे यहां आने का समाचार दे दे।

छोटी बहू, बच्चे, होंदल, प्रकाश और तुमको मेरा आशीर्वाद। दीदी का मेरा प्रणाम कहना। इति, 18 फाल्गुन, १३४३ । (फरवरी, 1937 ई०)।

शुभाकांक्षी,
श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

पुनश्च:

बाज़ार से लौटकर अभी मृत्युंजय ने बताया है कि उसने तार द्वारा मेरे यहां पहुंच जाने की सूचना तुम्हें दे दी है।

श० चं०

इस पत्र में शरत् बाबू ने हिरण्मयी देवी को 'कल्याणियाशु' कहकर सम्बोधित किया है। यह कोई प्रेम संबोधन नहीं है, लेकिन उसके शब्द-शब्द से उनका गहरा प्रेम प्रकट होता है। वे उन्हें सदा बहू या बड़ी बहू कहकर पुकारते रहे। वह सुन्दर नही थीं किन्तु उनकी दृष्टि में वह प्रेम का अंजन लगाती थीं। वह उनके रूप की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। कहते, बड़ी बहू का रंग खूब गोरा न होकर भी उनके जैसी फिगर (देहयष्टि) बंगाली नारी में बहुत कम देखने को मिलती है।''

समय-समय पर अपने मित्रों और प्रशंसकों को जो उन्होंने पत्र लिखे है, उसमें उन्होंने बड़ी आत्मीयता के साथ अपने गृहस्थ जीवन की चर्चा की है और अपनी सफलता का श्रेय बड़ी बहू को दिया है। उनके पत्रों से यह भी पता लगता है कि हिरण्मयी देवी उनके खान-पान और आने-जाने पर भी अंकुश रखती थीं। एक सेर तम्बाकू सात दिन चलाने का आदेश था, परन्तु आयु बढ़ने के साथ-साथ प्रेम का उच्यवास हार्दिकता और गहन आत्मीयता में बदल गया था। इस पत्र से यह भी स्पष्ट है कि भाई के बच्चों के लिए वे कितने चिन्तित रहते थे और और अपनी दीदी के प्रति कितनी श्रद्धा थी उनमें। अनजाने अपरोक्ष में इस दीदी ने उन्हें बहुत प्रभावित किया

था। तभी वे उन्हें अपने साहित्य में अमर कर गये।

देवघर से लौटने के बाद वे अधिक दिन स्वस्थ नहीं रह सके। बार-बार पत्रों में उसी बात की चर्चा करते थे। हरिदास को लिखा, 'मैं ठीक नहीं हूं शरीर सचमुच ही टूट गया है।

कुछ न कुछ लगा रहता है। कितने दिन कटेंगे, प्रतिदिन मन ही मन इसका हिसाब रखता हूं। आशा है अब बहुत दिन नहीं लगेंगे। बैरागी का जीवन जितना शीघ्र जाए उतना ही मंगल।.' [3]

मामा डा० सत्येन्द्रनाथ गांगुली को लिखा, "जीर्णगृह में कितने भूतों ने आश्रय लिया है, आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे यही बात सोचता हूं और कहता हूं - दयामय देर कितनी है?.' [4]

मृत्यु के पदचाप पास और पास आ रहे थे पर उनका मन ज़रा भी स्वस्थ होता तो वे मित्रों के सुख-दुख और मान-सम्मान को लेकर व्यस्त हो उठते। देवघर से लौटने के बाद उन्होंने अनुभव किया उनके स्नेही मित्र असमंजस मुखोपाध्याय का सही मूल्यांकन नहीं हो रहा। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि रसचक्र' के तत्त्वावधान में उनका सम्मान किया जाए।

और प्राय: सभी लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों के सामने बेलगछिया के द्वारका कानन में पूरे विधि-विधान के साथ अपने सामने बिठाकर उन्होंने मुकर्जी महाशय का अभिनन्दन किया। उन्हें बहूमूल्य उपहार दिये, मानपत्र पढ़ा और उसके बाद प्रचुर भोजन की व्यवस्था में भी कोई त्रुटि नहीं हुई।

और इस सबका खर्च वहन किया स्वयं शरत्चन्द्र ने।

लेकिन यह उत्साह अल्पजीवी था। दयामय अब अधिक देर करने के मूड में नहीं थे, इसलिए इस बार रोग ने पेट पर आक्रमण किया। डाक्टरों ने परीक्षा करने के बाद घोषणा की कि डिसपेप्सिया है।

अब डिस्पेप्सिया का इलाज आरम्भ हुआ। दवा पर दवा खानी पड़ी। लेकिन सुधार के खाते में शून्य के आगे उन्नति नहीं हुई। परिजन चिंतित हो उठे। ऐसे अवसर पर प्राय: उन्हें अपने मित्र और मामा सुरेन्द्रनाथ गांगुली की याद आती थी। सूचना मिलने पर वे आये, [5] देखा कि सब कुछ गड़बड़ है। आवश्यकता इस बात की है कि रोगी का खाना व्यवस्थित किया जाए। लेकिन बड़ी कुछ नहीं सुनना चाहतीं। उनकी मान्यता है कि यह सब न खाने के कारण हुआ है। वे सदा इस बात की चिन्ता करती हैं कि शरत् खूब खाएं। वे खाते हैं और तड़फड़ाते हैं। डाक्टर के बहुत कहने पर चाय छोड़ने का प्रयत्न किया, पर इतने पुराने और इतने घनिष्ठ मित्र की ममता कैसे छूटे? मामा ने कहा, "अभी बहुत काम करने को हैं।"

वे बोले, "अब तो रोग की यंत्रणा भोगने के अलावा और कोई काम नहीं रह गया है।"

मामा ने उत्तर दिया, "देश अभी तुमसे बहुत आशा रखता है।"

एक दीर्घ नि:श्वास खींचकर शरत् बाबू बोले, "सचमुच बहुत काम बाकी पड़ा है। समय पा सकता तो असमाप्त पुस्तकों को पूरा कर देता।

सुरेन्दनाथ ने विश्वास दिलाया, "समय मिलेगा।"

लेकिन वे समझ गये थे कि अब समय नहीं रह गया है। वैरागी मन और भी वैरागी हो उठा था। मामा कुछ दिन बाद लौट गये। अधिक रहना उनके लिए सम्भव नहीं था। वैद्यों ने

कहा, ”राजग्रह जाने से लाभ हो सकता है।”

लेकिन तबीयत तेज़ी से गिरती आ जा रही थी। वहां जाना अब सम्भव नहीं

था। स्वास्थ्य जब बहुत गिर गया तो प्रकाशचन्द्र ने फिर मामा को सूचना दी। लिखा - तुरन्त चले आओ।”

सुरेन्द्रनाथ आये। कालीपूजा का उत्सव समाप्त हो चुका था। शरत् के जराजीर्ण शरीर को देखकर वे चकित रह गये। समझ गये कि यहां से बाहर ले जाए बिना उनका बचना असम्भव है।

शरत्चन्द्र ने कहा, “इस रोग की कोई चिकित्सा नहीं है। मुझे शान्ति से जाने दो। यही रूपनारायण के किनारे, प्रभास की समाधि के पास।”

सुरेन्द्रनाथ बोले, यह क्या व्यर्थ की बातें करते हो? ”

लेकिन ये व्यर्थ की बातें नहीं थीं। मृत्यु की पदचाप वे दोनों ही सुन पा रहे थे, फिर भी भूलने का प्रयत्न करते थे। कभी मछलियों की चिन्ता करते तो कभी बगीचे में फूलों को लेकर व्यस्त हो उठते। परिजन, मित्र और प्रशंसक अब भी सदा की तरह उनसे मिलने के लिए आते और उनकी यह अवस्था देखकर चिन्तातुर हो उठते। एक दिन आये हिन्दी के एक लेखक अमृतलाल नागर। उनका एक मित्र शरत् बाबू का इतना भक्त था कि पुस्तकों की अलमारी पर 'श्री गणेशाय नम:' के स्थान पर 'श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय नम:' लिखा हुआ था। स्वयं शरत्चन्द्र ऐसी ही एक भक्त नारी से मिले थे। उसने घर में मन्दिर बनाकर वेदी पर शरत् बाबू की पुस्तकें सजा रखी थीं। प्रतिदिन पूजा और पाठ का क्रम निर्बाध रूप से चलता था। उसी एकान्त में उसने शरत् बाबू को अपनी सारी कहानी सुनाई थी। एक भद्र पुरुष की रक्षिता थी।

कैसी सांत्वना मिली थी शरत् बाबू को उस दिन! जैसे उनका साहित्य सार्थक हो गया था। नागर भी उनसे कम प्रभावित नहीं थे। अक्सर मिलने आते थे। इस बार आये तो देखकर चकित रह गये। [6] पाया कि संग्रहणी की शिकायत है। जो कुछ खाते है वह हजम नहीं होता। क्वेटर ओट तक हजम नहीं कर पाते। सूखकर कांटा हो गये हैं।

शरत् बाबू नागर को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। बोले, “तुम्हारे आने से मुझे बहुत ख़ुशी हुई। अब इस जौवन में मुझे कोई भी लालसा बाकी नहीं है। यह शरीर भी प्राय: निर्जीव-सा हो चुका है। बहुत थक गया हूं। यमराज, जिस वक़्त भी मुझे इनविटेशन कार्ड भेजेंगे, मैं उसी वक़्त जाने को तैयार बैठा हूं।”

कई क्षण चुप रहने के बाद जैसे अन्तर में आवारा मन जाग आया हो। बोले, “इच्छा होती है कि जलवायु परिवर्तन के लिए बंगाल छोड़कर चला जाऊं, लेकिन किसी एक जगह जमकर रहने की तबियत नही होती है। सोचता हूँ, ट्रेन ही ट्रेन घूमूं, अधिक से अधिक एक-एक जगह एक-एक दो-दो दिन ठहरता हुआ।”

नागर ने कहा, "यह तो शायद आपके लिए ठीक न होगा। आप बहुत कमज़ोर हो गये हैं।"

उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। चुपचाप आखें बन्द करके लेट गये। नागर ने फिर कहा, "आप हमारे देश चलें। लखनऊ में इस रोग के एक विशेषज्ञ हैं। कनखल में भी इस रोग का इलाज बहुत अच्छा हो सकता है। ऋषिकेश, हरिद्वार, कनखल कहीं भी आपके रहने का प्रबन्ध कर सकता हूं। आप स्वस्थ हो उठेंगे।"

शरत् बाबू को जैसे कुछ उत्साह हुआ। बोले, "वहां तो बहुत सर्दी पड़ती है; में उसे कैसे सह सकूंगा! अच्छा सोचकर देखूंगा। परसों कलकत्ता जा रहा हूं। वहां से मैं तुमको पत्र लिखूंगा।"

संध्या के समय जब नागर उनके चरण छूकर पालकी में बैठने लगे तो सहसा उन्होंने का, "ठहरो अमरित, मैं इस समय तुम्हें रूपनारायण की शोभा दिखलाना चाहता हूं।"

पालकी से उतरकर नागर उनके साथ किनारे तक गये। आकाश में तारे छिटक रहे थे। शायद पूर्णिमा थी। हाथ से इशारा करते हुए उन्होंने बतलाया, जब बाढ़ आती है तो पानी मेरे बंगले की सतह को छूता है। तब मुझे बहुत अच्छा मालूम होता है। जी करता है कि एक जहाज़ ले लें और घूमते रहें। कभी धरती पर न आयें।"

जैसे वही चिरपरिचित आवारा मन बोल रहा हो। नागर समझ गये थे कि उस दिन अन्तिम बार रूपनारायण के तट पर खड़े हुए उस महान कलाकार के दर्शन कर रहे

हैं। उस रूपनारायण नद से शरत् बाबू को बहुत प्यार था। अक्सर किनारे पर बैठकर उसे देखा करते। जो कोई उनसे मिलने आता, स्वयं उसके साथ जाकर उस नद की चर्चा करते। कुछ दिन पूर्व एक और हिन्दी लेखक वाचस्पति पाठक उनसे मिलने आये

थे। जब वह लौट रहे थे तो उन्होंने उन्हें रोका था और कहा था, "एक चीज़ देखते जाओ।" [7]

वे देखते ही रह गये थे। उनके सामने रूपनारायण नद का विस्तार फैला पड़ा था। उस समय उसमें पानी नहीं था, लेकिन रेत का विस्तार कम प्रभावशाली नहीं

होता। उन्हें वहां खड़ा करके वे पीछे हट गये। उस विस्तार ने जैसे पाठक को जकड़ लिया।

वे सचमुच कलाकार थे। सौंदर्य के उपासक। जो सौंदर्य है, वही पुरुष है, वही प्रकृति

है। इसीलिए जो सौंदर्य का उपासक है, वह प्रकृति का भी उपासक है। मनोरम और भयानक, प्रकृति के इन दोनों रूपों का, और स्वयं भगवान का भी। क्योंकि सर्वोत्तम सौंदर्य ही तो भगवान है।

नागर लौट गये। सोच रहे थे कि आज यह महान लेखक कितना भावुक हो उठा है! कितना स्नेह भरा है इसके अन्तर में? यशस्वी होकर लोग गर्वोन्मत्त हो उठते हैं और अपने चरित्र को भ्रष्ट कर डालते हैं। लेकिन एक ऐसा व्यक्ति भी हे जिसने दुखों के बीच अपनी

यात्रा आरम्भ की, न जाने कितने पथ-घाटों की धूल फांकी तथाकथित पाप भी किये पर ईमानदारी, साहस और करुणा को कभी नहीं छोड़ा और अन्त में इन्हीं गुणों के कारण महान बन गया। उन्नत ललाट, लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी अन्तभेदी आखें। उस दिन, कितनी पुरानी बात है वे स्वस्थ थे। कितनी चर्चा की साहित्य की, साहित्य में घुस आई राजनीति की, प्रेमचन्द की। उनकी कहानियां शरत् बाबू ने पड़ी थीं। बहुत वर्ष पहले 'सप्त-सरोज' पढ़कर उन्होंने हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, क्लकत्ता के श्री महावीरप्रसाद पोद्दार' को, जो अक्सर उनके पास जाते थे, लिखित सम्मति दी थी - गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भावपूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है, पर और कोई भी बंगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता है, इसमें सन्देह है।" [8]

उन्होंने यह भी कहा था, तुम लोग अपने साहित्य का सभापति किसी साहित्य महारथी को न बनाकर राजनीतिक नेताओं को क्यों बनाया करते हो?"

नागर ने उत्तर दिया, हिन्दी में स्वयंभू कर्णधारों का एक दल है, जो अपनी तबीयत से यब सब किया करता है। वरना हमारी हिन्दी में भी प्रेमचन्द। जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत आदि कुछ ऐसे व्यक्ति हें, जिन पर हम गर्व कर सकते हैं।"

शरत् बाबू ने कहा, "हमारे यहां बंगाल में भी अधिकतर साहित्य-सम्मेलन के सभापति बड़े-बड़े जमींदार ही बनते हैं। लेकिन यह बात मुझे पसन्द नहीं है। जिन्हें 'साहित्य' शब्द के वास्तविक अर्थ का ज्ञान नहीं, उन्हें सम्मेलन का सभापति बनाना महज हिमाकत है।"

लेकिन इस सबके बीच उन्होंने कई बार बड़े स्नेह से नागर से कहा था, देखो अमरित, तुम अभी बच्चे हो। फिर तुम्हारे सिर से तुम्हारे पिता का साया भी उठ चुका है। दुनिया ऐसे आदमियों को हर तरह से ठगने की कोशिश करती है। तुम्हारे साथ गृहस्थी भी है, इसी से मैं तुमसे यह सब कहता हूं। इस बात को हमेशा ध्यान में रखना कि अगर तुम्हारे पास चार पैसे हों तो अधिक से अधिक इन्हीं चारों को खर्च करना, लेकिन कभी किसी से पांचवां पैसा उधार मत लेना..... ।"

बहुत दिन पहले नागर से उन्होंने कहा था, "मेरे प्रोफेसर ने मुझे दो बाते बताई थीं। एक तो यह कि कभी किसी की व्यक्तिगत आलोचना न करना और दूसरे, जो कुछ भी लिखो वह तुम्हारे अनुभव के बाहर की चीज न हो। यही दो बातें मैं तुम्हें बतलाता हूं भाई।"

किरणमयी भी तो दिवाकर की कहानी "विष की छुरी' पढ़कर यही कहती है, जिसे तुम खुद नहीं समझते उसे दूसरों को समझाने की मिध्या चेष्टा मत करो। जिसे नहीं पहचानते उसका अनाप- शनाप परिचय दूसरों को मत दो। कोरी कल्पना केवल गढ़ ही सकती है, उसमें जान नहीं डाल सकती। ढो सकती है, पर राह नहीं दिखा सकती।"

उस दिन ग्रामोफोन पर इनायत खां सितारवादक का रिकार्ड बज रहा था। आखिर में उसने अपना नाम बताया। वे मुसकराए, फिर हुक्के का कश खींचते हुए बोले, "भाई,

तबीयत मेरी भी करती है कि मैं अपना रिकार्ड भरवाऊं और आखिर में मैं भी इसी लहजे के साथ कहूं कि, मेरा नाम है शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय।"

नागर का आना घर के लोगों को बहुत अच्छा लगा। शरत् बाबू में कलकत्ता जाने का उत्साह दिखाई दिया। जैसे गहन अंधकार में कोई प्रकाश की खिड़की खोल गया हो।

मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार मामा वरेरकर से भी उनका बड़ा स्नेह था। एक दिन लेखक ने मामा से कहा, मामा, शरत् बाबू पशुओं से बड़ा प्रेम करते थे.....।"

वह अपनी बात पूरी कर पाता कि मामा बोले उठे, "इसीलिए तो वे मुझे भी प्यार करते थे।"

और अट्टहास के बीच मामा ने बताया, मैंने एक दिन शरत् बाबू से कहा, 'आपके कोई सन्तान नहीं हे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'मामा, तुम जानते हो मैं क्या हूं? क्या मैंने नहीं किया? कौन-से रोग मेरे शरीर में नहीं है? क्या तुम चाहते हो कि अपने पीछे मैं ऐसी सन्तान छोड़ जाऊं?' "

उन दिनों जैसे उनकी सम्वेदना मुक्त हो चुकी थी। सुबह चाय पीने के बाद वे पैसे लेकर बैठ जाते और भिखारियों को बांटते रहते। जब कभी पुजारी अस्वस्थ हो जाता तो स्वयं राधाकृष्ण की पूजा करते। आखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती।

आखिर निश्चित हुआ कि रविवार के दिन कलकत्ता जाएंगे।

तभी अचानक विवाद खड़ा हो गया। पण्डितजी को बुलाकर बड़ी बहू ने पूछा, "रविवार को जाना क्या ठीक होगा?"

पत्रा खोलकर पण्डितजी ने गणित किया, बोले "रविवार के दिन कलकत्ता जाने का योग नहीं है।"

सुनकर बड़ी बहू एकदम घबरा उठीं। शरत्चन्द्र इन बातों में विश्वास नहीं करते थे, लेकिन बडी बहू करती थीं। उन्होंने घोषणा की, 'रविवार का जाना नहीं हो सकता।"

परन्तु इस निश्चय की सूचना शरत् बाबू को कौन दे? वे तुरन्त मना कर देंगे और कहेंगे, 'नहीं, रविवार को ही जाऊंगा।"

अन्त मे सबने मिलकर एक उपाय ढूंढ निकाला। प्रकाशचन्द्र, पण्डितजी और सबसे अन्त में आखों में औसू भरे बडी बहू, तीनों शरत् बाबू के पास पहुंचे। आँखे बन्द किए वे आरामकुर्सी पर लेटे थे। पगध्वनि सुनकर उन्होंने दृष्टि उठाई और प्रकाश से पूछा, "क्या हे खोका?"

"रविवार को जाना न होगा।"

मामा क्या कहते हैं?"

"सोमवार!"

"भी यही सोचता हूं। कल सब काम पूरे भी नहीं होंगे। सोमवार ही ठीक है।"

कलकत्ता जाने के लिए वे तैयार हो गये थे, लेकिन इसी शर्त पर कि शुक्रवार को लौट आएंगे। सोमवार के सवेरे सब कामो से छुट्टी पाकर उन्होंने राधाकृष्ण को प्रणाम किया और मन्द-मन्द स्वर में रवीन्द्रनाथ का यह गीत गाते हुए चल पडे -

पथेर पथिक करेछो आमाए, सेई भालो ये सेई भालो।

आलेया ज्वालाले प्रान्तर भाले, सेई आलो मोर सेई आलो। ।

गांव से विदा लेते हुए उन्हें अत्यन्त पीड़ा हो रही थी। शरीर बहुत दुर्बल हो चुका था। मांसहीन पैरों में सुन्दर मोजे और पालिश किया हुआ बादामी जूता ऐसा लगता था जैसे किसी ने महाप्रयाण के लिए श्रृंगार किया हो। फक्कड़ कबीर ने गाया हे न -

कर ले श्रृंगार चतुर अलबेली, साजन के घर जाना होगा।

यह साजन के घर जाने की तैयारी ही तो थी। स्टेशन पर पहुंचकर सुरेन्द्रनाथ ने कहा, ”तुम्हारे लिए सेकण्ड क्लास का और अपने तथा गोपाल के लिए थर्ड क्लास का टिकट ले आता हूं।”

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, यह कैसे हो सकता है? सब इन्टर क्लास में साथ चलेंगे।” उस दिन केवल भावुकता के कारण ही वे ऐसा नहीं कह रहे थे, मनुष्य से सदा ही उन्हें ऐसा प्रेम रहा है। उड़िया देश का वह भोला अनेक वर्षों तक उनके साथ रहा। सामताबेड़ आने पर भी वह कई वर्ष उनके साथ था। जहां कहीं भी वे जाते थे, वह उन्का चिरसंगी था, उनका अन्तरंग। एक दिन अचानक छुट्टी लेकर वह सदा के लिए अपने देश चला गया। तब उन्होंने जिस सेवक को अपने साथ रखा वह था ननी। सांप के काटने से अचानक उसकी मृत्यु हो गई थी। उसको बचाने के लिए शरत् बाबू अत्यन्त व्यस्त हो उठे थे। अपने खर्च पर उसे इलाज के लिए कलकत्ता भेजा। रात-भर उसकी चिन्ता करते रहे, लेकिन वह बच नहीं सका। यह समाचार पाकर उनकी व्यथा का पार नहीं रहा। कहा, सवेरे से रात तक रास्ते की ओर देखता हुआ बैठा हूं कि कोई अच्छी खबर लेकर आएगा। वह तो नहीं हुआ, तुम यह क्या खबर ले आये?”

जब तक वे जीवित रहे ननी के परिवार की आर्थिक सहायता करते रहे। उनके नहीं रहने पर हिरण्मयी देवी ने यह सहायता जारी रखी। ड्राइवर काली को तो शरत् बाबू अपने घर का सदस्य मानते थे। उस दिन वे असमंजस मुखोपाध्याय के साथ एक योरोपियन होटल में चाय पीने के लिए गये। एक कप का मूल्य था आठ आने। बंगाली दुकान में वही चाय दो पैसे में मिलती थी। काली ने कहा, “मैं वहीं जाकर चाय पी आता हूं। ‘'

शरत्चन्द्र तुरन्त बोले, “जब हम यहां पी रहे हैं तो तुम वहां किसलिए जाओगे?"

इसीलिए उस दिन भी वे गोपाल के साथ एक ही डिब्बे में बैठे। मार्ग में किसी स्टेशन पर गाडी रुकी तो एक परिचित डाक्टर ने आकर प्रणाम किया। पूछा, "आप कैसे हैं दादा?"

शरत्चन्द्र बोले, “तुम्हीं बताओ कैसा लगता हूं?"

“पहले से अच्छे दिखाई देते हैं।”

तुम डाक्टर जाति के हो, मेरा यही विश्वास था। आज यह विश्वास और भी दृढ हो गया।"

डाक्टर ने कहा, "इतना बड़ा सर्टिफिकेट क्यों दे रहे हैं आप?"

एक क्षण चुप रहकर शरत् बाबू फिर बोले, "डाक्टर, तुम बहुत अच्छी तरह जानते हो कि मैं ठीक नहीं हूं। यह भी जानते हो कि मुझसे ऐसी बात नहीं कही जानी चाहिए। इसीलिए तुमको बड़ा मानता हूं।"

कई क्षण इसी तरह की बातें करते रहे। अन्त में बोले, "बहुत दिनों से मैं अपनी स्थिति जानता हूं। पेड़-पौधों को लेकर भूलने की कोशिश कर रहा हूं। किसी दिन सामता आओगे तो देखोगे।"

"दादा, अच्छा होने के लिए लगता हे वही एक उपाय है, मन को निरुद्वेग कर दीजिए। तब देखेगें कि कैसे आप ठीक हो गये हैं।"

उन्होंने सिर हिलाकर उत्तर दिया, "अब कुछ नहीं हो सकता।"

---

1. 9 मार्च, 1937 ई०
2. प्रकाशचन्द्र के बच्चे
3. 31 अगस्त, 1937 ई०
4. 27 भाद्र, 1344 (11-12 सितम्बर, 1937 ई०)
5. 3 नवम्बर, 1937 ई०
6. नवम्बर, 1937 ई०
7. पोद्दारजी शरत् बाबू के मित्र थे। अब जसीडीह में प्राकृतिक चिकिसा केन्द्र चलाते है।
8. 'सप्त-सरोज' (आठवी बार, मार्गशीर्ष, सं० 1987) सन् 1930 ई०) की भूमिका। पहला संस्करण सन् 1927 ई० में छपा।

28

कलकत्ता पहुंचकर भी भुलाने के इन कामों में व्यतिक्रम नहीं हुआ। बचपन जैसे फिर जाग आया था। याद आ रही थी तितलियों की, बाग-बगीचों की और फूलों की। नेवले, कोयल और भेलू की। भेलू का प्रसंग चलने पर उन्होंने मामा से कहा, "वह मेरे रक्त-मांस का अंश बन गया था। उससे पूर्व और उसके बाद कई आये और गये, किन्तु वह मानो मध्य की मणि था। मनुष्य को सबसे बड़ी सीख जीव-जन्तुओं से ही मिलती है, इसमें सन्देह नहीं।"

फिर बोले, "उस दिन तुमने छत पर कुंजवन लगाने की बात कही थी। तब सोचा था सब व्यर्थ है। परन्तु आज ग्लोब नर्सरी चलता हूं। यदि ज़िन्दा रहा तो निश्चय ही एक कुंजवन तैयार करूंगा।"

और वे नर्सरी गये, कई प्रकार के मौसमी फूलों के बीज खरीदे। गुलाब उन्हें सबसे अधिक प्रिय था। जिस समय वे दुकान पर खड़े मामा से बातें कर रहे थे तो एक अपरिचित युवक ने आकर उन्हें प्रणाम किया और कहा, "क्या आप मेरे स्टाल पर चलने की कृपा करेंगे? मैं आपको कुछ फूल देना चाहता हूं।"

शरत् बाबू बोले, "मुझे क्यों देना चाहते हो?"

"देकर मुझे सुख होगा इसलिए।"

"इतने लोग आते हैं, सबको देते हो क्या?"

"सबको तो मैं नहीं पहचानता?"

"मुझे पहचानते हो?"

"बंगाल में आपको कौन नहीं पहचानता?"

खरीदारी करने में शरत् सदा उदार रहे। उनका तर्क था कि भगवान ने बुढ़ापे में इतना दिया है, इसे कहां रखूंगा?

गाड़ी में बैठे फूलों की प्रतीक्षा कर रहे थे कि कई कापियां हाथ में लिए एक वृद्ध मुसलमान ने आकर कहा, "इन्हें आपको खरीदना होगा।"

"क्यों?"

"क्योंकि घर में खाने को नहीं है। खाली हाथ नहीं जाऊंगा।"

"कितने पैसे देने होंगे?"

"एक रुपया।"

उसे दो रुपये देते हुए कहा, "एक रुपया मूल्य और दूसरा खुदा के नाम पर।"

प्रसन्न होकर वृद्ध ने कहा, "ज़िन्दे रहो बाबू साहब।"

सुनकर शरत् मुस्कराये होंगे, तब अंतर में बैठे शरत् ने कहा होगा, "यह ज़िन्दा रहने को ही तो कहता है। मैं जीवन के अन्तिम क्षण तक ज़िन्दा रहूंगा।"

इधर इस प्रकार भुलाने का प्रयत्न कर रहे थे उधर जांच की व्यवस्था आरम्भ हो गई थी। देख-रेख कर रहे थे डा० कुमुदशंकर राय। सूचना पाकर डा० विधानचन्द्र राय भी आ गये। बोले, "आप कब वापस आये? और यह सब क्या है? अच्छा, ज़रा लेटो तो।"

लेटते हुए शरत् ने उत्तर दिया, "देश जाकर बहुत माछ खाये हैं। इसलिए कुछ पेप्सिया बढ़ गया है।"

डाक्टर बोले, "हजम नहीं कर पाते तो इतना क्यों खाते हो?"

शरत् ने कहा, "लोभ के कारण। एक-एक दिन में पांच-पांच, छह-छह तक तपसे माछ खाये हैं।"

डाक्टर बोले, "अच्छा काम नहीं किया। मुझे देकर खाते तो हजम हो जाते।"

परीक्षा करने के बाद कुछ देर बातें करते रहे। फिर जैसे आये थे वैसे ही चले गये। शरत् ने मामा से पूछा, "क्या बता गये हैं?"

"किंक किंकर्स! "

यह शब्द समझ में नहीं आ रहा था। नरेन्द्र देव भी आ गये थे। डिक्शनरी देखनी पड़ी। पता लगा कि इसके अर्थ हैं आतों में कोई रुकावट। समझ गये कि केवल एक्स-रे कराने से ही काम नहीं चलेगा, आपरेशन भी कराना होगा।

अब गांव लौट जाने का प्रश्न नहीं था। डाक्टर पर डाक्टर आने लगे और सलाह-मशविरा चलने लगा। उसके साथ ही ज्योतिष का प्रभाव भी बढ़ रहा था। उसी दिन नीलम की अंगूठी पहनी थी। बाद में प्रवाल की और आ गई। उन्होंने कहा, "मनुष्य पर जब संकट आता है तो वह बुरे संस्कारों का दास बन जाता है। यह देखो मेरी प्रवाल की अंगूठी। क्या होगा इससे? फिर भी.....।"

मामा ने उत्तर दिया, "जैसे अस्वस्थ हो जाने पर डाक्टर को बुलाना कुसंस्कार नहीं है, वैसे ही ग्रहों के अप्रसन्न हो जाने पर प्रवाल धारण करना भी कोई बुरा संस्कार नहीं है।"

चिरदिन के स्वेच्छाचारी शरत्चन्द्र ने इतना ही कहा, "दुख में पड़कर प्रवाल धारण किया है, पर मन विद्रोह करता है।"

इस छटपटाहट से मुक्ति पाने के प्रयत्न में वैरागी मन अतिशय चंचल हो उठा। कभी फूलों को लेकर व्यस्त हो उठने तो कभी सोचते कि नई गाड़ी खरीदकर भागलपुर घूम आया जाए। उस दिन बाज़ार में एक मोर देखा तो खरीद लाये। बकरी का दूध सहज सुपाच्या होता है। रोगी के लिए ठीक रहेगा। इसलिए स्वयं बाज़ार जाकर एक बकरी देखी। मूल्य था चालीस रुपये। चार सेर दूध देने की बात थी। आश्चर्य, वह बकरीवाला भी उन्हें पहचानता

था। सुरेन्द्र मामा के कान में उसने कहा, "यह कहानियां लिखते है न? मैंने इनकी तस्वीर देखी है। इनके लिए मैं बीस रुपये में दे दूंगा।"

लेकिन बड़ी अद्‌भुत थी वह बकरी। अपना दूध स्वयं पी जाती थी। बड़ी बहू गांव से आ गई थीं। किसी ने उनसे कहा, "अपना दूध पी जाने वाली बकरी यदि घर में रहती है तो स्वामी या स्वामिनी किसी एक की मृत्यु हो जाती है।

तब बड़ी बहू ने वह शोर मचाया कि उसे विदा करने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहा। लेकिन इससे उनकी खरीदारी में कोई अन्तर नहीं पड़ा था, और इसीलिए बगीचा दिन-प्रतिदिन प्रगति कर रहा था। दूसरी ओर एक्स-रे की व्यवस्था भी चल रही थी। अन्त में पता लगा कि जिगर में कैंसर है जो बढ़ते-बढ़ते पाकस्थली तक पहुंच गया हे।

यह मृत्युदण्ड की स्पष्ट घोषणा थी। मृत्यु की पदचाप वे बहुत पहले से सुनते आ रहे थे। जिस दिन वे कलकत्ता आये उसी दिन अखबार पढ़ते-पढ़ते स्तब्ध रह गये। मुख विवर्ण हो आया। मामा ने देखकर पूछा, "क्या हुआ शरत्?"

"सर जगदीशचन्द्र बसु की मृत्यु हो गई। [1] उनका हृदय दुर्बल था। इस बार मेरी बारी है।"

"यह कौन-सा तर्क हुआ?"

"तर्क नहीं इन्ट्यूशन है?"

"उनकी तो आयु पूरी हो गई थी। तुम उनके सामने बच्चे हो।"

शरत् ने कहा, "मेरा हृदय ठीक है, लेकिन खराब होते क्या देर लगती है?"

बड़े दिन की छुट्टियां पास आ गई थीं। इन दिनों मद्रास में डाक्टरों का एक बड़ा सम्मेलन था। उनकी बड़ी इच्छा थी कि वहां जाने से पहले डाक्टर लोग उनके बारे में कोई निर्णय कर लें। विधान बाबू, ललित बाबू, कुमुद बाबू-तीनों डाक्टर देखने आए। निश्चय हुआ कि आपरेशन करना होगा। शरत्‌चन्द्र ने विधानचन्द्र राय से कहा, "आपरेशन यदि होना ही है तो आप करेंगे। यदि मरूंगा तो आपके हाथों से।"

हंसकर विधानचन्द्र राय ने उत्तर दिया, "लेट जाओ, काम पूरा करके ही जाऊंगा।"

और फिर घर के कोने में रखी इस्पात की सुन्दर कुल्हाड़ी उठा लाये। बोले, "मै तैयार हू।"

सब ठहाका मारकर हंस पड़े। लेकिन आपरेशन करना तुरन्त सम्भव नहीं हो सका। यह निश्चित हुआ था कि डाक्टर ललितमोहन आपरेशन करेंगे, लेकिन उनकी फीस हज़ार-बारह सौ रुपये से कम नहीं थी। शरत् बाबू इतना देने में असमर्थ थे। इसलिए डाक्टर लोग उन्हें उसी अवस्था में छोड़कर मद्रास चले गये। पीछे रह गये डाक्टर दासगुप्ता, जो लेटे-मोटे प्रयोग करके रोग की तीव्रता को कम करने का प्रयत्न करने लगे।

शरत्‌चन्द्र ने एक दिन डाक्टर कुमुदशंकर से भी कहा था, "आपरेशन यदि करना है तो और परीक्षा करने की ज़ुरूरत नहीं है। मैं कल ही तैयार हूं। मामा को साथ लेकर तुम्हारे यहां

पहुंच जाऊंगा। तुम्हीं आपरेशन कर दो। अच्छी तरह जानता हूं कि तुम्हारे समान दक्ष डाक्टर कलकत्ता में नहीं है। तुम्हें अपने ऊपर जितना विस्वास है उसे देखकर मैं चकित रह गया हूं। मैं कोई स्त्री नहीं हूं। मेज़ पर मर जाने की भी कोई सम्भावना नहीं है, और हो तो मैं लिखकर दे सकता हूं। किसी को बुलाने की ज़रूरत नहीं है।"

कुमुदशंकर मूर्तिवत् चुपचाप बैठे रहे। शरत् ने कहा, "कुछ तो बोलो, कुमुद!"

"मैं नहीं कर सकता।"

"कमुद, यह काम तुमको छोड़कर और कोई नहीं कर सकेगा। तुमने अपने लड़के का आपरेशन भी तो किया था।"

"मेरे लड़के और आपमें बहुत अन्तर है। एक लड़का गया तो दूसरा हो सकता है, किन्तु एक शरत्चन्द्र के जाने पर दूसरा नहीं हो सकता।"

जैसे-जैस मृत्यु पास आ रही थी वैसे-वैसे ही खाने की तृष्णा भी बढ़ रही थी। उस दिन डाक्टर दासगुप्ता की लेबोरेटरी में काफी देर हो गई। शरत् बाबू ने कहा, "देर हो गई। कुछ खाकर नहीं आया हूं। तुम्हारे यहां भोग नहीं होगा क्या? देशबन्धु के साथ तुम्हारे घर खाया था। कितने दिन हो गए उन बातों को।"

डाक्टर दासगुप्ता ने कहा, अभी ओटमिल की व्यवस्था हो जाती है, वही आपके लिए उपयोगी है।"

शरत् ने मामा की ओर देखा और कहा, "सुरेन्द्र, इसीको शनीचर कहते हैं।"

पेट में कौन-कौन सा रस किस मिकदार में है, स्टमक-पम्प द्वारा इसकी भी जांच की गई लेकिन उनकी भूख कम नही हुई। डाक्टरों ने आदेश दिया था कि वे केवल कम मीठे वाले सन्देश खा सकते हैं, लेकिन उनका मन करता था मटर की कचौड़ी जैसी स्वादिष्ट चीज़ खाने को। गांव लौट जाने की व्याकुलता भी कम नहीं थी, लेकिन जाना क्या सम्भव था?

कुशल पूछने के लिए मित्रों का तांता लगा रहता था। एक दिन असमंजस मुखोपाध्याय आये। देखा, वही घर, वही द्वार, वही दालान, वही सामने का बगीचा, लेकिन सब कुछ निरानन्द। कुछ दिन पहले तक उन सबमें प्राणों का उत्साह था, माधुर्य का स्पर्श था, लेकिन अब वहां पर मानो प्राणहीनता की एक निष्करुण हवा चल रही है। व्यथित मन वे अन्दर जाकर खड़े हो गए। वह मनहूस स्तब्धता बार-बार लौट जाने को कहती थी, लेकिन बिना मिले कैसे लौट सकते थे! कॉल बेल बजाने पर सुरेन्द्रनाथ नीचे आये। जो समाचार उन्होंने दिया वह अच्छा नहीं था। तुरन्त ही वह शरत् बाबू को खबर देने के लिये चले गए। फिर लौटकर कहा, "अभी आ रहे हैं।"

असमंजस बाबू बोले, "न, उनके आने की ज़रूरत नहीं है, मैं स्वयं ऊपर आ रहा हूं।"

लेकिन वे ऊपर जाने के लिए उठ पाते कि तभी चिर-परिचित पदचाप सुनाई दी। देखा शरत्चन्द्र ही हैं। अत्यन्त रुग्ण अवस्था, निर्जीव की तरह आकर आरामकुर्सी पर गिर पड़े।

असमंजस बाबू ने कहा, "यह आपने क्या अनर्थ किया? आपको इस तरह नहीं आना चाहिए था।"

शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "तुमको आने के लिए तुम्हारे लड़के से कहा था। तुम आये हो, यह सुनकर मैं कैसे नहीं आता? और मरना तो एक दिन सबको होगा ही। उसके लिए दुख कैसा?"

ऐसा लगा मानो श्रीकान्त बोल रहा हो। इन्द्रनाथ का प्रिय शिष्य और बन्धु श्रीकान्त। एक दिन फिर कुछ और मित्र आ गये। सभी जानते थे कि मृत्यु निश्चित है। फिर भी सांत्वना देने का प्रयत्न करते थे। उस दिन 23 दिसम्बर का दिन था, मित्र ने कहा, "निश्चय ही आप ठीक हो जाएंगे।"

रोग से आक्रांत मलिन मुख पर हास्य की रेखा फूट आई। कहा, "मेरी एक बात याद रखना। 22 जनवरी को मुझे याद करना। याद रहेगा न?"

मानो उन्होंने स्पष्ट कहा हो कि 23 जनवरी को जीवित नहीं रहेंगे। उन्हें जाने की चिन्ता नहीं थी लेकिन जो पास थे, उनके प्रिय थे, उनकी चिन्ता का पार नहीं था। उन्हीं में थे उमाप्रसाद मुकर्जी। अचानक उन्हें एक हफ्ते के लिए बाहर जाना पड़ा। जाने से पूर्व उन्होंने शरत् बाबू से आज्ञा चाही। उन्होंने कहा, "तुम कुछ दिन के लिए जा सकते हो। इन दिनों आपरेशन की सम्भावना नहीं है। डाक्टर कुमुद भी बाहर जा रहे हैं। चिट्ठी से तुम्हें सब समाचार मिलते रहेंगे। आवश्यकता हुई तो बुलाने के लिए लिखवा दूंगा।"

उमाप्रसाद चले गये। जाते समय उन्होंने मामा सुरेन्द्रनाथ से कहा, "मुझे चिट्ठी लिखते रहिए।"

25 दिसम्बर को सुरेन्द्रनाथ ने लिखा -

"सवेरे के पांच बजे।

".....उस दिन कुमुद बाबू की लेबोरेटरी में शरत् की परीक्षा हुई थी और सुबोध बाबू एक्स-रे करने के लिए राज़ी भी हैं। अगले दिन सवेरे उनके घर गया। सब कुछ विस्तार से जानना चाहता था। लेकिन वह तो डाक्टर के अतिरिक्त किसी और को कुछ बताना नहीं चाहते थे।

"दो दिन शरत् ने खूब खाया। उससे और भी दुर्बल हो गये हैं। कल संध्या को हठात् उनकी अवस्था बिगड़ती हुई जान पड़ी। कुमुद बाबू तो है नहीं, और वह किसी दूसरे डाक्टर को बुलाने नहीं देते। बस ढेर सारी कालीफाँस और अफीम के सहारे किसी तरह चल रहा हे।

".....कल एक नर्सिंग होम ठीक किया है। पार्क स्ट्रीट में सुशील चटर्जी है। सौभाग्य से वे मेरी भांजी के लड़के हैं। जान पड़ता है, शुक्रवार 31 दिसम्बर को वहां जाना होगा।

"आज सवेरे साढ़े सात बजे डाक्टर दासगुप्त के साथ सुबोध बाबू के पास जाऊंगा। अब तक इतना ही। लौटकर जो बात होगी, लिखूंगा। आप मुझपर भरोसा करके यहां से गये

हैं। यदि दो-चार दिन में आ सकते हों तो बड़ा अच्छा रहेगा। आशा करता हूं, आ सकेंगे। 30 तारीख तक लौट आइए।

"साढ़े दस बजे।

"सुबोध बाबू आज साढ़े छ: बजे आएंगे। आज से वे रोगी का चार्ज ले लेगे।"

दो दिन बाद फिर लिखा -

"27-12-1937, समय दस बजे।

"कल चिट्ठी नहीं लिख सका। आज सवेरे सब शान्ति से आरम्भ हुआ। इसलिए डर लगता है। इस समय मूड़ी के साथ तमाखू पीना चल रहा है। मूड़ी खाने की आशा नहीं है। केवल खाने की इच्छा पूरी होगी, इसीलिए डाक्टर मना नहीं करते। कल सोने के लिए साढ़े बारह बज गये थे।

"अब डूश देते-देते जान पड़ता है बारह बजे जाएंगे। उसके बाद ऑलिव आयल की मालिश होगी। उसके बाद ग्लूकोज़ दिया जाएगा। पहले रेक्टम से, उसके बाद इन्ट्रावीनस इन्जेक्शन द्वारा। इस बीच में एक स्ट्रीकनिन समय के अनुसार दी जाएगी। पेट में मुख के द्वारा कोई खाना पहुंचाना सम्भव नहीं है। यहां तक कि विनकारनिस भी नहीं। मुंह से खाने से केवल कष्ट ही होता है। किन्तु मन की शान्ति के लिए ही ऐसा किया जाता है। रात देर से काम आरम्भ हुआ। ऑलिव आयल मलना, फिर रेक्टम द्वारा तीन औंस देना। अन्त में सोते-सोते रात में कहा, 'एक गाना सुनो - शेष पाराणीर कड़ी आमी कण्ठे निलाम गान.....मेरे बहुत दिनों के बन्धू को इसीलिए गाना सुनाता हूं।'

"शेष सब ठीक है। मैंने पहले आपको आने के लिए लिखा था। अब फिर ज़ोर देकर कहना चाहता हूं।"

उमाप्रसाद चिट्ठी पाकर तुरन्त कलकत्ता लौट आये। [2]

---

1. 22 नवम्बर, 1937 ई०

2. 30 दिसम्बर, 1937 ई०

29

इसी बीच में एक दिन शिल्पी मुकुल दे डाक्टर माके को ले आये। उन्होंने परीक्षा करके कहा, "घर में चिकित्सा नहीं ही सकती। अवस्था निराशाजनक है। किसी भी क्षण मृत्यु हो सकती है। इन्हें तुरन्त नर्सिंग होम ले जाना होगा।"

सुरेन्द्रनाथ बोले, "नर्सिंग होम जाना निश्चित है। पर 31 से पहले सम्भव नहीं।"

एक क्षण सोचकर डाक्टर माके ने कहा, "मिo गांगुली, मेरा अनुरोध हे कि किसी तरह आज ही इन्हें नर्सिंग होम में ले जाइए।"

"तब आप ही सहायता कीजिए!"

और डाक्टर माके ने एक नर्सिंग होम निश्चित कर दिया। सदर्न हास्पिटल रोड पर एक योरोपियन नर्सिंग होम था।

शरत् बाबू तैयार होने लगे। उस समय जो रुदन आरम्भ हुआ वह रुकता ही नहीं था। शरत् मानो संज्ञाहीन होकर चारपाई पर लेट गये। मामा ने मुकुल दे से कहा, "डाक्टर माके को बुला लीजिए। साथ जाना ठीक रहेगा।"

डाक्टर माके भी आ गये। शरत् बाबू तैयार थे। चलने लगे तो हिरण्मयी ने चरणोदक लिया। बोले, "बस हो गया।"

वे बाहर जाते तो कई-कई दिन वहीं रमे रहते। उसीको रोकने के लिए हिरण्मयी ने चरणोदक लेने की प्रथा चलाई थीं। कहा था, "जब तक चरणोदक न लूंगी खाना नहीं खाऊंगी।"

एक बार शरत् बाबू कई दिन बाद लौटे तो पाया कि हिरण्मयी भूखी-प्यासी बैठी है। तब से आना-जाना कम हो गया था। उस दिन चरणोदक लेने पर उन्होंने मानो कहा कि बस हो गया। अब नहीं लौटूंगा।

उस योरोपियन नर्सिंग होम में वे नहीं रह सके। वहां सब कुछ सुन्दर था व्यवस्था और सुघड़ता भी खूब थी। सीढ़ियों पर भी कार्पेट बिछी थी। चारों तरफ विलायती साहब और मेम दिखाई देते थे। मिलने के समय जब उमाप्रसाद आये तो चकित रह गये। सन्देह हुआ कि बंगला देश छोड़कर कहीं विलायत में तो नहीं पहुंच गए है। कमरे का नम्बर देखकर अन्दर गये। खूब सजावट, कीमती सामान, सामने एक सादी खाट के ऊपर स्वच्छ बिछौने पर शरत्चन्द्र लेटे थे। दुग्धफेनिल शथ्या थी वह, लेकिन जैसे ही रोगी के चेहरे पर दृष्टि गई तो वे चौंक पड़े। मुख पर पीलापन था और दृष्टि म्लान थी। उनको देखते ही शरत् बाबू ने कहा, "तुम आ गये, अब ठीक इलाज होगा।"

उमा बाबू ने पूछा, "कैसे हो?"

वह वाक्य पूरा भी नहीं कर पाये थे कि नर्स आ गई। हाथ में ग्लूकोज़ का पानी था। शरत् बाबू ने कहा, "अभी नहीं, बाद में दे देना।"

नर्स ने नहीं सुना। बोली, "लेने का समय हो गया है। लेना ही होगा।"

उसके बोलने-चालने के ढंग में स्नेह का आभास तक न था। मानो यंत्रदानव हो, कठिन-कठोर। उसके इस व्यवहार से रोगी उत्तेजित हो उठा। तब उमाप्रसाद ने उसके हाथ से गिलास लेकर कहा, "आप कृपाकर बाहर चली जाएं मैं पिला दूंगा।"

नर्स क्रुद्ध होकर बाहर चली गई। उमा बाबू रोगी के पास आकर खड़े हो गये। उनका हाथ अपने हाथ में ले लिया। फिर सिर पर हाथ फेरने लगे। अभी भी निदारुण क्रोध से शरत् बाबू का क्लान्त शरीर कांप रहा था। उमा बाबू ने धीरे से कहा, "थोड़ा-सा पानी पी लो।"

शरत् बाबू उनके मुंह की ओर ताकने लगे। उसके बाद शांत स्वर में कहा, "अच्छा, पी लूंगा। किन्तु मुझे यहां से ले चलो, नहीं तो मैं स्वयं चला जाऊंगा।"

उमाप्रसाद बोले "मुझे भी लगता है कि आपका यहां रहना नहीं हो सकता। कल ही यहां से जाने का प्रबंध हो जाएगा।"

शरत् बाबू मुक्त कलाकार थे। बन्धन मे कैसे रह सकते थे। और वहां थे बहुत से कायदे-कानून। किसी तरह एक-दो सिगरेट पीने को आज्ञा मिल गई थी, परन्तु अफीम तो किसी भी तरह नहीं खा सकते थे। फिर भारतीय रोगी को देखने परिजनों और प्रियजनों की भीड़ न जाये तो प्रेम कैसे प्रकट हो! जो व्यक्ति अड्डे जमाने का आदी हो वह निश्चित समय पर कुछ निश्चित व्यक्तियों से मिल सके, यह वे कैसे सह सकते थे! बार-बार नर्स इस स्वच्छन्द व्यक्ति से युद्ध कर बैठती थी। अन्त में व्यवस्थापिका ने कहा, "रोगी को यहां रखना असम्भव है।"

वहां के डाक्टर ने भी परीक्षा करके कह दिया था, "कोई आशा नहीं है। यहां रखना व्यर्थ है।" सुरेन्द्रनाथ ने डाक्टर सुशील के नर्सिंग होम की चर्चा की थी। वहीं पर व्यवस्था की गई। वहां भी नियम-कानून थे, लेकिन रोगी को विशेष असुविधा न हो इसका ध्यान रखते हुए कई व्यक्तियों को आने की छूट थी। उमाप्रसाद ने पूछा, "आप यहां अपने पास किसको रखना चाहते हैं? उसीके अनुसार व्यवस्था कर दी जाएगी।"

थके हुए स्वर में शरत् बाबू ने उत्तर दिया, "किसी को नहीं चाहता, तुम तो हो ही। यहां तुम ही बैठो।"

उमाप्रसाद से उन्हें जितना स्नेह था, उतना ही उन पर विश्वास भी था। उस दिन हिरण्मयी देवी आईं तो उमाप्रसाद का परिचय देते हुए उनसे कहा, "ये उमाप्रसाद हैं। कोई बात हो तो अब इन्हीं से कहना।"

यह एक तरह से हिरण्मयी को उमाप्रसाद के हाथों में सौंपने जैसा था, क्योंकि अपने अन्त के बारे में तो वे आश्वस्त हो चुके थे। इसलिए मिलने के लिए आने वाले मित्रों की कोई

सीमा नहीं थी। शान्ति निकेतन से नन्दगोपाल सेनगुप्त आये। पाया, आंखें कोटर में धंस गई हैं, जीवन की आशा क्षीण है। कहा, "इस तरह कौन तड़पना चाहता है?"

कुछ देर बातें करने के बाद बोले, "फिर भी यह जीवन व्यर्थ नहीं रहा। मैंने एक आवारा लड़के के रूप में जीवन आरम्भ किया और अन्त..... यह सब तो तुम जानते ही हो।"

जब कोई आता था तो मुख पर म्लान हंसी की रेखा खिंच जाती थी, मानो मन के पठल पर वे आशा की छवि आंकने का प्रयत्न करते हों। बचपन की याद करते, भागलपुर में गंगा की कहानी याद करते, वर्षा के अन्धकार में पूरम्पार भरी गंगा को तैरकर पार कर जाने की कहानी। ऐसा लगता कि अमा निशा में वह और राजू दोनों नाव में बैठकर तूफानी समुद्र में अन्तहीन यात्रा पर निकल पड़े हैं। कितने वर्ष बीत गये और उन वर्षों ने जीवन को कितना कठोर, कितना निर्मम, फिर भी कितना प्रलोभनीय बना दिया.....

इन स्मृतियों के माध्यम से जैसे कमज़ोरी के क्षणों में अपनी शक्ति की याद करके साहस पाना चाहते हों। उमाप्रसाद ने कहा, "ठीक हो जाओ, इस बार आपके साथ जाऊंगा।"

शरत् बाबू हंस पड़े। बोले, "अरे तेरी आशा कम नहीं है। निश्चय ही गंगा जाऊंगा। साथ ही रहेगा, किन्तु वह मेरी अन्तिम यात्रा होगी।"

उमाप्रसाद ने कहा, "चुप रहो! बहुत बातें करने की मनाही है।"

रात को डाक्टर की अनमुति से उमाप्रसाद उनके पास रहे। कुर्सी डालकर पास बैठ गये। रोगी की सेवा करने को विशेष कुछ नहीं था। कमरे के एक कोने में टिमटिमाता प्रकाश था। उमा बाबू की आंखों म नींद नहीं थी। एकटक वे उनकी ओर ताकते रहे। महामानव रोगशय्या पर था। वह मृत्युपथ का राही था शरीर रोग से थक गया था , लेकिन फिर भी वे पूरी तरह होश में थे। संध्या की नर्स की बदली हो गई थी, रात की नर्स काम पर आ गई थी। ऊंची एड़ी का जूता पहने खटखट शब्द करती हुई वह चार्ज ले रही थी। अस्फुट शब्द में शरत् बाबू ने कहा, "लंगड़ी नर्स आई है।"

अचरज से उमाप्रसाद ने पूछा, "लंगड़ी! आप लंगड़ापन कैसे देख सकते हैं?"

मधुर हंसी हंसकर बोले, "देखता कैसे? कान से सुनकर सब कुछ समझा जा सकता है। दोनों पैरों के जूतों का स्वर एक जैसा नहीं है। देख लेना इसका एक पैर निश्चित छोटा है।"

तभी नर्स कमर में आई। उमाप्रसाद ने अच्छी तरह देखा। पाया कि पैर में साधारण-सा लंगड़ापन है। आसानी से पकड़ में नहीं आता। लेकिन रोगी की कैसी तीक्षा दृष्टि है! मृत्यु के द्वार पर भी उसका हास नहीं हुआ।

शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो रही थी। किसी से मिलने का मन नहीं रह गया था। कहा, "सारे जीवन मनुष्य को प्यार किया है, पास बुलाया है, पर अब और नहीं। अब तो बाकी

दिन चुपचाप लेटे रहना चाहता हूं।"

लेकिन आने वाले कब मानते थे। अचानक मित्रता का दावा लेकर एक अनजान व्यक्ति आये और अधिकार के साथ बोले, "केवल एक बार देखना चाहता हूं।"

बहुत समझाया, लेकिन वे किसी भी तरह नहीं मान रहे थे। आखिर उमाप्रसाद ने शरत् से कहा, "वह आना ही चाहता है। तुम चुपचाप आंखें बंद करके पड़े रहो। कमरे में आते ही उसे विदा कर दूंगा।"

फिर आगंतुक से जाकर कहा, "रोगी सो गया है। ज़रा भी शब्द न होने पाये। देखते ही चले जाना।"

श्रद्धा से भरे-भरे उस नवागंतुक ने कमरे में प्रवेश किया और कपट निद्रा में सोये हुए रोगी की ओर ताका और फिर हाथ उठाकर मौन प्रणाम किया। वह यदि देख पाता तो पता लगता कि उस समय शरत् बाबू एक आंख को खोलकर देखने का प्रयत्न कर रहे हैं, जैसे कोई चुपके-चुपके बंद खिड़की का द्वार खोलकर देखता है। आगंतुक के चले जाने पर वे हंस पड़े। बोले, "खूब खेल खेला, किन्तु अब और नहीं। तुम मेरे पास आकर बैठो।"

प्यास खूब लगती थी। पीने के लिए पानी मांगा। परन्तु पीते समय बहुत कष्ट होता था, इसीलिए उमा बाबू ने कहा, "एकटूक खानी खान। (अर्थात् थोड़ा-सा ले लो।)"

अस्फुट स्वर में शरत् बाबू ने कहा, "एकटूक खानी।"

एक क्षण मौन रहे, फिर बोले, "देखते हो, एकटू खानी, एकटूई खानी, एकटूक खानी, इन शब्दों के अर्थों में कितना अन्तर है ? बंगला भाषा की क्या विचित्र सम्पदा है ! "

उमाप्रसाद ने लिखा है, "जीवन-नदी के उस पार जाने वाला यात्री है। फिर भी साहित्य का पुजारी वाणी के मन्दिर में भक्ति का अर्ध्य दे रहा है सौंदर्य का प्यासा मन सजग है। प्रतिदिन फूल आते हैं, गुलाब के गुच्छे आते हैं। रोगी का कमरा आलोकित है, गन्ध से आमोदित है। फूल देखकर पूछा, 'कौन लाया है ? फूल बहुत प्यारे लगते है। गुलाब का जन्म सार्थक है। अन्तिम समय भी कैसा आनन्द देने आया है ! "

श्रीकान्त भी चतुर्थ पर्व में फूलों पर कैसा मुग्ध हो उठा था ! विशेषकर गुलाब पर, "और सबसे अधिक मन को लुभा लेने वाला था बीच का हिस्सा। रात्रि के अन्त में इस धुंधले आलोक में पहचाने जाते थे - एक-दूसरे से भिड़े हुए झुण्ड के झुण्ड गुलाब के झाड़। जिनमें बेशुमार फूल थे और जो सहस्रों फैली हुई लाल आंखों से बगीचे की दिशाओं की ओर मानो ताक रहे थे.....।"

लेकिन उन्हें केवल फूलों से ही सन्तोष नहीं हो पा रहा था। सौन्दर्य-वृत्ति पूरी शक्ति के साथ जाग रही थी। मामा सुरेन्द्रनाथ से कहा, "बिलास से मैंने दो कानेरी पक्षी ला देने को कहा था। यदि ला सको तो बहुत अच्छा हो।"

पक्षी आ गये। पिंजड़े में बैठे हुए वे सुन्दर पक्षी निरन्तर मृदु-मधुर संगीत गाते रहते। डाक्टर ने उन्हें देखा तो बोले, "रात को इन्हें यहां रखने की आवश्यकता नहीं, सोने में बाधा

होगी। हां, दिन के समय भीतर की खिड़की में चाहो तो रख सकते हो।"

शरत् ने हंसकर उत्तर दिया, "नींद जब आएगी तो उसे कोई रोक नहीं सकेगा। इनका गाना सुनने दो। बहुत मधुर शिक्षा देते हैं।"

फिर पक्षियों की ओर देखकर बोले, "ओ रे, इतना सुन्दर मत गाओ। एक दिन मेरी तरह ही तुम्हारा यह मधुर कण्ठ भी बन्द हो जाएगा।"

गम्भीर रात्रि थी, वे चुपचाप शान्त लेटे हुए थे। आंखें खुली थीं। पलकों में ज़रा भी नींद नहीं थी। उमा बाबू की ओर देखकर उन्हें पास बुलाया। उमाप्रसाद ने वहीं से कहा, "सो जाओ, आंखों को मूंद लो।"

लेकिन आंखें बन्द करते ही मिट-मिट करते ताकते रहे। बोले, "पास आ जाओ, एक बात कहता हूं मेरे सीमान्त के एकान्त बन्धु!"

उमाप्रसाद पास गए। शरत् बाबू ने उनके सिर पर हाथ रखा। उमाप्रसाद ने कहा, "क्या मुझे आशीर्वाद दे रहे हैं?"

वे बोले, "इसकी क्या बात हे? मैंने तुम्हें हमेशा आशीर्वाद दिया है।"

इस तरह वह लम्बी रात बीत गई। किन्तु प्रभात का प्रकाश होने पर भी मन में आशा का प्रकाश नहीं हुआ। हालत इतनी गिर गई कि मुंह से खाना-पीना असम्भव हो गया। पेट में खाना न जाने पर मृत्यु निश्चित थी। इंजेक्शनों से भी लाभ नहीं हो रहा था। गुदा द्वारा भोजन पहुंचाये जाने पर वे स्वयं सहमत न थे। तब एक ही मार्ग शेष था कि पेट चीरकर नली द्वारा तरल पदार्थ अन्दर पहुंचाये जाएं।

उस दिन देखने के लिए विधानचन्द्र राय आये। पूछा, "क्या कष्ट है दादा?"

"कष्ट कुछ नहीं।"

"तब? "

"प्यास-प्यास! मेरी छाती जुड़ गई है। मरुभूमि की छाती फाड़ देने वाली प्यास है, डाक्टर!"

जो वहां खड़े थे भीग आये। रूमाल से आखें पोंछते-पोंछते विधानचन्द्र राय बाहर चले आये। उनकी राय थी कि आपरेशन करना ही होगा। उन्होंने डा० ललितमोहन बनर्जी को मात्र चार सौ पचास रुपये लेकर आपरेशन को राज़ी कर लिया।

12 जनवरी का दिन निश्चित हुआ। नियमानुसार डाक्टर ने रोगी से लिखित आदेश चाहा। शरत् बाबू के मुख पर हास्य की स्मित रेखा फैल गई। बोले, "लिख दो, मैं उस पर सही कर दूंगा।"

कुमुदशंकर राय ने आदेश-पत्र लिख दिया और शरत् बाबू ने उस पर अंग्रेज़ी में हस्ताक्षर कर दिये। फिर कहा, "ज़रा रुकी नीचे मैं स्वयं कुछ लिखना चाहता हूं।"

उस पत्र में लिखा था, "आपरेशन में जो संकट आ सकता है उसका समस्त दायित्व मैं अपने ऊपर लेता हूं और डाक्टर के० एस० राय से अनुरोध करता हूं कि वे आपरेशन करें।"

उस पर तारीख दी हुई थी - 12 जनवरी, 1938 ई०। शरत् बाबू ने आड़े हस्ताक्षर करके फिर तारीख दे दी और नीचे एक वाक्य लिख दिया, "सम्पूर्ण होश और हौंसले के साथ।"

यह वाक्य भी अंग्रेज़ो में लिखा था, लेकिन उनका मस्तिष्क अब पुरी तरह से ठीक काम नहीं कर रहा था। इसलिए उन्होंने 'सेंसिज़' और 'करेज' के स्पेलिंग गलत लिखे।

यह सब लिखते समय उन्होंने अपूर्व आनन्द और तृप्ति का अनुभव किया। जिस फाउंटेन- पेन से उन्होंने ये अक्षर लिखे थे उसे उमाप्रसाद को देते हुए कहा, "इसे अपने पास रख लेना।"

फिर तृप्ति की निश्वास छोड़कर बोले, "अहा, बहुत आराम पाया। लिखने में बड़ा अच्छा लगा।"

जीवन-भर लेखनी के साथ उनका रक्त का सम्बन्ध रहा था। अंतिम विदा के समय यह मानो अत्यन्त प्रियजन की सबसे अंतिम स्पर्शानुभूति थी। एक दिन पूर्व उन्होंने अपना वसीयतनामा भी लिखवा दिया था। सब कुछ अपनी पत्नी हिरण्मयी देवी के नाम कर दिया।[1] उनकी मृत्यु के बाद वह सब कुछ उनके भतीजे का होना था। कुछ रुपया इम्पीरियल बैंक में भी था. वह उन्होंने अपनी भतीजी के विवाह के लिए सुरक्षित कर दिया। उसके बाद यदि अ शेष रहे तो उसका उपयोग भाई के बच्चों के लिए ही होना था। छोटे भाई प्रकाशचन्द्र को बस सपरिवार 24, अश्विनीदत्त रोड वाले मकान में रहने का अधिकार मिला।

डाक्टर ललितमोहन बन्दोपाध्याय ने 12 बजे आपरेशन किया। पाया कि जिगर एकदम गल गया है, बचने की कोई आशा शेष नहीं है। उन्होंने घाव को वैसे ही बन्द कर दिया, जिससे वे शान्ति से अपनी अन्तिम यात्रा पर जा सकें। मुख से कुछ भी खाने का निषेध था। ट्यूब द्वारा तरल पदार्थ ही वे ले सकते थे। उसी की व्यवस्था कर दी गई।

आपरेशन के समय रोगी को रक्त की आवश्यकता होती है। प्रकाशचन्द्र ने अपना रक्त दिया, लेकिन वह यथेष्ट नहीं था। तब उनके पड़ोसी नकुलचन्द्र पति ने अपना रक्त दिया। शरत् बाबू नकुलचन्द्र की बराबर सहायता करते आये थे। लगभग पांच वर्ष पूर्व जब उसके पिता की मृत्यु हो गई थी, तब उन्होंने ही उसकी सार-संभाल की थी। जब कभी भी उस परिवार पर कोई संकट आया, उन्होंने पाया कि शरत्चन्द्र उनके पास हैं। वे उसे कलकत्ता ले आये थे और किसी से कहकर विश्वविद्यालय में नौकरी दिला दी थी। उसी का ऋणशोध करने के लिए मानो नकुलचन्द्र ने अपना रक्त दिया। अवस्था कुछ सुधरती-सी जान पड़ी। किसी-किसी-के मन में आशा की किरण जाग आई।

लेकिन वह मात्र एक छल था। उनको बचाने के सारे प्रयत्न व्यर्थ प्रमाणित हुए। धीरे-धीरे वे संज्ञा खोने लगे। धीरे-धीरे मृत्यु उन्हें आगोश में लेने के लिए पास आने लगी। सांस धीमी होती-होती फिर तेज़ हो जाती। उनके जीवनरूपी नाटक के अन्तिम दृश्य पर पर्दा बहुत धीरे-धीरे गिर रहा था। शुक्रवार, 14 जनवरी की रात के बाद यंत्रणा से वे कातर हो उठे।

यंत्रणा.....भीषण यंत्रणा.....

"क्या है शरत्?"

"षैं मर रहा हूं। देख नहीं पाता.....वे कौन हैं?"

वे रात-भर आर्तनाद करते रहे। चार बजे संज्ञाहीन हो गये। सात बजे आक्सीजन दी गई, पर व्यर्थ। उसी संज्ञाहीन अवस्था में वे कई बार चिल्लाये। उनके अन्तिम शब्द थे, "आमाके.....आमाके.....दाओ, आमाके....दाओ। (मुझे दो, मुझे दो।)"

लेकिन कौन उनको क्या देता? वे क्या चाहते थे? क्या उन्हें नहीं मिला? बंगालियों ने प्राणों से पात्र भरकर यश, अर्थ, प्रतिष्ठा सभी कुछ उनको दिया। तब क्या था, जिसके लिए इस जीवन-वैरागी आवारा कथाशिल्पी को इस जीवन में सांत्वना नहीं मिली और उससे परलोक में तृप्ति चाही? इस वाक्य के अनेक लोगों ने अनेक अर्थ लगाये हैं लेकिन सचमुच क्या उसका कोई अर्थ था? कुछ और भी शब्द उनके मुख से निकले थे। हो सकता है, उन्हें प्यास लगी हो और उन्होंने पानी की एक बूंद मांगी हो। हो सकता है, पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने मृत्यु को पुकारा हो। लेकिन यह सब कल्पना-मात्र है।

उस दिन 16 जनवरी, रविवार, सन् 1938, तदनुसार 2 माघ, 1344 बंगाब्द और पौष पूर्णिमा का दिन था। सवेरे के दस बजे भारत के अपराजेय कथाशिल्पी, जनप्रिय साहित्यिक ने अन्तिम सांस ली। उस समय उनकी आयु थी इकसठ वर्ष चार मास। स्वयं एक दिन उन्होंने कहा था, "येरा जीवन अन्ततः मानो एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास में सब कुछ किया, पर छोटा काम कभी नहीं किया। जब मरूंगा निर्मल खाता छोड़ जाऊंगा। उसके बीच स्याही का दाग कहीं भी नहीं होगा।" [2]

उस दिन कलकत्ता नगर में विशेष चंचलता दिखाई दी। दल के दल नर-नारी पथ-रास्ते पर इकट्ठे होकर स्वर्गीय साहित्यिक के लिए अन्तिम श्रद्धांजलि अप्रित कर रहे थे। दो घंटे के भीतर ही कई समाचारपत्रों ने विशेष संस्करण प्रकाशित किये। रेडियो से घोषणा होने लगी। एक उपन्यासकार के लिए इतनी वेदना का क्यक्त होना विरल ही है।

मोटर द्वारा शव घर ले जाया गया। सामने के दालान में एक पलंग पर भारतवर्ष के अमर कथाशिल्पी की देह अन्तिम दर्शनों के लिए रख दी गई। उनके असंख्य प्रेमियों के अतिरिक्त प्रमुख व्यक्तियों में, जो श्रद्धांजलि अप्रित करने के लिए अस्पताल या घर आये, कुछ ये थे - मेयर सनतकुमार रायचौधरी आनरेबल सत्येन्द्रचन्द्र मित्र, शरत्चन्द्र बसु, नलिनीरंजन सरकार, डाक्टर विधानचन्द्र राय, श्यामाप्रसाद मुकर्जी, रमाप्रसाद मुकर्जी, किरणशंकर बसु, तुषारकांति घोघ, हरिदास चट्टोपाध्याय, कैप्टिन एस० चटर्जी, उपेन्द्रनाथ गांगुली, सुधांशुशेखर चट्टोपाध्याय, मुरलीधर बसु, निर्मलचन्द्र 'चन्द्र', राजा क्षितीन्द्रदेव राय, ज्ञानांजन नियोगी, कुमार मणीन्द्रदेव राय, जनाब के० अहमद, श्री व श्रीमती मुकुलचन्द्र दे, सतीश सिंह, रायबहादुर जलधर सेन, यतीन्द्रमोहन बागची, कालिदास राय, कुमुदरंजन मल्लिक, चारुचन्द्र बंदोपाध्याय, शैलजानंद मुखोपाध्याय और प्रबोधकुमार सान्याल।

पी० ई० एन० कलकत्ता शाखा की ओर से शव पर माल्यार्पण किया गया। शवयात्रा तीन बजकर पन्द्रह मिनट पर आरम्भ हुई। परिचालना का भार दक्षिण कलकत्ता कांग्रेस कमेटी ने ग्रहण किया। राष्ट्रीय पताका फहरा रही थी। जनता वन्दे मातरम् और शरत्चन्द्र का जयघोष कर रही थी। मार्ग में न केवल श्री सुभाषचन्द्र बोस और सर आशुतोष मुकर्जी के घरों पर बल्कि स्थान-स्थान पर अनेक संस्थाओं और अनेक कालेजों में शव पर मालायें चढ़ाई गई, लेकिन फिर भी यह एक साहित्यिक की अन्तिम यात्रा थी। किरणशंकर राय ने इस समूह को देखकर कहा, "क्या यही बंगाल की मनुष्यता है? क्या यही बंगाल की कृतइाता है? आज बंगाल का इतना बड़ा साहित्यिक, इतना बड़ा देशभक्त स्वर्गवासी हुआ, क्या यही उसकी शवयात्रा है? समस्त कलकत्ता केवड़ातत्ते के श्मशान में क्यों नहीं टूट पड़ा?'

और अन्त में जहां देशबन्यू चितरंजन दास, यतीन्द्रवमोहन, आशुतोष मुकर्जी, शासमल और यतीन दास आदि की नश्वर देह अग्नि को प्राप्त हुई वही 'श्रीकांत' के स्रष्टा, चिर दुखदर्दी, चिर व्रात्य, चरित्रहीन, आवारा शरत्चन्द्र के रोग-क्तिष्ट कंकाल को चिता पर रख दिया गया। छोटे भाई प्रकाशचन्द्र ने अन्तिम कृत्य सम्पन्न किये। मुख में अग्नि दी प्रकाशचन्द्र के बालक पुत्र ने।

और इस प्रकार संध्या को पांच बजकर पैंतालीस मिनट पर केवड़ातल्ले में एक विराट जनसमूह के सामने उनका भौतिक शरीर अग्नि को सौंप दिया गया! शेष रह गईं बेशुमार अटपटी यादें और रह गया उनका विपुल साहित्य, जो अन्याय के विरुद्ध उनके सतत् युद्ध का अमर साक्षी है, और साक्षी है उनके इस दावे का, "मैंने अनीति का प्रचार करने के लिए कलम नहीं पकड़ी। मैंने तो मनुष्य के अन्तर में छिपी हुई मनुष्यता की उस महिमा को, जिसे सब नहीं देख पाते, नाना रूपों में अंकित करके प्रस्तुत किया है।"

सारे बंगाल में हाहाकार मच गया। जीवनकाल में जो उनके विरोधी थे, उन्होंने भी मुक्त कण्ठ से उनकी प्रतिभा का अभिनन्दन किया। आधुनिक काल के उस प्रियतम लेखक के महाप्रयाण पर, जिसने बंगाली जीवन के आनन्द और वेदना को एकांत सहानुभूति से चित्रित किया, देशवासियों के साथ गम्भीर मर्म-वेदना का अनुभव करते हुए कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने शोकसंतप्त होकर लिखा –

जाहांर अमर स्थान प्रेमेर आसने,
क्षति तार क्षति नय मृत्युर शासने।
देशेर माटिर थेके निलो जारे हरि,
देशेर हृदय ताके राखियेछे बरि।

जिनका अमर स्थान प्रेम के आसन पर है, मृत्यु उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचा सकती। भौतिक दृष्टि से उन्हें देश से जुदा कर दिया गया है, लेकिन उसके हृदय में उनका स्थान सदा बना रहेगा।

धन्य शरत्चन्द्र! तुम इतने दिन कहां थे? कहां से आ गये? सचमुच तुम्हारे समान एक लेखक की बड़ी आवश्यकता थी। सामाजिक व्याधि और दुर्नीति का चित्रण करने के लिए तुमने जिस प्रकार कलम पकड़ी, उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। तुमने कभी भी धर्म-मत के ऊपर ओछा व्यंग्य-विद्रूप नहीं किया। इसलिए कुप्रथाओं के ऊपर कुठारघात करने में कुंठित नहीं हुए। तुम्हारी रचनाएं मर्मस्पर्शी हैं। अन्तस्तल तक में प्रवेश कर जाने वाले तुम्हारे चरित्रों के साथ एकाकार हुआ जा सकता है। तुम्हारी एक और विशेषता यह थी कि उनका सुख-दुख पाठकों का सुख-दुख है। सब कुछ सहज है। कोई कष्ट-कल्पना नहीं। प्रतिदिन के जीवन से चरित्र लिये हैं।

(आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय की डायरी से)

एक साहित्यिक की दृष्टि से वे महान थे, लेकिन एक देशभक्त की दृष्टि से वे और भी महान थे। उनकी मृत्यु से कांग्रेस की बहुत क्षति हुई

(राष्ट्रपति सुभाषचन्द्र बोस के अध्यक्षीय भाषण से)

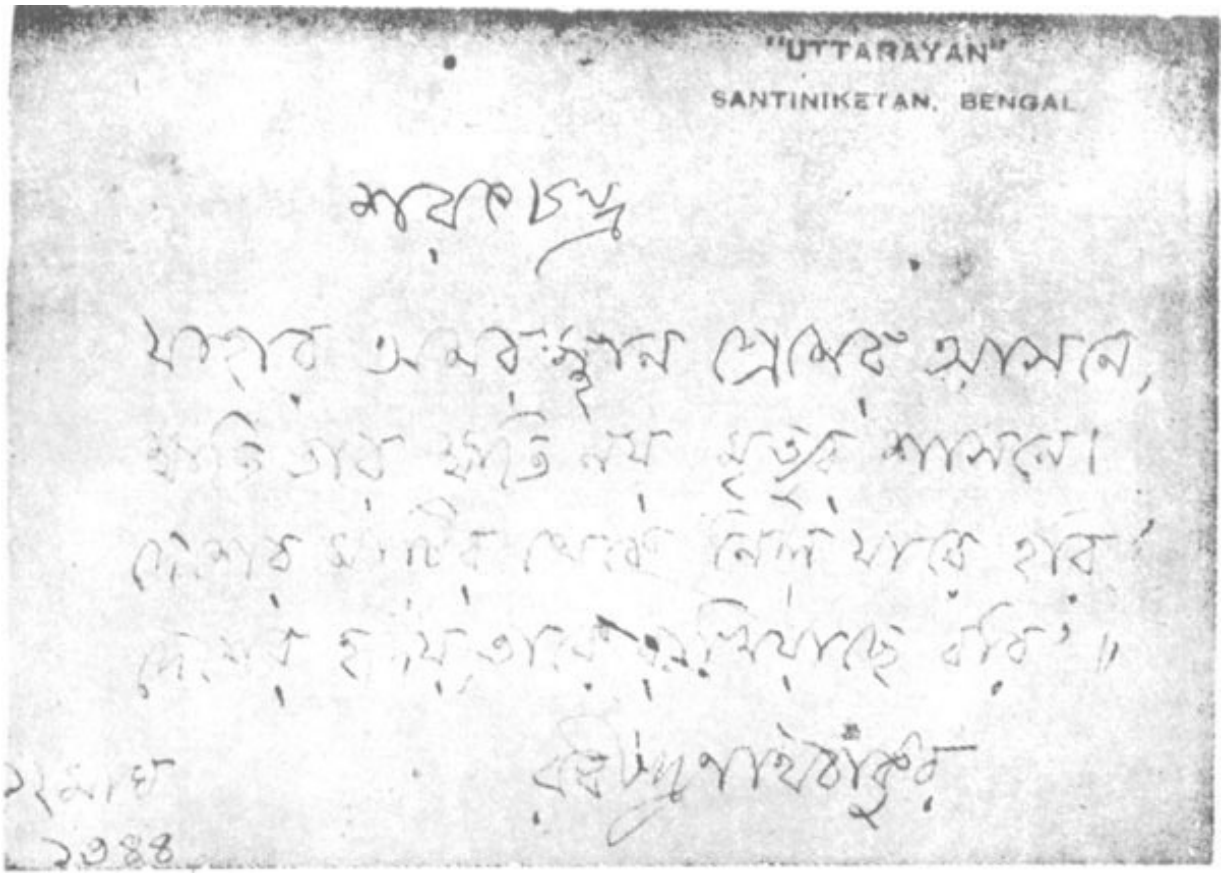

शरत् बाबू की मृत्यु के दस दिन बाद कविगुरु द्वारा श्रगंजलिस्वरूप लिखी गई चतुष्पदी-
उन्हीं की हस्तलिपि में

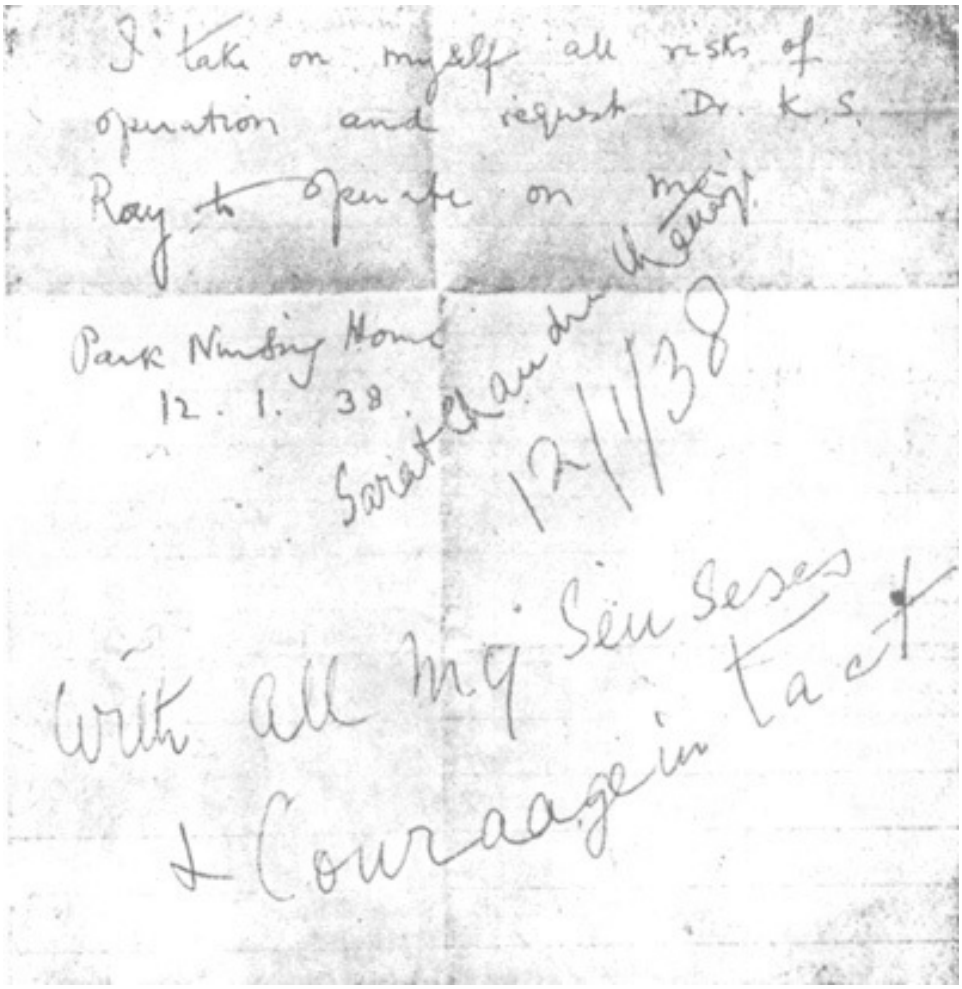

आपरेशन के लिए शरत बाबू का आदेश पत्र

---

1. इनकी मृत्यु लगभग 22 वर्ष बाद, 15 भाद्र, 1367 (31 अगस्त, 1960 ई०) को हुई।
2. श्रीमती लीलारानी गंगोपाध्याय के नाम 24 अगस्त, 1919 ई० का पत्र

परिशिष्ट-1

सहायक ग्रन्थ

बंगला पुस्तकें

सम्पूर्ण शरत् साहित्य संग्रह एम सी ० सरकार एण्ड सन्स प्रा० लि० कलकत्ता
श्रीकान्तेर शरत्चन्द्र मोहितलाल मजूमदार
शरत्चन्द्र तीन खण्ड गोपालचन्द्र राय
शरत् चेतना सोमसुन्दर बन्दोपाध्याय
देशबन्धु ओ गांधीजी शंकरप्रसाद मित्र
शरत्पत्रावली बृजेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय
शरत्चन्द्रेर राजनीतिक जीवन शचीनन्दन चट्टोपाध्याय
शरत्चन्द्रेर प्रणय काहिनी गोपालचन्द्र राय
स्मृति कथा - चार पर्व उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय
शरत् वन्दना सम्पादक - नरेन्द्र देव
ब्रह्मप्रवासे शरत्चन्द्र योगेन्द्रनाथ सरकार
ग्रग्रदेशे शरत् गिरीन्द्रनाथ सरकार
शरत् परिचय बृजेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय
शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय बृजेन्द्रनाथ बन्दोपाध्याय
शरतचन्द कानाईलाल घोष
शरत प्रतिभा सतीशचन्द्र दास
शरतचन्द्रेर जीवनेर एकदिक (दो भाग) सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय
रविवासरे रवीन्द्रनाथ सन्तोषकुमार दे
रवीन्द्रनाथ ओ शरत्चन्द्र गोपालचन्द्र राय
जादेर देखेछि हेगेन्द्रन्धुमार राय
चलमान जीवन पवित्र गंगोपाध्याय
शेष बैठक उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय
शरतचन्द्र सुबोधसेन गुप्त
शरतचीन्द्रका नन्द दुलाल चक्रवर्ती
शरतचन्द्रेर टुकरो कथा अविनाश घोषाल

शरतचन्द्र नरेन्द्र देव
शरतचन्द्र चिट्ठीपत्र गोपालचन्द्र राय
शरत्चन्द्रेर सगे असमंजस मुखोपाध्याय
शरतचन्द्र (नाटक) नन्दलाल चक्रवर्ती
दरदी शरतचन्द्र मणीन्द्र चक्रवर्ती
शरत्चन्देर जीवन रहस्य सीरीन्द्रमोहन मुखोपाध्याय
पंचशस्य जरासन्ध, सी० सी० चक्रवर्ती
लेखकेर मुखामुखि अरुणकुमार मुखोपाध्याय
विप्लवी शरतचन्द्रेर जीवन प्रश्न शैलेश विशि
बांग्ला साहित्येर इतिहास (सभी खण्ड) सुकुमार सेन
रामतनु लाहिड़ी शिवनाथ शास्त्री
शरत परिचय सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय
श्रद्धास्पदेषु नलिनीकान्त सरकार
जीवनशिल्पी शरत्चन्द्र अमियरतन मुखोपाध्याय
शरतचन्द्र ओ तारपर काजी अचूल वदूद
शरतचन्द्रेर ग्रन्थ
विवरणी अविनाश घोषाल
शरत् स्मरणी सम्पादक - गोपाल भौमिक
अप्रकाशित डायरी के अंश अक्षयकुमार
शरत्-श्मीर्ति चारुचन्द्र बनर्जी
शरत वन्दना श्रीगुरुदास लायब्रेरी
शरतचन्द्र: साहित्य और दर्शन मनोरंजन जाना
शरतचन्द्र : देश और समाज सोमेन्द्रनाथ ठाकुर
स्मृतिचारण दिलीपकुमार राय

हिन्दी पुस्तकें

सम्पूर्ण शरद साहित् हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर
संचारिणी शान्तिप्रिय द्विवेदी
आप्रेशन शरतचन्द्र
शरतचन्द्र लावण्यप्रभा राय
शरत के लतीफे डा० महादेव साहा
देशबन्धु चितरंजन दास हेमेन्द्र दासगुपता
बन्दी जीवन शचीन्द्रनाथ सान्याल
प्रभुपाद श्री हरिदास गोस्वामी प्रकाशक : रामनिवास ढंढारिया

शरत्चन्द्र : व्यक्ति और साहित्यकार मन्मथनाथ गुप्त
ये और वे जैनेन्द्रकुमार
कांग्रेस का इतिहास डा० पट्टाभि सीतारमैय
अमरनाथ शरत्चन्द्
बंगला- साहित्य – दर्शन मन्मथनाथ गुप्त
बंगला साहित्य की कथा डा ० सुकुमार सेन
शरत्चन्द्र: व्यक्ति ओर कलाकार इलाचन्द्र जोशी
शरत्चन्द्र चिन्तन व कला इन्द्रनाथ मदान
शरत् की सूक्तियां रामप्रकाश जैन
शरत् के नारी पात्र रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रेमचन्द : कलम का सिपाही अमृतराय

अंग्रेज़ी पुस्तकें

ताल्स्ताय एलक्जेंड्रा ताल्स्ताय
मदर्स एण्ड सन्स शरत्चन्द्र (अनु ० दिलीप कुमार राय)
शरत्चन्द्र चटर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के कैलेण्डर हुमायुं कबिर
लस्ट फार लाइफ इर्विग स्टोन
बॉसवेल्स जान्सन सेम्पलर अब्राहम लिंकन लार्ड चार्लबुड
एरियल आन्द्रे मोरां
नेपोलियन एमिल लुडविग

सहायक समाचारपत्र

आमार (बंगला) नई दिल्ली
उत्तरा (बंगला) बनारस
वातायन (बंगला) कलकत्ता
भारतवर्ष (बंगला) कलकता
जयश्री (बंगला) कलकत्ता
दीपालि (बंगला) कलकत्ता
ग़ल्प भारती (बंगला) कलकत्ता
देश (बंगला) कलकत्ता
रवीन्द्र भारती (बंगला) कलकत्ता
बसुमति (बंगला) कलकत्ता
विश्वभारती (बंगला) शान्ति निकेतन
प्रवर्तक (बंगला) कलकत्ता
प्रवासी (बंगला) कलकत्ता

कालिकलम (बंगला) कलकत्ता
तरुणेर स्वप्न (बंगला) कलकत्ता
बंगश्री (बंगला) कलकत्ता
कल्लोल (बंगला) कलकत्ता
भारती (हिन्दी) बम्बई
नवनीत (हिन्दी) बम्बई
साप्ताहिक हिन्दुस्तान (हिन्दी) नई दिल्ली
धर्म युग (हिन्दी) बम्बई
हिमप्रस्थ (हिन्दी) शिमला
ट्रेंड (अंग्रेज़ी) कलकत्ता
मॉडर्न रिव्यू (अंग्रेज़ी) कलकत्ता

परिशिष्ट-2

सहायक व्यक्ति

(क) वे व्यक्ति जिनसे साक्षात्कार किया

1. सर्वश्री अमृतलाल नागर	सुपरिचित हिन्दी लेखक
2. दिलीपकुमार राय	अन्तरंग बन्धु, सुपरिचित संगीतज्ञ लेखक
3. उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय	रिश्ते के मामा, सुपरिचित लेखक
4. अमल होम	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
5. राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह	सुपरिचित लेखक
6. नरेन्द्र देव	अन्तरंग बन्धु, सुपरिचित साहित्यकर
7. उमाप्रसाद मुकर्जी	अन्तरंग बन्धु, सुपरिचित साहित्यकार
8. नन्दगोपाल सेनगुप्त	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
9. असमंजस मुखोपाध्याय	सुपरिचित साहित्यकार
10. सोमेन्द्रनाथ बसु	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
11. प्रबोधकुमार सान्याल	सुपरिचित साहित्यकार
12. वीरेन्द्रनाथ सरकार	सुपरिचित सिने-चित्र-संचालक

13. वाचस्पति पाठक	सुपरिचित हिन्दी लेखक और पत्रकार
14. प्रमथनाथ राय	मुजफ्फरपुर के अन्तरंग बन्धु
15. चण्डीचरण घोष	बचपन के परिचित, भागलपुर के एडवोकेट
16. चन्द्रशेखर घोष	बचपन के परिचित, भागलपुर में बन्धु
17. एस० एम० मजूमदार	भागलपुर में बचपन के परिचित एक. मित्र
18. भूपतिभूषण घोष	भागलपुर में बचपन के परिचित एक मित्र
19. बलाईचांद मुखोपाध्याय (बनफूल)	सुपरिचित साहित्यकार
20. इलाचन्द्र जोशी	सुपरिचित साहित्यकार
21. अविनाश घोषाल	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
22. फणीन्द्रनाथ मुकर्जी	भागलपुर में बचपन के एक बन्धु
23. महावीर प्रसाद पोद्दार	सुपरिचित प्राकृतिक चिकित्सक
24. एस० सी० दास	रंगून के एक परिचित बन्धु
25. एस० एम० दोषी	रंगून के एक बन्धु
26. डा ० अमियकुमार सेन	रंगून में दफ्तर के सहकर्मी के एक पुत्र
27. एम० एम० दास	रंगून के एक बन्धु
28. सुबोध चटर्जी	रंगून के एक बन्धु
29. डा० महादेव साहा	सुपरिचित लेखक और पत्रकार

30. प्रफुल्लकुमार चटर्जी	वाराणसी के एक परिचित बन्धु
31. सुरेन्द्रमोहन घोष	सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी
32. ए० एन० विश्वास	रंगून के एक परिचित बन्धु
33. रूपेन सेन	रंगून
34. भूपेन चौधरी	रंगून
35. हेमेन राय	भागलपुर के एक परिचित बन्धु
36. रवीन्द्र गांगुली	मामा सुरेन्द्रनाथ के पुत्र
37. पूर्णेन्द्र गांगुली	मामा सुरेन्द्रनाथ के पुत्र
38. सुखरंजन मुखोपाध्याय	सुपरिचित लेखक
39. सुधीरकुमार मुकर्जी आदि	बहन का परिवार
40. श्रीमती राधारानी देवी	सुपरिचित बंगला कवयित्री
41. श्रीमती रेणुका कर	रंगून के एक सहकर्मी की पुत्री
42. सत्येन्द्रनाथ चटर्जी	मौसेरे भाई
43. सजनीकान्त दास	सुपरिचित बंगला लेखक और पत्रकार
44. सौरीन्द्रमोहन मुखो०	बचपन के अन्तरंग मित्र और सुपरिचित लेखक
45. प्रेमेन्द्र मित्र	सुपरिचित साहित्यकार
46. नकुलचन्द्र पति	गांव के एक पड़ोसी
47. शचीनन्दन चट्टो०	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
48. रमाप्रसाद मुकर्जी	न्यायमूर्ति और ‘बंगवाणी’ के संचालक
49. हुमायूं कबिर	सुपरिचित साहित्यकार

	और राजनीतिज्ञ
50. अरुणकुमार मुकर्जी	सुपरिचित साहित्यकार
51. कुमुदचन्द्र रायचौधरी	सुपरिचित साहित्यकार
52. सी० सी० चक्रवर्ती (जरासन्ध)	सुपरिचित साहित्यकार
53. सोमेन्द्रनाथ गंगो०	मामा मणीन्द्रनाथ के पुत्र
54. अमलकुमार गंगो०	मामा गिरीन्द्रनाथ के पुत्र
55. नलिनीकान्त सरकार	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
56. शिशिरकुमार मित्रा	सुपरिचित पत्रकार
57. डा० रमेशचन्द्र मजूमदार	सुपरिचित इतिहासकार
58. गोपाल	अन्तिम समय का सेवक
59. अनिलवरण राय	राजनीतिक जीवन के एक बन्धु
60. सुरेश चक्रवर्ती	सुपरिचित पत्रकार

(ख) वे व्यक्ति जिनसे पत्र-व्यवहार किया

1. अज़हरुद्दीन खां	सुपरिचित पत्रकार
2. विभूतिभूषण	बचपन के अन्तरंग बन्धु, सुपरिचित लेखक
3. गुरदयाल मलिक	सुपरिचित संत साहित्यकार
4. हिमांशुभूषण राय	बचपन के एक साथी के पुत्र.
5. डा० सत्येन्द्रनाथ गांगुली	रिश्ते के एक मामा, सिविलसर्जन

6. सुरेन्द्रनाथ चटर्जी	मुजफ्फरपुर के एक साथी
7. बी० सी० मुकर्जी	रंगून के एक साथी
8. परेशनाथ चटर्जी	मुजफ्फरपुर के एक साथी
9. रजिस्ट्रार	कलकत्ता विश्वविद्यालय
10. स्वामी वीरेश्वरानन्द	प्रधानमंत्री, रामकृष्ण मिशन, बेलूर मठ
11. प्रधानमंत्री	बंगला साहित्य सम्मेलन
12. भूपेन्द्र किशोर रक्षित राय	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
13. अशोक चट्टोपाध्याय	श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय के पुत्र लेखक
14. धर्मेन्द्र गौड़	सुपरिचित पत्रकार
15. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी	सुपरिचित भाषाविद् और लेखक
16. अन्नदाशंकर राय	सुपरिचित साहित्यकार
17. पुलिनबिहारी सेन	सुपरिचित लेखक और पत्रकार

(ग) अन्य व्यक्ति

1. सर्वश्री हरिशंकर शर्मा	सुपरिचित पत्रकार
2. असितकुमार हालदार	सुपरिचित लेखक
3. श्रीमती सुजाता सेन	सुपरिचित लेखिका
4 शैलजानन्द मुखो०	सुपरिचित लेखक

5. जे० के० डांगे	मराठी लेखक
6. कुमुदिनीकान्त कर	रंगून के अन्तरंग सहकर्मी
7. प्रमथ चौधरी	सुपरिचित लेखक
8. श्रीमती. निरुपमा देवी	कैशोर्य की परिचिता, सुप्रसिद्ध लेखिका
9. सुरेन्द्रनाथ मैत्र	सुपरिचित लेखक
10. मनोज बसु	सुपरिचित लेखक
11. नरेशचन्द्र सेनगुप्त	सुपरिचित लेखक
12. हरेकृष्ण मुखोपाध्याय	सुपरिचित लेखक
13. धीरेन्द्र बन्दोपाध्याय	सुपरिचित लेखक
14. द्विजेन्द्रनाथ दत्त मुंशी	देवानन्दपुर के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति
15. विमल बोस	सुपरिचित सिने चित्रकार
16. भगवानचन्द्र विनोद	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
17. डा० शिवनन्दन प्रसाद	सुपरिचित लेखक
18. डा० ओमप्रकाश	रंगून में चिकित्सक
19. ननिगोपाल दे	रंगून में एक अधिकारी
20. जगदीश एम० ए०	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
21. मोहनसिंह सेंगर	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
22. बंकिमचन्द्र बनर्जी	सुपरिचित कलाकार, भागलपुर
23. यशपाल जैन	सुपरिचित लेखक और पत्रकार

24. भीमसेन त्यागी	सुपरिचित लेखक
25. विश्वनाथ मुकर्जी	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
26. विष्णुकान्त शास्त्री	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
27. कालिनाथ राय	सुपरिचित पत्रकार
28. रतनलाल जोशी	सुपरिचित पत्रकार
29. पृथ्वीनाथ शास्त्री	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
30. कृष्णाचार्य	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
31. पुस्तकाध्यक्ष	राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता
32. सुधीर घोष	सुपरिचित पत्रकार
33. स्वामी सुन्दरानन्द	सुपरिचित पर्यटक और छविकार
34. जैनेन्द्रकुमार	सुपरिचित साहित्यकार
35. रामचन्द्र टण्डन	सुपरिचित लेखक और पत्रकार
36. अमर मजूमदार	सुपरिचित पत्रकार
37. मामा वरेरकर	सुपरिचित मराठी साहित्यकार
38. ब्रह्मानन्द	सुपरिचित लेखक और अंग्रेज
39. राधाकृष्ण	सुपरिचित लेखक
40. सत्येन्द्रनारायण	सुपरिचित राजनेता और पत्रकार
41. डा० वचनदेव	सुपरिचित लेखक

कुमार	
42. अनु बेन	अरविन्द आश्रम की साधिका
43. सत्यनारयण गोयनका	सुपरिचित लेखक, बर्मा
44. डा० रामसरन अग्रवाल	बीकानेर

परिशिष्ट-3

महात्माजी

"महात्माजी आज सरकार की जेल में हैं। भारतवासियों के लिए यह समाचार कैसा और क्या है, यह केवल भारतवासी ही जानता है। तो भी सारा देश स्तब्ध हो रहा । देशव्यापी कड़ी हड़ताल नहीं हुई । शोक से उन्मत्त नर-नारियों के समूह रास्तों पर नहीं निकल पड़े । लाखों, करोड़ों सभा-समितियों में हृदय की गहरी व्यथा निवेदन करने कोई नहीं आया, जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं —जैसा कल था, आज भी सब ठीक वैसा ही है, कहीं रत्ती-भर भी उलट-पलट नहीं हुई—इस तरह समुद्र-तट से हिमाचल तक सब चुप हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? इतना बड़ा असंभव काण्ड किस तरह संभव हुआ? नीचाशय ऐंग्लो-इंडियन अखबार जो जिसके मुंह में आता है कहते हैं, किन्तु हर रोज़ की तरह उस मिथ्या का खण्डन करने को कोई उद्यत नहीं हुआ। जान पड़ता है, जैसे उनके भाराक्रान्त हृदय की गंभीरतम वेदना आज तर्क-वितर्क से दूर है।

"जाने के पहले महात्मा जी अनुरोध कर गए हैं कि उनके लिए कहीं कोई हड़ताल, किसी तरह की प्रतिवाद-सभा, किसी प्रकार की चंचलता या लेश-मात्र क्षोभ न किया जाए । आज्ञा अत्यन्त कठिन है । किन्तु, तो भी, सारे देश ने उनके इस आदेश को शिरोधार्य कर लिया है । यह कण्ठ-रोध, नि:शब्द संयम, अपने को दबाकर रखने की यह कठिन परीक्षा, कितना बड़ा दुस्साध्य काम है, इस बात को वे अच्छी तरह से जानते थे, तो भी इस आशा का प्रचार कर जाने में उन्हें तनिक भी अटक नहीं हुई और एक दिन—जिस दिन उन्होंने विपद्ग्रस्त, दरिद्र, सताये गये और वंचित प्रजावर्ग का परम दुख राजा की आखों के आगे उपस्थित करने के लिए युवराज की अभ्यर्थना और स्वागत का निषेध कर दिया था—उस अर्थहीन निरानन्द उत्सव के अभिनय से सब तरह अलग रहने के लिए प्रत्येक भारतवासी को उपदेश दिया था, उस दिन भी उन्हें कोई अटक नहीं हुई । यह उनसे छिपा नहीं था कि इसके परिणामस्वरूप राज-रोष की आग कहां और कितनी दूर तक फैलेगी, किन्तु कोई आशंका, कोई प्रलोभन उनके इरादे को बदल नहीं सका । इसको लक्ष्य करके देश के ऊपर से कितने आंधी-तूफान, कितने वज्रपात, कितना ही दुख गुज़र गया, किन्तु उन्होंने जिसे सत्य और कर्तव्य ठीक किया था, युवराज के आगमनोत्सव के संबंध में आखिरी दिन तक उन्होंने अपना वह आदेश नहीं लौटाया । उसके बाद अकस्मात् एक दिन चौरी-चौरा में भयानक दुर्घटना घटित हो गई । निरुपद्रव होने के संबंध में देशवासियों के प्रति उनका यह

विश्वास हिल गया—तब यह बात सारी दुनिया के आगे निष्कपट भाव से मुक्तकण्ठ होकर प्रकट करने में उन्हें लेश-मात्र दुविधा न हुई । अपनी भूल और त्रुटि बारम्बार स्वीकार करके विरुद्ध राजशक्ति के साथ शीघ्र होने वाले सुतीव्र संघर्ष की सब प्रकार की संभावना को उन्होंने अपने हाथ से रोक दिया । रत्ती-भर भी वह नहीं हिचके । सिन्ध से आसाम और हिमाचल से दक्षिण के शेष प्रान्त तक सभी असहयोगवादियों का मुख हताशा और निष्फल क्रोध से स्याह हो उठा, और फ़ौरन ही दिल्ली की अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति की बैठक में उनके सिर पर से गुप्त और प्रकट लांछना की जैसे एक आंधी निकल गई, जो उन्हें विचलित नहीं कर सकीं । एकदिन जो उन्होंने विनय के साथ किन्तु अत्यन्त संक्षेप में कहा था कि 'आई हैव लास्ट आल फियर आफ मैन' अर्थात् जगदीश्वर के सिवा मनुष्य से मैं नहीं डरता, इस सत्य को केवल प्रतिकूल राजशक्ति के आगे ही नहीं, एकान्त अनुकूल सहयोगियों और भक्त अनुचरों के आगे भी प्रमाणित कर दिया ।

“किन्तु इतनी बड़ी शान्त शक्ति और शुद्ध सत्यनिष्ठा की मर्यादा को धर्महीन उद्दण्ड राजशक्ति नहीं समझ सकी... ... (जो अनन्य भाव से सत्यनिष्ठ है, जो मनवाणी-काया से हिंसा को छोड़े हुए है, स्वार्थ के नाम से जिसका कहीं भी कुछ भी नहीं है, आर्तों के लिए, पीड़ितों के लिए, जो संन्यासी है, इस अभागे देश में ऐसा कानून भी है, जिसके अपराध से इस आदमी को भी आज जेल जाना पड़ा आज जब देश का भार देश के माथे आ पड़ा हे, तब एक बात, जिसे वह बार-बार कह गये हैं कि कभी किसी के भी हाथ से दान की तरह स्वाधीनता नहीं ली जाती, लेने पर भी वह नहीं टिकती, उसे हृदय के रक्त से प्राप्त करना होता है, 'को पूरा करने का, उनकी अनुपस्थिति में अपने को सार्थक करने का यह परम सुयोग शायद सब प्रकार से हमें नसीब हुआ है।....और भी एक परम सत्य वे स्पष्ट कर गए हैं। कोई देश जब स्वाधीन, स्वस्थ और स्वाभाविक अवस्था में रहता है, तब देशात्मबोध की समस्या भी बहुत जटिल नहीं होती और स्वदेश-प्रेम की परीक्षा भी एकदम अत्यन्त कड़े रूपों में नहीं देनी होती। तब उस देश के नेतृत्व के योग्य लोगों को बड़े यत्न से छांटे बिना भी शायद काम चल जाता है। किन्तु वह देश यदि कभी पीड़ित, रोगी और मरणासन्न हो उठे, तब इस ढीले-ढाले कर्तव्य का फिर अवकाश नहीं रहता। तब जो लोग इस दुर्दिन को पार कर ले जाने का भार ग्रहण करते हैं, उनको सब देशों की सारी आंखों के सामने परार्थपरता की अग्नि-परीक्षा देनी होती है। बातों से नहीं—कामों से, चालाकी के दांव-पेंच से नहीं—सरल सीधे रास्ते से, स्वार्थ का बोझा लादकर नहीं—सब चिन्ता, सारा उद्वेग, सपूर्ण स्वार्थ जन्मभूमि के चरणों में पूर्ण रूप से बलि देकर। इससे अन्यथा विश्वास नहीं किया जा सकता।

“भूतपूर्व भारत-सचिव मांटेगु साहब जब उस दफा भारतवर्ष आए थे, तब इस बंगाल के ही एक विश्वविख्यात बंगाली ने उनको एक बड़ी-सी चिट्ठी लिखी थी और उसका एक लम्बा-चौड़ा उत्तर भी पाया था। किन्तु आदि से अन्त तक अच्छी-अच्छी निस्सार बातों के

बोझ से भरी उस भारी चिट्ठी की चालबाज़ी के सिवा और कुछ भी मुझे याद नहीं है, और जान पड़ता है, ऐसी बातें याद भी नहीं रहतीं। किन्तु इस पक्ष का स्थूल वक्तव्य मुझे खूब याद है। इन्होंने बार-बार वह विश्वास-अविश्वास की बहस ही चार सफे की चिट्ठी में भरकर साहब को समझाना चाहा था कि विश्वास किए बिना विश्वास नहीं प्राप्त होता। जैसे इतनी बड़ी नूतन तत्व की बात इस भारतभूमि को छोड़कर विदेशी साहब के लिए और कहीं सुनने की सम्भावना ही न थी। मुझे विश्वास है कि साहब की अवस्था कम होने पर भी यह तत्व उन्होंने पहले-पहल नहीं सुना और पहली जानकारी भी लेकर वे नहीं गए। इसी से साहब को केवल ऐसी सब बातें और भाषा लिखनी पड़ी थी जो कि चिट्ठी के सफे भर देती है, किन्तु अर्थ कुछ नहीं रखती।

".....महात्माजी ने राजशक्ति के हृदय पर ही जोर दिया था। मारकाट खूनखराबा, अस्त्र-शस्त्र अथवा बाहुबल की ओर ही वह नहीं गए—उनका सारा आवेदन-निवेदन, अभियोग-अनुयोग इसी आत्मा के निकट है। राजशक्ति में हृदय या आत्मा का कोई झंझट नही भी रह सकता है, किन्तु इस शक्ति का संचालन जो करते हैं, उन लोगों ने भी छुटकारा नहीं पाया और सहानुभूति ही जब जीव के सब सुख-दुख, सब ज्ञान, सब कर्मों का आधार है, तब इसी को जगाने के लिए महात्माजी ने प्राणप्रण से चेष्टा की थी। आज स्वार्थ और अविचार से यह सहानुभूति चाहे जितनी मलिन, चाहे जितनी ढकी हुई क्यों न हो, एक दिन इसे वह निर्मल और मुक्त कर सकेंगे—यह उनका अटल विश्वास क्षण-भर के लिए भी ढोला नहीं हुआ। किन्तु लोभ और मोह से स्वार्थ को, कोध और विद्वेष से हिंसा को निवृत्त या बंद नहीं किया जा सकता—इस बात को महात्माजी जानते थे। इसी से दुःख देकर नहीं—दुःख सहकर, वध करके नहीं—अकुंठित चित्त से अपनी बलि देने के लिए ही वह इस धर्मयुद्ध में उतरे थे। यही थी उनकी तपस्या, इसी को उन्होंने वीर का धर्म कहकर निष्कपट भाव से इसका प्रचार किया था। सारे पृथ्वीमण्डल में यह जो उद्धत अविचार की चक्की में मनुष्य दिन-रात पिसकर मर रहा है, इसका एकमात्र हल गोली-गोले, बंदूक-बारूद और तोप में नहीं है, है केवल मनुष्य की प्रीति में, इसकी आत्मा की उपलब्धि में—इस परम सत्य पर वह सम्पूर्ण हृदय से विश्वास रखते थे, इसी से अहिंसा व्रत को केवल क्षण-भर का उपाय मानकर नहीं, चिर जीवन का एकमात्र धर्म समझकर, उन्होंने ग्रहण किया था और इसीलिए उन्होंने इस भारतीय आन्दोलन को राजनीतिक न कहकर 'आध्यात्मिक कहकर समझाने की चेष्टा में दिन पर दिन प्राणपण से परिश्रम किया था। विपक्ष ने हंसी उड़ाई, अपने पक्ष ने अविश्वास किया, पर दोनों में से कोई उन्हें विभ्रान्त नहीं कर सका। अंग्रेज़ों की राजशक्ति के प्रति महात्माजी का विश्वास जाता रहा है, किन्तु मनुष्य अंग्रेज़ो की आत्मोपलब्धि के प्रति आज भी उनका विश्वास वैसे ही स्थिर और अटल बना हुआ है।

"किन्तु इस अचंचल निष्कम्प दीपशिखा की महिमा समझ पाना बहुतों के लिए दुस्साध्य हे। इसीसे उस दिन श्रीयुत विपिन बाबू (सुप्रसिद्ध विपिनचन्द्र पाल) ने जब

महात्माजी का यह कथन 'I would decline to gain India's freedom at the cost of Non-Violence meaning that India will ever gain freedon without non-violence.' अर्थात् अहिंसा की कीमत पर मैं भारत की स्वाधीनता लेना स्वीकार न करूंगा, मतलब यह कि भारत बिना अहिंसा के अपनी स्वाधीनता नहीं ग्रहण करेगा—उद्धृत करके यह समझाना चाहा था कि महात्माजी का लक्ष्य सत्याग्रह है, भारत की स्वाधीनता या स्वराज्य का लाभ इस लक्ष्य का एक अंग हो सकता है, किन्तु मूल लक्ष्य नहीं है, तब यह भी इस दीपशिखा के रूप को हृदयंगम नहीं कर सके थे। दूसरे की सम्पूर्ण स्वाधीनता के ऊपर हस्तक्षेप न करके मनुष्य की पूर्ण स्वाधीनता कितनी बड़ी सत्य वस्तु है और इसके प्रति द्विधाहीन आग्रह भी कितनी बड़ी स्वराज्य की साधना है, इसकी उपलब्धि वह भी नहीं कर सके। सत्य के अंग-प्रत्यंग, जड़ और शाखा आदि नहीं हैं। सत्य सम्पूर्ण वस्तु है और सत्य ही सत्य का शेष है। और इस चाहने के भीतर ही मानव जाति के सब प्रकार के और सर्वोत्तम लक्ष्य की परिणति विद्यमान है। देश की स्वाधीनता का स्वराज्य उन्होंने सत्य के भीतर से ही चाहा है, मारकाट करके लेना नहीं चाहा। इस तरह चाहा है, जिससे वह आप भी धन्य हो जाए। उसके क्षुब्ध चित्त ने कृपण का दिया धन नहीं, उसके दाता के प्रसन्न हृदय का सार्थकता का दान चाहा है। ऐसा छीना-झपटी का देना-लेना तो संसार में बहुत हो गया है, किन्तु वह स्थायी नहीं हो सका—दुख, कष्ट, वेदना का भार केवल बढ़ता ही चला जा रहा है, कहीं भी तो एक तिल-भर भी कम नहीं हुआ। इसी से वह आज उन सब पुराने परिचित और क्षण स्थायी असत्य के मार्गो से विमुख होकर सत्याग्रही हुए थे, प्रण किया था कि मानवात्मा के सर्वश्रेष्ठ दान के सिवा और कुछ भी वह हाथ फैलाकर नहीं ग्रहण करेंगे।

"सम्पूर्ण अन्तःकरण से स्वाधीनता और स्वराज्य की कामना करके वह जब अंग्रेज़ीं राज्य के सब प्रकार के संसर्ग का त्याग करने के लिए राजी नहीं हुए थे, तब उन्हें बहुत—सी कड़वी बातें और गालियां सुननी पड़ी थीं। बहुत-सी कटूक्तियों के बीच एक तर्क यह था कि अंग्रेज़ों ने यहां निरुपद्रव मार्ग से राज्य नहीं स्थापित किया और उसके लिए रक्तपात करने में भी संकोच नहीं किया, तब केवल हम लोगों को ही निरुपद्रवपंथी रहना होगा, इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी हम काहे के लिए ग्रहण करें?"

"किन्तु महात्मा जी ने इस पर कान नहीं दिया। वह जानते थे कि यह युक्ति सत्य नहीं है कि जगत में जो कुछ एक दिन अन्याय की राह से, अधर्म के मार्ग से स्थापित हो गया है, उसे आज चाहे जिस तरह से हो, दूर करना ही धर्म है। एक दिन जिस अंग्रेज़ीं राज्य को प्रतिहत करना ही देश का सर्वश्रेष्ठ धर्म था, उसे उस दिन हम रोक नहीं सके—इसलिए आज चाहे जिस उपाय या मार्ग मे हो उसे नष्ट करना ही देश का एकमात्र धर्म है—यह बात किसी तरह ज़ोर करके नहीं कही जा सकती। अवांछित जारज सन्तान अधर्म की राह से ही जन्म लेती है, अतएव उसकी हत्या करके ही धर्महीनता का प्रायश्चित हो सकता है, ऐसा कहना सत्य नहीं है।"

परिशिष्ट-4

शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय के वसीयतनामे की प्रतिलिपि

This is the last will and testament of me Sarat chatterji of No. 24, Aswini Dutt Road, within the municipal limits of Calcutta now lying at the Park Nursing Home at Victoria Terrace in the town of Calcutta. I revoke all testamentary dispositions if any heretofore made by me.

I give devise and bequeath all my estate and effects to my wife Smt. Hianmoyee Dedi of No.24, Aswini Dutt Road, to be held and enjoyed by her for the term of her natural life subject nevertheless to the right of my brother to live in the premises No.24, Aswini Dutt Road with his family as he is at present doing and after my death and my wife's death my brother Prokash's son or sons, who shall survive her, shall be the absolute owner.

Notwithstanding anything hereinbefore contained my moneys in the Imperial Bank shall be surplus the same shall be spent for the use and benefit of my brother's children or of any of them.

In witness where of I have set my hand to this as my last will and testament this the 11th day of January, 1938. Signed by the above named in our presence who at this request and in this presence and in the presence of each other have signed as attesting witnesses.

Sd/- N.C. Chunder, Solicitor, Calcutta.

Sd/- Umaprosad Mookerjee, Advocate, Calcutta High Court.

11th january, 1938

Sd/- Sarat Chandra Chatterji.

राजपाल एण्ड सन्ज़, द्वारा संचालित

साहित्य परिवार

के सदस्य बनकर रियायती मूल्य
पर मनपसन्द पुस्तकें मंगाइए और अपनी
निजी लायब्रेरी बनाइए
विशेष छूट तथा फ्री डाक-व्यय की सुविधा
नियमावली के लिए लिखें :

साहित्य परिवार

राजपाल एण्ड सन्ज़,
1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट,
दिल्ली-110006

मूल हिन्दी में प्रकाशन के समय से 'आवारा मसीहा' तथा उसके लेखक विष्णु प्रभाकर न केवल अनेक पुरस्कारों तथा सम्मानों से विभूषित किए जा चुके हैं, अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद प्रकाशित हो चुका है और हो रहा है। 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' तथा 'पाब्लो नेरूदा सम्मान' के अतिरिक्त बंग साहित्य सम्मेलन तथा कलकत्ता की शरत् समिति द्वारा प्रदत्त 'शरत् मेडल', उ. प्र. हिन्दी संस्थान, महाराष्ट्र तथा हरियाणा की साहित्य अकादमियों और अन्य संस्थाओं द्वारा उन्हें हार्दिक सम्मान प्राप्त हुए हैं। अंग्रेज़ी, बंगला, मलयालम, पंजाबी, सिन्धी और उर्दू में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं तथा तेलुगु, गुजराती आदि भाषाओं में प्रकाशित हो रहे हैं।

शरतचन्द्र भारत के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे जिनका साहित्य भाषा की सभी सीमाएँ लाँघकर सच्चे मायनों में अखिल भारतीय हो गया। उन्हें बंगाल में जितनी ख्याति और लोकप्रियता मिली, उतनी ही हिन्दी में तथा गुजराती, मलयालम तथा अन्य भाषाओं में भी मिली। उनकी रचनाएं तथा रचनाओं के पात्र देश-भर की जनता के मानो जीवन के अंग बन गए। इन रचनाओं और पात्रों की विशिष्टता के कारण लेखक के अपने जीवन में भी पाठक की अपार रुचि उत्पन्न हुई परन्तु अब तक कोई भी ऐसी सर्वांगसम्पूर्ण कृति नहीं आई थी जो इस विषय पर सही और अधिकृत प्रकाश डाल सके। इस पुस्तक में शरत् के जीवन से संबंधित अन्तरंग और दुर्लभ चित्रों के सोलह पृष्ठ भी हैं जिनसे इसकी उपयोगिता और बढ़ गई है।

बंगला में भी यद्यपि शरत् के जीवन पर, उसके विभिन्न पक्षों पर बीसियों छोटी-बड़ी कृतियां प्रकाशित हुईं, परन्तु ऐसी समग्र रचना कोई भी प्रकाशित नहीं हुई थी। यह गौरव पहली बार हिन्दी में लिखी इस कृति को प्राप्त हुआ है।

1912-2012
100 वर्षों की
श्रेष्ठ प्रकाशन परम्परा
राजपाल